तंत्र और संत

डॉ॰ राममूर्त्ति त्रिपाठी

तंत्र और संत

[तंत्रवाद के आलोक में हिन्दी निर्गुण साहित्य
की नई व्याख्या]

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन

साहित्य भवन (प्रा) लिमिटेड
इलाहाबाद ३

मूल्य : पैंतालिस रुपये प्रथम संस्करण : १९७५

गिरीश टंडन द्वारा साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद द्वारा
प्रकाशित तथा लीडर प्रेस, लीडर रोड, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

पातनिका

मेरी धारणा है और वह भी साधार कि समस्त मध्यकालीन साधनाएँ आगमिक हैं। आगमिक हैं इस माने में कि सभी 'राग' पर बल देती हैं। 'शक्ति' की आराधना बताती है। श्रमण संस्कृति की रागउमन या निवृत्तिमूलक साधना को पृथक कर दें, शेष सभी साधनाएँ रागशोधन पर ही बल देती है। जिन लोगों ने रागदमन का मार्ग पकड़ा, उन लोगों ने रागात्मिकावृत्ति को अंतःकरण की एक वृत्ति विशेष के रूप में स्वीकार किया फलतः उसका दमन या निवृत्ति अंततः वे कर सके। वैसे आत्मेतर विषयों से चाहे उन्हें राग न हो, पर आत्मोपलब्धि पर तो राग है ही। अनात्मवादी हीनयानियों की बात अलग है। राग को भक्ति रूप में मानकर भी आराध्य विषयक मानकर भी—जिन लोगों ने उसे अंतःकरण की वृत्ति ही माना—उनके लिए उसे परमपुरुषार्थ के रूप में स्थापित करना एक समस्या ही है। इसीलिए वह बहुत हो सकती है तो साधन भक्ति ही हो सकती है—मोक्ष या आत्मसाक्षात्कार की अपेक्षा में साधन नहीं। जो तुलसी यह कहते हैं—

"मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने"

उनके मत से मुक्ति और भक्ति आमने सामने हों, तभी तो एक को छोड़कर दूसरे पर लुब्ध हुआ जाय। आमने सामने होने पर—आत्मसाक्षात्कार के रूप मुक्ति के उपलब्ध होने पर—जड़ रामभक्ति का वृत्ति वाधित प्रतीति के रूप से ही अनुभूत होगी—फलतः उस पर लुभाने की बात अयुक्तिसंगत है। अतः मैं यह मानता हूँ कि तत्त्वतः पार्थिव काया में अंतःकरण की वृत्ति रूप रागात्मिका वृत्ति या भक्ति चिन्मय परतत्त्व की आगम सम्मत स्वरूपभूता शक्ति की प्रतिच्छाया है। प्रतिच्छाया साधन है और उसके द्वारा विम्बस्थानीय मूलशक्ति रूपा भक्ति को पाया जा सकता है। भक्ति से भी उसे जाना जा सकता है—गीताकार ने कहा ही है—

"भक्त्या मामभिजानाति"—इस स्थिति में भक्ति यदि आत्मतत्त्व से पृथक है तो उसके द्वारा आत्मतत्त्व को जानना आत्मतत्त्व को परप्रकाश्यता है—अतः भक्ति को आत्मशक्ति मानकर यदि आत्मतत्त्व का प्रकाशक माना जाय—तो ही उसकी स्वयंप्रकाश्यता सिद्ध हो सकती है। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा—

भगतिकरत विनु जतन प्रयासा
संसृति मूल अविद्या नासा।

ब्रह्मविद्या मार्ग से भक्ति का यह मार्ग भिन्न है। ब्रह्म विद्या मार्ग में विद्यात्मिका वृत्ति से अविद्या का नाश होता है और फिर आत्मसाक्षात्कार की स्थिति आती है, 'भक्ति मार्ग में अनायास आवरण भंग हो जाता है—आत्म प्रकाश हो जाता है। द्रुतवृत्ति प्रकृतिक साधक आत्मप्रकाश के बाद भी स्वरूप शक्ति रूपा भक्ति को साध्य रूप में रखकर चलता है—'प्रकाश' का भी 'अनुभव' 'विमर्श' के माध्यम से करता है—

आत्मसुखानुभव आत्मशक्ति से ही करता है—ब्रह्मविद्यामार्ग रुक्ष प्रकृतिक साधकों का है—जो आत्मसाक्षात्कार पर ही रुक जाता है। अथवा उसके आगे उसे कोई अवश्यकता ही नहीं है। कारण, उसमें शुद्धवासना ही नहीं है कि जिसकी चरितार्थता के लिए कल्पित द्वैत की भूमिका पर वह भक्ति करे। कहने का मतलव यह कि निर्गुण तो निर्गुण या अद्वैत की भूमि पर पहुंच कर भी कल्पित द्वैत की भूमि पर भक्ति करता है और यह भक्ति अन्ततः अपने साध्य रूप में आत्मशक्ति रूपा ही है, न कि अंतःकरण या उसके भी उपादानकारण माया की वृत्ति। अभिप्राय यह कि जो सुगम मार्गी भक्त हैं—रामाश्रयी या कृष्णाश्रयी—वे भी 'भक्ति को उसके साध्य रूप में आत्मशक्ति रूप में ही मानते हैं। मर्यादामार्गी तुलसी के यहाँ तो इतनी भूमिका देनी पड़ती है, इसी शाखा की रसिक धारा में तो स्पष्ट ही सीता राम की आत्मशक्ति रूप में रसास्वाद का माध्यम है। सीता के विना रसरूप राम को पाया ही नहीं जा सकता।

इसी प्रकार कृष्णाश्रयीधारा में भी 'भाव' ही महाभाव में परिणत होता है और यह 'महाभाव' ही ह्लादिनी रूपा राधा आत्मशक्ति है। कृष्णाश्रयी रसिक धारा में उत्तरोत्तर यह सत्य-स्पष्ट स्पष्टतर होता गया है। निष्कर्ष रूप में मैं कहना यह चाहता हूं कि मध्यकाल की 'भक्ति आगम सम्मत 'शक्ति' ही है—स्वरूपा शक्ति ही है।'

सूफियों के यहाँ तो स्पष्ट ही कहा गया है कि अध्यात्म राज्य में अकल की दखल नहीं है—बुद्धि सर्वथा वर्जित है। बुद्धि का मार्ग छोड़ देने पर ये रसिक सूफी साधक 'भावना' या 'हृदय' का ही मार्ग अपनाते हैं—और उस दृश्य या कल्प को जो परमात्मा के साक्षात्कार का—'हिरदय महँ निवास करने वाले पिउ' के साक्षात्कार का माध्यम बनता है—पार्थिव नहीं मानते, दिव्य वताते हैं—जड़ेतर या चिन्मय मानते हैं।

विचार की उक्त सरणी से स्पष्ट है कि मध्यकालीन निर्गुण-सगुण सभी साधनाएं राजमार्गी हैं—भक्ति को साध्य मानती हैं और 'भक्ति' अंततः आत्मा की निजा शक्ति ही है। फलतः भक्ति की उपासना शक्ति की उपासना है और यही आगमिक साधना है। इस प्रकार जब मैं समूची मध्यकालीन साधना को आगमिक कहता हूँ तव मेरा उक्त आशय ही रहता है।

रही वात प्रकान्त निर्गुण धारा की।

'हिंदी' प्रदेश के 'निर्गुण संत साहित्य' पर अब तक जो कुछ भी लिखा गया है—प्रायः उन समस्त प्रयासों-शोध प्रबंध, स्वतंत्रकृति, प्रकीर्णक निवंध तथा भूमिका-सम्मति आदि-के अध्ययन और मनन करने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि इस साहित्य की संगत-व्याख्या के लिए जिस 'आगमिक दृष्टि' की अपेक्षा थी—वह अपेक्षित व्यापकता में अपनाई नहीं गई। इसके दो कारण हैं—एक तो भौतिक सिद्धियाँ और

चमत्कारों में व्यापृत साधकों द्वारा प्रसूत विकृति के कारण तंत्रों आगमों के प्रति उपेक्षाभाव और दूसरे इस साहित्य के साथ जीवित संपर्क का अभाव। मध्यकाल की समस्त अध्यात्म साधना आगम सम्मत है—इस तथ्य की पुष्टि आगम और अध्यात्म साहित्य के संपर्क में आने पर उत्तरोत्तर होती जा रही है।

इस समस्त साहित्य को 'संत साहित्य' कहने की अपेक्षा में 'निर्गुण साहित्य' कहना दो कारणों से अधिक संगत समझता हूँ—एक तो यह कि हिंदू और इस्लामी-दोनों संस्कृतियों के संघर्षकाल में जिस तत्व को समन्वय के निमित्त संत गण लाना चाहते थे—वह उभय स्वीकृत 'निर्गुण' ही था, 'सगुण' प्रतिमा या अवतार नहीं। रहा यह कि जो 'निर्गुण' चरम तत्व के प्रतीक रूप में प्रयुक्त था—आगमिक आलोक में तत्वतः वह उभयात्मक भी था और उभयातीत भी। संतों ने अपने साहित्य में इन तथ्यों पर वार बार बल दिया है।

निःसंदेह संतों की यह धारा उन आगमिक साधकों की परम्परा में है जो 'कर्म' और 'परम्परा सम्मत विधिविधान' की अपेक्षा 'आन्तरयाग' और 'अंतः शुद्धि' पर बल देते हैं—फलतः कभी कभी वे विद्रोही भी घोषित किए गए हैं। यही कारण है कि इनमें आगामानुरोधी बौद्धों, शैवों तथा वैष्णवों की छाया लक्षित होती है। शैव नाथों तथा संतों के बीच "निरंजनी" तो नहीं, पर वैष्णव बारकरी अवश्य आते हैं। कुछ लोग इन्हीं नामदेव को निर्गुण मत के प्रवर्तन का श्रेय देते हैं। आचार्य विनय मोहन शर्मा, आचार्य भगीरथ मिश्र प्रभृति मनीषियों ने इस पक्ष का समर्थन किया है। मेरी जिज्ञासा इस संदर्भ में बराबर यही बनी रही कि 'बारकरी साधना' और 'निर्गुण साधना' चूंकि भिन्न है अतः एक का साधक दूसरे का प्रवर्तक कैसे हो सकता है? फलतः मैंने अभी तक तो 'कबीर' को इसके प्रवर्तन का श्रेय देना चाहा है। कबीर प्रवर्तित इस धारा की असाधारण साधना है—'सुरत शब्द योग' और इसी प्रतिमान पर आधृत तथा निर्णीत संत साहित्य की संगत व्याख्या के लिए 'तांत्रिक दृष्टि' का स्वीकार मेरा प्रस्ताव है।

तांत्रिक दृष्टि 'अद्वयवादी दृष्टि है—जहाँ शक्ति और शक्तिमान् का सामरस्य स्वीकृत है। समस्त नैगमिक दर्शन-वेदांत, मीमांसा, पातन्जल, सांख्य, वैशेषिक तथा न्याय—या तो 'शक्ति' मानता ही नहीं और मानता भी है—तो 'जड़'। आगम 'शक्ति' को चित् मानते हैं और शक्तिमान् से भिन्न भी और अभिन्न भी। ठीक वैसे ही जैसे एक ही रेखा में दृष्टि भेद से वृषभ भी और अश्व भी। यह दृष्टि लीला के निमित्त सृष्टि के रूप में चरमतत्व की व्यक्ति मानती है और मानती है कि वही तत्व क्रमशः अभेद-भेदात्मक तथा भेद की भूमियों पर अवरोहण करती है। यह चिन्मयी शक्ति नादात्मा है—सृष्टि के रूप में उसका ही प्रसार है—यही शक्ति अवरोहण के अंत में परिच्छिन्न जड़वत् प्रसुप्त कुण्डलिनी है। इसकी प्रसुप्ति ही

आत्मविस्मृति है। भोक्ता, भोग्य तथा भोगायतन के रूप में यह अद्वयतत्व आत्म-निहित विश्व बीज को दर्पण स्थानीय शक्ति में आभासित करता है। यह शक्ति निग्रह तथा अनुग्रह में 'स्वतंत्र' है पर 'सृष्टि' स्थिति, संहार में कार्यकारणबद्ध। फलतः वह "स्वातंत्र्य' वश निग्रह अर्थात् आत्मविस्मृति करती है और 'स्वातंत्र्य' वश ही 'अनुग्रह'। इस 'अनुग्रह' वश 'आरोहण' होता है—आत्मस्मृति होती है, परिच्छिन्नता हटती है। प्रसुप्त शक्ति के जागरण के लिए परमेश्वर का अनुग्रह ही नहीं, गुरुदीक्षा तथा साधक कृत 'उपाय' का आश्रयण भी आवश्यक है। वास्तव में ये तीनों एक ही हैं—पर व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न। आगमों में भोगायतन की षड्विध कल्पना, लोकलोकान्तर तथा पिंड ब्रह्मांडवाद भी अपने ढंग का है। बंधन-सृष्टि-मुक्ति-सब कुछ नादमयी शक्ति की लीला है। नादात्मा शक्ति ही वर्णमयी स्थूलता में सृष्टि है—'अ' से 'ह' तक फैली हुई है और पुनः संहृत होकर अनुस्वार में समाली हुई 'अहम्' प्रत्याहार का निर्माण करती है। शक्ति यही पूर्णाहंता है—यही चमत्कार है—यही चित् का स्फार है—इसी की प्रत्यभिज्ञा, परख या परचा करना आगमिकों का लक्ष्य है। यही शक्ति शक्तिमान शैवों में शिव शक्ति का, बौद्धों में शून्यता करुणा का, प्रज्ञा-उपाय का तथा वैष्णवों में सीता राम तथा राधा-कृष्ण का सामरस्य है—युगनद्ध रूप है। संतों में यही 'मालिक' और 'मौज' है—'सुरत और शब्द है। सर्वत्र यही 'साम्य' या 'सामरस्य' साध्य है। इसी आलोक में संतों के चरमतत्व को परमशिव की भाँति समरस भी कहा जा सकता है, अद्वय भी समझा जा सकता है और विश्वात्मक तथा विश्वातीत भी, साथ ही सगुण भी और निर्गुण भी तथा न निर्गुण और न सगुण अर्थात् 'जस है तैसा होइ'। इस बात को अधिक न बढ़ाते हुए यह कहा जा सकता है कि जो संत हैं वे सुरत शब्द का योग मानते ही हैं। सुरत आत्मशक्ति है और शब्द शक्तिमान्—दोनों की समरस स्थिति आगम सम्मत 'अद्वय' की ही है—अतः इससे भिन्न रूप में चरमतत्व की कल्पना सर्वथा असंगत तथा निराधार है।

यह चरमतत्व प्रलय की दृष्टि से निःशब्द या निःस्पंद है और सृष्टि की दृष्टि से सस्पंद। यह स्पंदता ही 'शब्द' है। कारण गति मयता रूप, रस, गंध, स्पर्श की अपेक्षा 'शब्द' में ही है—अतः इस चांचल्य या गति या स्पंद को नादात्मा अथवा शब्दात्मा कहा जा सकता है। निःस्पंद से ही 'सामान्य' तथा 'विशेष' स्पंदमय सृष्टि प्रकट होती है। इसीलिए सृष्टि अपने सामान्य रूप में गत्वर या गतिमय है—चेतना भी गतिमय और चेत्य भी—यह समूची गतिमयता विश्रांति सापेक्ष है—और चरमतत्व में 'गति' और –'विश्रांति' का सामरस्य है। प्रलय की दृष्टि से विश्रांति का तथा सृष्टि की दृष्टि से 'गति' पक्ष का स्वर उदग्र है। यह 'निःस्पंद' 'शून्य' अवस्था से अपने ही भीतर अधिक जोरदार 'गति', 'शब्द', 'स्फोट' करता

है—'परा' ही स्रक्ष्यमाण का दर्शन करती हुई 'पश्चन्ती' बनती है और 'मध्यमा' भूमि पर भेदाभेद का अधिक उदग्र करती हुई वैखरी की उस भूमि पर उतरती है जहाँ शब्द और अर्थ का अभेद समाप्त हो जाता है—दोनों भेद की वर्णिका ग्रहण कर लेते हैं। यही सृष्टि मूल नाद ओंकार है, प्रणव है—अनाहत नाद है। संतों ने इसी शब्द तत्व की साधना पर बल दिया है।

आगमों में अवरोहण के तीन स्तर स्पष्ट हैं—अभेद, भेदाभेद तथा भेद। वहाँ परा अभेद भूमि है—जहाँ सब कुछ समरस है—परम शिवावस्था है—शिव शक्ति का सामरस्य है। जो लोग शिव शक्ति को भी तत्व मानने हैं—उनके यहाँ भेदाभेद तथा पश्यन्ती दशा का स्तर यहाँ मानना चाहिए। मध्यमा तक यही भेदाभेद की भूमि है। अभेद राज्य शक्ति राज्य है, भेदाभेद महामाया वैंदव राज्य है और भेद राज्य माया राज्य है जिसमें प्रकृत्ययंड तथा ब्रह्मांड है। यही वैखरी भूमि है। 'शक्ति' की दृष्टि से यह समूची सृष्टि 'आभासवादी', महामाया तथा प्रकृति के दृष्टि से 'परिणाम' वादी अप्राकृत तथा प्राकृत स्तर और माया की दृष्टि से 'विवर्तवादी' है, इसीलिए संतसम्मत सृष्टि प्रक्रिया में यह सब कुछ मिलता है। संतों के यहाँ अनामी। अलख तथा अगम अभेद राज्य है, सत्यलोक से लेकर भ्रूमध्य के ऊपर तक महा-माया या भेदाभेद राज्य है और भ्रूमध्य से नीचे-आज्ञा चक्र से लेकर भेद राज्य। इस प्रकार यहाँ भी ब्रह्मांड पार, ब्रह्मांड तथा पिंड देश हैं। पिंड देश जाग्रत, स्वप्न एवं सुशुप्ति हैं—ब्रह्मांड देश-तुर्य है और पार ब्रह्मांड तुर्यातीत। स्तर भेद से संतों के संसार में भी शाक्त, अप्राकृत तथा प्राकृत भोक्ता, योग्य एवम् भोगायतन की कल्पना है। आगमों की भांति संतों की सृष्टि का ढाँचा नाद एवं वर्णमय है। कुण्डलिनी प्रसुप्तनाद है और वर्णमयी उसकी अभिव्यक्तियाँ ही विभिन्न चक्रमय शक्ति केंद्र। अधोमुखी अवरोहण बेला में ये बंधन या आवरण हैं और ऊर्ध्वमुखी यात्रा में सहायक। संतों की सृष्टि प्रक्रिया में स्तर भेद और दृष्टिभेद को समझ लेने से जो बार बार अव्यवस्था देखी जाती है—दार्शनिक असंगति समझी जाती है—वह सब निरस्त हो जाती है। आगम सम्मत पार्यन्तिक आभासवाद के क्रोड में 'विवर्त' और 'परिणाम' जो लोग देखेंगे, निश्चय ही उन्हें संतों की सृष्टि प्रक्रिया में शंकर विवर्तवाद नहीं दिखाई पड़ेगा।

लीलावश कल्पित इस आत्मविस्मृति से तभी मुक्ति हो सकती है जब पारमेश्वर अनुग्रह हो। पारमेश्वर अनुग्रह यदि पूर्ण मात्रा में है—तो 'दीक्षा' और 'साधन' उसी में समाहित मान लिया जाता है—अन्यथा साधक की क्षमता के भेद से 'गुरुदीक्षा' तथा 'आत्म साधना' के साधनों की भी अवशिष्ट मात्रा में सहायता लेनी पड़ती है। आगमों की भाँति संतों के यहाँ भी 'किरपा' हीन ही, 'गुरु' के 'शब्दबाण' की अपेक्षा है और अपेक्षा है—आत्मशुद्धि के निमित्त 'आणव' 'शाक्त' 'शांभव' साधना

की । 'वैखेरी' से 'मध्यमा' भूमि में प्रवेश करने के लिए मंत्रजाप द्वारा मंत्र का चिन्मयीकरण आवश्यक है । 'मध्यमा' में प्रवेश ही कुंडलिनी का जागरण है—मध्य विकास है, प्राणपान का समीकरण है—सूर्य चंद्र का मिलन है । समस्त आणव साधन इसी मध्यमाभूमि में प्रवेश के लिए है । 'तिल' द्वारा पिंड-राज्य का भेद और भेदाभेद राज्य में प्रवेश है । 'मध्यमा' में प्रवेश होते ही षट् चक्रबेध भी हो जाता है—पाताल की पनिहारिन गगन में चढ़ जाती है ।

इस ऊर्द्धव यात्रा के लिए 'सुरत' का 'शब्द' से 'योग' ही साध्य है । संतगण इसी की साधना करते हैं और गुरु राह निर्दिष्ट करता है । 'सुरति' शब्द का प्रयोग यद्यपि संत साहित्य में विभिन्न अर्थों में है—तथापि मुख्य रूप से इस प्रसंग में दो संदर्भों का 'सुरति' शब्द विशेष महत्व रखता है । एक तो 'सुरति शब्द योग' में सुरति और दूसरे 'सुरति-निरति' प्रक्रिया की 'सुरति' । सुरति निरति की अरणि-मंथन-कल्प प्रक्रिया इस योग में नितान्त महत्वपूर्ण है । इसी सुरति की सविकल्पक तथा निरति की निर्विकल्पक धाराओं के अभ्यास से सुरत (आत्मशक्ति) आँखों के अष्टदल कमल की अग्रदृष्टि की ओर सिमट कर धँसने लगती है और पुतलियाँ उलटने लगती हैं ठीक वैसे ही जैसे मृत्युकाल में । यही जीवित मरण है—यह स्थिति नितान्त कष्टप्रद है—यह मृत्यु का स्वयम् वरण है । कभी-कभी 'सुरति' को साधार यात्रा तथा निरति को निराधार तथा दृश्य हीन यात्रा भी संत साहित्य में कहा गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि सुरति 'दिव्य दृष्टि' है जिससे अध्यात्म यात्रा के दिव्य दृश्य दिखाई पड़ते हैं—दिव्यनाद सुनाई पड़ता है और सुरति उसी के सहारे ऊपर चढ़ती चली जाती है । एक स्थान इस यात्रा में महाशून्य-'धुंधकार' का आता है जहाँ वही सुरति निराधार होने के कारण 'निरति' बन जाती है । इस प्रकार 'सुरति' 'निरति' की प्रक्रिया से 'स्वयम्भू' द्वारा का परिचय मिलता है । कतिपय मनीषियों ने सुरति को चित्तवृत्ति की एकतान स्थिति और निरति को विषयापरक स्थिति मानी है और पुनः दूसरी सुरति को प्रगाढ़ प्रेम रूपा कही है । इस प्रकार दूसरी सुरति ही प्रगाढ़ प्रेममयी होकर साध्य बन जाती है । पर सुरति निरति की यह व्याख्या सम्प्रदाय सम्मत नहीं है । लगता है कि चित्त को साधार-निराधार का व्यायाम कराते हुए ऐसा बना लेना संतों का लक्ष्य है कि समाधि और व्युत्थान का भेद मिट जाय—नित्योदित समाधि की स्थिति आ जाय ।

इस साधना में 'सुरत' (आत्मशक्ति) का 'शब्द' के प्रति आकर्षण कराने में 'गुरु' माध्यम का कार्य करता है । 'गुरु' ने यदि साधक को उसकी क्षमता देखकर 'चैतन्य शब्द' की दीक्षा दी—तब तो वह वाण की भाँति साधक के अंतस् को ऐसा आंदोलित कर देता है कि सुरत उसमें भृंगी कीट की भाँति तल्लीन हो जाती है—आकर्षण उत्तरोत्तर इतना तीव्र होता जाता है कि 'विरह' का सम्हाल प्राणान्तक हो

जाता है। साधक इस महा साधना के निमित्त भावमय देह में प्रविष्ट होता है—अन्यथा यह पार्थिव पिंड तड़क कर जर्रे-जर्रे बिखर जाय। उसकी सुरत अष्टदल कमल की अग्रदृष्टि से होती हुई पिंड पार कर जाती है—स्थूल शरीर से हट जाती है, सूक्ष्म, कारण, वेंदव शरीर पार करती हुई शाक्तदेह में पहुँच जाती है—सारे आवरणों का घूंघट हटाती हुई पीव से मिल जाती है। अर्थात् राग साधना चिन्मय शब्द का उपदेश पाने पर सीधे आत्मावलम्बिनी हो जाती है—पर जड़ शब्द का उपदेश पाने पर शरीर गुरु की उपासना करनी पड़ती है। जप तथा ध्यान के माध्यम से साधक की वृत्ति एक तान होने लगती है और गुरु निर्दिष्ट जप प्रणाली-वैखरी जाप, अजपाजाप, लिव जाप से शब्द का चिन्मयीकरण हो जाता है—मंत्र चिन्मय बन जाता है—वैखरी से मध्यमा मध्यमा में, भेद से भेदाभेदमय राज्य में, पिंड से ब्रह्मांड में प्रवेश हो जाता है—पूरब से पश्चिम दिशा की यात्रा आरंभ हो जाती है। फिर बंकनाल से होती हुई सुरत महाशून्य का मैदान पार करती हैं और सत्यराज्य के द्वारा भँवर गुहा में प्रवेश करती है। इस गुहा में शब्द गूँजता है—जो 'सत्य राज्य' से आता है। सत्य राज्य में सुरति धुनि रूप सद्‌गुरु का साक्षात्कार करती है। अंततः उससे भी परे, अगम, अलख तथा अनामी लोकों में निःशब्द से एकरस होकर क्रीड़ापरायण हो जाती है—नित्य विहार करने लगती है।

इस अध्यात्म यात्रा में 'सुरत' की जो दिव्य शक्तियाँ उन्मीलित होती हैं—उनके कारण एक तो वह आध्यात्मिक स्तरों को पार करती है और दूसरी ओर वहाँ की रम्य विभूतियों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—जो दिव्य हैं—का भी साक्षात्कार करती है। संतों की साधना में कुछ संत ऐसे भी हैं जो नाभि देश से अपना प्रारंभ करते हैं—पर अधिकांश आँखों के तिल अथवा अष्टदल कमल से ही आरंभ करते हैं। फिर सहस्रार→त्रिकुटी→सुन्न→महासुन्न→भँवर गुहा→सत्य राज्य→अकह→अलख→अनामी स्तरों तक जाती है। इन स्थानों का दिव्य वर्णन संतों ने अपने अनुभव के साक्ष्य पर किया है। इन स्थानों में विपर्यय और आधिक्य भी देखा जाता है। इन भूमियों का संकेत आगम सम्मत अन्यान्य धाराओं में भी नामान्तर से मिलता है। आगमों में भी भेद की जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की षट् चक्र गर्भ स्थितियों का अतिक्रमण करने पर भेदाभेदमय तुर्यदशा की परिधि में आज्ञा चक्र से लेकर सहस्रार तक विभिन्न भूमियाँ पार करनी पड़ती हैं—ये भूमियाँ हैं—बिंदु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना। मायातीत इस महामाया की सीमा पार करने पर तुर्यातीत दशा की दो भूमियाँ हैं—उन्मनी तथा महाबिंदु। समना पर्यन्त पाशजाल किसी न किसी रूप में प्रस्तुत है—'उन्मनी' में पाशजाल शान्त हो जाता है। किसी न किसी रूप में इन भूमियों का संकेत वैदिक वाङ्मय, औपनिषद उक्ति, हीनयान, महायान, वज्रयान, वैष्णव वाङ्मय में भी मिलती हैं। इस

प्रकार विभिन्न धाराओं में बिखरी हुई इन अध्यात्म भूमियों का तुलनात्मक अध्ययन नितान्त रोचक है ।

कभी कभी यह कहा जाता है कि संत साहित्य या तो विशुद्ध दर्शन के क्षेत्र की वस्तु है या फिर समाजशास्त्र के क्षेत्र की । साहित्य से उसका कोई सरोकार ही नहीं—फिर साहित्य का अध्येता इस ओर आता ही क्यों है ? ऐसे लोग साथ ही यह भी मानते हैं कि संत अपनी साधना में अपने चरित्र में महान् हैं । अस्तु,संतों की 'दुष्ट' और 'असामाजिक' फलतः पतित कहने वाला तो अभी तक कोई नहीं हुआ—इस स्थिति में प्रश्न यह है कि जो संत 'अनमे' का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं—पुस्तकी ज्ञान की अवहेलनाकर 'अपरोक्षानुभूति' को ही सर्वोपरि मानते हैं और उस 'अपरोक्षानुभूति' को 'सुंदर' 'अनूपम' 'हरिरस' 'रामरस' तथा अनिर्वाच्य कोटि-का ठहराते हैं—वह महत्वहीन है—इसे कैसे माना जाय ? संत गण इसी सर्वाति शायी सौंदर्य संवलित एवं निरतिशय तथा दिव्य आनंद की जब अभिव्यंजना करें—और वह अभिव्यंजना 'प्रसन्न' तथा 'गंभीर' हो, 'रसमय' तथा 'बांकपन' लिए हो—तो कवित्व का अस्तित्व कैसे इनकार किया जाय ? इतना तो निश्चय है कि इन संतों ने कविता के लिए कविता नहीं लिखी और ठीक भी है—कविता लिखी कहा जाती है—वह तो हो जाती है । संतों की उक्तियाँ कविता हो गई हैं—लिखी नहीं गई हैं । कभी-कभी परप्रबोधनार्थ तथा 'प्रचार' की दृष्टि से खण्डन-मण्डन की ओर भी संतगण मुड़े हैं, परंतु वहाँ भी वाग्भंगिमा उछल पड़ी है । ऐसी सरस तथा वाग्वक्रता सम्पन्न उक्तियाँ में कवित्व दिखाई पड़े और पूर्वग्रह वश उसे कविता के क्षेत्र से पृथक् कर दिया जाय—तो क्या यह असहृदयता न होगी ? और 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनम्......' राम कहिए । निस्संदेह साधना जगत् के रूक्ष व्योरे काव्य नहीं हैं । जो जो नहीं है—उसे वह कहना भी दुराग्रह है ठीक वैसे ही जैसे जो जो है उसे वह न मानना । रहा यह कि फिर जो काव्य नहीं है—साहित्य का अध्येता उसका अध्ययन क्यों करे ? इसका उत्तर तो स्पष्ट है—कि साहित्य अखण्ड का उपासक है—खण्ड का नहीं—वह अखण्ड के परिप्रेक्ष्य में ही खण्ड के दर्शन करता है । अखण्ड को जितनी ही गहराई में एक साहित्यकार जानेगा—खण्ड का रस उतनी ही गहराई के साथ वह अनुभव करेगा ।

इस संदर्भ में सर्व प्रथम जिनकी प्रेरणा से यह कार्य आरंभ हुआ था, उस प्रेरणा-स्रोत सारस्वतशिखर म० म० कविराज पं० गोपीनाथ जी का सादर स्मरण करता हूं। इनके अक्षय स्नेह से मेरे अंतस् में ज्ञान का जो दीप प्रज्वलित हुआ—वह बराबर बना रहे—आज उनसे पुनः यही आशा चाहता हूँ ।

काशीस्थ ऊर्ध्वाम्नाय पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामिवर्य श्री महेश्वरा-नंद जी सरस्वती (भूतमूर्व प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय

सर्वतंत्रस्वतंत्र कवितार्किक चक्रवर्ती पं० महादेव पाण्डेय) का सश्रद्ध स्मरण मेरा पुनीत कर्तव्य है। सारस्वत क्षेत्र में मैं आपका ही लगाया हुआ क्षुप हूँ—जिसके अस्तित्व के लिए आज भी उनका स्नेह अविरल मिलता रहता है।

संप्रति, जिस विश्वविद्यालय में आज मैं कार्यरत हूँ—और अपना कार्य विद्वानों के समक्ष रखने लायक बन सका हूँ—उसके कुलपति डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' का हार्दिक आभार व्यक्त करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

चिर संकल्पित यह कार्य प्रारंभ ही न हुआ होता यदि आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की छाया न मिली होती। पंडितजी ने मुझे प्रत्येक चिंता से मुक्त रखकर न केवल वाचिक प्रोत्साहन दिया, प्रत्युत समय समय पर पुस्तकों की सहायता तथा अपने अमूल्य परामर्श एवं बौद्धिक उपलब्धियाँ भी दीं। एतदर्थ आचार्य के प्रति मैं प्रणत हूँ।

इस अवभृथ स्नान के अवसर पर आचार्य पं० भागीरथजी मिश्र, आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य पं० परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य श्री विनय मोहन जी शर्मा-प्रभृति विद्वानों का समय-समय पर मुझे जो बौद्धिक साहाय्य और स्नेहिल आशीर्वाद मिला है—उनके प्रति शिरोनत होना सहज है।

इस कार्य में विक्रम विश्वविद्यालय, सागर विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, काशी हिंदी विश्वविद्यालय, ना० प्र० सभा, तथा काशीस्थ विश्वनाथ पुस्तकालय, क० मा० मुंशी शोध संस्थान के अतिरिक्त डा० माताबदल जायसवाल, डा० भगवत्-शरण उपाध्याय एवं डा० पारसनाथ तिवारी आदि के व्यक्तिगत संग्रहों से भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ—अतः उन सब के अधिष्ठाताओं का आभार। यों प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जिन भी मनीषियों के ज्ञान-कण से यह घट भर सका है—उन सबका मैं हृदय से ऋणी हूँ।

इस यज्ञ में इतनी शीघ्र और निर्विघ्न सम्पन्नता न हुई होती यदि मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कुसुमलता त्रिपाठी ने समस्त पारिवारिक दुश्चिन्ताओं से मुझे तटस्थ रखने का भार न उठा लिया होता। उन्होंने अपनी समस्त आकांक्षाओं को मेरी अभ्युन्नति की वेदिका पर जो बलि चढ़ाई है—उसके लिए मैं अपना सौभाग्य समझूँ या उन्हें धन्यवाद दूँ—समझ नहीं पाता।

अंततः सभी ज्ञात-अज्ञात सहायकों के प्रति पुनः एक बार आभार और कृतज्ञता ज्ञापन।

राममूर्ति त्रिपाठी

उज्जयिनी
गुरुपूर्णिमा, १९७५

संकेत विवरण

१. आ० भा० आ० भा०	आधुनिक भारतीय आर्य भाषा ।
२. म० वा०	महात्माओं की वाणी ।
३. भा० सं० सा०	भारतीय संस्कृति और साधना ।
४. सं० वा० संग्रह	संत बानी संग्रह ।
५. हिं० का० नि० सं०	हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय ।
६. पु० ला० श्रीवास्तव	पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव ।
७. ह० प्र० द्विवेदी	हजारी प्रसाद द्विवेदी ।
८. वि० प्र० मिश्र	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।
९. कबीर श०	कबीर शब्दावली ।

विषय सूची

———

प्रास्ताविक प्रकीर्णक-विमर्श

'नाथ' और 'निर्गुण' सम्प्रदाय की आंतरालिक शृंखला

निर्गुण धारा में दृष्टिगोचर होने वाली कतिपय ऐसी विशेषताओं को, जो हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन इतर धाराओं में उपलब्ध नहीं होतीं, पूर्ववर्ती साधना परक साहित्य में ढूँढने का प्रयत्न अन्वेषियों ने किया है। इस प्रयत्न के संदर्भ में उत्तर भारतीय जिन साधन धाराओं से प्रकान्त धारा का संबंध जोड़ा जाता है, वे हैं : सिद्ध, नाथ तथा वारकरी। संभव है यदि समस्त भारतीय (दक्षिणा पथ भी) फलक पर इसका विचार किया जाय तो दक्षिण के विभिन्न साधना परक साहित्य में भी कतिपय समान विशेषताएँ उपलब्ध हो जायं। कन्नड़ का वचन साहित्य प्रमाण रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

'नाथ' और 'निर्गुण' धाराओं के बीच जिस प्रकार आचार्य रामचन्द्र[1] शुक्ल ने वारकरी (साधक नामदेव) को मध्यवर्ती लड़ी मानी है, ठीक उसी प्रकार डा० बड़थ्वाल ने कतिपय तर्कों के आधार पर 'निरंजनी धारा' को भी। उन्होंने कहा है— "निरंजनी सम्प्रदाय नाथ संप्रदाय का एक विकसित रूप है जिसमें योग पूर्णतः वेदांती प्रभाव में आ चुका है। यह एक प्रकार से नाथ संप्रदाय एवं निर्गुण सम्प्रदाय का मध्यवर्ती[2] है।" डा० बड़थ्वाल ने 'निरंजनी धारा' का पार्थक्य-स्थापन करते हुए तीन तर्क दिए हैं—पहला यह कि उस साधना धारा में योग को पूर्णतः वेदांती प्रभाव में ले लिया गया है। दूसरा यह कि इस धारा में कबीरादि निर्गुनियों की तरह मूल धर्म का खंडन नहीं है—अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिमा पूजन एवं वर्ण व्यवस्था का मण्डन है। तीसरा यह कि निरंजनियों का ब्रह्म कबीर पंथियों तथा राधास्वामी मत में परवर्ती सृष्टि अथवा काल पुरुष के रूप में स्वीकृत हो गया है।[3] इन तर्कों से "निरंजनी धारा' को 'निर्गुण धारा' से पृथक् करने का प्रयास तो किया ही गया है, इसे प्राचीन सिद्ध करने के भी प्रयत्न हैं। डा० बड़थ्वाल द्वारा 'नाथ' का विकसित रूप सिद्ध करना उसे प्राचीन ही तो कहना है। इस दिशा में आचार्य क्षितिमोहन सेन[4],

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, ज्ञानाश्रयी शाखा।

२. हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृष्ठ ६।

३. 'मकरंद', 'हिंदी काव्य की निरंजन धारा' शीर्षक लेख तथा हि० का० नि० सं० की प्रस्तावना।

४. मेडीवल मिस्टीसिज्म आव इण्डिया, क्षितिमोहन सेन, पृ० ६६, १२०।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी[1] तथा डा० भगीरथ मिश्र[2] को भी लिया जा सकता है। श्री सेन मानते हैं कि निरंजन पंथ नाथ पंथ का समकालीन है और इसका एक रूप उड़ीसा और भारत में प्रचलित था। उन्हीं के अनुसार कभी इसका प्रचार उत्तरी पश्चिमी पंजाब, राजपूताना, जोधपुर, कच्छ और सिंध में काफी रहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी मत है—"ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुर के जंगली इलाकों को घेर कर वीरभूमि से रीवाँ तक फैले हुए भूभाग में अनेक स्थलों पर धर्म देवता या निरंजन की पूजा प्रचलित थी। डा० भगीरथ मिश्र का विचार है "निरंजन पंथ कबीर के निर्गुण पंथ से प्राचीन है। यह सहजयान, नाथ पंथ और सिद्धों के योगी पंथ के साथ-साथ ही प्रादुर्भूत जान पड़ता है।" विचारकों ने यह भी विचार किया है कि यदि यह स्वतंत्र और प्राचीन धारा है तो इसका प्रवर्तक कौन ? परशुराम चतुर्वेदी ने क्षितिमोहन सेन का ही हवाला देते हुए इसका 'मूल रूप' उड़ीसा में उद्भूत बताया[3] है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि राजस्थान वाले ऐसे मत के मूल प्रवर्तक स्वामी निरानंद निरंजन भगवान निर्गुण के उपासक[4] थे। राघो दास के भक्तमाल के आधार पर श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने इसके मूल प्रवर्तक रूप में जगन की भी संभावना[5] की है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने हरिदास जी को माना[6] है, लेकिन स्वयं हरिदास की वाणी में गोरख और कबीर के प्रति आस्था व्यक्त[7] की गई है। डा० मोती सिंह का अनुमान है कि संभव है दो हरिदास[8] हुए हों—एक काफी पूर्व आरंभ में, जो मूल प्रवर्त्तक हों और दूसरे परवर्ती। इस प्रकार सभी विचारक निरंजनी सम्प्रदाय को पृथक् और प्राचीन मान लेने अथवा न मान लेने की दिशा में एक लम्बे अरसे से सोचते विचारते रहे हैं।

इसके पार्थक्य के विषय में ऊपर जो तर्क दिए गए हैं—वे सबके सब ग्राह्य नहीं हैं। ग्राह्य इसलिए नहीं हैं कि वे भेदक ही नहीं हैं। जहाँ तक वेदांत प्रभावित योग का संबंध है, परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि वे दादू पंथ और बावरी पंथ की साधनाओं में भी मिलते हैं।[9] प्रतिमा पूजन और वर्णाश्रय व्यवस्था का अनुमोदन व्यावहारिक

---

१. विश्वभारती पत्रिका (श्रावण, आश्विन, २००३ विक्रमी) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।
२. निरंजनी संप्रदाय और संत तुलसीदास निरंजनी, डा० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ सं० ६।
३. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृष्ठ ३२७।
४. वही।
५. वही, पृ० ३३९।
६. वही, पृ० ३४१। सं० २०२१ द्वि० सं०।
७. वही, ३४९ पृ० ६।
८. निर्गुण साहित्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सं० २०१९ पृ० २८, २९।
९. उ० भा० की सं० पर०, पृष्ठ ३५४।

भूमिका पर अक्षर अनन्य जैसे साधक-निर्गुनिएँ साधक—भी[1] करते हैं रामानंद और नामदेव तो करते ही थे । निरंजन को सृष्टि में परवर्ती अथवा काल पुरुष मानना निर्गुण पंथ के परवर्ती साहित्य की विशेषता है, अन्यथा कबीर ने निरंजन को परब्रह्म रूप में स्वीकार किया[2] ही है । फलतः ये तर्क निरंजन पंथ को निर्गुण पंथ से पृथक् नहीं करते । चतुर्वेदी जी ने निरंजनियों की साधना पर विचार करते हुए यह भी मान लिया है उनकी नाम स्मरण प्रक्रिया निर्गुनियों के 'सुरत शब्द योग'[3] से अभिन्न ही है। दोनों साधन धाराओं की साधना-गत एकरूपता दोनों के पार्थक्य में अकाट्य बाधक है । संत तुलसीदास ने भी 'सुरति'[4] की चर्चा की है।

संप्रति, विचारणीय यह है कि यह धारा कबीर से पूर्ववर्ती है या परवर्ती ? यदि पूर्ववर्ती है और उसकी साधना 'सुरति शब्द योग' से अभिन्न है तो 'निगुंन पंथ के प्रवर्तन का श्रेय किसे दिया जाय—यह एक प्रश्न नया खड़ा होगा, और परवर्ती है तो स्वतंत्र पंथ या साधन धारा किस प्रकार माना जाय ?

डा० मोती सिंह की संभावनाएँ इस रूढ़ विचार को कुछ आगे अवश्य ढकेलती हैं, पर प्रामाणिक आधार के अभाव में वह शुद्ध संभावना ही बनकर रह जाता है—इससे अधिक नहीं ।

निरंजनी संप्रदाय के जिन तीन प्रवर्तकों—स्वामी निरानंद निरंजन भगवान् जगन या जगन्नाथ तथा हरिदास—की चर्चा पहले की गई है, उनमें से साधार और प्रामाणिक पता हरिदास का ही लगता है, जिनका समय पं० परशुराम चतुर्वेदी ने सं० १६०० का आरंभ संभावित किया है । डा० मोती सिंह ने एक और मूल पुरुष के रूप में हरिदास की कल्पना की है और उसकी पुष्टि में यह संभावना जोड़ दी है कि सामान्य जनता के बीच किसी साधक द्वारा प्रवर्तित पंथ पहले मौखिक रूप में श्रद्धा और विश्वास के बल पर जीता है—फिर समय वश किसी पंडित की अंगुली पकड़ कर लिखित रूप में भी प्रतिष्ठा पा जाता[5] है । हो सकता है १६ वीं शती के हरिदास पण्डित ने उसको लिखित और व्यवस्थित रूप देने में प्रयत्न किया हो। पर यदि कोई इतर हरिदास नामक मूल पुरुष होता तो निरंजनी सम्प्रदाय के किसी भी साधक सर्जक की रचना में उसका सादर उल्लेख मिलता । विपरीत इसके इस संप्रदाय के प्रतिष्ठित और अन्य पंथ वालों द्वारा भी सादर स्मृत हरिदास ने गोरखनाथ और कबीर का सश्रद्ध स्मरण किया । इस चिन्तन प्रक्रिया से किसी इतर हरिदास नामक मूल पुरुष

---

१. अक्षर अनन्य ग्रंथावली, सं० अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव ।

२. कबीर ग्रंथावली ।

३. उ० भा० की सं० प०, पृष्ठ ३५१ ।

४. निरंजनी संप्रदाय और संत तुलसीदास, "ऐसी सुरति रामसूं होय", पृ० ६३ ।

५. निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, ना० प्र० सभा, सं० २०१९ ।

की कल्पना निराधार और अविश्वसनीय लगती है। यह तो संभव लगता है कि आरंभ में वह पंथ निम्न जातियों के बीच मौखिक परम्परा में उत्पन्न और विकसित हुआ हो—बाद में पूर्व-उत्तर एवं पश्चिम में विभिन्न संस्कार के लोगों में फैलकर विभिन्न स्थानीय प्रभावों से संवलित होकर नाम से एक होकर भी भिन्न-भिन्न लग रहा हो। यह भी संभव है कि कबीर एवं गोरख के प्रतिष्ठित व्यक्तित्व और साधना से उनके पश्चात् आने वाले स्वामी हरिदास ने सादर स्मरण किया हो। लेकिन एक बात समझ में नहीं आती कि यदि स्वामी हरिदास का गुरु इन दोनों से भिन्न था; तो उसकी उपेक्षा क्यों कर इन्होंने की ? उसका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इस प्रकार निरंजनी सम्प्रदाय को मध्यवर्ती-नाथ एवं संत की—कड़ी तमाम परम्परा एवं श्रद्धाप्रसूत वाचिक अंबार की छानबीन किए विना मान लेना संभव नहीं है।

वास्तव में मध्यकाल इतने अधिक पंथों के जाल से समाकीर्ण है कि अनुसंधान से भी उनको भेदकर किसी सर्ववादिसम्मत निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। तुलसी, कबीर, नाथ आदि के साहित्य में भी पंथों की विविधता के संकेत मिलते हैं। वास्तव में सामान्य जनता के धरातल पर जहाँ दार्शनिक गहराई की अपेक्षा नहीं होती—श्रद्धा और विश्वास के जहाँ नदी-नद निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं वहाँ विभिन्न 'महा-पुरुषों का उद्‌भव अप्रत्याशित नहीं है। पालों के काल में निम्न जातियों का पूर्वी भारत में खूब जमावड़ा था। वहाँ पुस्तकी ज्ञान और परम्परागत मान्यताओं के विपक्ष की आग काफी गरम थी। फिर तो ऐसे मत-पंथों का प्राचुर्य बौद्ध एवं वैष्णव साधकों की छाया में संभव था और हुआ। अस्तु, यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'निरंजनी सम्प्रदाय' पर सोचना-विचारना बंद कर देना चाहिए। नई सामग्री की खोज एवं तदा-धृत परिचर्चा स्वागत योग्य है।

राहुल जी ने भी इस दिशा में सोचते हुए कहा है—"यदि बारहवीं शताब्दी के अन्त से चौदहवीं शताब्दी के अंत का कविता प्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और संत कविता प्रवाह के एक होने में आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़ने वाली श्रृंखला नाथ पंथ की कविताएं[1] हैं।" आचार्य शुक्ल ने इन सब अटकलवाजियों का समन्वय करते हुए कहा है—"भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई, उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई। हृदय पक्ष शून्य सामान्य अंतःसाधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ पंथी कर चुके थे—यह हम कह चुके हैं। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८-१४०८) ने हिंदू मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीर दास ने विशेष तत्परता

१. पुरातत्व निबंधावली, (१९५८) पृ० १३२।

के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण पंथ' के नाम से चलाया।"[1] शुक्ल जी की दृष्टि में इसकी ओर ले जाने वाली पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई, वह ऊँच नीच और जाति-पाँति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। इस भाव का सूत्रपात भक्ति मार्ग के भीतर महाराष्ट्र और मध्यदेश में नामदेव और रामानंद द्वारा हुआ। "नामदेव की निर्गुन बानी की भाषा नाथ-पंथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा थी।" इस तरह सोचते हुए शुक्ल जी ने कहा—"नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुन पंथ' के लिए मार्ग निकालने वाले नाथ पंथ के योगी और भक्त नामदेव थे। जहाँ तक पता चलता है निर्गुण मार्ग के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीर दास ही थे।"

उपर्युक्त पंक्तियों में शुक्ल जी ने सिद्ध नाथ-वारकरी निर्गुन पंथ की जो श्रृंखला प्रस्तुत की है—वह विभिन्न प्रमाणों पर आधृत होने के कारण विश्वसनीय लगती है। हाल के कतिपय प्रयत्नों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है कि निर्गुण पंथ के प्रवर्तन का श्रेय कबीर दास को नहीं, महाराष्ट्र के संत नामदेव को देना चाहिए।

प्रवर्त्तक की समस्या :

'निर्गुण मत' या 'निर्गुण धारा' जैसी संज्ञा का प्रयोग निर्विवाद रूप से कबीर से आरंभ होने वाली साधन धारा को ध्यान में रखकर किया गया है। इस साधना को प्रकाश में लाने वाले कबीर हैं, जहाँ तक मेरी जानकारी है—नामदेव नहीं। कारण, नामदेव वारकरी पंथ के सुख्यात साधक हैं। उत्तर भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों में रहने के कारण अवश्य ही कतिपय बातें नामदेव ने ऐसी कह दी हैं, जो कबीर प्रवर्तित निर्गुण धारा के साहित्य में ज्यों की त्यों उपलब्ध होती हैं। क्या इन ऐतिहासिक परिस्थितियों से समुद्भूत समानताओं के कारण 'निर्गुण साधन धारा' का मूल उत्स अथवा प्रवर्त्तक मुख्यतः वारकरी संत 'नामदेव' को मान लेना चाहिए ? कहा जा सकता है और कहा गया है कि अन्य आध्यात्मिक विशेषताएँ और रहस्यवादी पारिभाषिक पदावलियाँ भी नामदेव की रचनाओं में मिलती हैं। उदाहरण के लिए श्री विनय[5] मोहन शर्मा ने श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा निर्दिष्ट संतों की समस्त विशेषताएँ नामदेव की बानियों में दिखाई हैं। इन लोगों की दृष्टि में संतों की निम्नलिखित चार विशेषताएँ हैं—

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास (रा० च० शुक्ल) पृष्ठ ६४।
२. वही, पृष्ठ ६६।
३. वही, पृष्ठ ७०।
४. वही, पृष्ठ ७०।
५. हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० १२७।

(क) प्रत्यक्ष अनुभव से सत्यान्वेषण ।
(ख) सुमिरन या नामस्मरण का आग्रह ।
(ग) सद्‌गुरु महत्व प्रतिपादन ।
(घ) बाह्याडंबर की व्यर्थता ।

शर्मा जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि नामदेव में यह सब कुछ है—इसलिए वे निर्गुण मत के प्रवर्तक हैं। शर्मा जी अपनी इस स्थापना में पर्याप्त सतर्क हैं कि इन्हीं विशेषताओं को वौद्ध सिद्धों और नाथों में दिखाकर कोई यह न सिद्ध कर दे कि निर्गुन धारा के मूल प्रवर्तक इन्हीं कारणों से सरहपाद अथवा गोरखनाथ भी हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने एक विशेष भेदक तत्व की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वौद्ध और नाथों में निर्गुण पंथ की ओर सव विशेषताएँ तो थी, किंतु 'भक्ति' की भावना नहीं थी—नामदेव में थी। इसलिए उन्होंने अपनी स्थापना को पुष्ट भी समझा—उसमें उन्हें अतिव्याप्ति लक्षित न हुई। उन्हने चतुर्वेदी जी की 'माइआ मोहिया' जैसे आरोपों का खण्डन करते हुए अपनी स्थापना दृढ़ कर दी कि निर्गुण धारा की समस्त विशेषताएँ नामदेव में हैं। फलतः निर्गुणधारा के प्रवर्तक होने का श्रेय कबीर के वदले नामदेव को ही दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त स्थापना में कतिपय अन्य आशंकाएँ भी हैं जिनकी ओर हमें ध्यान देना है। पहली आपत्ति तो यही है कि स्थापक ने नामदेव को स्वयं पृथक् मान लिया है—तभी तो एक की विशेषता (अपने से भिन्न) दूसरे में दिखा रहा है। अस्तु, इस आपत्ति के निराकरण में तो वह कह सकता है कि वे दूसरे लोग हैं जो नामदेव को निर्गुण धारा से पृथक् मानते हैं, स्थापक तो स्वयं उसे मूल उत्स ही मानता है—अतः यह कोई आशंका नहीं है। लेकिन स्वयं स्थापक नामदेव को बारकरी संत मानता है—बारकरी साधना का साधक मानता है—इस स्थिति में क्या वे नामदेव को एक ही साथ 'बारकरी' और 'निर्गुणी'—दोनों मानना चाहते हैं—अथवा जिन लोगों का भी यह पक्ष है—उन सबके प्रति यह प्रश्न समान रूप से लागू होता है। क्या यह संभव है कि एक ही साथ एक ही साधक (बारकरी और निर्गुण) दोनों साधन धाराओं का अनुष्ठाता हो? क्या शर्मा जी नामदेव को निर्गुण मत प्रवर्त्तक कहते हुए बारकरी साधना और निर्गुण साधना—को एक ही तो नहीं कहना चाहते? निष्कर्ष यह कि एक ही व्यक्ति को दो धाराओं से जोड़कर इन सहज उठ खड़ी हुई आशंकाओं का समाधान वे क्या देते हैं? संभव है इस पक्ष से उन्होंने सोचा ही न हो। नामदेव को निर्गुण मत प्रवर्त्तक सिद्ध करते हुए इस तरफ भी दृष्टिपात आवश्यक है। दो धाराओं से जुटे हुए नामदेव को लेकर यह कहना कि विट्ठल की सगुणोपासना को बिट्ठल के ही आदेश से छोड़कर ज्ञानदेव के प्रभाव में विसोवा खेचर से दीक्षित हो योग और भक्ति द्वारा निराकारोपासना की ओर झुकने पर वे 'बारकरी' धारा से विच्छिन्न हो गए और एक भिन्न साधना

धारा का सूत्रपात किया, जिसे 'निर्गुण धारा' कहा गया——सर्वथा असमीक्षित और परम्परा विरुद्ध है। स्वतः ज्ञानदेव की यही सावना थी——जो वारकरी के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हीं की दिशा में धावमान नामदेव को वारकरी साधन धारा से विच्छिन्न किस प्रकार माना जा सकता है ? क्या उत्तर भारत में आकर वहाँ की परिस्थितियों से विमुग्ध और विनाशगामी दो भिन्न जातियों की आलोचना में कुछ कह गए—बस इसी कारण क्या नामदेव को 'वारकरी' से पृथक् मान लेना संगत होगा ? निष्कर्ष यह कि वे वारकरी साधन धारा के संत हैं—उन्हें निर्गुण धारा से प्रवर्त्तक रूप में संवद्ध करना कथमपि संगत नहीं जान पड़ता।

यह कहना कि निर्गुनियें संतों की वानियों की सारी विशेषताएँ यदि अपने पूर्ववर्ती संतों या संत में समग्र रूप से मिलती हैं तो वह नामदेव में, दूसरों में नहीं, चाहे वे नामदेव से भिन्न ज्ञानदेव आदि वारकरी संत हों या वौद्ध सिद्ध अथवा नाथ सिद्ध—भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि ज्ञानदेव में नामदेव से निर्गुण साहित्यगत समानताओं में कुछ न्यूनता है तो वह केवल उत्तर भारतीय परिस्थितियों से उत्पन्न आलोचनाओं की (सगुण खण्डन, मूर्ति पूजा खण्डन, अवतार निराकरण) जो वाह्य तत्व हैं, बहिरंग वातें हैं। इसलिए इस स्थूल समानता के कारण नामदेव को जोड़ना और ज्ञानदेव को पृथक् करना सर्वथा अग्राह्य है। इसी प्रकार वौद्ध सिद्धों एवं नाथ सिद्धों के निर्गुनियों को इसलिए पृथक् समझना कि सिद्धों एवं नाथों में 'भक्ति' तत्व नहीं है और निर्गुनियों में है—सर्वथा भ्रामक और आधारहीन है। सहजोपासक वौद्ध सिद्ध 'राग मार्गी' हैं, कृच्छ मार्गी नहीं। उनका तो उद्घोष है—"रागेण वद्ध्यते लोकः रागेणेव विमुच्यते[१]।" ऐसे अनेक सिद्धों की कथाएँ हैं जिन्होंने केवल गुरु भक्ति से ही चरम तत्व को पा लिया था। अद्वय वज्र संग्रह में गुरु को युगनद्ध कहा गया है। यही स्थिति नाथ सिद्धों की भी है। इनके साहित्य में भी गुरु भक्ति का स्वर पर्याप्त तीव्र है। यही कारण है कि नाथमत का पर्याय गुरुमत कहा जाता है। संतों की भक्ति 'गुरु भक्ति' ही है। परम्परा में पढ़ने लिखने वालों के बीच भक्ति कहीं से आई हो, संत मानते हैं—

"संतों, भक्ति सतोगुरु आनी"[२]

इस वात का विचार आगे चलकर किया जायगा कि संतों या निर्गुनियों का 'भक्ति' का आशय और स्वरूप क्या हो सकता है ? डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति अधिकांश चिन्तकों का अभिमत है कि नाथ पंथ या नाथों में संतों के लिए और

१. An Introduction to Tantrik Buddhism, p. 123.

२. "कबीर और ज्ञानेश्वर ने गुरु भक्ति नाथ संप्रदाय से विरासत में पाई थी"—टंकित शोध प्रबंध, पृष्ठ सं० २८७, "कबीर और ज्ञानेश्वर पर नाथ पंथ का प्रभाव" उपस्थापक :—प्रा० कु० डा० भिगारकर, पूना वि० वि०, १९६८।

सब कुछ था—केवल कुछ नहीं था तो 'भक्ति' मात्र। अपनी पुष्टि में उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास को भी उद्धृत किया—"गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।" डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'याम्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्" में 'सिद्धाः' का अर्थ नाथ पंथी सिद्ध ही लिया। उन्होंने कहा कि इन सिद्धों में हृदय पक्ष का अभाव था—उनमें श्रद्धा और विश्वास नहीं था—इसीलिए वे स्वान्तःस्थ ईश्वर का दर्शन नहीं पाते थे। पर इन दोनों उद्धरणों से नाथ सम्प्रदाय में 'भक्ति' का अभाव सिद्ध नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि भक्ति या रागात्मिका वृत्ति की अतृप्त स्थिति के जो सरस उद्गार संत साहित्य में उपलब्ध होते हैं—उस स्तर और श्रेणी के उद्गार नाथ साहित्य में नहीं मिलते। मात्रा का अंतर हो सकता है—जो साधना भेद की अनिवार्य परिणति है—पर वह तत्व ही नाथों में नहीं है—उपलब्ध नाथ साहित्य के साक्ष्य पर यह कतई विश्वसनीय नहीं है। ज्ञानदेव नाथ पंथ की परम्परा में है, पर ज्ञानेश्वरी गुरु भक्ति की भावना से परिपूर्ण है—नामदेव की तो कोई बात ही नहीं—उनमें तो वह तालावेली भी मिलती है जो निर्गुनियों में है। कहा जा सकता है कि ज्ञानदेव और नामदेव में यही तत्व तो भागवत भक्ति की परम्परा से मिली थी। जो भी हो, उस भक्ति तत्व का अभाव नाथ परम्परा में नहीं है—मात्रा अवश्य वह नहीं है और हो भी तो उसका पता देने वाली साक्षीभूत पंक्तियाँ नहीं हैं। रही बात उपर्युक्त दोनों उद्धरणों की—जो नाथ धारा में 'भक्ति' तत्व का अभाव सिद्ध करते हैं। कारण, वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास जी उस गोरख की बात कह रहे हैं जो उनकी आँखों के सामने लोक-मानस में घर कर गया था और 'भगति' का लोप कर रहा था। दूसरे उद्धरण की तो व्याख्या ही गलत की गई है। वास्तव में दूसरे उद्धरण।अर्थक ही है कि श्रद्धा और विश्वास के बिना सिद्ध लोग भी ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकते—अर्थात् जो सिद्ध होकर भी ईश्वर का साक्षात्कार कर पाते हैं उन्हें श्रद्धा या भक्ति का सहारा लेना पड़ता है। निष्कर्ष यह कि निर्गुन धारा के कबीर जैसे साधक से पूर्ववर्ती साधकों में भी समान विशेषताएँ ढूँढ़ी जायँ तो मिल सकती हैं—अतः केवल बहिरंग समान विशेषताओं के आधार पर नामदेव को निर्गुण मत का प्रवर्तक कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस स्थापना के लिए आवश्यक यह था कि नामदेव की साधन धारा और कबीर आदि निर्गुनियों की साधन धारा पर विचार किया जाता और साधकों की इस अंतरंग विशेषता के परीक्षण के आधार पर यदि दोनों की एकरूपता मिलती—तब नामदेव को निर्गुण धारा का प्रवर्तक कहा जाता, पर जो होना चाहिए—वह नहीं हुआ। ऊपरी अभिव्यक्तियाँ, जो साधकों के साहित्य में मिलती हैं—वे समान हो सकती हैं—फिर भी जब तक साम्प्रदायिक परम्परा का बोध न हो—तब तक साधन-धारा या प्रस्थान सरणि—जो भिन्न हो सकती है—का निर्द्धारण नहीं हो

सकता। इन ऊपरी समानताओं और अभिव्यक्तियों से भिन्न धारा के साधकों को एक नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह कि जिन समानताओं के आधार पर नामदेव को निर्गुण मत का प्रवर्तक कहा जा रहा है—वे सुदृढ़ नहीं हैं।

अस्तु। अब देखना यह चाहिए कि 'बारकरी' साधना क्या है और 'निर्गुण साधना' क्या है—यदि इन दोनों में कहीं अभेद की संभावना हो भी तो भी सवाल यह खड़ा होगा कि प्रवर्तक का श्रेय नामदेव को ही क्यों ज्ञानदेव को क्यों नहीं ? क्या केवल इसलिए कि उत्तर भारत की परिस्थितियों में रहने के कारण उन्होंने कुछ ऐसी ऐसी बातें कहीं जो आगे चलकर निर्गुनिएँ संतों में भी मिलती हैं ? बिलकुल नहीं। साधकों का एकीकरण अंतरंग साधना के एकीकरण पर संभव है—न कि अंतरंग पक्ष से भिन्न रहते हुए भी परिस्थिति साम्य वश समुद्भूत बहिरंग समानताओं पर।

कुछ लोगों का विचार है कि नामदेव में बिसोबा खेचर ने जिस भक्ति और योग का बीज वपन किया था—उसकी साधना और प्रचार के अनुरूप वातावरण उत्तर भारत में ही मिला—उसी का पूर्ण बढ़ाव निर्गुनिएँ संतों में मिलता है। इस आलोक में ये लोग इस प्रकार नामदेव को प्रवर्तक सिद्ध करना चाहते हैं।

वस्तुतः यह संभावना और तर्क भी सुसमीक्षित नहीं है। क्या ऐसा कह कर वे लोग यह कहना चाहते हैं कि यदि नामदेव किन्हीं कारणों से उत्तर भारत में न आए होते, तो ज्ञानदेव और बिसोबा खेचर के उपदेश और साधना को उन्होंने कार्यान्वित न किया होता ? एकनाथ कृत 'आनंद लहरी[1]' में स्पष्ट कहा गया है कि नामदेव यदि अध्यात्म क्षेत्र में पूर्णता चाहते हैं तो 'गुरु' की उपासना करें। ज्ञानदेव के कारण बिसोबा खेचर जैसा गुरु मिला भी। क्या इस भूमि पर महाराष्ट्र में इस साधना को इसलिए उपेक्षित किया गया कि उसके अनुरूप वहाँ वातावरण नहीं था ? क्या ज्ञानदेव ने स्वतः इस साधना को नहीं किया था ?

महाराष्ट्र में नाथ धारा और भागवत धारा का अद्भुत समरसीकरण बारकरी पंथ में मिलता है। स्वतः बारकरी पंथ के प्रवर्तक ज्ञानदेव वैष्णव कुल में पैदा हुए थे और नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित थे, अतः संस्कारानुरूप उन्होंने ऐसी साधना प्रचलित की जिसमें दोनों के तत्व सम्मिलित थे। दोनों के तत्व बारकरी साधना के असाधारण विशेषता के रूप में गृहीत साधना के दो स्तरों पर मिलते हैं। पहला स्तर है सगुण साधना का और दूसरा निर्गुण साधना का। बारकरी मत में सगुण साधना को अनिवार्य अंग माना गया है और विट्ठल की उपासना होती है। इस उपासना के भी दो रूप प्रचलित हैं—व्यक्तिगत एवम् सांघिक व्यक्तिगत रूप में विट्ठल का नाम जप तथा ध्यान चलता है और सांघिक रूप में 'निरूपणी' कीर्तन (साम्प्रदायिक

---

१. पृ० ५। ११६, २०, २१।

संतों के अभंगों का निरूपण पूर्वक कीर्तन)। इस साधनीभूत उपासना की फलात्मक परिणति थी—गुरु की उपलब्धि जो नामदेव को हुई थी। तदनंतर द्वितीय स्तर की उपासना परतत्व की उपासना आरंभ होती थी। भागवत के एकादश स्कंध में स्वयं भगवान् कृष्ण ने कहा है—

> निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
> परमानंदमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥११।१५॥

इसकी एकनाथी व्याख्या भी द्रष्टव्य है। अंततः साधक को चाहिए कि वह अपने मलहीन मन को निर्गुण ब्रह्म की ओर एकाग्र करे। ऐसा करने से परमानंद की उपलब्धि होती है। यहाँ अन्य मनोवृत्तियाँ स्वयं लीन हो जाती हैं। नाम साधना इस द्वितीय स्तर पर भी चलती रहती है जिसका 'सा हं' या 'सोहंग' के रूप में बारकरी साधकों के यहाँ उल्लेख मिलता है। यहाँ नाद को भी महत्व है साथ ही ऊँकार के जप को भी। तुकाराम महाराज की उक्तियाँ हैं—

(क) ऊर्ध्वमुखें आलबीला सोहं शब्दाचानाद।
अरूप जागविला हाता घेऊनिया छंद।
घेऊनि आला दान निजतत्व निज बोध
स्वरूपी मेल मिले नांव ठेंविला भेद।

(ख) निजी निजरूपी निजविला तुका।
अनुहताचा बालका हल्लसगात्री।

ज्ञानेश्वर की उक्ति हैं—

(ग) सतरा विमेचे स्तन्य देसी।
अनाहता चा हल्लस गासी। ज्ञानेश्वरी[1] अध्याय १२।

अर्थात् 'सा हं' 'सा हं' के अजपाजाप से स्वरूप साक्षात्कार होता है—समस्त भेदों का विलयन हो जाता है।

प्रसंगात् प्रश्न यह खड़ा होता है कि इस दो स्तरों की साधना में नाथपंथीय प्रभाव क्या है ? यह प्रभाव द्वितीय स्तर पर गुरु की उपासना तो है ही। कारण, बारकरी मानते हैं कि साकारोपासना की परिणति है—गुरु की उपलब्धि। इस भक्ति के साथ साथ, श्री रा० चि० ढेरे की धारणा[2] है कि—बारकरी उन्हीं गुरु के निर्देश में पिपीलिका मार्ग की साधना करते हैं। भिंगारकर का भी मत है—"उसी प्रकार (जिस प्रकार कबीर में) हम 'सुरति शब्द योग' ज्ञानेश्वर की विशेषता नहीं कह

---

१. दिवंगत प्रसिद्ध बारकरी साधक श्री शंकर वामन दांडेकर के दो पत्रों से दिनांक १०–३–६६ तथा ७–४–६६।

२. बातचीत के प्रसंग से ज्ञात।

सकेंगे।"[1] स्व० श्री शंकर वामन दाण्डेकर की धारणा है—Sadhna is practically the same" उन्होंने यह भी कहा है—"In ज्ञानदेव, नामदेव & तुकाराम Mystics, there is a direct reference to this word 'सुरति'। मिंगारकर तथा दाण्डेकर—दोनों का इस विषय में विरोध स्पष्ट लक्षित होता है। समन्वय के नाम पर यह कहा जा सकता है कि साहित्य या रचनाओं में उल्लेख तो अनेक प्रकार के मिलते हैं—पर निर्णय होता है साम्प्रदायिक परम्परा से। अतः समन्वय की दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक परम्परा में वह न हो और साहित्य में अन्यान्य साधनाओं की भाँति उसका भी उल्लेख हो सकता है। स्वयं निर्गुनियाँ साहित्य में विहंगम मार्ग के साथ-साथ चक्रभेदोपयोगी पिपीलका मार्ग का भी उल्लेख मिलता है। पर साम्प्रदायिक मार्ग है—विहंगम मार्ग ही—सुरतिं शब्द योग ही। अन्यथा सबसे बड़ी आपत्ति यही होगी—कि फिर दो पृथक्-पृथक् साधन धारा—बारकरी एवं निर्गुण—कैसे? नाथ पंथ का निर्विवाद प्रभाव चरम तत्व के स्वरूप में मिलता है। नाथ सम्प्रदाय में परमतत्व का रूप आगमिकों के अनुरूप दिखाई पड़ता हैं। नैगमिक धारा में परतत्व को 'निर्विशेष ब्रह्म' कहा गया है, पर आगमिक धारा में वह द्वयात्मक अद्वय के रूप में स्वीकृत है। इसलिए नाथ पंथ में 'सामरस्य' की दशा ही चरम दशा मानी गई है। यह सामरस्य पिंड पद सामरस्य के रूप में उक्त है। 'ज्ञानेश्वरी' में ज्ञानदेव ने स्पष्ट रूप से चरम प्राप्य का स्वरूप नाथ पंथीय दृष्टि से निरूपित किया है। 'अमृतानुभव' में ज्ञानेश्वर ने बहुत ही स्पष्ट रूप से आगमिक विचारधारा के अनुरूप परतत्व विषयक अपनी धारणा व्यक्त की है। साधन पक्ष में जैसा कि आगे देखा जायगा—बारकरी नाथपंथीय साधना से भिन्न साधना के पक्षपाती हैं। वे भागवत साधना की ओर मुड़ गए हैं। यह भागवत साधना संभवतः उपर्युक्त दो सोपानों में से प्रथम सोपान की साधना है। जहाँ तक नाथ पंथ की कतिपय साधनाएँ इन लोगों को अविरोधी रूप से ग्राह्य जान पड़ती हैं—वहाँ अपना भी लेते हैं। नाथ पंथी साधक का लक्ष्य अमृत या पूर्ण दिव्यमय शरीर सम्पादन द्वारा 'पिण्डपद सामरस्य' है। काय या शरीर का चिन्मयीकरण करने में हठयोग की Psyco-chemical प्रक्रिया अपनाई जाती है। संभव है इस दृष्टि से इसका संबंध रसायन संप्रदाय से भी रहा हो। दोनों में यह अंतर भी हो सकता है कि रसायन संप्रदाय का Medical एवम् Chemical science नाथ सिद्धों के Psyco-elemical Yogic science में परिणत हो गया हो इस प्रकार काय साधना नाथ साधकों की असाधारण साधना थी। बारकरी साधकों की द्विस्तरीय साधना में नाम साधना का प्रामुख्य था, प्रथम स्तर पर भी और संभवतः द्वितीय स्तर पर भी। आत्मा की अधोमुखी शक्ति का ऊर्ध्वमुखीकरण या चिन्मयीकरण उभयत्र साध्य है, पर प्रक्रियां दोनों की

---

१. कबीर और ज्ञानेश्वर पर नाथ पंथ का प्रभाव (अप्रकाशित मंगारकर—शोध प्रबंध)।

अलग है। नाथ साधकों की भाँति इन बारकरी साधकों के अभंगों में नादतत्व पर भी पर्याप्त बल दिया गया मिलता है। वस्तुतः नाद का संबंध शक्ति या कुंडलिनी और उसके जागरण से है। यह अवश्य है कि उसके जागरण या चिन्मयीकरण में विभिन्न प्रकार के साधन हैं। बारकरी भक्ति या नाम साधना की धारा अपनाते हैं। भक्ति का आलम्बन प्रथम स्तर पर विट्ठल है और द्वितीय स्तर पर गुरु। 'ज्ञानेश्वरी'[१] में गुरु स्मरण की धारा हठात् फूट-फूट पड़ती है और ज्ञानदेव को उसे रोक रोक कर प्रकृत संदर्भ पर उतरना पड़ता है। वस्तुतः "ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने"—द्वारा बहुत ही सही कहा गया है कि ईश्वर, गुरु एवं आत्मा तत्वतः एक ही हैं—साधन काल में ये भिन्न से जान पडते हैं। इस प्रकार भक्ति (नाम जप और नामी का ध्यान) द्वारा आत्मशक्ति का जागरण या चिन्मयीकरण सम्पादित होता है और चरमतत्व की उपलब्धि हो जाती है। मतलब यह कि भक्ति द्वारा कुण्डलिनी जागरण, परिणामतः नाद साक्षात्कार के द्वारा गुणातीत दशा की प्राप्ति, मूलतत्व की प्राप्ति है। वर्णात्मक मंत्र ही जप के द्वारा नादात्मक परिणति लेते हैं और नाद का कारण आत्मशक्ति नाद से संवद्ध होने के कारण जागरित होती है। जगी हुई शक्ति शक्तिमान् से सामरस्य लाभ करती है।

रही निर्गुण साधना, सो लक्ष्य या साध्य के विषय में तो वह भी 'मालिक' और 'मौज' का सामरस्य चाहती है—फलतः साध्य-स्वरूप की दृष्टि से इसी आगमिक धारा के अंतर्गत आती है। परन्तु साधना इसकी भिन्न है। इनकी असाधारण साधना 'सुरत शब्द योग' है। इस योग को स्पष्ट करते हुए कहा जाता है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं—आहत और अनाहत। पहला आहनन-सापेक्ष है और दूसरा आहनन-निरपेक्ष। इन लोगों की धारणा है कि आनंदमय परतत्व लीला के लिए जब आनंद-भरित आत्मशक्ति को उच्छलित करता है—तब वह खण्ड-खण्ड होकर बिखरती हुई अधोगामी दशा में चिन्मयी होकर भी उलट जाती है—जड़वत् हो जाती है। ये ही विषय भेद से नानात्मक आभासित होती हुई शक्तियाँ आत्मा पर आवरण बनती जाती हैं और पारमेश्वर अनुग्रह गुरु दीक्षा तथा साधक के उपाय से जब ऊर्ध्वमुखी होकर उलटने लगती हैं तो मानो आत्मा पर पड़े हुए आवरण की ग्रंथियाँ चटक चटक कर टूटने लगती हैं, फलतः चिन्मयता की रश्मियाँ फूटने लगती हैं—शक्तियाँ अनाभिव्यक्त दशा से अभिव्यक्त दशा की ओर बढ़ने लगती हैं। हर अभिव्यक्ति के साथ एक अनाहत नाद भी व्यक्त होता है। भौतिक अवरोहण में शक्तियों के अधोमुख होने से जो विभिन्न आवरण तैयार होते हैं—उपनिषदों या तंत्रों में इन्हें ही कोश, अथवा चक्र कहते हैं। ये और कुछ नहीं, बल्कि शक्ति चक्र ही हैं। कारण, उन चक्रों के दलों पर वर्णकल्पना है। वर्ण नादात्मिका अथवा नादव्यंजिका शक्ति के ही स्फुट

१. देखिए, "ज्ञानेश्वरी"—बारहवाँ अध्याय, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी २०१३।

रूप हैं। विशिष्ट प्रक्रिया से जब ये आवरण चक्र ऊर्ध्वमुखी होकर उलटने लगते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि अव्यक्त या जड़वत् प्रसुप्त प्राय शक्तियाँ ही व्यक्त होने लगती हैं—चिन्मय रूप ग्रहण करने लगती हैं। इनके साथ नित्य संबद्ध रूप में नाद लगा रहता है। इसी अनाहत नाद में सुरत का लग जाना, धुनि या सवद रूप पुरुष या गुरु में रूह रूप सुरत का लग जाना ही 'सुरति शब्द योग' कहा जाता है। पर 'सुरत' का 'शब्द' से योग हो किस प्रकार ? सन्तों ने भी एतदर्थ नाम स्मरण और इष्ट ध्यान की वात कही है। ये नाम स्मरण, जप, तथा ध्यान की प्रक्रिया में रहस्यदर्शी गुरु के निर्देश से ही, कृपावश ही—संभव हैं। शास्त्र भी मानते हैं कि नादानुसंधान जप की ही विशिष्ट अवस्था की परिणति हैं। कुण्डलिनी आत्म-शक्ति है जिसके उत्थान से नादाभिव्यक्ति की वात ऊपर कही गई है। इस आत्म-शक्ति कुण्डलिनी का उत्थान या जागरण यद्यपि विभिन्न उपायों-कर्मसाम्य, पाप पुण्य साम्य, प्राणायान साम्य आदि—से संभव है तथापि उन सब में नाम स्मरण स्वल्पायास साध्य तथा सर्वजन सुलभ है। जप भी एक प्रयत्नपूर्वक होता है और एक स्वाभाविक। स्वभाव-जप तीन स्थानों पर होता है—हृदय, नाभि और मूलाधार। यही मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा भूमियाँ हैं। हृदय जप ही मध्यमा का उत्थान है, इसी अवस्था से नाद की अभिव्यक्ति होने लगती है। बैखरी भूमि से मध्यमा भूमि तक पहुँचने के लिए गुरु की कृपा और अपना प्रयत्न—दोनों ही अपेक्षित है। इसी उपाय के अंतर्गत जप, ध्यान, निष्काम कर्म, देह एवं चित्त शोधन पर्याप्त सहायक माने जाते हैं। कदाचित् 'बैखरी' से 'परा' तक ही इस 'सुरत शब्द योग' वाली यात्रा को ध्यान में रखते हुए इन संतों ने कहा है—

सुरत समानी शब्द ठिकानी[1]

संत कबीर ने कहा है—

सार शब्द है शिखर पर मूल ठिकाना सोय
बिन सतगुरु पावै नहीं लाख कथे जो कोय[2] ॥

इस प्रकार बारकरी एवं निर्गुण धारा की साधना में यह स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है कि जहाँ बारकरी साधना सगुणोपासना द्वारा निर्गुण की प्राप्ति नाम साधना से करती है—दो सोपानों पर सम्पन्न करती है, वहाँ निर्गुण धारा सीधे गुरु भक्ति द्वारा मूलतत्व के साक्षात्कार के लिए 'शब्द साधना' करती है। नाम साधना उभयत्र समान है। इस प्रकार नामदेव की बारकरी साधन धारा निर्गुनियों की साधन धारा से अपना कुछ तो वैशिष्ट्य रखती ही है और रखना भी चाहिए—अन्यथा

---

१. सार वचन, छंद बंद, दूसरा भाग, पृ० ४४६।
२. कबीर बीजक (विचारदास) पृ० २७१।

साधन की भूमिका पर दोनों का भेद जाता रहेगा। इस प्रकार निर्गुण सम्प्रदाय की चतुष्पाद प्रतिष्ठा का श्रेय कबीर को ही दिया जाना चाहिए। वारकरी साधना में द्वितीय सोपान की साधना का क्या रूप है—मुझे अभी तक के प्रयास से स्पष्ट नहीं हो सका है। गुरु भक्ति और अनाहत नाद का उल्लेख तो उस स्तर पर मिलता है—पर जो कुछ अनेक प्रयत्नों में अब तक जान पाया हूँ—वह परस्पर इतने विरोधों से ग्रस्त है कि स्पष्टता और निर्णय तक पहुँचना दुष्कर है।

अस्तु, उक्त तर्कों और विचारों के आलोक में निर्गुण पंथ की चतुष्पाद प्रतिष्ण का श्रेय तो कबीर को ही दिया जाना चाहिए। यह न केवल इसलिए कि कबीर द्वारा ही दो स्तरों की वारकरी साधना से भिन्न एक ही स्तर की साधना का आरंभ किया गया, प्रत्युत इसलिए भी कि उन्हीं से इस पंथ की अविच्छिन्नता मिलती है। नामदेव और कबीर के बीच एक दीर्घकालीन व्यवधान भी है। तीसरी बात यह है कि सगुण का निरसन और निर्गुण पर बल, परिवेश और संस्कारों की दृष्टि से जितना कबीर के साथ चिपकता है, उतना नामदेव के साथ नहीं। नामदेव ने भी मूर्तिपूज़ा का खण्डन किया है—पर उनका स्वर कबीर के स्वर से भिन्न है। नामदेव कहते हैं—देवदगडा चा

ऐसे देव ते हीं फोडिले तुरकी
घातले उदकी बोभा तीना
ऐसी हीं देवतें न को दाबू देवा[१] (नामदेव गाथा)

इनका कहना है कि मैं ऐसे देव की पूजा करना नहीं चाहता, जो मेरे साथ हँस-रो न सके। अर्थात् प्रतिमा में उन्हें यह संभावना है। जिस प्रतिमा से यह संभावना मूर्त न हो सके—उसकी पूजा व्यर्थ है।

चौथे यह कि परम्परा भी उनसे आरब्ध साहित्य और साधकों के लिए 'निर्गुण' संज्ञा का प्रयास करती आ रही है। पाँचवें यह कि नामदेव और कबीर के बीच की कड़ी जोड़ने वाला, साधना को नामदेव से प्राप्त कर आगे बढ़ाने वाला निर्गुण धारा में उस प्रकार नहीं मिलता, जिस प्रकार कबीर की साधना को आगे बढ़ाने वाले निर्गुण धारा में अविच्छिन्न रूप से मिलते हैं। छठें, वारकरी साधक नामदेव से निर्गुनिएँ साधकों को पृथक रखने का कारण यह भी संभावित है कि जिस प्रकार 'भागवत' के प्रभाव में रहने वाले ये वारकरी, सगुणोपासना द्वारा निर्गुण दशा की ज्ञान लभ्य उपलब्धि के बाद भी स्वरसतः द्वैत की कल्पित भूमिका पर ज्ञानोत्तरा भक्ति की धारा में मग्न रहना चाहते हैं, निर्गुनिएँ सन्त वैसा न चाहते हों, उनका मार्ग भिन्न हो। भिन्न इस प्रकार कि ये निर्गुनियाँ 'विहंगम मार्ग' द्वारा पिण्ड की सीमा के बाद ब्रह्माण्ड को भी लाँघती हुई 'महाशून्य' के निराधार प्रदेश से होती

१. मराठी संतों का सामाजिक कार्य (श्री वि० वि० कोलते) पृष्ठ ५४ उद्धृत।

हुई उनकी सुरत 'भ्रमरगुहा' के दरवाजे से 'सत्यराज्य' में और उससे भी आगे 'अगम लोक' में पहुँचकर विश्रान्त हो जाती हो—'सुरत' 'शब्द' में लीन होकर सामरस्यापन्न हो जाती हो । वैसे साधन राज्य के अंतिम रहस्य और भेदक वैशिष्ट्य को पूर्णतः कह पाना सर्वथा असम्भव है । निष्कर्ष यह कि अब तक की उपलब्ध सामग्री के बल पर यही कहा जा सकता है कि निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय कबीरदास को ही दिया जाना चाहिए ।

संतोषकर तर्क और प्रमाण के अभाव रहने पर भी संतों की वानियों में ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं जिनसे उनके निर्गुण-संत-मान्य होने की पुष्टि होती है । कहीं कहीं तो ऐसी बातें भी मिलती हैं जिससे कथान्चित् साधन-साम्य अथवा तज्जन्य अनुभूति-साम्य की भी प्रतिपत्ति होती है । निरंजनी संत तुलसीदास का कहना है—

मूरति में अमूरति बसे अमल आतमाराम ।
तुरसीं धरम बिसराय के ताही को ले नाम[1] ॥

संत-धारा के इस मान्य साधक के अनुसार नामदेव ने भी तो यह पद्धति अपनाई थी। यदि इस 'मूरति' से आशय गुरु की मूर्ति से हो—तब भी 'बिसोवा खेचर' परक योजना से संगति लगाई जा सकती है । दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि संतों ने अपने अनुभव में आने वाले जिन पाँच शब्दों का विशेष उल्लेख किया है—उसका संकेत नामदेव की पंक्तियों से मिलता है—

पंच सहाइ जन की सोभा भलो भलो न कहावउगो ।
नामा कहै चितु हरि सिउ राता सुन समाधि समावउगो[2] ॥

इससे भी संत साधारण अनुभव का उल्लेख है । तीसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि नामदेव की उक्तियों में 'सतखंड' का भी संकेत है—प्रमाण में निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

अखण्ड मण्डल निरंकार महि अनहद बेनु बजाउगो ।
बैरागी रामहु गाउगो[3]

चौथा तर्क यह है कि नामदेव की मूर्ति साधना का समर्थन प्रसिद्ध संत अक्षर अनन्य[4] ने भी किया है—जिससे नामदेव का मूर्तिपूजक होना उनकी निर्गुण उपासना में बाधक नहीं है । पाँचवाँ तर्क यह है कि केवल मध्यवर्ती कबीर द्वारा मूर्ति-खंडन से क्या होता है—सगुण विरोधी से क्या होता है—जबकि इनसे पूर्व जयदेव तथा

---

१. संत काव्य, पृष्ठ ६८ ।
२. वाणी नामदेव की, ६७३।५ ।
३. वही, पृ० १३५५ ।
४. अक्षर अनन्य ग्रन्थावली, पृष्ठ सं० ४९, 'नित प्रतिमा पूजन बस्स नित्त' ।

नामदेव ने और बाद में अक्षर अनन्य तथा अन्यान्य संतों ने निर्गुण और सगुण विषयक समन्वय ही समर्थित किया ।

छठाँ तर्क प्रस्तुत करते हुए संत दूलनदास की पंक्तियों का सहारा लिया जाता है । पंक्तियाँ हैं—

सबदै नानक नामदै, सबदै दास कबीर ।
सबदै दूलन जगजिवन, सबदै गुरु अरु पीर[1] ॥

यहाँ जगजीवन, कबीर आदि के साथ नामदेव का नाम शब्द साधकों में लिया गया है । इसके कारण भी उनका समावेश संतों की पंक्ति में किया जा सकता है । सातवाँ तर्क यह है कि राधास्वामी मत की अनेक पुस्तकों—सारवचन राधास्वामी नसर यानी बार्तिक आदि—में नामदेव को स्वमत संमत कहा गया है। आठवीं बात है—धरनीदास जी की । इन्होंने भी कहा है—

सब्द प्रतीत कबीर नामदेव जागत जक्त दोहाई[2] ।

अतिरिक्त एक युक्ति और भी यह दी जा सकती है कि परवर्ती तथा पूर्ववर्ती संतों में जो निर्गुण-सगुण-अविरोध मिलता है—वह कबीर में नहीं, नामदेव में अवश्य मिलता है ।

यद्यपि ये सब बातें उक्त निष्कर्ष को शिथिल करती हैं—पर ये सब कोई भी ऐसे अकाट्य तर्क नहीं हैं—जिनसे नामदेव का प्रवर्तकत्व सिद्ध हो। उक्त समस्त तर्कों में से 'पंच' तथा 'सतखंड-संकेत' वाले पक्ष कुछ विचारणीय हैं भी, पर उनकी तो अन्यथा योजना भी हो सकती है ।

संत साहित्य : स्वरूप और सीमा

"निर्गुन पंथी संतों के साधन और साध्य क्या थे ? सर्वत्र अन्वेषण से यही पता चलता है कि किसी न किसी प्रकार से उनका मुख्य साधन वाग्योग का ही एक रूप है। इसे नाम साधन भी कहा है। 'सुरत शब्द योग' इसका दूसरा नाम[3] है ।"

"संतों में सुरत शब्द योग के भी विभिन्न प्रस्थान हैं। सर्वत्र ही दीख पड़ता है कि लक्ष्य तो है—अनामी अथवा उस प्रकार की स्थिति जो संतों के अंगीकृत सत्य-लोक के ऊर्ध्व में[4] है।" साध्य-साधन के इसी निकष पर संत साहित्य का स्वरूप और सीमा दोनों निर्धारित किए जा सकते हैं । यों वाग्योग प्राचीन योग है—पर

---

१. संतबानी संग्रह, भाग पहला, पृष्ठ १३६ ।
२. धरनीदास जी की बानी, पृष्ठ २३ ।
३. नाथ और संत साहित्य, प्र० सं०, पृ० ७ 'प्रस्तावना' कविराज गोपीनाथ ।
४. वही, पृ० ६ ।

सुरत शव्द योग के रूप में उसका प्रकाश कवीर के द्वारा होता है और उन्हीं से इसकी अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। यही कारण है कि इन्हीं से आरम्भ माना जा रहा है।

उपर्युक्त प्रतिमान पर उतरने वाले उन संतों और उनकी रचनाओं को आधार वनाकर प्रस्तुत प्रवंध में विचार किया जायगा जो १५ वीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती के मध्य (अर्थात् कवीरदास से लेकर राधास्वामी संप्रदाय के कतिपय प्रतिष्ठित संतों तक) विद्यमान हैं। जनमुख और शुद्ध परम्परा में इनका साहित्य प्रचलित रहा—घटता-वढ़ता और परिवर्तित होता रहा—अतः इस साहित्य की प्रामाणिकता के विषय में भी कुछ कह पाना कठिन है। 'गुरुग्रंथ साहव' जैसे कतिपय संग्रह प्रामाणिक हो सकते हैं—पर इस कालावधि में उपलव्ध समस्त साहित्य जिसके नाम पर और जिस रूप में मिलता है—उसे प्रमाणिक कहना कठिन है—तथापि उसका उपयोग यहाँ इस दृष्टि से किया जा रहा है कि उसमें संत-परम्परा की साँस है—उनका अभिप्राय उसमें सुरक्षित है—वह किसी के नाम से हो और किसी रूप में हो।

साहित्य के अतिरिक्त जहाँ तक विभिन्न पंथों का इस धारा के अंतर्गत प्रवेश की समस्या है—निम्नलिखित धाराएँ तो निर्विवाद रूप से निर्गुण धारा में गिनी जा सकती हैं—(क) कवीर पंथ (ख) नानक पंथ (ग) दादू पंथ (घ) और वावरी पंथ। (ङ) निरंजनी सम्प्रदाय (च) जसनाथी या सिद्ध सम्प्रदाय (छ) सिंगापंथ (ज) साध सम्प्रदाय (झ) मलूक पंथ (ञ) वावा लाली सम्प्रदाय (ट) प्रणामी या धामी सम्प्रदाय ? (ठ) सत्तनामी सम्प्रदाय (ड) धरनीश्वरी पंथ (ढ) शिवनारायणी संप्रदाय (त) दरिया दासी संप्रदाय (थ) रामसनेही संप्रदाय (ध) अघोर संप्रदाय (द) सरभंग संप्रदाय (न) रविमाण संप्रदाय (ण) चरणदासी संप्रदाय (अ) गरीव पंथ (आ) पानप पंथ (उ) साईं पंथ (ऊ) साहिव पंथ (ए) राधास्वामी मत। पंथ इनके अतिरिक्त और भी हो सकते हैं, किंतु निर्गुन साहित्य में उपलव्ध तांत्रिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण इनके या इनमें से कुछ के भी आधार पर हो सकता है—जो अपना प्रतिज्ञात पक्ष है।

इस संदर्भ में एक ही वात विचारणीय है और वह यह कि एक ही साधन धारा-सुरत शव्द योग—के अंतर्गत विभिन्न पंथ क्यों हो गए ? संभव है—एक कारण तो 'सुरत शव्द योग' के प्रस्थान भेद हों—अर्थात् भिन्न-भिन्न साधनों से 'सुरति' का 'शव्द' से योग कराया जाता हो। उदाहरणार्थ सरभंग संप्रदाय में ही एक 'अघोर जोग' का उल्लेख मिलता है। कहा गया है—टेकंनराम द्वारा

"नाम के महिमा जानै, साधो जोग अघोर।
काया अछत फल पावहीं, सत्त वचन सुन मोर[1]।"

---

१. भजन रत्न माला, भजन ४८, पृष्ट २४।

दूसरा कारण संत मंडली जन प्रसिद्धि के अनुसार यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी संतों की पंक्ति क्षीणकाय होकर लुप्त सी रहती है। साधकों अथवा संस्कारियों की संख्या बढ़ जाने पर गुरु लम्बे व्यवधान के बाद प्रकाश में आ जाता है। संभव है—वह साधकों के संस्कार के अनुसार प्रस्थान भेद की भी दीक्षा आरंभ करता हो—इसलिए प्रकाश में आए हुए गुरु से नए पंथ का आरंभ मान लिया जाता हो।

तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि किसी धारा में संस्कार भेद सम्पन्न लोगों के समावेश से कुछ ऊपरी विशेषताएँ इस प्रकार उभर जाती हैं—जिससे भी पंथ-भेद सा पार्थक्य हो सकता है। इस प्रकार अनेक कारणों की संभावना की जा सकती है और एक ही निर्गुण धारा के अंतर्गत विभिन्न पंथों या मतों का उद्भव संभव है। एक ही शांकरभाष्य की मूलभूत समानताओं का निर्वाह करते हुए भी विभिन्न टीका परम्परा का वहाँ अवस्थान है। अस्तु।

इन चार शतियों के अंतराल के संत साहित्य में जिस तांत्रिक दृष्टि का संचार करना है—आवश्यक है कि पहले उससे परिचित हो लिया जाय।

तांत्रिक दृष्टि

तांत्रिक दृष्टि उन विंदुओं से निर्मित दृष्टि है जो सभी आगमों में समान रूप से उपलब्ध होकर अनागमिक वाड्मय से उन्हें पृथक् करते हैं। अभिप्राय यह कि अनागमिक वाड्मय से आगमिक वाडमय को पृथक् करने वाले, पर सभी आगमों में समान रूप से उपलब्ध होने वाले विंदुओं से निर्मित दृष्टि ही आगमिक या तांत्रिक दृष्टि है। आगम[1] या तंत्र[2] शब्द इस संदर्भ में एक पारिभाषिक तथा सीमित

---

१. आगम और तंत्र शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ और व्याख्याएँ इस प्रकार मिलती हैं—

(क) आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिः श्रेयसोपायाः स आगमः
पातंजल सूत्र (व्यास भाष्य) तत्व वैशारदी।

(ख) विस्तारार्थक 'तनु' धातोः 'सर्वधातुभ्यःष्ट्रन' इति सूत्रेणष्ट्रन् प्रत्यये कृते तंत्र शब्दस्य निष्पत्तिः—इति काशिका वृत्तिः
विस्तार्यंते ज्ञानमनेनेति, त्रायते साधका नितिवा

(ग) तनोति विपुलानर्थान् तंत्र मंत्र समान्वितान्।
त्राणंच कुरुते यस्मात्तन्त्रमित्यभिधीयते॥—कामिकागम।

(घ) सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।
षट् कर्म साधनं चैव ध्यान योगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः—वाराही तंत्र

अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है, अन्यथा संस्कृत वाङ्मय में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ को गर्भीकृत करते हुए व्यापक रूप में भी अनेकत्र उपलब्ध होता है। जिस सीमित अर्थ में यहाँ आगम या तंत्र शब्द का प्रयोग किया जा रहा है, उसके वैदिक, अवैदिक अथवा उभय विधि होने में भी कम विवाद नहीं हैं। इसी प्रकार आगमिक दृष्टि

(ङ) In a more restricted sense Tantra denotes a religious system connected with the Shakti-worship having its own doctorinal theories and religious usages based on a large mass of literary tantras".

Buddhism in Orissa, Chapter VIII, page 122.

(च) Deduction and Induction method से संवद्ध आगमः निगम।

—डा० राजवली पाण्डेय।

(छ) Tantrism recognises itself to be the practical counter-part of Adavatism. Tantrism recognizes Shiva as the embodiment of supreme conciousness and Shakti as the embodiment of supreme power both being merely the aspects of that eternal variety .... "Mysticism in Maharashtra, Chapter I Vol. VIII, p. 6. By—R. D. Ranade.

(ज) परमेश्वर तच्छक्तिसदाशिवे शानान्त श्रीकण्ठादिरूपं पारम्परं तत आगतम्—स्वच्छंद तंत्र, पटल ४, पृष्ठ १५।

(झ) आगतं शिव वक्तात्तु ,गतन्तु गिरिजामुखम्।
मतमश्चवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥ राघव भट्ट कृत पदार्थादर्श—हिंदी विश्वकोष, पृष्ठ ५३०।

(ट) इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।
प्रसिद्धिमनुसंधाय सैव चागम उच्यते ॥ ३५।१ तंत्रालोक
अन्यत्रापि मणितम्—"प्रसिद्धिरागमो लोके........"
"विमर्श आगमः सा प्रसिद्धिरविगीतिका"। यह प्रसिद्धि भी अंततः परा परामर्श ही है, जिसकी स्थिति पूर्णाहंपरामर्शमय सर्वज्ञ परमेश्वर में है।
........." 'शैवमेवाद्यमागमम् अपूर्णास्तु परे, तेन न मोक्षफल भागिनः।"
अन्यागमप्रामाण्य विषये—उपजीवन्ति यावत्तु तावत्तत्फलभागिनः" ३५।१७।

इन लोगों की धारणा है कि किसी भी आगम की निंदा नहीं करनी चाहिए। कारण, सभी परतत्व से ही उपदिष्ट हैं—अन्तर अधिकारी भेद वश दिखाई पड़ता है।

के मूल उत्स पर भी ऐतिहासिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विविध प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। आगम शब्द का अर्थ, आगमों की वैदिकता और अवैदिकता, उसका मूल उत्स आदि विषय इतने प्रकार के वैचारिक आवरणों से आच्छन्न हैं कि उनको निर्णयात्मक रूप देना स्वतंत्र विचारणा और निबंध का विषय है। अतः इस

(ठ) (१) "आप्तों का अपरिच्छिन्न ज्ञान ही आगम है"

(२) "सात्वत संहिता में अपरज्ञान (शिव की ज्ञानात्मिका शक्ति के दो रूप हैं पर एवं अपर) को तंत्र कहा है।"

(३) तांत्रिक उपासना शक्ति की उपासना है। बौद्धों की दृष्टि से प्रज्ञा ही शक्ति है"—भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १।

Prof. Whitney says it (आगम) etymologically means "that which comes down"–Century Dictionary and Encyclopedia Vol. IX, page 978.

इस अवतरण क्रम का उल्लेख डॉ० गोपीनाथ कविराज ने विस्तार से निरूपित किया है। देखिए, भारतीय साधना और संस्कृति, पृष्ठ ५४४–४५।

(ढ) Current definition of Tantra as

(i) Sacred writings of the Hindu

(ii) Scriptures of Shaktas

(iii) Collection of magical treatises

—Principles of Tantra, page 39.

(ण) The word "Tantra" has various meanings in the sense, however, in which the term is most widely known and is used. it denotes that body of religious scriptures, which is stated to have been revealed by Shiva as the specific of the fourth or present Kali-age", p. 40.

(त) वरदकांत मजूमदार के विचार हैं—

Duality in unity is the root principle of the Tantra. This quality may, for want of expression, be called a "Polarity". The Vaishnave have adopted the idea in their Krishna and Radha, Hari and Laxami.

ठीक इसी से मिलता जुलता कविराज गोपीनाथ का अभिमत है—"आगम के मत में अद्वैत का अर्थ है—दो का नित्य सामरस्य (पृ० ५)।

संदर्भ में इन गंभीरतम प्रश्नों पर विना विचार किए यह स्वीकार करके चला जा रहा है कि आगम उस अपरोक्षानुभूति का बहिरागत प्रकाश है जो विशिष्ट साधना-जन्य आवरणभंग से या स्वतः प्रकाशित हो उठता है। यद्यपि विश्व की निखिल मूल साम्प्रदायिक रचनाओं के विषय में स्वयं प्रकाश ज्ञान की प्रामाणिक संस्थिति पर बल दिया जाता है तथापि आगम अथवा आगमिक वाङ्मय की विशेषता, उसकी

(थ) So God has in Him the power which exists as undifferentiated from Him as the moon hear from the moon (page 35) xxx "The Lord can not exist without his power nor can the power exists without him. 'These two are regarded as the ultimate cause of the World".

S. N. Dasgupta–A History of Indian Philosophy, p. 42

(द) देखिए—सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ११५ ।

(क) आगतं पचवक्त्रात्तुगतं च गिरिजानने ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥
गुरु शिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाचस्तन्त्रं समवतारयत् ॥ महास्वच्छंद ।

(ख) आगमो ज्ञानभित्युक्तमनन्ताः शास्त्र कोटयः ॥३४०॥
—स्वच्छंद तंत्र ४था पटल ।

(ग) आ समन्ताद्गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा परा-शक्तिरेवागमस्तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसंदर्भस्तदुपायत्वात् शास्त्रस्य, वही पृ० २१४ ।

आगम और तंत्र—सामान्यतः पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं। आगम की व्याख्या चार प्रकार से संभव है—

(१) आप्तोपदेशात्मक आगम ।
(२) अनिबद्ध प्रसिद्धि रूप आगम ।
(३) निबद्ध प्रसिद्धि रूप आगम ।
(४) प्रतिभात्मक आगम ।

"एवं प्रतिभारूपेण निबद्धानिबद्ध प्रसिस्त्राद्द्यनाच त्रिविधयागमं प्रदर्शा रूपान्तरमप्पस्य दर्शयति—'अन्योपि' इति। एतारुतिसृषु प्रसिद्धिभु प्रभा णान्तरमूलत्वंनान्वेषृव्यम्, आप्तवादे तु तदन्वेषणीयमेन । आप्तिः—वक्तव्ये वस्तुन्याधिगतिः, ततश्च वक्तव्यवस्त्वधिगतिः—सा विद्यते यस्य, स आप्तः ।"

ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविकृतिविमर्शिनी, प० १०२, २ अ, ३ ति० '१ सिद्धि' ही परम्परा की उपनिषद् है—जो 'आगम' के नाम से कही जाती है।

प्रामाणिक अपरोक्षानुभूति मूलकता के साथ-साथ 'शक्ति' को विशिष्ट महत्व प्रदान करने में है। निष्कर्ष यह कि आगम को प्रस्तुत संदर्भ में 'आगम' कहे जाने के लिए दो तत्वों की संस्थिति नितराम् अपेक्षित है—पहली यह कि वह प्रामाणिक अथवा प्रमाण से भी अपरिमेय अपरोक्षानुभूति रूप या तन्मूलक हो और दूसरी यह कि वहाँ मूल तत्व को शक्ति संवलित समरस रूप माना गया हो। इस दृष्टि से चाहे हम शैव या शाक्त आगमों को लें अथवा बौद्धों के 'गुह्यसमाजतंत्र' या वैष्णवों के पाँचरात्र और वैखानस आगमों को देखें—सर्वत्र इन दो तत्वों की उपलब्धि होने से भारतवर्ष में इन्हें प्रस्तुत संदर्भ के अंतर्गत 'आगम' नाम से पुकारा जाता है। जैनों के आगमों में यद्यपि तीर्थंकरों की अपरोक्षानुभूति का प्रकाश है पर मूल तत्व को शक्ति संवलित नहीं कहा गया है—आत्मा को शक्ति युक्त समरस नहीं माना गया है। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में आगमिक प्रभाव से प्रभावित होने पर जैनों की साधना और वाङ्मय में शक्ति तत्व का प्रवेश हो गया है और जो इन्दु तथा रामसिंह आदि की रचनाओं में आगमिकता प्रतिबिंबित होने लगती है। शशिभूषणदास[1] गुप्त की

वह प्रसिद्धि दो प्रकार की है—१. विशिष्ट वाक्य रचनाओं के रूप में निबद्ध, २. अथवा महाजनों के अनुष्ठानों में अनिबद्ध। इन दोनों का स्रोत है—प्रतिभात्मक आगम अथवा परशक्ति या विमर्श। कहा भी है—
"प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एवेति"
—ई० प्र० वि० वि०, पृष्ठ ६३।
अथवा—आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः ॥३४०
—स्वच्छंदतंत्र ४था पटल।
पारमेश स्वरूप का सर्वतोवगाही अभेदमय विमर्शन करने वाली शक्ति का ही नाम आगम है—उसका प्रतिपादक शब्द अथवा उसका उपाय होने का कारण—शास्त्र भी आगम कहा जाता है। जिसके हृदय में जिसकी 'निरूढ़ि' हो गई—उसके लिए वही आगम है। कहा भी है—
"सर्वथा अनुमाने नाश्वसितव्यम्। अपितु आगम एवं, सच यो यस्य हृदये निरूढिमुपगतः स एव।" अ० २ वि० ३।
"दृढ़विमर्शरूपं शब्दनमागमः—आसमन्तादर्थं गमयतीति आगमः (वही पृ० ८५, अ० २ वि० ३)। प्रतीति या ज्ञानविशेष की निरूढ़ि ही दृढ़ता है। दृढ़तापूर्वक विमर्श स्वाधिकृत आगम का अभ्यास है जो उसे प्रतीति के अनुरूप बनाने में समर्थ होता है अर्थात् जो जैसा होने की भावना करता है—वह वैसा ही हो जाता है—"तेन यद्विमृष्टं तत्तथैव भवति।"
—मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, पृष्ठ १–६।

१. Obscure Religious Cults-Introduction-XXXIV.

तो यह धारणा ही है कि समानान्तर रूप से प्रवाहित होने वाले धार्मिक चिंतनों और आचार प्रक्रिया के साथ भारतवर्ष में भीतर ही भीतर एक रहस्यमय यौगिक साधना (Esoteric Yogic Practice) चल रही थी—जो संभवत: काफी पुरानी है। इस रहस्यमय यौगिक साधना का, जिसमें शक्ति की साधना ही प्रमुख थी—जब शैवों और शाक्तों की धार्मिक चिन्तनाओं और प्रक्रियाओं से सम्पर्क हुआ तब बौद्धतंत्रवाद का और जब भारत के पूर्वी भाग में वैष्णव चिन्तनाओं एवं साधनाओं से सम्पर्क हुआ तब वैष्णव तंत्रों या रहस्यवादी वैष्णव तांत्रिक साधनाओं का प्राकट्य हुआ। इस प्रकार सभी भारतीय रहस्यवादी तांत्रिक साधनाओं की पृष्ठभूमि या मूलस्रोत एक ही है। निष्कर्ष यह कि 'आगम' समझे जाने वाले समस्त वाङ्मय या धाराओं की पहली विशेषता जो अनागमिक दर्शनों से इसे पृथक् करती है—वह है 'शक्ति'[१] की विशिष्ट संस्थिति।

शक्ति की संस्थिति का वैशिष्ट्य उसके चिन्मय तथा धनात्मक या स्पंदात्कम रूप की स्वीकृति में है। शक्ति को इस रूप में स्वीकार करना—यह आगमों की ही विशेषता है। न्याय[२] और वैशेषिक[३] दर्शन में जड़शक्ति को भी अस्वीकृत कर दिया गया है। वहाँ शक्ति नामक कोई पदार्थ या द्रव्य ही नहीं माना गया है। मीमांसक[४] शक्ति मानते हैं और मानते हैं—वैदान्तिक[५] भी—परंतु वह अंतत: मिथ्या और जड़ात्मिका कही गई है। यद्यपि सांख्य[६] और पातंजल[७] दर्शनों में 'चितिशक्ति-रपरिणमिनी' का और शांकर अद्वैत मतानुयायी 'संक्षेपशारीरकम्' के सर्वज्ञात्म मुनि ने अपने ग्रंथ में 'अचिन्त्य शक्ति' का उल्लेख किया है—पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आगम सम्मत शक्ति नहीं है, वह तो 'पुरुष'[८] और 'ब्रह्म'[९] के लिए ही प्रयुक्त नामान्तर है। 'आगम' में परतत्व को ही शक्ति नहीं कहा गया है प्रत्युत उससे उसको चन्द्र और चन्द्रिका की भाँति भिन्न और अभिन्न भी कहा गया है। 'आगमों' की शक्ति से कूटस्थ ब्रह्म या साक्षी पुरुष का ग्रहण नहीं किया जाता।

---

१. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ३ प्रस्तावना।
२. न्याय मुक्तावली, पृ० ७ तथा ८।
३. वही।
४. भारतीय दर्शन, पृ० ३९४।८। संक्षेप शारीरक, पृ० १०।
५. वेदान्त परिभाषा, चौखम्भा प्रकाशन, १९६३, पृ० ८३।
६. साख्यं तत्व कौमुदी, पृ० ९२ तृतीय वृत्ति सं० १९८७।
७. पातंजल दर्शनम्, पृ० ५।
८. वही।
९. संक्षेप शारीरक, पृ० १०।

आगमों की शक्ति जड़ शक्ति नहीं है—बल्कि "चितिः स्वतन्त्रा[1] विश्व सिद्धि हेतुः" है। यह शक्ति परतत्व से अभिन्न होने पर भी विश्वात्मक सृष्टि का मूल कारण है। इसका प्रकृति और माया की भाँति परिणाम नहीं, प्रत्युत संकोच और प्रसार होता है। शक्ति ही जगत् का रूप लेकर प्रकट होती है। प्राचीन वाङ्मय में भी 'इन्दोमायामिः[2] पुरुरूप ईयते"—द्वारा मूल तत्व के एक से अनेक होने में शक्ति को उसकी महिमा भी कहा गया है। आगमों में यह धारा नितान्त सुस्पष्ट और सर्व प्रमुख है।

प्रत्येक तांत्रिक रहस्यमयी साधना में चाहे वे ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णव) हों या ब्राह्मणेतर (बौद्धादि)—यह समान रूप से स्वीकार किया जाता है कि मूल-तत्व (प्रत्येक दृश्यमान विशेष का सामान्य रूप) दो तत्वों का समरस रूप है। इन दोनों पक्षों में एक अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक एक निष्पंद और दूसरा सस्पंद, एक निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय, एक निवृत्त और दूसरा प्रवृत्त, एक प्रकाशमय और दूसरा विमर्शमय, एक भोक्ता और दूसरा भोग्य, एक पुरुष और दूसरा स्त्री—अर्थात् संसार के समस्त दृश्यमान द्वैतभावापन्न विशेषों को आत्मसात् करने वाले दो तत्वों का समरस और सामान्य रूप ही वह मूल तत्व है। उस निरपेक्ष परतत्व में ये दोनों तत्व या दोनों पक्ष समरसीभूत होकर अद्वय रूप में विराजमान रहते हैं। इसीलिए आगम-सम्मत तमाम साधनाओं में उसके लिए अद्वय;[3] मिथुन,[4] युगनद्ध,[5] यामल,[6] समरस,[7] युगल[8] अथवा सहज[9]—आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। शांत एवं सुस्थिर समुद्र की भाँति निष्पंद पड़े हुए मूल तत्व के वक्षःस्थल पर उसकी स्पन्दात्मा आत्मशक्ति अपने स्पन्दमय स्वभाव को समस्त अणुओं में और अपने समरस-पर दृष्टि या सृष्टि काल में विषम रह चिन्मय स्वरूप को अपेक्षाकृत सन्निहित

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २ सूत्र १।
२. वेदान्त परिभाषा, पृ० ८३ चौखम्भा प्रकाशन १९६३।
३. तंत्रालोक, भाग २ आ० ३।२०३, २०४... "शिवशक्त्यद्वयात्मनि"।
४. शिवशक्तिमिथुन पिण्ड...कामकला विलास, कारिका ५, पृ० ७।
५. युगनद्ध इति ख्यातः "पंचक्रम" से उद्धृत।
६. तंत्रालोक, प्रथमाह्निक, पृ० ४ 'तयोर्यद्यामलं रूपम्..."
७. जाते समरसानन्दे...बोधसार, पृ० २००, २०१।
८. सर्वेश्वर (पत्रिका) पृ० २८९ (वर्ष २० अंक २–७)।
९. श्रीकृष्ण प्रसंग, पृ० ३७७।

समस्त जीवों में सदा प्रकाशित कर रही है। इस तथ्य या सत्य की पुष्टि भूत[१]-विज्ञान और प्राणि[२] विज्ञान भी कर रहे हैं।

इस प्रकार इन समस्त आगमों में द्वितीय समान धारणा परतत्व के स्वरूप के विषय में उपलब्ध होती है। शैव[३] और शाक्त[४] धारा में वह तत्व शक्ति एवं शिव, बौद्ध[५] धारा में 'शून्यता' एवं 'करुणा' अथवा 'प्रज्ञा और उपाय', वैष्णव[६] धारा में विष्णु एवं लक्ष्मी, राधा और कृष्ण, तथा सीता और राम का आनन्दमय समरस रूप माना गया है। आगम भिन्न अध्यात्म धाराओं में चार्वाकों का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, जैनों की आत्मा[७] का स्वभाव चिन्मय या ज्ञानमय तो है पर न तो वह द्वयात्मक अद्वय स्वरूप है और न आनंदमय। बौद्धों पर तान्त्रिक प्रभाव पड़ने से पूर्व निर्वाण-युगनद्ध और महासुख[८] रूप नहीं था। नैयायिक[९] एवं वैशेषिक[१०]

---

१. Modern scientific researches have proved by sexual constitution of the conjugating reproductive protoplasm and that there is no such human being exclusively male or female. Mascu-linity and faminity are present in human bodies in different proportion : predominance of one over the other determines his or her sex.................. Union of Shiva and Shakti is fusion of two energies, concious and unconcious, active or latent, the fusion generates such power in men that they transcend all wordly troubles and become master of the ownself"

(Mother)

२. जीवकोष (Cell) में D.N.A. तथा (R.N.A.) तथा परमाणु में एलेक्ट्रान एवम् प्रोटान—ऋणात्मक तथा धनात्मक अथवा पुंस्तत्व तथा स्त्रीतत्व हैं। इस प्रकार प्राणिविज्ञान तथा भूतविज्ञान—दोनों से ही आगमोक्त शिवशक्तयात्मक अद्वयवाद की सिद्धि होती है।

३. तांत्रिकवाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ३।

४. वहीं।

५. गुह्य समाजतंत्र, पृ० १५३।

६. अहिर्बुध्न्य संहिता, पृ० २१।

७. भुक्तिमुक्ति पदं शिव्यं निर्वाणाख्यं परं परम्।
क्षयव्यय विनिर्मुक्तम् श्री महासुख संज्ञितम्॥
—ऐजन (गुह्यसिद्धि से उद्धृत) पृ० १३४–१३५।

८. भारतीय दर्शन, पृ० २६५।

९. न्याय मुक्तावली, गुणनिरूपणम् ६०वीं० कारिका, पृ० २१८।

१०. वही।

धारा में ज्ञान और आनन्द से भी मुक्तावस्था में आत्मा शून्य हो जाती है दूसरे ज्ञान और आनंद उसका स्वरूप भी नहीं है, वे अदृष्टजन्य विशेष[१] गुण है। सांख्य[२] एवं पातंजल[३] में भी आनन्द सत्वगुण की एक परिणति फलतः प्राकृत धर्म है—आत्म-स्वरूप नहीं। मीमांसक मुक्तावस्था में एक मत से नित्य सुख की अभिव्यक्ति नहीं मानते। उत्तर[४]-मीमांसक प्रपंच संबंध विलय से आगे बढ़कर प्रपंच विलय वश चिदानन्द-मय आत्मानुभव को स्वीकार करते हैं—किन्तु उनका यह चिदानन्दमय परतत्व शक्ति शून्य और निर्विशेष है। निष्कर्ष यह कि आगमों में समस्त रूप से उपलब्ध और अनागमिक दर्शनों में अनुपलब्ध परतत्व विषयक 'द्वयात्मक चिदानन्दमय अद्वय वाली दूसरी विशिष्ट धारणा है—जो तांत्रिक दृष्टि को स्पष्ट करती है।

इस आगम सम्मत द्वयात्मक 'अद्वय' तथा शांकर वेदान्त सम्पुष्ट 'निर्विशेष' 'अद्वैत' का अंतर भी उक्त दृष्टि को स्पष्ट करने में सहायक होगा। आगमिक दार्शनिक 'अद्वय' का अर्थ समझते हैं—'दो का नित्य सामरस्य'[५]—द्वयात्मक अद्वय[६] यह तथ्य वर्तमान विज्ञान सिद्ध भी है कि प्रत्येक व्यक्ति में स्त्रीत्व और पुंस्त्व का योग है। किसी भी एक लिंग का व्यवहार किसी एक के आपेक्षिक प्राधान्य पर निर्भर है। इस आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि दृश्यमान समस्त 'विशेषों' या 'व्यष्टियों' की मूल प्रकृति में जब द्वयात्मक अद्वयता अनुस्यूत है तब इन समस्त विशेषों या व्यष्टियों के मूल 'सामान्य' या 'समष्टि' जैसे मूल स्रोत की प्रकृति में भी द्वयात्मकता होनी ही चाहिए। फलतः विज्ञानसिद्ध और अनुभवाधृत तथ्यों के बल पर आगमिक मूल-समष्टि या सामान्य तत्व को अपनी प्रकृति में द्वयात्मक बताते ही हैं। इस प्रकार आगम सम्मत अद्वय के दो पक्ष हैं—पहला निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय, पहला निःस्पंद और दूसरा सस्पंद। दोनों अपनी समरस दशा में हैं—अद्वयात्मक (आगमिक[७] इन दोनों पक्षों को 'प्रकाश' और 'विमर्श' नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार चाँदनी के बिना चाँद चाँद नहीं है और चाँद के बिना चाँदनी का अस्तित्व नहीं—ठीक यही स्थिति 'प्रकाश' और 'विमर्श' और 'बोध' या 'स्वातंत्र्य' की है। इस द्वयात्मकता को उस चित्त की भाँति समझना चाहिए जो एक तरफ से देखने पर गज की भाँति दिखाई

१. न्याय मुक्तावली, गुणनिरुपणम् ६० वीं कारिका, पृ० १२८।
२. सांख्य तत्व कौमुदी, पृ० १३० कारिका १२।
३. पातंजल दर्शनम्, समाधिपाद, तृतीय सूत्रम्। पृ० ७।
४. भारतीय दर्शन, पृ० ४४४, ४४५ आनंदात्मक ब्रह्मावाप्तिश्च मोक्ष ?
५. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० ५।
६. Yuganaddha P. 7
७. "प्रकाशविमर्शात्मकं चिदेकघनं एकमेव संविद्रूपम्"—पृ० ३१७—ईश्वर प्रत्य-भिज्ञा विमर्शिनी, भाग १।

पड़ता है और दूसरी तरफ से देखने पर वृषभ जान पड़ता है। यहाँ जैसे दृष्टि भेद से चित्रगत द्वयात्मकता के बावजूद वस्तुतः अद्वय स्थिति है ठीक वही बात 'प्रकाश' एवम् 'विमर्श' की अद्वयात्मकता में भी है। यहाँ एकान्ततः द्वैत का निषेध भी नहीं है और द्वैत की अद्वय विरोधी स्थिति भी नहीं है। उनमें किसी भी प्रकार का अवच्छेदन होने से और साथ ही उसके सर्वात्मक होने से—वह सब कुछ है और वह हर प्रकार की सीमा से परे है। वह सबको आत्मसात् करता हुआ भी सबसे परे है—वह 'विश्वात्मक' भी है और विश्वोत्तीर्ण भी—इसीलिए वह पूर्ण है। उसमें से न कुछ बाहर जाता है और न उसमें बाहर से कुछ आता है—दूसरी ओर बाहर जाकर भी न वह रिक्त होता है और न भीतर आते देखकर सातिशय होता है। इसीलिए वह सदा सर्वदा एकरस या समरस रहता है।

शांकर अद्वैत में समस्त द्वैतों या भेदों का अभाव है—वहाँ कोई विशेष नहीं, कोई भेद-सजातीय, विजातीय एवं विगत—नहीं। इसीलिए वह 'निर्विशेष' है, वह सब तरफ से सत्; चित् एवं आनंदमय है। सत्, चित् और आनंद नामतः भिन्न होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न नहीं है। इसीलिए ये विशेषण नहीं, लक्षण हैं—क्योंकि वह निर्विशेष है। सत् ही प्रकाश होकर चित् है और चित् ही अनुकूल होकर आनंद है—अतः व्यावहारिक दृष्टि से ये तीन लगते हैं—तत्वतः एक ही हैं। लगता है शांकर अद्वैत से भीति है, आगमिक अद्वयवाद को नहीं। इसीलिए जहाँ शांकर अद्वैतवाद निवृत्तिमूलक है, वहाँ आगमिक अद्वयवाद सबको कुक्षिसात् करने वाला एकत्र त्याग है अपरत्रत्यक्त का आत्मीकरण-ग्रहण।

इस प्रकार आगमिक अद्वय जहाँ स्वभावतः पंचकृत्यकारी[१] है वहाँ शांकर अद्वैत औपाधिक कर्ता है—सृष्टि, स्थिति, संहार—उसका तटस्थ लक्षण[२] है। निग्रह—और अनुग्रह वह भी नहीं। इस प्रकार जहाँ पहले कर्तृत्व उसके स्वातंत्र्यमय स्वभाव का विलास होने से स्वरूप लक्षण भी कहा जा सकता है वहाँ शांकर ब्रह्म का कर्तृत्व तटस्थ लक्षण माना जाता है। आगमिक 'अद्वय' विमर्श युक्त है—शांकर ब्रह्म विमर्श शून्य है—इसीलिए आगमिक शांकर ब्रह्म को शून्य ब्रह्म कहते हैं और स्वयं को पूर्ण ब्रह्म। आगमिक अद्वय में 'ज्ञान' और 'क्रिया' समरस हैं—शांकर ब्रह्म में क्रिया नहीं है और है तो औपाधिक या आगन्तुक। इसीलिए शांकरी क्रियाकर्तृता से आगमिक क्रियाकर्तृता भिन्न भी है। आगमिक क्रिया ज्ञानात्मक ही है—क्योंकि आगमिक अद्वय की स्वातंत्र्यमूलक क्रिया ज्ञान स्वरूप ही है।

---

१. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्—पंचकृत्यविधामिते'... "१" पृ० १।

२. वेदान्त परिभाषा (समणिप्रभाशिखामणि सहिता) सं० १६८५ वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० ६

आगमिक अद्वय की भाँति शांकर अद्वैत भी यद्यपि शक्ति के सहारे ही विश्वात्मक परिणति लेता है—तथापि दोनों की 'शक्ति' संबंधी धारणा बिलकुल भिन्न है। आगमिकों की शक्ति चिन्मयी तथा परतत्व से अभिन्न है, जबकि शांकर शक्ति जडात्मिका फलतः ब्रह्माश्रित होती हुई भी ब्रह्माभिन्न नहीं है। ब्रह्म से अभिन्न होना तो दूर, ब्रह्म बोध से वह अनादि शक्ति सदा-सदा के लिए निवृत्त हो जाती है—निःशेष हो जाती है। उसे न तो एकान्ततः त्रिकालाबाधित होने के कारण 'सत्' ही कहा जा सकता है और न तो प्रतीति सिद्ध होने से एकान्ततः मिथ्या ही कहा जाता है। इसीलिए उसकी पारिभाषिक संज्ञा है—"अनिर्वचनीया"। समस्त प्रातिभाषिक एवं व्यावहारिक सत्ताएँ इसी अनिर्वचनीया माया की परिणति हैं—जो ब्रह्म बोध से निवृत्त हो जाती हैं और परमार्थतः सर्वाधिष्ठान भूत ब्रह्ममयी सत्ता ही त्रिकालाबाधित सत्य है। वेदांतियों के आवरण[१] एवं विक्षेपमयी माया की भाँति आगमिकों की चिति-शक्ति भी तिरोधान-पूर्वक विकल्प सृष्टि करती है—तथापि यह सब उनकी भाँति औपाधिक नहीं, स्वाभाविक है, स्वातंत्र्य का विलास है।

'स्वतंत्रा विश्वसिद्ध[२] 'हेतु' चिति शक्ति का स्वातंत्र्य ही ब्रह्मवाद से आगमिक अद्वयवाद का बड़ा स्पष्ट भेदक तत्व है। शांकर अद्वैत में सृष्टि या विश्व के प्राकट्य का कोई संतोषकर निमित्त नहीं मिल पाता। इसीलिए शांकर अद्वैतवाद में माया को अनादि कहकर छोड़ दिया जाता है। माया को ही नहीं—"जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्मिदा।

अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः[३]॥ जीव, ईश, विशुद्धाचित्, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या और उसका चित् के साथ योग—ये छह बातें शांकर वेदांतियों के यहाँ अनादि हैं—फलतः ये अपने उद्भव में अचिन्त्य और अतर्क्य हैं। यह ठीक है कि शांकर वेदांत में यह कहा गया है कि सर्गादि में परमेश्वर सृज्यमान प्रपंच वैचित्र्य के निमित्त रूप में प्राणियों के कर्म को सहकारी रूप में लेकर अपरिमित एवं अतिरूपित शक्तियों से युक्त माया के साचिव्य से नाम रूपात्मक निखिल प्रपंच को पहले बुद्धि में आकलित करते हैं—तत्पश्चात् उनका संकल्प होता है और सृष्टि का आरंभ हो जाता है—तथापि इस विवेचन से यही सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सृष्टि कर्म में अन्य निरपेक्ष नहीं, प्रत्युत अन्य सापेक्ष है। अन्य सापेक्षता ईश्वर के ऐश्वर्य का विघातक है—फिर यह ऐश्वर्य और कर्तृत्व आगन्तुक और औपाधिक भी तो है। आगमिक ईश्वराद्वयवाद में ईश्वर का ऐश्वर्य और कर्तृत्व उसकी स्वाभाविक विशेषता

---

१. वेदान्त सार (सं० सत्यनारायण श्रीवास्तव), पृ० ५६—"आवरण विक्षेप नामक मास्ति शक्तिद्वयम्"।
२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, प्रथम सूत्र, पृष्ठ २।
३. 'वेदान्त सार' में उद्धृत पृष्ठ ५६।

है—वह विश्व वैचित्र्य के अवभासन में अन्य निरपेक्ष है—स्वतंत्र है। वह अपनी ही स्वातंत्र्यात्मा विमर्श शक्ति से केवल लीला के लिए विश्वावभासन करता है—आत्माराम होने के कारण उसमें कोई स्पृहा नहीं है। इसीलिए यहाँ किसी अभावमूलक प्रयोजन की भी बात नहीं की जा सकती। "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति"[1]—के अनुसार आगमिक अद्वय मायूराण्डरसन्यायेन 'विमर्श' गत अव्यक्त विश्व वैचित्र्य को अपने में प्रतिबिंबित करता है। यह परमेश्वर का स्वातंत्र्य ही है जिसके कारण वह संकुचित होकर एक तरफ जीवभाव ग्रहण करता है और दूसरी ओर विश्वावभास। वास्तव में विचार किया जाय तो यही तर्क संगत जान पड़ेगा कि जिस शक्ति से परमेश्वर अपने को आवृत करता है—वह उसकी अपनी ही है, फलतः उससे अभिन्न है। मेघ खण्ड जिस सूर्य को ढँकता है वह सूर्य रश्मियों से ही प्रसूत हैं—और वह सूर्य को आवृत करके भी वस्तुतः आवृत नहीं कर पाता है—अन्यथा प्रकाशमान सूर्य के सर्वथा तिरोहित हो जाने से स्वयं आवरक के ही अस्तित्व का प्रकाश नहीं हो पायगा। शांकर अद्वैत भी अपनी शक्ति 'माया' से अपने स्वरूप को तिरोहित करता है और आगमिक अद्वय भी—पर जहाँ शांकर अद्वैत उस आवरक शक्ति को 'जडात्मिका', 'अनिर्वचनीया', 'अनादिभाव रूपा' एवं 'विद्यानिर्वत्या'[2] मानते हैं वहाँ आगमिक अद्वयवादी उसी शक्ति को संकोच प्रसारात्मिका, चिन्मयी, अनाद्यन्ता तथा विमर्शात्मिका मानते हैं। शांकर माया तिरोधायक ही है—आगमिक शक्ति स्वावमर्शिणी भी। जहाँ शांकर अद्वैतवादी मानते हैं कि सोपाधिक ब्रह्म सृष्टि के लिए महासुप्तिस्वरूपिणी माया में प्रसुप्त प्राणियों के विचित्र कर्म और उपाधिभूत माया का साचिव्य ग्रहण करता है वहाँ आगमिक अद्वयवादियों का विचार है कि परतत्व स्व स्वरूपभूता स्वातंत्र्यमयी विमर्श शक्ति से ही अन्य निरपेक्ष रहकर लीलार्थ सृष्टि का भासन या बहिः प्रकाश करता है। जहाँ आगमिक उस शक्ति को परतत्वाश्रित एक मत से स्वीकार करते हैं वहाँ शांकर मतानुयायियों में से विवरण[3] प्रस्थान वाले तो उस शक्ति का आश्रय ब्रह्म को मानते हैं पर भामती प्रस्थान[4] वाले जीव को आश्रय और ब्रह्म को उसका विषय स्वीकार करते हैं।

आगमिक परतत्व जिस सरणि से आरोहण या अवरोहण करता है अर्थात् जीवभाव ग्रहण और विश्वावभास करता है—शांकर अद्वैत उससे भिन्न सरणि का है। शांकर अद्वैत में महामाया या चिन्मयी शक्ति अव्यक्त है—अतः यहाँ माया वाले स्तर

१.– प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० ६, सूत्र २।

२. वेदान्त परिभाषा (समणिप्रभा शिखामणि सहिता)
अनादि भावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञान लक्षणम्, पृष्ठ ६३।

३. वेदान्त परिभाषा (समणिप्रभाशिखामणिसहिता), पृष्ठ ६।

४. वही, मणि प्रभाटीका, पृष्ठ ६।

से अवरोहण क्रम अन्य सापेक्ष होकर होता है जबकि आगमिक अद्वय तत्व स्वेच्छया लीलार्थ मायोत्तर महामाया स्तर से अवरोहण करता आत्मगोपन पूर्वक अणुभावापन्न होता है। सृष्टि के प्रारंभ में शिव जव शक्ति की ओर अभिमुख होता है तो वहाँ द्विदलभाव आभासित होने लगता है और इसी प्रकार शक्ति गर्भस्थ विश्व भी उससे पृथक् होने लगता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि वही चिन्मयी शक्ति सृष्टि काल में भेद शक्ति के रूप में जव आत्म संकोच या आत्म गोपन करती है—तव पूर्णाहं का संकोच और इदं भाव का प्रकाश साथ ही होता है अनुरूप ग्राहक और ग्राह्य का अवभास होने लगता है। यहीं से आत्मभाव में अनात्मभाव का उदय होने लगता है—फिर भी आश्रय अनात्मभाव का आत्मभाव ही रहता है। ज्यों ज्यों यह अनात्म भाव प्रगाढ़ होता जाता है आत्मभाव क्षीण पड़ता जाता है और अन्ततः आत्मभाव अनात्मभाव में डूब जाता है। यहीं से महामाया राज्य की—शुद्धाध्वा की, अभेद राज्य की समाप्ति होती है और माया या भेद राज्य का उदय होता है। जिस स्वर से अनात्म-मग्न अहंभाव मायिक सर्ग में अपने को व्यक्त करता है—वह स्तर शांकर ब्रह्मवाद में अव्यक्त और अविवेचित है। अवरोहण की यह क्रमहीन प्रक्रिया यहाँ अव्यक्त है—यहाँ महामाया शुद्धअध्वा है हीं नहीं—जहाँ क्रिया शक्ति का विकास होता है। यही कारण है कि जिस प्रकार आगमिक अद्वयवाद में अशुद्धाध्वा का अतिक्रमण ज्ञान का पूर्ण विकास होता है और शुद्धाध्वा में 'क्रिया' शक्ति का अनन्तर ज्ञान-क्रिया का सामरस्य हो जाता है—स्वरूप विश्रान्ति हो जाती है—पूर्णाहं-भाव की स्थिति आ जाती है—वह वात शांकर अद्वैतवाद में नहीं है। वहाँ स्वरूपोपलब्धि का अर्थ पूर्ण ज्ञानोदय तो है—विद्यात्मिका वृत्ति अविद्या निवृत्ति पूर्वक स्वयं 'कतकरजोन्पायेन' शांत होकर स्वरूप भूत चित्या ज्ञान को निराकृत कर देती है—पर 'विमर्श' का अनुदय होने से पूर्णता की उपलब्धि नहीं हो पाती—ब्रह्म विमर्श-हीन ही रह जाता है। यही विमर्शात्मा निजा शक्ति कुण्डलिनी शक्ति है। इसी के जागरण का कोई प्रसंग ही शांकर अद्वैत में संभव नहीं है! पातंजल दर्शन में भी यही स्थिति है। निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार अवरोहण में कतिपय स्तरों के बाद की प्रक्रिया शांकर अद्वैतवाद में आरंभ होती है उसी प्रकार आरोहण में भी कुछ पहले ही वह रुक जाती है। माया स्तर से अवरोहण की प्रक्रिया वताई जाती है और क्रिया शक्ति के विकास से पूर्व ही आरोहण प्रक्रिया भी रह जाती है। इसीलिए शांकर अद्वैतवाद की सारी साधना जहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' की अखण्डाकार विद्यात्मिका वृत्ति से विरोधी[1] अविद्यात्मिका वृत्ति की निवृत्ति में ही पर्यवसित हो जाती है और निरावृत (विमर्शहीन) चित् प्रकाशित हो जाता है। वहाँ आगमिक साधना उसके वाद भी चलती रहती है और विमर्श शक्ति के पूर्ण विकास के साथ समाप्त होती

---

१. वेदांत परिभाषा—(सघणिप्रभाशिखामणिसहिता) पृ० ३५८–३६०।

है। यही कारण है कि आगमिक मानते हैं कि नैगमिक साधना में मलों की अशेष निवृत्ति अथवा अशेष मलों की निवृत्ति नहीं होती। यही एक अंतर आरोहण और अवरोहण वेला में और है। आगमिक महामाया राज्य की गति भी ठीक विपरीत है। अवरोहण प्रक्रिया में महामाया राज्य के अंतर्गत जागरण से स्वप्न के भीतर होकर सुषुप्ति की ओर है जब कि माया स्तर पर सुषुप्ति के स्वप्न भेद करते हुए जागरण की ओर है—पर यह जागरण सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ता है। प्रत्यावर्तन बेला में इसी प्रकार उलटा क्रम है।

शांकर अद्वैत जड़जगत् की निवृत्ति के साथ स्वरूप प्रतिष्ठ होता है—आगमिक अद्वय अचिदंश का भी चिन्मयीकरण करता हुआ सब कुछ के साथ स्वरूप प्रतिष्ठ होता है। यही कारण है कि शांकर अद्वैत के जीवन्मुक्त की अनुभूति से आगमिक अद्वयवादी जीवन्मुक्ति की अनुभूति में भी अंतर होता है। जहाँ पहला संसार को अपनी मायात्मिका प्रकृति में दुःखमय स्वरूपोपलब्धि के लिए अनिवार्य समझता है वहाँ दूसरा विश्व को अपनी प्रकृति में आनंदमय मानता है, फलतः संकोच से मुक्त होता है—पर स्वरूपोपलब्धि में विश्व की निवृत्ति नहीं, गृहीति ही अपनी 'पूर्णता' समझता है। इसीलिए जहाँ पहला वासना-निवृत्ति की बात करता है वहाँ दूसरा उसके शोधन की बात करता है। पहला यह मानता है कि जीवन्मुक्ति के बाद विश्व की पूर्वानुभूति तत्वबोध से बधित हो जाती है और उसी बधित की अनुवृत्ति चलती रहती है। उदाहरणार्थ, जब विशेष ढंग से हम कभी अपनी आँखें दबा लेते हैं—उस समय हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि चंद्र दो नहीं हैं, पर दिखाई दो पड़ते हैं—ठीक इसी प्रकार शांकर अद्वैतवादी जीवन्मुक्त को विश्व का बोध होने पर भी उसकी अनुभूति चलती रहती है—इसे वे लोग बाधितानुवृत्ति के नाम से कहते हैं। दूसरा यह मानता है कि जीवन्मुक्त का व्यष्टि देह समष्टि देह हो जाता है—वह समस्त विश्व को स्वांगवत् देखता है और दृष्टि के निर्मल हो जाने से अन्यथा दृष्टं विश्व यथावत् दीखता है—भेद निवृत्त हो जाता —गलतफहमी दूर हो जाती है। जहाँ पहला Exclusive है वहाँ दूसरा All embrassing है। जहाँ पहला जीवन्मुक्त समाधि और व्युत्थान में भिन्न अनुभूति करता है वहाँ दूसरा दोनों में एक सा रहता है। व्युत्थान में जगत् को स्वाँग रूप और आत्म क्रीड़ा या आत्मशक्ति के विलास रूप में देखता है और समाधि में भी अपने ही रूप का अनुभव करता है। अभिप्राय यह कि उसे व्युत्थान और समाधि में कोई अंतर नहीं पड़ता। उसकी योग दशा कभी मग्न नहीं होती। यह आगमिक ईश्वराद्वयवाद की ही विशेषता है।

इसी प्रकार दोनों का एक पारस्परिक वैशिष्ट्य या अंतर यह भी है कि आगमिक अद्वयवाद न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ज्ञानहीन भक्ति मार्ग ही है—इसमें दोनों का सामरस्य है। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार भक्तिभेद की ही भूमिका पर संभव है—अतः अभेद ज्ञान या स्वरूप प्रतिष्ठ होने पर केवल ज्ञान को ही सर्वातिशायी

स्थिति संभव है—वहाँ की पार्यन्तिक दशा में भक्ति का स्थान नहीं है। पर आगमिक अद्वयवाद में ज्ञान के बाद भी भक्ति की स्थिति कही गई है—वस्तुतः यहाँ चिदंश शिव एवम् आनंदांश शक्ति के समरस रूप की स्थिति के कारण ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य संभव है—शांकर अद्वैतवाद में नहीं। यद्यपि भक्तिमात्र के लिए द्वैत की अपेक्षा है, पर ज्ञानोत्तरा भक्ति के लिए अपेक्षित द्वैत कल्पित है। यह साध्य भक्ति है और इस परा भक्ति के फलस्वरूप अद्वैत में भी कल्पित द्वैत की तरंगें उठती रहती हैं—जिससे भक्ति की स्थिति संभव हो जाती है—फलतः यहाँ ज्ञान और भक्ति का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। क्या तुलसीदास ने कहा है—"ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु[1] भेदा ?

इस प्रकार दोनों ही वादों में सूक्ष्म विचार के फलस्वरूप अनेकविध अंतर स्पष्ट किए जा सकते हैं। हाँ एक तथ्य इस प्रसंग में अवश्य ध्येय है कि जब अंतर दिखाने की दिशा में वैचारिक कदम बढ़ाया जाता है तो वह दिशा विश्लेषणात्मक ही कही जायगी संश्लेष की दृष्टि से इन अंतरों को भूमिका भेद से समझाया जा सकता है और विश्लेष की दृष्टि से केवल पार्थक्य या अंतर कहा जा सकता है। शंकराचार्य की वैयक्तिक साधना और तत्संबद्ध वाङ्मय को देखा जाय तो आगमिक अद्वयवादी विशेषताएँ भी उनमें उपलब्ध होंगी, पर जहाँ तक उनका दार्शनिक पक्ष है—संश्लेषतः भूमिका भेद की दृष्टि से या विश्लेषतः स्पष्ट रूप से इन भेदक तत्वों की ओर संकेत किया जा सकता है।

तांत्रिक दृष्टि के संघटक को प्रमुख बिंदुओं का शांकर मत के संदर्भ में स्पष्टीकरण कर लेने के अनन्तर तीसरा बिंदु है—परतत्व का लीलार्थ अवरोहण। वैष्णव, शैव एवं शाक्त जैसी आगमिक धाराओं से यह स्वीकार किया गया है कि यह परतत्व की स्वातन्त्र्यात्मा शक्ति ही है जो सृष्टि रूप में प्रसारित होती है और इस प्रसरण के मूल में उसकी 'लीला' ही निमित्त है। लीला का प्रयोजन कुछ नहीं है। सप्रयोजन कार्य वह करता है जिसे क्लेशकर अभाव का बोध होता है। मूल तत्व में क्लेशकर अभाव बोध की स्थिति ही नहीं है, अतः वहाँ प्रयोजन तथा निमित्त की बात ही सोचना व्यर्थ है। यह तो उस परतत्व की आनंद एवम् ऐश्वर्यमयी स्वातन्त्र्यात्मा शक्ति है जो लीला का विश्वात्मक प्रसार करती है। सृष्टि की इस गम्भीर प्रक्रिया को शैव एवं शाक्तागमों में बहुत गहरे उतरकर बताया गया है। 'कामकलाविलास'[2] में विश्व को शक्ति का गर्भाधान कहा गया है। बताया गया है कि मूलतत्व या महा बिंदु को रवि या काम कहा गया है और सिसृक्षा के साथ ही वहाँ अग्निषोमात्मक सित एवं शोण बिंदु के परस्परानुप्रवेश से एकारात्मक त्रिकोण का उद्भव होता है

१. रामचरितमानस, पृ० ८५३–११५ दोहा, ७वीं चौ०।
२. पृ० २।

जिससे विश्व का प्राकट्य होता है। परतत्व की सिसृक्षा के साथ ही उसमें से शक्ति का पार्थक्य और शक्ति में से विश्व का पार्थक्य आभासित होने लगता है। सिसृक्षा के साथ ही पूर्णहंतामयी शक्ति में जो संकोच होता है उससे 'अहम्' के साथ 'इदम्' अंश भी झलकने लगता है—ग्राहक के साथ ग्राह्य एवम् भोक्ता के साथ भोग्य भी उभरने लगता है। शक्ति के इस विश्वात्मक प्रसार के क्रम में अनेक (अभेद-भेदा-भेद-भेद) अवस्थाएँ आती हैं। वैष्णवागमों[1] में भी यही प्रक्रिया अपने ढंग से कही गई है। इनकी जयाख्यसंहिता[2] एवं आहिर्बुध्न्य[3] संहिता इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। आगमों में सर्वत्र एक मत से यह माना गया है कि परतत्व निजी शक्ति में दर्पण की भाँति अपने को प्रतिबिंबित करता है—या देखता है और समझता है—"मैं पूर्ण हूँ"। यही पूर्णाहंता है। पर तत्व के स्वाँग से पराशक्ति से स्वान्तःस्थ प्रपंच उनसे निर्गत होता है। परम सुंदर भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं और इतना चमत्कार अनुभव करता है कि अपने को ही आलिंगित करने की इच्छा होने लगती है। चैतन्यचरितामृत[4] में ठीक ही कहा है—

> "रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार
> आलिंगिते मने उठे काम।"

यह चमत्कार पूर्णाहंता का चमत्कार है—काय या प्रेम इसी का प्रसार है—प्रकाश है। यही 'शिव' एवम् 'शक्ति', 'विष्णु' एवम् 'लक्ष्मी' तथा 'उपाय एवं प्रज्ञा' के सम्मिलन का प्रयोजक आदि रस अथवा शृंगार रस है। विश्व सृष्टि के मूल में यही रसतत्व प्रतिष्ठित है। वौद्धों की "शून्यता एवं करुणा" का समरस और स्थिर महासुखात्मा बोधिचित्त भी रसात्मक ही है। इसी बोधिचित्त की अस्थिर अवस्था सृष्टि दशा है और स्थिर अवस्था 'सहज' दशा। तांत्रिक वौद्ध साधना पक्ष में तांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाते हैं और दर्शन पक्ष में 'महायान' के अधिकतर विज्ञानवादी दृष्टि को तथा स्वल्पतर शून्यवादी दृष्टि को। इसीलिए वहाँ आत्मा के स्थान पर 'चित्त' को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है और उसे केन्द्रीय वस्तु समझा जाता है। समस्त जगत् इस चित्त या विज्ञप्ति का परिणाम माना जाता है और उसका कारण अनादि वासना अथवा कामतृष्णा कही जाती है। दूसरी ओर विज्ञप्ति के समस्त परिणामों के स्वरूप शून्यवादियों की भाँति निःस्वभाव भी कहा जाता है। किंतु इन सब बातों के वावजूद 'चित्त' की जिस स्थिर दशा को 'बोधिचित्त' कहा जाता है—वही मूल

१. आहिर्बुध्न्य संहिता, पूर्वार्ध, ५, ६, ७ अध्याय।
२. जयाख्यसंहिता, २, ३ तथा ४ पटल।
३. आहिर्बुध्न्य संहिता, पूर्वार्ध ५, ६, ७ अध्याय।
४. उद्धृत भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १।

तत्व का अपना महासुखात्मा रूप है—जो शून्यता एवं करुणा अथवा प्रज्ञा और उपाय का समरस रूप है। अपनी-अपनी विभिन्न परम्पराओं के कारण आपाततः कुछ अन्तर जान पड़े, पर डा० शशिभूषण दास गुप्त के शब्दों में—

It has again been held in the Hindu Tantras that the metaphysical principles of Shive and Shakti menifests in this material world in the form of the male and the famale. Tantric Buddhist also holds that the principals of Prajna and Upaya are objectified in the females and male.[१]

निष्कर्ष यह कि समस्त तांत्रिक धाराएँ इस तीसरे विंदु पर भी एक मत हैं कि समस्त सृष्टि उसी द्वयात्मक अद्वय का प्रसार है। अनागमिक समस्त दर्शनों में सृष्टि या सृष्टि के निमित्त को अनादि कहकर छोड़ दिया जाता है, उसका कोई संतोषकर उत्तर नहीं दे पाता। मूर्द्धन्य दर्शन शांकर वेदान्त इस सृष्टि को जिस भाषा की परिणति मानता है, उसे मिथ्या कहकर उड़ा देता है—आगमिक उस आवरक शक्ति को भी परतत्व से ही उद्भूत और उसी की भाँति उसका अविच्छेद्य अंग मानकर उसे भी चिन्मय ही स्वीकार करता है। सूर्य को ढँकने वाला सूर्य से ही उत्पन्न होता है और उसे ढक कर भी उसी की ज्योति से स्वयं को प्रकाशित करता है।

चौथा समान और संघटक विंदु है—परतत्व की पंचकृत्यकारिता। अनागमिक दर्शनों में सृष्टि से संवद्ध तीन ही स्थितियाँ मानी हैं—सृष्टि, स्थिति एवं संहार, पर आगमों—वैष्णव, शैव एवं शाक्त—में पंचकृत्य अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार के साथ 'निग्रह' तथा 'अनुग्रह' की भी बात कही गई है। निग्रह तथा अनुग्रह उसी स्वातंत्र्यात्मा शक्ति का विलास है। 'निग्रह' स्वेच्छावश 'संकोच' का स्वीकार करना है और 'अनुग्रह' परमेश्वर का शक्तिपात है जिसके कारण वह पुनः अभेदमय निजस्वरूप की उपलब्धि की ओर—अग्रसर होता है। वौद्धतंत्र अपेक्षाकृत साधन पक्ष पर अपने को अपेक्षाकृत अधिक केंद्रित करते हैं—अतः इन दार्शनिक स्थापनाओं की ओर कम जाते हैं। 'पंचकृत्यकारी' परतत्व की स्वांगभूता निजाशक्ति अन्तःस्थ प्रपंच बहिः प्रसारित होकर समस्त ब्राह्मणागमों में त्रिधा विभक्त माना गया है—शुद्ध या अभेद दशा, शुद्धाशुद्ध या भेदाभेद दशा तथा अशुद्ध या भेद दशा। शुद्धाशुद्ध या भेदाभेद दशा तथा अशुद्ध या भेद दशा अनागमिक दर्शनों और धाराओं में पूर्वोक्त दो सृष्टि दशाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इसका स्पष्टीकरण चने के बीज से किया गया है। बताया गया कि अनार्द्र दशा में चने का दाना अखण्ड एकात्मक रूप में उपलब्ध होता है। जलार्द्र होकर उच्छून दशा में आने पर वह ऊपर से एक दिखाई पड़कर

१. An Introduction to Tantric Buddhism, P. 102.

भीतर के दोनों दल स्पष्ट पृथक् झलकने लगते हैं और अंत में अंकुर दशा तो सर्वथा भिन्न लक्षित होती ही है। इस प्रकार जैसे अंकुरोन्मुख चने के बीज की अभेद, भेदाभेद तथा भेद की तीन दशाएँ लक्षित होती हैं उसी प्रकार सृष्टि की भी तीन स्थितियाँ समस्त आगमों में दृष्टिगोचर होती हैं। आगमों का यह पंचम समान बिंदु भी अनागमिक धारा में उपलब्ध नहीं होता। वैष्णव भी अशुद्ध अध्वा के अतिरिक्त शुद्ध अध्वा स्वीकार करते हैं, परन्तु अपनी विचार शैली के अनुरूप। वैष्णव अप्राकृत विशुद्ध सत्वमय लोक की कल्पना करते हैं जो त्रिगुणातीत और नित्य चिन्मय उज्जवल रूप में प्रकाशमान रहता है। गौड़ीय वैष्णव इसे चिन्मय कहते हैं और रामानुजीय वैष्णव जडात्मक। वस्तुतः यह अति-प्राकृत विशुद्ध सत्वमय वह शुद्ध सृष्टि है जहाँ नित्य मुक्त आत्माएँ रसानुभव में मग्न रहा करती है और पारमेश्वर लीला का साक्षात्कार करती हैं। द्वैत शैवागमों में जो स्थान 'महामाया' या 'विन्दु' का है वैष्णव शास्त्रों में वही स्थान विशुद्ध सत्व का भी है। विशुद्ध सत्व की स्थिति अनागमिक दर्शनों या धाराओं में नहीं है। पातंजल दर्शन के ईश्वर की उपाधि प्रकृष्ट सत्व है, विशुद्ध सत्व नहीं। महायानी बौद्धों में इसी विशुद्ध सत्व के आधार पर बोधिसत्व की कल्पना की गई है। सम्यक् संबुद्ध दशा में आरूढ़ होने से पूर्व तक इसी सत्व का विकास माना जाता है। श्रावक यान या हीनयान में इस 'सत्व' की कोई चर्चा नहीं है। जिस व्यक्ति के आधार में इस विशुद्ध सत्व की स्थिति होती है, वही बुद्धत्व, तीर्थंकरत्व एवं ऐश्वर्यमय शिवत्व की उपलब्धि कर पाता है, दूसरा नहीं। निष्कर्ष यह कि सृष्टि के शुद्ध एवं अशुद्ध रूपों की चर्चा आगमों में ही संभव है—क्योंकि त्रिगुणातीत विशुद्ध सत्व या चिन्मय राज्य की संभावना उसी धारा में है।

सृष्टि के विस्तार या प्रसार के विषय में भी अनागमिक धारा से आगमिक धारा का वैशिष्ट्य है। अनागमिक धारा में अधिक से अधिक ब्रह्माण्ड और चौदह भुवन की बात आती है, पर आगमिक धारा ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड तथा इनसे भी परे मायावरण या बिरजा के बाद भी नित्यधाम या शाक्ताण्ड तथा अन्यान्य भुवनों का उल्लेख मिलता है। अशुद्धाध्वा में ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा मायाण्ड है और शुद्धाध्वा में शाक्ताण्ड। महायानी बौद्धों का अनाश्रव धातु ऐसा ही शुद्ध जगत् है—जो आगमिक धारा ,का ही अनुगमन है।

सृष्टि ही नहीं, प्रलय के विषय में भी आगमिक धारा की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ हैं। पुराणों अथवा अन्य आगमिक धाराओं में अधिक से अधिक महाप्रलय की बात कही जाती है जो प्रध्वंसात्मक माना गया है। किन्तु प्रध्वंसात्मक महाप्रलय ब्रह्माण्ड का ही नहीं, प्रकृत्यण्ड एवं मायाण्ड का भी होता है। यही पौराणिक महाप्रलय के ऊपर की बात है। इसके भी ऊपर शाक्तावरण है जिसका प्रध्वंसात्मक नहीं प्रत्युत उपसंहारात्मक प्रलय माना जाता है। इसके अनन्तर भी संकोच की क्रिया

चलती रहती है। यों तो 'समना' तक कालराज्य का विस्तार है, उसके बाद कालातीत स्थिति आती है। मन की निवृत्ति के साथ आभासमय ज्ञेय पदार्थों के ग्रहण की इच्छा भी संकुचित हो जाती है। आत्मव्याप्ति का यह पूर्वाभास है। यह संकोच सदाशिव और शिव के बीच का है। शिव के भी ऊपर और परमाशिवावस्था के नीचे आत्मव्याप्ति की दशा है। महाशक्ति के अनुग्रह से इस आत्मव्याप्ति के ऊपर भी बढ़ा जा सकता है।

सृष्टि प्रलय का यह सारा प्रसार जिस बंध, अख्याति या अज्ञान से होता है— उसका स्वरूप भी उनका अपना है। शैव शाक्तागमों में मूलतत्व बोध एवं स्वातंत्र्य अथवा ज्ञान और क्रिया का समरस (इच्छात्मक) रूप है। सिसृक्षा के साथ बोध का स्वातंत्र्य हीन होना और स्वातंत्र्य का बोधहीन होना ही बंध है : अख्याति है : आत्मसंकोच है : आणवमल है। मायीयमल भेद की सृष्टि में निमित्त है और कार्यमल धारण का। 'सकल' जीवों में तीनों, 'प्रलयाकल' में दो तथा 'विज्ञानाकल' में आणवमल ही शेष रहता है। बौद्धों के यहाँ भी शून्यता या प्रज्ञा से हीन करुणा अथवा करुणा या उपाय से हीन प्रज्ञा का होना ही बंध है। वैष्णवागमों में भी स्वेच्छावश निजी अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति का लीलार्थ भेद करना स्वेच्छाचारिता वश-संकोच ही है जिससे सृष्ट्यात्मक प्रसार को अवसर मिलता है।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सृष्टि के मूल तत्व का चिन्मय सक्रिय अथवा सस्पंद पक्ष शक्ति का स्वभाव संकोच-प्रसारमय है। 'प्रसार' 'मापूराण्डर-सन्यास' से अन्तःस्थिति विश्व का बहिः प्रकाशन है जो पंचकृत्यकारी परमशिव की निग्रह या तिरोधान शक्ति का फल है। इसी प्रकार 'निवृत्ति' कला तक 'प्रसार' होकर पुनः निवर्तन या 'संकोच' होता है। जिस प्रकार 'प्रसार' निग्रह या पूर्णाहंता के तिरोधान वश होता है उसी प्रकार 'संकोच' पारमेश्वर शक्तिपात या 'अनुग्रह' के फलस्वरूप होता है। पराशक्ति के 'प्रसार' और 'संकोच' को अवरोहण या आरोहण भी कहा जाता है। अवरोहण या प्रसार की क्रिया का संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, संप्रति, 'आरोहण' क्रिया से संबद्ध आगमों की अपनी विशिष्ट दृष्टि का निरूपण किया जा रहा है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि समस्त सृष्टि और प्रलय शक्ति का संकोच-प्रसार ही है और यह संकोच-प्रसार आनंदानुभूति की दशा है। अभिनव गुप्त ने रसमी या वड़वा के मूत्रत्याग के पश्चात् होने वाले वरांग के आनन्दप्रद संकोच प्रसार से इसे उपमित किया है। अस्तु।

आरोहण की प्रक्रिया पर तंत्रों में गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। वस्तुतः अन्य दार्शनिक चिन्तकों की अपेक्षा साधना-पक्ष पर, मूल रूप की उपलब्धि पक्ष पर—तंत्रों में विशेषतः जमकर विचार किया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि तांत्रिक साधना शक्ति की साधना है। शैव एवं शाक्तागमों में यह शक्ति स्पष्ट ही है जो अवरोहण वेला में अधोमुखी होकर विभिन्न आवरणों, कोशों अथवा ग्रंथिमय

चक्रों की सृष्टि करती हुई पार्थिव रूप तक जड़वत् होकर फैल जाती है। जिस प्रकार समस्त विश्व के आधार में इस शक्ति की संस्थिति है उसी प्रकार व्यक्ति पिंड में भी। वैष्णवों के यहाँ महाशक्ति विष्णु की अंतरंगा, ह्लादिनी, महालक्ष्मी, सीता अथवा राधा-रूपों में है। बौद्धों के यहाँ प्रज्ञापारमिता अथवा प्रज्ञा ही वह तत्व है। वृद्धावस्था में यह शक्ति सुप्त है—इसका ही प्रबोध समस्त आगमिक साधनाओं का लक्ष्य है।

शैव तथा शाक्त मानते हैं कि समस्त शरीर ९६ अंगुल का है। ४८ अंगुल पर शरीर का मध्य है। इसी मध्य में मूलाधार के नीचे वह शक्ति कुण्डलित होकर प्रसुप्त है। इसी आधार पर समस्त पिंड और ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित हैं। यदि इस आधार को चिन्मय कर लिया जाय अर्थात् इसका जागरण कर लिया जाय तो समस्त अचेय भी चिन्मय और आनन्दमय हो जाय, विषमय विकल्प भी अमृतायमान हो जाय। इसके जागरण के लिए शैवों, शक्ति एवं वैष्णवों के यहाँ तो पारमेश्वर अनुग्रह माना ही गया है—बौद्धों के यहाँ भी गुरु कृपा से पृथक् जन, 'स्रोतापन्न' हो जाता है। पारमेश्वर शक्तिपात के शक्ति-जागरण में यदि कुछ कमी होती है तो उसकी पूर्ति गुरु-दीक्षा तथा साधक द्वारा आचरित उपाय से होती है। शैव एवम् शाक्त आगमों में दीक्षा की बड़ी ही गहन प्रक्रिया निर्दिष्ट है। उपाय चार प्रकार के माने गए हैं—अनुपाय, शांभव, शाक्त तथा आणव। आणव बहिरंग उपाय है और शेष तीन अंतरंग। बहिरंग उपाय में कुछ तो आचार हैं और कुछ योगांग। आचार से असंबद्ध ये ही योगांग आणव उपाय में है। शक्तिपात, दीक्षा एवम् उपाय के द्वारा उद्वुध कुण्डलिनी शक्ति द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत अथवा शुद्ध-शुद्धा-शुद्ध एवं अशुद्ध के स्तरों को पार करती हुई संकोचों या कंचुकों को विलीन करती हुई समस्त प्रकार को उपसंहृत करती हुई अंततः सामरस्यात्मक अद्वयावस्था को पहुँच जाती है।

वैष्णवों के यहाँ भी नाम साधना से गुरु की उपलब्धि, गुरु से चिन्मय मंत्र बीज का शिष्य में वपन, वपित बीज से दिव्यदेह का आविर्भाव, दिव्य देह से वास्तविक भाव का महाभावात्मा अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति रूप में आना और फिर निजी शक्ति से परतत्व का समरस होकर आनंदमय दशा में विश्रान्त होना—सहजिया एवं गौड़ी वैष्णवों में तो है ही, शनैः शनैः इस रस की साधना का प्रभाव सभी सगुण धारा के उपासकों में आ जाता है और रसिक साधना का प्राकट्य हो जाता है।

बौद्धों के यहाँ भी चित्त की संवृत दशा मलिन विंदु या शुक्र है। इनकी Sexoyogic Process बिंदु साधना है। बिंदु का उद्बोध और कुण्डलिनी जागरण एक ही बात है। गुह्य प्रक्रिया अथवा महामुद्रा साधना द्वारा साधक बिंदु को क्षुब्ध करता है। ज्यों ज्यों इस बिंदु का ऊर्ध्व संचार होता जाता है त्यों त्यों उसमें से पार्थिव, जलीय, आग्नेय एवं वायवीय अंश हटता जाता है और अंततः वह गगनोपम बोधिचित्त हो जाता है। ब्राह्मण तंत्रों में जिस प्रकार विभिन्न चक्रों की चर्चा है,

उसी प्रकार बौद्धागमों में भी चक्रों का उल्लेख है। यहाँ भी निर्माण चक्र, धर्मचक्र, संभोगचक्र तथा उष्णीषचक्र है। बिंदु का क्षोभ निर्माण चक्र में ही होता है। इस क्षुब्ध बिंदु का मध्यवर्तिनी अवधूतिका नाड़ी द्वारा ऊर्ध्व संचार किया जाता है और ऊर्ध्वसंचार का अभिप्राय है—समस्त विरोधी प्रवाहों का एक रस होकर ऊर्ध्व प्रवाह। जिस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने पर ऊर्ध्वसंचार एवं अधः संचार वृत्त पूरा होता है उसी प्रकार बौद्धों के यहाँ भी बिंदु का उष्णीष कमल तक संचार होकर पुनः जब निर्माण चक्र में प्रतिष्ठा होती है तभी वह स्थिर निर्वात दीपशिखा की भाँति निष्कम्प और स्थिर हो जाता है। यहाँ चित्त शोधन का वृत्त पूरा हो जाता है और शून्यताकरुणा भिन्न बोधिचित्त की महासुखात्मा निज दशा की स्थिर स्थिति हो जाती है। वैदिक अथवा अनागमिक धाराओं में यह स्थिति नहीं है। वहाँ जब चिन्मयी एवं संकोच प्रसारात्मिका शक्ति की संस्थिति ही स्वीकृत नहीं है—तो उसके जागरण का सवाल ही नहीं उठता।

इस प्रकार और भी कई ऐसे तत्व हैं जो केवल आगमों में ही मिलते हैं। विषय का उपसंहार करते हुए पुनः उन आगम साधारण और अनागम व्यावर्तक बिंदुओं की ओर समष्टि रूप में इंगित करना चाहता हूँ—जिनसे तांत्रिक दृष्टि का निर्माण हुआ है—

(अ) संकोच प्रसारात्मिका चिन्मय शक्ति की स्वीकृति
(आ) परतत्व का द्वयात्मक अद्वयरूप
(इ) अवरोहण या विश्व के वहिःप्रकाशन में लीला अथवा रसतत्व की स्थिति
(ई) प्रत्येक जड़ परमाणु में मूलशक्ति की स्पंदनात्मकता तथा चेतन जीवों में परतत्व की द्वयात्मकता
(उ) शक्ति का रूपान्तरण विश्व, और विश्व का उपसंहार शक्तिमय
(ऊ) सृष्टि प्रक्रिया का श्वेत एवम् रक्त विंदु युगल के परस्पर मिश्रण से निष्पन्न होना
(ए) शुद्ध सत्व एवं शुद्ध-जगत् अथवा शुद्धाध्वा की परिकल्पना
(ऐ) सृष्टि एवं प्रलय—दोनों ही पंचकृत्यकारी मूलतत्व का आनन्दमय विलास
(ओ) सुप्त शक्ति का कृपावश उत्थान और वृत्तपूर्ति द्वारा स्थिरीकरण
(औ) पूर्णावस्था में पंचच का विलय या वाधितानुवृत्ति होने की जगह आधार के चिन्मयीकरण द्वारा समस्त विकल्पों का अमृतायमान होना।
(अं) पंचविध शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म; कारण, बैंदव एवं शाक्त—की परिकल्पना
(अः) व्युत्थान एवं समाधि की समान स्थिति
(क) सामरस्य की स्थिति

पूर्ववर्ती प्रयास

इन निखिल संघटक बिंदुओं से निर्मित दृष्टि का संचार हिंदी निर्गुण संत साहित्य में प्रस्तुत प्रबंध का प्रतिज्ञात पक्ष है । इस दिशा में—अर्थात् हिंदी निर्गुण साहित्य धारा के संबंध में—बड़े लम्बे अरसे से कार्य होता आ रहा है । डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदर दास, पं० परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य विनयमोहन शर्मा, डा० भगीरथ मिश्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; श्री क्षितिमोहन सेन, विशम्भरनाथ उपाध्याय तथा अनेक विश्वविद्यालयों के ख्यात अख्यात नामा शोधकर्ता इस क्षेत्र में सक्रिय रहे हैं और हैं । प्रत्येक प्रबंध की अपनी प्रतिज्ञात दिशा है और तदनुरूप उपलब्धि । इन सभी प्रबंधों, निबंधों, स्वतंत्र कृतियों तथा भूमिकाओं—के रूप में अब तक जो भी प्रयास हुआ है—उसमें प्रस्तुत प्रबंध का प्रतिज्ञात पक्ष अभी छूटा हुआ लगा । निर्गुण साहित्य पर साधना और उपलब्धि, वैचारिक पक्ष और काव्यतत्व—इन सभी दृष्टियों से विचार किया गया है—फलतः अनेक विचारकों ने इस साहित्य में तांत्रिक तत्वों के अस्तित्व की संभावना भी की है—लेकिन उसे व्यवस्थित ढंग से उपस्थापित नहीं किया जा सका। एक भी ऐसी पुस्तक नहीं मिली; जिसमें 'तांत्रिक-दृष्टि' क्या है और उसके संघटक बिंदु कौन कौन से हैं—स्पष्ट निरूपित किया गया हो। म० म० कविराज जी ने 'तांत्रिक-दृष्टि' शीर्षक एक निबंध अवश्य लिखा है—पर उसमें शैव-शाक्तागम की ही असाधारण विशेषताओं पर दृष्टिनिक्षेप किया गया है—वैष्णव एवं बौद्ध आगमों की विशेषताओं का समानान्तर उल्लेख नहीं है—यद्यपि उनके समस्त लेखन में ये बिंदु यत्र-तत्र छिटके हुए अवश्य हैं । फिर आज भी निर्गुण साहित्य के अंतर्गत अभिव्यक्त परतत्व, अवरोहण, आरोहण तथा साधना और तज्जन्य उपलब्धियों में उस तांत्रिक दृष्टि का सम्यक संचार किसी भी अनुसंधाता के द्वारा नहीं किया गया है । पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने पत्रों में, श्री अंबाप्रसाद श्रीवास्तव ने 'अक्षर अनन्य' में साध्य तथा साधन—पर तांत्रिक प्रभाव माना है और भूमिका में उल्लेख भी किया है । डा० विश्वम्भरनाथ का तो यह कार्य भी था—पर इन तीनों प्रयासों में तांत्रिक तत्व का निर्धारण कर उनका यथोचित समन्वय कहीं नहीं है । इसलिए कतिपय संभावनाओं को उपलब्धि और स्थापना का आकार देने के निमित्त इस प्रबंध की रचना उद्दिष्ट है ।

संचार का आशय

तांत्रिक दृष्टि के संचार से आशय है—निर्गुण साहित्य के चर्चित पक्षों के ढांचों में अन्तस्तत्व अथवा इन्हीं बिंदुओं के अनुरूप उन पक्षों की वैचारिक संगति और सामंजस्य । अभिप्राय यह कि इन सभी पक्षों की व्याख्या में मूल दृष्टि के रूप में वे ही संघटक बिंदु केंद्रीय संचालक रहेंगे । इस प्रकार निर्गुण साहित्य की इन दृष्टियों से की गई व्याख्या एक अभिनव व्याख्या होगी ।

मूलतत्व विषयक-धारणा

क्रमागत 'परतत्व' विषयक धारणा की पूर्व पीठिका

(क) संहिता : विश्व में रहस्यात्मक उद्गारों का कदाचित् सबसे पुराना संकलित और सुरक्षित रूप हमें वेदों में उपलब्ध होता है। परतत्व विषयक जिस धारणा की चर्चा यहाँ उद्दिष्ट है—उससे संबद्ध पुष्कल सामग्री ऋग्वेद और अथर्ववेद में उपलब्ध है यों यजुर्वेद और सामवेद में भी संकेतों का अभाव नहीं कहा जा सकता। कतिपय मंत्रों के अतिरिक्त साम तो ऋक् का गान ही है और यजु: में याज्ञिक कर्मकाण्ड का विवरण अधिक है। ऋग्वेद में भी इतना स्पष्ट है कि उसमें विभिन्न देवताओं का स्तवन किया गया है और उनसे लौकिक पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए याचना की गई है। जिन देवताओं की यहाँ स्तुति की गई है—वे प्रकृति के विभिन्न जड़ात्मक रूप हैं या उनकी अधिष्ठात्री चैतन्य शक्तियाँ? अधिष्ठात्री चैतत्य शक्तियाँ भी वस्तुत: अनेक हैं या एक ही मूल शक्ति के आश्रय भेद वश प्रतिभासिक विभिन्न रूप? इस वैविध्यमयी सृष्टि से पूर्व क्या था? ये शक्तियाँ (देवात्मक) साकार हैं या निराकार? जो कुछ भी संसरणशील दृष्टिगोचर रहा है—संसरण के लिए वही सब कुछ है या इस दृश्यमान घटनावली की तह में निहित कोई निगूढ़ शक्ति है? ऐसे अनेक प्रश्न वैदिक आर्य चिन्तकों के मन में उठे थे—कारण स्पष्ट है कि उन प्रश्नों का उत्तर यहाँ विद्यमान है। इससे यह भी निर्भ्रान्त सिद्ध है कि समाधान पाने के लिए ऋषियों की सतत उद्ग्रीव जिज्ञासा 'मूलतत्व' की ओर बढ़ी थी और अंतत: उन लोगों ने उसका साक्षात्कार भी किया था।

वैदिक ऋषि इतना तो समझते ही थे कि संसार उत्पाद विनाश शील है—फलत: वह 'कार्य' है और 'कार्य' के लिए 'शक्ति' की आवश्यकता है। 'शक्ति' व्यक्त भी हो सकती है और अव्यक्त भी। पर कार्य में उपयोगी तभी हो सकती है—जब वह 'व्यक्त' हो। 'व्यक्त' होकर कार्योपयोगी होने से उसका क्षय भी हो सकता है और होता हुआ माना जाता है। अत: यदि उन्हीं शक्तियों से सृष्टि को आगे चलाना है तो उनको उनका भोज्य भी देना चाहिए।

इसी चिन्तना के अनुसार जो 'देवतोद्देश्यक द्रव्यत्याग'[1] था, वही यज्ञ कहा जाता था। निष्कर्ष यह कि देवता या शक्तियों के लिए किया गया द्रव्यत्याग ही यज्ञ है।

---

१. कात्यायन श्रौत सूत्र, ११२।२।

यह समझा जाता था कि इन देवतात्मक शक्तियों का मुख अग्नि है और इसी के द्वारा उनका भोज्य उन तक पहुँचाया जाता था। इस यज्ञ के लिए, प्रज्वलित अग्नि में दी गई 'आहुति' वस्तुतः 'आहूति'[1] थी—जिससे आकृष्ट होकर वे शक्तियाँ व्यक्त होती थीं—वे कामरूप देवता साकार होते थे और सृष्टि का योग क्षेम चलता था। डा० एस० एन० दास गुप्त इसे Sacrificial mysteries कहना चाहते हैं। उनका आशय उक्त कथन की तह में कुछ और है—जिसकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक हैं। यहाँ केवल यह कहना है कि याज्ञिक उपासना एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे विश्व का विधारण होता है—विश्व को मंगलमय क्रम में ले चलने के लिए एक देवतात्मक शक्तियों का परितर्पण होता है। इस प्रकार यदि एक ओर प्रकृति के विभिन्न खण्डों की अधिष्ठात्री शक्ति के रूप में देवता की कल्पना की जाती थी तो दूसरी ओर वैदिक मंत्रों को भी देवतात्मा कहा गया है अर्थात् उनमें भी देवतात्मा शक्ति व्याप्त है। तीसरी ओर डा० दास गुप्त किसी निगूढ़ शक्ति को याज्ञिक प्रक्रिया में भी व्याप्त मानते हैं। चौथी ओर इन सभी 'विशेषों' में अनुस्यूत एक 'सामान्य शक्ति' की भी संभावना की जाती है।

इस याज्ञिक रहस्य की आरंभिक चर्चा से यह भी निष्कर्ष निकालना सर्वथा संगत होगा कि 'सामान्य शक्ति' की ओर 'बहुशक्ति' कल्पना के बाद ध्यान गया होगा, पर इस क्रम की प्रामाणिक स्थिति का पता वैदिक ऋचाओं से नहीं मिलता। ऋग्वेद में स्थल-स्थल पर जहाँ एक ओर अनेक देवों का स्तवन है, वहीं स्थल स्थल पर यह विचार भी मिलता है—"एकं सद् विप्राः बहुधावदन्ति'। इसलिए जिन पाश्चात्य मनीषियों की यह धारणा है कि वैदिक चिन्त में 'बहुदेववाद' के अनन्तर'[2] 'एकदेववाद' की विचारधारा आई-प्रमण पुष्ट नहीं प्रतीत होता और न तो यही कि 'एकदेववाद' के अनन्तर 'सर्ववाद' का उदय हुआ। पश्चिमी चिन्तकों ने ऋग्वैदिक चिन्तन में एक क्रम माना है और वह है—पालीथीज्म→मनोथीज्म→पैन्थिजम[3]। विपरीत इन विचारों के निरुक्तकार यास्क, वृहदेवताकार एवम् आरण्यक् के ऋषियों ने कहीं अधिक गहराई से देवतातत्व को समझा है, वेदों की मूल दृष्टि और उसके मूलस्वर को पहचाना है— इसीलिए वार-बार इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि एक ही मूल चिन्मयी शक्ति नाना देवों के रूप में विश्वात्मक रूप में अपने को व्यक्त कर रही है। निरुक्तकार[4] स्पष्ट

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना 'यज्ञ का रहस्य' शीर्षक लेख देखें। (म० म० गोपीनाथ कविराज)।
२. ऋग्वेद, १।१६४।४६।
३. भारतीय दर्शन, पृ० ५५।
४. निरुक्त, ७।४।८।६।

कहते हैं—'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति'—अर्थात एक ही आत्मा के अन्य देव प्रतिरूप हैं। ऐतरेय आरण्यक[1] की स्पष्ट उक्ति है कि एक ही चिन्मयी शक्ति को ऋग्वेदी 'उक्थ', यजुर्वेदी 'याज्ञिक अग्नि' तथा सामवेदी 'महाव्रत' नाम से कहते हैं। अथर्ववेद के स्कंभ सूक्त में 'स्कंभ' रूप में उसी रहस्यमयी अद्वय सत्ता का उद्घोष है। अथर्ववेदी 'उच्छिष्ट' के रूप में उसी की चर्चा करता है। स्वयं ऋग्वेद का कथन है—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नियाहुर थो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहु ॥"
(१।१६४।४६)

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि अनेक नामरूपों में विप्रों द्वारा कहे हुए देवता मूलतः एक ही सत् तत्व के विविध प्रतिरूप हैं। ऋग्वेद का 'ऋत' 'प्रजापति, हिरण्यगर्भ एवं पुरुष—सभी वही हैं। पुरुषसूक्त में स्पष्ट कहा गया है कि यह जो कुछ भी है या था या होगा—सब पुरुष ही है—वही मूल चिन्मयी शक्ति है—उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है—"पुरुष[2] एवदं सर्वं यच्च भूतम्, यच्च भाव्यम्।" इससे स्पष्ट है कि उन वैदिक ऋषियों ने उस रहस्यमयी चरमसत्ता का साक्षात्कार किया था (इस प्रकार इन ऋचाओं में बहुदेववाद, एकदेववाद तथा सर्ववाद—सभी मिलते हैं—संभव है—इनमें कभी क्रम रहा हो—पर वैदिक ऋचाओं के माध्यम से भी एक क्रम का निकाल लेना कठिन सा जान पड़ता है। संहिताओं में अनेक अवसरों पर वे चिन्तक अनेक विध जिज्ञासाएं प्रस्तुत करते हैं और उत्तर भी देते चलते हैं। "यों देवेष्वधिदेव एक एव आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम[3]"—जैसी उक्तियाँ साक्षी हैं।

संहिता के अनन्तर ब्राह्मण भाग को देखने से यह स्पष्ट प्रतिमासित होता है कि समाज हितेच्छु एवम् अग्रणी चिन्तक तथा विज्ञवर्ग प्रवृत्ति मार्ग में याज्ञिक प्रक्रिया के विस्तार और सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता जा रहा था। यज्ञों में हिंसा की मात्रा भी बढ़ती जा रही थी। यज्ञ के सूत्रधार ब्राह्मण अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भौतिक समुन्नति—दोनों बढ़ाते जा रहे थे। कदाचित् यही कारण है कि उपनिषदों में तत्व-जिज्ञासु अन्तर्मुखी ब्राह्मण वर्ग भी कभी-कभी क्षत्रिय तत्वज्ञों के पास दौड़ते हुए लक्षित होते हैं।

संहिता और ब्राह्मण के अन्तर्गत प्रवृत्तिमार्गी याज्ञिक स्वर की प्रखरता में निवृत्ति-मार्गी ध्वनि, अध्यात्मचिन्तन की हलकी श्रुति भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है। विशाल व्यय एवं जन-साध्य यज्ञों का सम्पादन सामान्य व्यक्ति के लिए असंभव था—अतः व्यक्तिगत पारलौकिक लाभ के लिए यज्ञ के स्थान पर चिन्तन, व्रत एवम् तप का

१. ऐतरेय आरण्यक ३।२।३।१२।
२. श्री पुरुष सूक्त, पृ० १ (आनंदाश्रम ग्रंथावली)।
३. ऋग्वेद १०।१२।१।१।

भी क्षीण स्वर चल रहा था। कहीं-कहीं तो याज्ञियों के विरोधी स्वर भी मिलते हैं, जैसे—'मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला" । अथवा ऋग्वेद के इस अंश से भिन्न अथर्ववेद के इस अंश को भी देखा जा सकता है—"ये नातरन् भूतकृतोतिमृत्युं यमन्व विदं तपसा श्रयेण" । इन अंशों में कुछ ऐसे मुनियों के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें यज्ञ नहीं, तप प्रिय था । अथर्ववेद के व्रात्य भी यज्ञविरोधी थे और ध्यान-तम द्वारा ईश्वरोपासना करते थे । ऋग्वेद के मण्डल ३ सूक्त २६ में ऐसी ऋचाएं मिलती हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि व्रात्य किस प्रकार आत्मचिंतन में रत थे। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई और ज्ञान श्रेयस्त्व की धारा उत्तरोत्तर उकसती गई। आरण्यक तो वाह्य प्रक्रिया की अपेक्षा चिन्तन प्रधान ही थे। इस स्वल्परेख विचारधारा का वृहदुन्मेष उपनिषदों में लव्ध होता है और वहाँ अद्वयानुभूति के भावात्मक और वैचारिक उद्‌गार प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगते हैं ।

वैसे जिस मूल तत्व का स्वरूप निरूपण इस अध्याय का संकलित पक्ष है—उसकी प्रकृति का निरूपण वागगोचर है—तर्कातीत है। संतों की धारणा है कि उसकी प्रकृतिगत विशेषताएं केवल अनुभूति गम्य हैं, बुद्धिगम्य नहीं । बुद्धि से परे होने के कारण वह वुद्धि-गम्य हो ही नहीं सकती और अवुद्धिगम्य को वाणी व्यक्त नहीं कर सकती। अतः संकल्पित का निर्वाह कठिन है, असंभव सी बात है। दूसरी ओर उसके अस्तित्व और सिद्धि के लिए तर्क का उपयोग भी अयुक्तिसंगत है—क्योंकि तर्क स्वयं अप्रतिष्ठित है और जो स्वयं अप्रतिष्ठित है उससे दूसरे की प्रतिष्ठा कब संभव है ? फिर भी अनुभवियों की वाणी का साक्ष्य देकर जहाँ तक उसका स्वरूप निरूपण संभव है—वहाँ तक तो बात की ही जा सकती है ।

संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक के अनन्तर, उपनिषद् आते हैं। उपनिषदों के समस्त पात्र भौतिक सुखों को नगण्य और तुच्छ समझते हैं, कारण वे क्षणिक और विनश्वर हैं—अतः आनंद की बुभुक्षा को ये सदा-सदा के लिए शाँत कर देने में अक्षम हैं। फलतः वे उस आनंदमय तत्व की खोज में हैं जिसका आभास इन भौतिक सुखों में मिलता है; वे उसकी खोज में हैं जिसे स्वयं वाणी प्रकट नहीं कर सकती बल्कि जिससे वाणी स्वयं प्रकट होती है—वे उसकी खोज में हैं जिसका मन से मनन नहीं हो सकता, वे उसकी खोज में तन्मय हैं जो चक्षु से नहीं देखा जाता; जिससे चक्षु स्वयं देखती है, वे उसके जिज्ञासु हैं जिसे श्रोत सुन नहीं सकते, जो स्वयं श्रोत्र को सुनने की सामर्थ्य प्रदान करता है, वे उसके अन्वेषी हैं जो प्राण वायु से साँस नहीं लेता, जिससे स्वयं प्राण प्राणित होता रहता है । केनोपनिषद्[1] उसे ही 'जगत्' में 'ब्रह्म' नाम से पुकारता है और—पिण्ड में आत्मा । सारी उपनिषदें उस रहस्यमय तत्व को पिंड, और ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त इन्हीं दो नामों से पुकार रही हैं ।

१. केनोपनिषद्, पृ० २ (ईशाघष्टोत्तर शतोपनिषदः) ।

उपनिषद् में चाहे नारी वर्ग का मैत्रेयी जैसा पात्र हों या पुरुष वर्ग का नचिकेता—दोनों को ही याज्ञवल्क्य और यमराज द्वारा दिए गए भौतिक प्रलोभन उस गुह्य तत्व की जिज्ञासा अथवा अपरोक्षानुभूति से विरत नहीं कर पाते। यमराज नचिकेता से कहता है—

'ये ये कामाः दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व'[1]

अर्थात् जो जो वस्तुएं इस मर्त्यलोक में दुर्लभ मानी जाती हैं—नचिकेता उन सब को बिना झिझक के माँग सकता है, लेकिन 'मरण', मानुप्राक्षी'[2] मरण के रहस्य को वह न पूछे। पर नचिकेता जानता है कि ये वस्तुएं 'श्वो[3]भावाः' हैं—आज हैं कल नहीं, दूसरे ये चीजें इन्द्रियों को जीर्ण करने वाली हैं। नचिकेता यह भी जानता है—"न वित्तेन तर्पणीयो[4] मनुष्यः"—मनुष्य की आनंदाकाँक्षा धन से समाहित नहीं हो सकती। वह तो उसी रहस्य को जानना चाहता है जिसकी सभी जिज्ञासा करते हैं जिसके लिए 'महान् सम्पराय' किया जाता है। 'अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन'[5]—वित्त या धन से वह अमरता नहीं मिल सकती, उस रहस्य का पता नहीं लग सकता, नचिकेता जैसे मानव को जिसकी तलाश है। अमरता उसी रहस्यमय तत्व 'आत्मा' या 'ब्रह्म' की अपरोक्षानुभूति से मिल सकती है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने भी कहा था कि जिस वित्त को देकर याज्ञवल्क्य उससे पृथक् होना चाहते हैं क्या उस वित्त से अमरता की आशा है? "कथं तेनामृता स्याम?" और फिर उसने कहा—"येनाहं नामृतां स्यां किमहं तेन कुर्याम्'—जिससे अमरता नहीं मिली उसे लेकर मैं करूँगी क्या? उसे तो वह 'रहस्य' चाहिए था—जिसको वे जानते थे। फिर याज्ञवल्क्य ने उस परमतत्व को संकेत देते हुए कहा कि संसार में जो कुछ भी प्रिय और आनंदकर जान पड़ता है उसका मूल रहस्य यह है कि वह अपने लिए है, अतः आनंदकर है। अर्थात् संसार की कोई वस्तु इसलिए सुंदर, आकर्षक या आनंदप्रद नहीं लगती कि उस वस्तु की प्रकृति ही वैसी है, वह स्वयं आनंदमय है, बल्कि वह इसलिए आनंदमय प्रतीत होती है कि वह अपने आनंद का साधन है। "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"[7]—सब काम्य हैं—इसलिए सब प्रिय हैं—ऐसा नहीं; प्रत्युत अपने

१. कठोपनिषद् प्रथमवल्ली (२५) पृष्ठ ५।
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० ८१।
६. वही।
७. वही, पृ० ८१–८२।

लिए सब काम्य हैं—इसलिए सब प्रिय हैं। फलतः वह आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य एवं निदिध्यासितव्य है। उसी को देखने, सुनने और जानने से सभी ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, सभी प्रश्न सुलझ जाते हैं। उसी के ज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है—क्योंकि उससे भिन्न कुछ है ही नहीं। उन्होंने बताया कि जो ब्राह्मशक्ति को आत्मा से भिन्न जानता है उसे वह त्याग देती है, जो लोकों को आत्मा से भिन्न जानता है उसे लोक त्याग देता है, जो देवों को, भूतों को—इन सब कुछ को आत्मा से भिन्न समझता है—उसे देव, भूत और ये सब कुछ त्याग देते हैं। वस्तुतः आत्मा ही ब्राह्मशक्ति है, वही क्षात्र शक्ति है, वही लोक है, वही देव है, वही भूत है—यह आत्मा ही सब कुछ है—इसीलिए इसी की कामना के लिए सब प्रिय हैं—इसलिए आत्मा ही ज्ञेय है—"इदं सर्वं यदयमात्मा"[१]।

इसी चरम तत्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि जिस प्रकार नमक की डली पानी में डाल दी जाय, तो वह पानी में ही विलीन हो जाती है, उसे पानी से नहीं निकाला जा सकता, पानी को जहाँ जहाँ से लिया जाय, उसमें नमक ही घुला मिलता है। मैत्रेयी को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि इस प्रकार यह महान् जीवनी शक्ति, यह अनन्त अपार, विज्ञानघन आत्मा इन भूतों के साथ ही प्रकट होता है—उन्हीं में घुला मिला रहता है और इन भूतों में ही जा छिपता है। जब तक वह भूतों में प्रकट हो रहा है, तभी तक उसके नाम हैं, उसकी संज्ञा है, उसके यहाँ से चले जाने पर उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती।

मैत्रेयी को यहाँ पुनः एक संदेह हुआ कि वही जब सर्वत्र व्याप्त है और सब कुछ है तो फिर 'उसका कहीं से चला जाना'—क्या अर्थ रखता है? पर याज्ञवल्क्य ने इस उलझन को हटाते हुए कहा कि उसे समझाने के लिए यह सब कहना ही पड़ता है। उन्होंने बताया कि जब 'आत्मा' 'भूतों' के रूप में अपना विस्तार करता है—तभी तो 'द्वैत' होता है—'द्वैत' का आभास होता है—जहाँ एक दूसरे को सूंघता, देखता, कहता, सुनता तथा समझता है, परन्तु जब भूतों से अलग होकर अपने ही में अवस्थित हो जाता है और सब कुछ की जगह आत्मा ही आत्मा रह जाता है—द्वैताभास समाप्त हो जाता है तब कौन किससे और किसको सूंघे, कहे, देखे, सुने और समझे? आत्मा ही से तो सब कुछ जानता पहचानता है—आत्मा को किससे जाने? 'विज्ञातारमरे वा केन विजानीयात्[२]?" इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जब आत्मा भूतों से पृथक् हो जाय, तब वह नाम रूप विहीन हो जाता है वह अपनी रहस्यमयी दशा में पहुँच जाता है। उन्होंने मधुविद्या का उपदेश करते हुए मैत्रेयी से कहा कि सर्वत्र व्याप रहा जो अमृतमय पुरुष है वही आत्मा (पिंडगत) है, वही ब्रह्म (ब्रह्माण्डगत) है—वही यह

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, पृष्ठ ८२।

२. वही, पृ० ८३।

सब कुछ है—"अमृतमयः पुरुषो यमेव स यो यमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेवेदं सर्वम्"[१]। यही "ब्रह्म' है, जो 'अपूर्व' 'अनपर' 'अनन्तर' और अबाह्य है अर्थात् न जिसके पहले कोई है और न जिसके पीछे ही कोई है। न जिसके भीतर ही कोई है और न जिसके बाहर ही कोई है। "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः[२]"—यही आत्मा ब्रह्म है जिसे प्रत्येक प्राणी अपने भीतर अनुभव करता है।

निष्कर्ष यह कि उपनिषद् का प्रत्येक पात्र भौतिक सुखों से वितृष्ण है—अमरता की खोज में है—'आत्मा' या मूलतत्व को जानना चाहता है, उसी का प्रश्न करता है और उसी का उत्तर सुनना चाहता है। स्पष्ट है कि जब इन तत्व-जिज्ञासुओं को भौतिक सुखों में ही आस्था नहीं है तब यज्ञयागादि में क्या आस्था होगी? नचिकेता भौतिक सुखों की उपेक्षा करके स्वर्गसुख के मूल 'अग्नि विद्या' को यम से दूसरे वर के रूप में जानता है। पर उस स्वर्गसुख को भी वह आपेक्षिक ही महत्व देता है और अंततः आत्मविद्या या रहस्यविद्या की माँग करता है। यहाँ या तो यज्ञों की निन्दा की जाती है या उसे व्यापक रूप में लिया जाता है अथवा उसकी रूपकात्मक अन्यथा व्याख्या कर ली जाती है। अश्वल नामक ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछता है कि संसार में जब हर वस्तु को मृत्यु व्याप रही है तो यज्ञकर्ता यजमान मृत्यु से किस प्रकार छुटकारा पा सकता है? याज्ञवल्क्य को वहाँ यज्ञ-की आध्यात्मिक व्याख्या देनी पड़ती है, वे बताते हैं कि यज्ञ में होता या यजमान की वाणी को पुनः अग्नि का रूप दे देता है—इसी से यजमान मृत्यु को जीत लेता है। जहाँ यज्ञ की अन्यथा व्याख्या नहीं की गई है उसको उसी रूप में लिया गया है—वहाँ मुण्डकोपनिषद् में अंगिरा ने शौनक से कहा है कि कर्मकाण्डी ने जिस यज्ञ को 'सत्यमार्ग' बताया है, वह वैसा ही है जैसे अंधे को अंधा ही रास्ता दिखाए। अंगिरा ने कहा है—'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः[३]" —ये यज्ञ संसार सागर में ले डूबने वाली नौका है—जैसा दृढ़ इन्हें होना चाहिए—वैसे नहीं हैं। वे लोग मूढ़ हैं जो इसे श्रेय समझते हैं—वे 'अविद्या' के उपासक हैं और जरा-मृत्यु के चक्र में घूमने वाले हैं। अमरता के प्रापक तो तपस्वी और श्रद्धावान् होते हैं—सकाम कर्म के झमेले में फँसे हुए अहम्मन्य याज्ञिक नहीं।

संहिता युग के बड़े-बड़े देवताओं को—शक्तिमान् और संस्तुत देवताओं को उपनिषदों में एक बड़ी ही सुंदर आख्यायिका द्वारा अपने में शक्तिहीन बताया गया है और कहा गया है कि ये सब जिसके बल से शक्तिमान् हैं—वह तत्व वही रहस्यमय ब्रह्मतत्व है। केनोपनिषद् के तृतीय खण्ड में एक यज्ञ की कथा कही गई है जिसमें सभी देवताओं के विषय में यह बताया गया है कि वे स्वयं को शक्तिमान् समझकर

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० ८३।
२. वही।
३. मुण्डकोपनिषद्, पृ० १५।

सर्वोन्नत हो रहे हैं—सो इस मिथ्यादम्भ को जानकर उन देवताओं में से 'मूलतत्व' निकल गया और यज्ञ के रूप में बाहर घूमने लगा। उसे देखकर क्रमशः अग्नि, वायु एवम् इन्द्र उसके पास पहुँचे। उससे पृथक् हो गई अग्नि में न तृण जलाने की शक्ति रही, न वायु में उसको उड़ाने की क्षमता। फिर इंद्र को 'बुद्धि' की प्रतीक 'उमा' ने समझाया यह यक्ष वही मूलतत्व ब्रह्म था जिसके बाहर निकल जाने पर सभी शक्ति सम्पन्न देवता तुच्छ एवं निःसार हो जाया करते हैं।

उस रहस्यमय मूलतत्व की प्रकृति का स्वरूप निर्वचन कराने के उद्देश्य से इन्द्र और वैरोचन प्रजापति के पास पहुंचे हैं। उद्दालक, अपने पुत्र श्वेतकेतु से उसी रहस्यमयी शक्ति के संबंध में प्रश्न कर रहे हैं और उत्तर भी दे रहे हैं। इन विविध प्रसंगों में उस तत्व का भावात्मक; नेति-नेति पद्धति से, विरोधी धर्मों द्वारा अनेक स्थलों में प्रकृति परिचय प्रस्तुत किया गया है। मूलतत्व या ब्रह्म के 'सविशेष' तथा 'निर्विशेष' रूपों का भी उसलेख हुआ है।

छांदोग्य उपनिषद् में प्रजापति और विवेकशील इन्द्र[1] के संवाद में भली-भाँति समझाया गया है कि जाग्रत अवस्था में हम अपना जो रूप प्रतिबिंब द्वारा देखते हैं, वह आत्मा नहीं है, क्योंकि रहस्यदर्शियों ने आत्मा को एकरस बताया है, पर दर्पण या जल में जाग्रदवस्था का प्रतिबिंब—जो स्वरूप का परिचय देता है—वह तो शारीरिक विशेषताओं के परिवर्तनशील स्वरूपवश बदलता हुआ प्रतीत होता है, फलतः वह एकरस नहीं है—अतः वह आत्मा नहीं है। अभिप्राय यह कि शरीर आत्मा नहीं है। स्वप्नावस्था में जिस चैतन्य का अस्तित्व अनुभवगोचर होता है, वह भी मूलतत्व नहीं है—क्योंकि वह भी एकरस और आनन्द प्रकृतिक न होने के कारण आत्मा नहीं कहा जा सकता। सुषुप्ति में तो कुछ पता हीं नहीं चलता—शून्य दशा है—आत्मा का रूप तो चिन्मय और आनंदमय है—जो साषुप्त दशा में नहीं प्रतीत होता, अतः सुषुप्ति दशा में जब कुछ अनुभूत ही नहीं होता—तब किस भावात्मक सत्ता को आत्मा कहा जाय ? इंद्र और प्रजापति के इस संवाद द्वारा अंत में यह स्पष्ट हुआ कि इन तीनों दशाओं में जिन चैतन्यों का अनुभव होता है—वह औपाधिक होने से विशुद्ध तथा एकरस नहीं है—इन तीनों औपाधिक दशाओं से पृथक् निरुपाधि शुद्ध चैतन्य ही आत्मतत्व है।

माण्डूक्योपनिषद् में भी युक्तिपूर्वक समझाया गया है कि आत्मा तुरीय[2] चैतन्य है। इसी प्रकार माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि अ, उ तथा म् जीव तथा ब्रह्म का त्रिमात्र रूप है, सगुण रूप है—जाग्रत्, स्वप्न

---

१. छांदोग्य उपनिषद्, अष्टम प्रपाठक में ६—१५ खण्ड।

२. मांडूक्य उपनिषद्, पृ० १८।

तथा सुषुप्ति का स्वरूप है। चतुर्थ[1] पाद अमात्र है—यही जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति से परे जीव तथा ब्रह्म का तुरीय, अमात्र एवम् निर्गुण रूप है। वहाँ कहा गया है कि शरीर तथा प्रकृति की जो जाग्रतावस्था है—वही पिण्ड तथा ब्रह्माण्डगत चैतन्य का 'जाग्रत स्थान' है। इस स्थिति में दोनों को बहिः प्रज्ञ कहा जाता है, बहिर्मुख समझा जाता है। इस स्थिति में दोनों के शरीर को 'वैश्वान्तर' कहा गया है और स्वयम् दोनों को स्थूल युक्त। शरीर और प्रकृति की दूसरी अवस्था 'स्वप्न' है जो व्यष्टि में 'जीव' का 'स्वप्न' स्थान तथा समष्टि में ब्रह्म का स्वप्न स्थान है। इस स्थिति में दोनों अन्तर्मुख रहते हैं—फलतः 'अन्तः प्रज्ञ' कहे जाते हैं। इस स्थिति के जीव के शरीर को 'तैजस' कहा गया है, क्योंकि वह तेजोमय मन ही है और ब्रह्म का शरीर प्रकृति भी हिरण्यगर्भ अवस्था में रहने के कारण 'तैजस' है। इस स्थिति में दोनों को 'प्रविविक्तमुक्' कहा जाता है। तृतीय अवस्था सुषुप्ति की अवस्था है जिसे जीव और ब्रह्म का सौषुप्त स्थान कहा जाता है। इस स्थान में जीव 'प्रज्ञ' तथा 'ब्रह्म' 'प्रज्ञानघन' कहा जाता है। इनके शरीर को 'प्राज्ञ' कहते हैं और ये 'आनंदमुक्' हैं। चतुर्थ अवस्था तुरीय है—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से परे जीव तथा ब्रह्म का तुरीय, अमात्र एवं निर्गुण स्वरुप है। श्रुतियाँ निषेधमुखेन उसे ही अदृष्ट, अचिन्त्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अव्यपदेश्य तथा निर्गुण कहती हैं। उसी का स्वरूप लक्षण 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'आनंद ब्रह्म' आदि द्वारा सत्, आनन्द एवम् चिन्मय कहती हैं। इस प्रकार उपनिषदों में उस रहस्यमय मूल तत्व का अनेकधा निरूपण किया गया है।[2]

आगे चलकर दार्शनिकों ने तत्वदर्शी औपनिषद ऋषियों के उद्गारों और विचारों को आधार बनाकर अनेक प्रकार के दर्शन प्रस्तुत किए। ऋषियों के अनुभूत की अभिव्यक्ति का दार्शनिकों ने तरह-तरह से उपयोग किया है। दार्शनिक उस तत्व को 'दृष्टि' विशेष से देखता है—अतः उसका निरूपण सर्वथा एकाँगी होता है—फलतः उसके पक्ष-प्रतिपक्ष हुआ करते हैं। अनुभूत 'पूर्ण' बुद्धि और वाणी की परिधि में बाँधा भी किस तरह जा सकता है? इसीलिए अनुभवी की अभिव्यक्ति में बुद्धि को संगति नहीं दिखाई पड़ती। अनुभवी कहेगा वह 'अगोणीयान्' भी है और 'महतो महीयान्' भी। वह 'शयानः' होता हुआ भी 'गच्छति' पद वाच्य है। वह कम्पनशील भी है और निष्कम्प भी। 'अमाणिपाद' होकर भी वह 'जवन' और 'ग्रहीता' है। सापेक्षता में वह 'यह' भी है और 'वह' भी, 'तू' भी और 'मैं' भी—और अपनी निरपेक्षता में अव्ययदेश्य तथा अवक्तव्य। इसीलिए एक औपनिषद ऋषि उस 'पूर्ण' की जिज्ञासा में पूछे गए प्रश्न का उत्तर मौन से ही देता है। इसीलिए औपनिषद तत्व को किसी विशेष वैचारिक घेरे में बाँधना असंभव हो जाता है—फिर भी ये

---

१. माण्डूक्य उपनिषद्।

२. वही, पृष्ठ १८।

तार्किक हैं जो असंभव को संभव किया करते हैं। यहाँ वह मूल तत्व व्यष्टि में आत्मा और समष्टि में भूमा और ब्रह्म है—उपधि निर्मुक्त होकर आत्मा और ब्रह्म भी एक ही हैं जो सर्वत्र व्याप्त है और जिससे भिन्न कुछ नहीं।

(ख) अवाङ् मनोगोचर रहस्यमय तत्व का अनुभूति के आधार पर औपनिषद रहस्यदर्शियों ने जो स्वरूप प्रदर्शित किया है उसका ऊपर उल्लेख किया गया है। वैदिक धारा के अनुयायी दार्शनिकों ने अपने-अपने संस्कार एवं साधनोपयोगी दृष्टि से उसकी विभिन्न क्रमिक भूमिकाएँ भी प्रस्तुत की हैं। इन लोगों में से नैयायिक[१] और—वैशेषिक[२] तत्वबोध की दशा में अपने को जैसा 'स्वरूप प्रतिष्ठ' मानते हैं—उस स्वरूप में आत्मा समस्त अदृष्टजन्य अनुभूतियों से शून्य रहता है जड़वत् रहता है। सांख्य[३] और पातंजल[४] भी स्वरूप प्रतिष्ठ दशा को तत्वबोध की दशा मानते हैं, पर उसे जड़वत्सन्यात्र नहीं, चिन्मय भी स्वीकार करते हैं आनंदमय नहीं। कारण, आनंद इनके यहाँ एक प्राकृत गुण है। मीमांसा दर्शन तो ब्रह्म प्रतिपादक 'सिद्ध' वाक्यों से परिपूर्ण वेद के अंतिम भाग को अनर्थक मानता है। वेदांत की विभिन्न भूमिकाओं[५] पर व्याख्या प्रस्तुत करने वाले तात्विक अनुभूति की दशा को—मूलतत्व को सत्, चित् तथा आनंदमय मानते हैं। वेदांत की द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत—जैसी अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा अद्वैतवादी व्याख्या को सर्वोच्च भूमिका का स्वीकार किया जाता है। निष्कर्ष यह कि वैदिक अथवा नैगमिक धारा उस मूलतत्व को अद्वैत तथा सच्चिदानंदमय स्वीकार करती है।

(ग) आगमिक या तांत्रिक धारा भी उस तत्व को अनुभूति गम्य ही मानती है। यद्यपि मूल आगम साधन पक्ष पर अधिक बल देते हैं तथापि उसमें भी उपनिषदों की भाँति मूलतत्व विषयक संकेत मिलते हैं। इन संकेतों के आधार पर नैगमिक दार्शनिकों की भाँति आगमानुयायी दार्शनिकों ने द्वैतवादी, अद्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी—व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। प्रसिद्धि ऐसी है कि शिव के ईशानादि पंचमुखों से ही समस्त मूलतन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। उसमें भेद प्रधान शिवतंत्र दस हैं, भेदाभेद प्रधान रुद्रतंत्र २८ हैं और अभेद प्रधान भैरवतंत्र चौसठ हैं। फिर भी जिस प्रकार नैगमिक धारा में सर्वोच्च भूमिका अद्वयदर्शन की मानी गई है उसी प्रकार आगमिक धारा में भी सर्वोच्च दर्शन अद्वयवादी ही कहा गया है। मूलतत्व के स्वरूप के संबंध में नैगमिक अद्वैतवादियों तथा आगमिक अद्वयवादियों की धारणाएँ

---

१. न्याय मंजरी, पृ० ७७ तथा १।१।१२ सूत्र पर न्याय भाष्य और वार्तिक।

२. प्रशस्त पाद भाष्य, पृ० १४४।

३. सांख्य कारिका ६७।

४. पातंजल दर्शनम्, ४।३४।

५. मीमांसादर्शनम्, "आनर्थक्यमतदर्थानाम्"।

किस प्रकार भिन्न हैं—यह पहले अध्याय में विस्तारपूर्वक वताया जा चुका है। डा० शशिभूषण दास गुप्त ने ठीक कहा है—In all esoteric schools the absolute reality is conceived of possessing in its nature the potency of two aspects or attributes".[१] तंत्रदर्शन के अधिकारी मनीषी गोपीनाथ कविराज का कहना है कि शांकर वेदान्त सम्मत 'अद्वैत' तथा आगम सम्मत 'अद्वय' में मूल अंतर यह है कि शांकर 'अद्वैत' द्वैतविलक्षण है पर आगम सम्मत 'अद्वय' में दो का नित्य सामरस्य[२] है। एक ही मूलतत्व के दो पक्ष हैं—ऋणात्मक और धनात्मक। शंकर माया को सत्य नहीं मानते, इसीलिए उनका अद्वैतवाद व्यावृत्तिमूलक या संन्यासमूलक है—अनुवृत्ति अथवा ग्रहणमूलक नहीं है। शांकर अद्वैत के यहाँ माया ब्रह्मशक्ति है, ब्रह्माश्रित है, पर सत्य और चिन्मय ब्रह्म ही है, माया नहीं—वह तो सदसद्विलक्षण है। आगम सम्मत अद्वयवाद में महामाया ब्रह्ममयी है, नित्य, सत्य एवं चिन्मयी है—फलतः वहाँ ब्रह्म एवं माया एकरस या समरस हो जाते हैं। आगमिकों के यहाँ इस महामाया को त्याग कर या तुच्छ समझ कर नहीं, बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझकर अपनाने और एकरस होने में तत्वोपलब्धि मानी जाती है। आगमिक दृष्टि के अनुसार समस्त भेद अभेद का ही आत्मप्रकाश है और 'अभेद' शक्ति तथा शक्तिमान् का समरस रूप है। घर्षण से किसी भी पक्ष का प्राधान्य होता है—उस दशा या स्थिति में उसी अंश का व्यवहार माना जाता है। जहाँ शिव दशा का व्यवहार है वहाँ शक्तिपक्ष भी है—पर अप्रधान या तिरोहित है और जहाँ शक्तिदशा का प्रयोग होता है वहाँ शिवतत्व अव्यक्त या तिरोहित रहता है। निष्कर्ष यह कि आगमिक धारा के अद्वयतत्व को उसके दार्शनिकों ने स्पष्ट करते हुए वताया है कि वह अपनी मूल प्रकृति में दो समरस तत्वों का एकात्मक स्वरूप है।

यह तांत्रिक या रहस्यमयी धारा शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्धों तक को प्रभावित करती हुई मध्यकालीन संतों तक परिव्याप्त लक्षित होती है। आगमिक शैव और शाक्त उत्कृष्ट भूमिका पर मूलतत्व को शिव और शक्ति—जैसे दो चिन्मय तत्वों का समरस रूप मानते हैं। उन दो तत्वों में जो 'शिव' का प्राधान्य स्वीकार करते हैं वे वैष्णव और जो 'शक्ति' का प्राधान्य मानते हैं—वे 'शाक्त' कहलाते हैं। पाँचरात्र जैसी आगमानुसारी वैष्णवधारा में भी विष्णु और लक्ष्मी नाम से उन्हीं दो ऋणात्मक और धनात्मक, निःस्पंद और सस्पंद, शांत और सक्रिय तत्वों का अभिधान होता[३] है।

---

१. Obscure Religious Cults. Introduction p. XXXIV

२. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० ५, भाग १।

३. देखिए, Obscure Religious Cults. p. XXXIV

(घ) बौद्धों की धारा जब तक आगम के प्रभाव में नहीं आई थी—तब तक वह मूलतत्व या तो अपनी अवक्तव्य प्रकृति के कारण भगवान् बुद्ध द्वारा अव्याख्यात ही रहा, अथवा दार्शनिकों द्वारा 'विज्ञानमय' या 'शून्यात्मा' कहा जाता रहा। पर संप्रति एक ओर आधुनिक चिन्तकों द्वारा विभिन्न उद्धरणों से यह प्रतिपादित किया गया है कि बौद्ध वाङ्मय में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनके आलोक में यह सिद्ध किया जा सकता है कि बौद्ध भी मूलतत्व को उन्हीं विशेषताओं से संकेतित करते हैं जिनसे औपनिषद धारा के शंकराचार्य आदि। आधुनिक चिंतक और प्राचीन अनुश्रुतियाँ तो शंकराचार्य पर स्वयं बौद्ध प्रभाव मानती हैं। अभिप्राय यह कि शांकर में औपनिषद और बौद्ध—दोनों ही धाराओं का प्रभाव है। इतना ही नहीं, कहा तो यह भी जाता है कि शंकराचार्य अपनी व्यक्तिगत साधना में तांत्रिक भी थे—अतः इन पर तीनों का प्रभाव है। प्रसंग यह है कि बौद्ध धारा में मूलतत्व का स्वरूप क्या था—आगम अथवा निगम सम्मत ही था या उन दोनों से भिन्न ? विवेचकों ने तीनों ही तरह की बातें की हैं।

सामान्यतः बौद्धों की मूलतत्व संबंधी धारणा उनकी हीनयानी 'निर्वाण' की व्याख्या के अनुसार यह है—आविद्यिक वासना रूपी तैल से प्रज्वलित चित्त-दीप की विज्ञानमयी प्रकाश धारा प्रतिक्षण बदलती हुई जन्मजन्मान्तर तक चलती रहती है। साधन द्वारा तैल की समाप्ति से यह धारा दीपशिखा की भाँति निर्वाण प्राप्त कर लेती है। चरम सत्य की उपलब्धि की यही स्थिति है। उक्त दृष्टान्त के अनुसार चरमसत्य अभावात्मक[1] है, चिन्मय और आनन्दमय होना अलग की बात है। योगाचार एवम् माध्यमिक दार्शनिकों ने इस चरम सत्य को अपने अपने ढंग से समझाया है। इन दार्शनिकों ने सत्ता को चतुर्द्धा निरूपित किया है। आरम्भ में तो वह अव्याकृत और अव्याख्यात ही रहा, पर अंततः किसी ने उसके—बाह्य और आन्तर—दो पक्ष माने, किसी ने बाह्य को आन्तर का (विज्ञान का) विवर्त माना और बताया है कि मूल सत् या सत्ता विज्ञानमय है—जो अपने 'आलय' रूप में प्रतिष्ठित रहकर 'प्रवृत्ति' रूप में विवर्तित होता रहता है। अन्य दार्शनिकों ने मूल सत्ता को 'शून्यात्मा' बताया और कहा कि 'विज्ञान' भी उसका विवर्त है। इस 'शून्य' को नेति-नेति की प्रक्रिया से स्पष्ट करते हुए कहा कि वह चतुष्कोटि विनिर्युक्त तत्व है—न सत्, न असत्, न सद सत्, न अनुभयात्मक। उसी मूल सत्ता को 'तथता' और 'अभूतपरिकल्प —जैसे शब्दों से भी समझाया गया है।

दूसरी ओर आधुनिक चिन्तकों का यह कहना है कि अंतिम सत्य के स्वरूप के संबंध में विवेचित अश्वघोष की 'तथता' एवम् योगाचारों के 'अभूत परिकल्प' या 'विज्ञप्ति मात्रता' का औपनिषद ब्रह्म (के लक्षणों) से तादात्म्य जान पड़ता है

१. देखिए, बौद्ध धर्म दर्शन: आचार्य नरेन्द्रदेव प्रणीत, पृ० २७२, तथा चतुर्दश अध्याय।

इन लोगों का कहना है कि 'निर्वाण' द्वारा प्रतिपादित चरम सत्ता के नकारात्मक रूप और बौद्ध दार्शनिकों द्वारा की गई उसकी व्याख्याओं से हटकर जब स्वतंत्र रूप में पालि साहित्य और इनके परवर्ती तांत्रिक वाङ्मय की जाँच की जाती है— तो स्पष्ट जान पड़ता है कि उस चित्सत्य का स्वरूप नकारात्मक नहीं है। उन लोगों ने बताया है कि अश्वघोष ने 'सौंदरनंद'[1] में कहा है—"दीपक्षयात् शान्तिमत्यन्तमेति' 'क्लेशक्षयात् शांतिमत्यन्तमेति'—अर्थात् निर्वाण के बाद जो चरमदशा है—वह शांति-रूप है, भावात्मक है। मिलिन्दपन्हो[2] में भी कहा गया है कि चरम सत्य 'शांति-मय' है। पालि शास्त्र में इस चरम सत्य के लिए या निर्वाण के लिए 'परम्' 'संत' 'विशुद्ध' 'शांति' 'अक्खर' 'ध्रुव' 'सच्च' 'अनंत' 'अच्युत' 'सस्सत्' 'अमत' 'अजात-केवल' तथा 'शिव' आदि शब्दों से कहा गया है। रीस डेविड्स ने 'पालि भाषा का अभिधान'[3] शीर्षक अपनी कृति में 'निर्वाण' शब्द का इन विभिन्न अर्थों में प्रयोग दिखाया है। 'सुत्तनियात'[4] में भी कहा गया है—"सन्तीति निव्वाणंजत्वा'—अर्थात् उसे शांति रूप में जानो। 'धम्मपद'[5] ? में तो एकाधिक बार यह कहा गया है—

उधुनित्वामलं सव्वं पत्वा निव्वाणसम्पदं।
मुच्चेति सव्वदुःखेहि सा होति सव्वसम्पदा॥

अर्थात्—

सभी प्रकार के मलों का अपसारण होने पर निर्वाण सम्पत्ति की उपलब्धि होती है। फलतः सभी दुखों से छुटकारा हो जाता है। यही संपद् है। 'उदान'[6] में निर्वाण को 'अचल स्थान' कहा है। 'थेरी गाथा'[7] में भी 'अचलं सुखं' शब्द का प्रयोग 'निर्वाण' के लिए किया गया है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि इन शब्दों द्वारा 'निर्वाण' के स्वरूप में जो कुछ कहा गया है, वह चिर एवम् चरम सत्य नकारात्मक नहीं, बल्कि सत्, चित् एवं आनंदमय सिद्ध करता है। इस प्रकार बौद्ध धारा को औपनिषद धारा से मिलाते हुए ये विवेचक सिद्ध करते हैं कि बुद्ध भी औपनिषद रहस्य को स्पष्ट कर रहे थे। बौद्धों के अनात्मवाद में उपनिषदों का 'नेति नेति' प्रति-फलित है। विध्यात्मक पक्ष पर इन बौद्धों ने केवल इसलिए बल नहीं देना चाहा

---

१. सौंदरनंद, पृ० २०७, १६।२८, २९।
२. (मिलिन्द पह्नो) मिलिन्द प्रश्न, निर्वाण अवस्था, पृ० ३८४।
३. पालि भाषा का अभिधान।
४. सुत्तनिपात्त।
५. धम्मपद ?
६. उदानवर्ग ३०।३६।

७. थेरी गाथा।

है कि सामान्य जन में इस प्रकार के स्थिर तत्व के स्वीकार से आसक्ति जड़ जमाने लगती है—अन्यथा अनात्मवाद का सचमुच यही अभिप्राय होता कि ये आत्मा जैसी भावात्मक कोई शाश्वत और स्थिर वस्तु नहीं है, तो महाकरुणा की आवश्यकता ही क्या थी ? बोधिसत्व दुःखी होगा—प्रथम क्षणवर्ती जीव के दुःख पर, उत्तर क्षण में जब उसका 'निरन्वय विनाश' ही हो गया—वह रहा ही नहीं—तो उत्तर क्षण में की जाने वाली महाकरुणा का लाभ ही उसे क्या मिलेगा ? इस प्रकार यह तत्व ही अकारथ हो जायगा । अभिप्राय यह कि इस धारा में चरम सत्य की भावात्मक तथा अभावात्मक व्याख्याएँ विभिन्न दृष्टियों से उपलब्ध होती हैं ।

अस्तु, इसकी चरम परिणति ६–७ वीं शती के आसपास तांत्रिक धर्म के रूप में हुई । आस्थावान् तांत्रिक बौद्धों का कहना है कि तांत्रिक देशना स्वयं भगवान् शाक्य मुनि ने दी है । इनके अनुसार आंध्र राज्यान्तर्गत गोण्टूर जिले में स्थित धान्य-कूट अथवा धान्यकटक नामक स्थान पर अनुत्तर तन्त्रनय का तृतीय धर्म चक्र प्रवर्तन किया गया था । माना तो यह भी गया है कि श्रीपर्वत एवं मलय पर्वत पर भी छोटी-मोटी तांत्रिक देशना हुई थी । 'विमलप्रभा' की परम्परा कहती है कि उक्त तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन भगवान् बुद्ध ने महापरिनिर्वाण से एक वर्ष पूर्व स्वयं किया था । बाद का परम्परा प्रवाह सुचन्द्र एवम् इन्द्रभूति आदि आचार्यों के माध्यम से चलता रहा ।

ऐतिहासिक दृष्टि से तांत्रिक विकास क्रम के स्रोतों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि ई० पू० तृतीय शती तक महायान की दिशा में बौद्ध साधना का प्रारंभ हो चुका था । कारण, महायान का उद्गम बुद्ध-परिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् वैशाली की द्वितीय संगीति के ऐतिहासिक अवसर पर ही हो चुका था । इसी महायान के अंतर्गत तंत्रयान भी एक यान माना जाता है । 'अद्वय[1] वज्र संग्रह' में कहा गया है—"महायानंच द्विविधं पारमितायानं मंत्रयानंचेति" । मंत्रयान का ही दूसरा नाम तंत्रयान है । । 'अनुत्तर योगावतार'[2] नामक ग्रंथ में मंत्रयान, तंत्रयान, वज्रयान तथा उपायमान—इन सबका पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुआ है । 'गुह्य[3]-निर्वचन तंत्र' में इसे 'फलयान' भी कहा गया है । मंत्र के प्रवेश के प्रज्ञापारमिता और तारा के आगमन से, पाँच ध्यानी बुद्धों के साथ शक्ति कल्पना से उत्तरोत्तर तांत्रिकता का प्रवेश स्पष्ट स्पष्टतर होता गया । मंत्र, धारणी एवं सूत्रों में—पूर्व पूर्व उत्तरोत्तर के संक्षिप्त रूप हैं । यह तो निर्विवाद है कि आचार्य राहुलभद्र एक विख्यात तांत्रिक सिद्ध थे । राहुल नागार्जुन के भी पूर्ववर्ती आचार्य हैं । नागार्जुन

---

१. अद्वयवज्र संग्रह, पृ० १४ (गायकवाड़ सिरीज, १९२७) ।
२. (अनुत्तरयोगावता) बौद्ध साधना का विकास, पृ० ४० ।
३. (गुह्यनिर्वचन तंत्र) वही ।

स्वयं उनके शिष्य थे। मैत्रेयनाथ के समय भी इन तंत्रों का आभास मिलता है। नागार्जुन से लेकर लगभग तीन चार शताब्दियों तक तांत्रिक साधना गुप्त रही। धर्मकीर्ति के युग से, विशेषकर पाल नरेशों के युग से यह साधना प्रकट हो गई।

जहाँ तक तांत्रिक बौद्धों के अनुसार मूल तत्व के स्वरूप का संबंध है—उनके आधारभूत ग्रंथों के देखने से स्पष्ट होता है कि उनकी दार्शनिक धारणा योगचार एवम् माध्यमिक के अनुरूप है। म० म० कविराज गोपीनाथ[१] तथा राहुल सांस्कृत्यायन[२]—दोनों ही इसी पक्ष के हैं। अन्य विचारकों ने भी इसी पक्ष में अपनी आस्था व्यक्त की है। शशिभूषणदास[३] गुप्त ने माना है कि चर्यापदों का दर्शन वास्तव में माध्यमिक योगाचार और वेदांत का समन्वय है अर्थात् मूलतत्व का स्वरूप इन तीनों की धारणाओं का सम्मिश्र रूप है। कतिपय अन्य अनुसंधायकों की धारणा दास गुप्त से भिन्न है। वे मानते हैं कि वज्रयान में मूलतत्व के स्वरूप का स्पष्टीकरण माध्यमिक और योगाचार के साथ अद्वैतवादी तांत्रिक शैवमत के अनुरूप ज्यादा मिलता[४] है। पं० वलदेव उपाध्याय का मत है कि वज्रयान की दार्शनिक दृष्टि शून्यवाद[५] की है। डा० धर्मवीर भारती[६] का विचार है कि सिद्धों द्वारा मान्य भव और निर्वाण की परिकल्पना का मुख्य आधार विज्ञानवाद है और अपने तत्वदर्शन के मूल सिद्धांत उन्होंने विज्ञानवाद से लिए हैं। वास्तव में सिद्धों का तत्व दर्शन चित्त परक है, वाह्यजगत् की सत्ता अस्वीकार करता है, किंतु वह शून्यवाद की भाँति शुद्ध निषेधात्मक नहीं है। डा० भारती[७] ने सिद्ध साहित्य में उपलब्ध अनेकत्र 'शून्यता' को देखकर शून्यवाद के प्रभाव की आशंका रखते हुए सिद्धान्ततः यही स्वीकार किया है कि 'शून्यता' की वात विज्ञानवादियों ने भी मानी है। विज्ञानवादियों ने 'तथताज्ञान' को 'शून्यताज्ञान' ही माना है और तथता या चरमसत्य को 'शून्यता' कहा है। तथापि शून्यतावादियों की 'शून्यता' विषयक धारणा से विज्ञानवादियों ने शून्य को शून्यवादियों से भी विस्तृत अर्थ में ग्रहण किया है—कारण, शून्यवाद में तो प्रतीत्य समुत्पाद के द्वारा केवल धर्म और पुन्दगल का अभाव प्रतिपादित कर उनके भाव का निषेध किया गया था। तथतावाद में धर्म और पुद्‌गल नैरात्म्य

१. भारतीय संस्कृति और साधना, "तांत्रिक बौद्ध साधना"।
२. दोहाकोश, भूमिका, पृ० ३२।
३. An I, troduction to Tantric Buddhism p. 32
४. रहस्यवाद, पृ० ३२ (रा० त्रिवेदी) तथा तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० १७५।
५. भारतीय दर्शन, पृ० १६५।
६. सिद्ध साहित्य, पृ० १५६ तत्वचिंतन।
७. वही, पृ० १५६।

को स्वीकार कर भाव की शून्यता तो बताई ही गई थी किंतु तथता तथा चित्त-विज्ञप्ति व्यवस्था स्वीकार कर अभाव की भी शून्यता मान ली गई थी—फलतः वे 'तथता' को 'शून्यता' कहते हैं। इस प्रकार उनके मत में सिद्धों ने शून्य के संबंध में जो कुछ कहा है सभी विज्ञानवाद में 'तथता' के लिए कहा जा चुका है। शून्यता ज्ञान में चित्त का भी निषेध है और अचित का भी, भाव का भी अभाव का भी, ग्राह्य का भी और ग्राहक का भी, भव का भी और निर्वाण का भी—यहाँ तक कि शून्य का भी और अशून्य का भी—समस्त द्वयता का निषेध। पर इससे उस मूलतत्व का स्वरूप अभावात्मक नहीं हो जाता, क्योंकि वहाँ अभाव का भी निषेध है। वस्तुतः शब्दों से जो कुछ कहा जाता है वह द्वंद्वात्मक तथा सापेक्ष है और यहाँ उसी द्वंद्वात्मकता या द्वयात्मकता का निषेध है। यहाँ तक तो योगाचार का प्रभाव माना जा सकता है और यहाँ तक उसी 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के रास्ते से ही चलकर आया गया है, फलतः वह इसमें समाहित माना जा सकता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि जिन दार्शनिक बातों का उल्लेख यहाँ पर किसी न किसी रूप में किया गया दीखता है उनका भी संबंध या तो विशेषकर शून्यवाद के साथ जोड़ा जा सकता है अथवा ये वे हैं जो योगचाचार से संबद्ध कही जा सकती हैं—परंतु फिर भी उनके मतानुसार ऐसे स्थल बहुत कम ही मिल सकते हैं जहाँ इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट भेदपरक रेखा खींची जा सके, जिसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इन सिद्धों का अपना लक्ष्य कभी किसी शास्त्रीय विवेचन का नहीं रहा।

इस संबंध में यह स्थापना है कि ऊपर जो भी मत प्रस्तुत किए गए हैं—वे सिद्धों की पंक्तियों के साक्ष्य पर निश्चय ही प्रतिभासित होते हैं—पर असलियत यही है कि सिद्धों पर एक तरफ शून्यवादियों की 'प्रतीत्य समुत्पाद' पद्धति से जगत् को शून्य या निःस्वभाव बताते हुए चरमतत्व को योगाचारों की 'शून्यता' विषयक धारणा से एक मान लें। चित्त अपने संस्कार संवलित 'आलय विज्ञान' के रूप में समस्त प्रवृत्ति विज्ञानों का आधार है—पर यदि साधनावश समस्त संस्कार घुल जायं तो न 'आलय विज्ञान' ही रहेगा और न 'प्रवृत्ति विज्ञान' ही—जो रह जायगा, वह जैसा है वैसा है—उसका शब्द द्वारा कथन संभव नहीं है। इस प्रकार एक तरफ परतत्व की यह मौनपर्यवसायी व्याख्या बौद्ध धारा से संबद्ध है तो दूसरी ओर जब उसे स्पष्ट ही 'भवनिर्वाणात्मक' या द्वयात्मक कहा जाता है तो तांत्रिक धारणा भी संक्रान्त हो जाती है। 'अद्वय वज्र संग्रह' में स्पष्ट ही 'प्रज्ञा' को 'शक्ति' और उपाय को 'शिव' कहा[1] गया है और इन्हीं दोनों के समायोग से अनुभूत सुख को

१. अद्वयवज्र संग्रह (१९२७ बी० भट्टाचार्य, गायकवाड़) पृ० २८।

महासुख या अद्‌भुत सुख कहा गया है। वहाँ तो 'शक्तिस्तु शून्यात्मा[1] दृष्टिः' कहा गया है अर्थात् योगाचारों की 'शून्यता दृष्टि' तंत्रों की शक्ति ही है और शक्ति स्वयं शैवागम का शब्द है—विशेषतः शिव की अपेक्षा में प्रयुक्त होकर—'अद्वय वज्र[2] संग्रह' में ऐसा है भी। इतिहास भी बौद्धों एवं अद्वयी शैवों के सम्पर्कज प्रभाव का समर्थन करता है। रही, शांकर वेदान्त की बात—वह केवल शून्यवादी बौद्धों के अनुरूप जगत की सांवृतिक सत्ता को लेकर ही कही जा सकती है। इस प्रकार सिद्धों की दार्शनिक भूमिका का विचार करते हुए जितने भी विभिन्न मत उठ खड़े हुए हैं—उनका अविरोध हो जाता है, पर अंततः योगाचार तथा शैवों की तांत्रिक धारणा की स्वीकृति यहाँ निभ्रान्त जान पड़ती है। इस प्रकाश में सरहपाद की पंक्ति लें—"चित्तेक चित्त सअल बीअ भवणिव्वाण जम्म विप्फुरन्ति। तं चिन्तामणिरुअं पणमह इच्छा फलन्देइ"[3]।—अर्थात् एक चित्त तत्व ही है—वहीं से सकलबीज, भवनिर्वाण—सभी विस्फुरित होते रहते हैं। वही चिन्तामणि है, वही प्रणम्य है, वही वांछित फल प्रदान करता है। एक तरफ इस प्रकार जहाँ चित्त तत्व की पारमार्थिक भावात्मक सत्ता मानी गई है, दूसरी तरफ वहीं उसकी वागगोचर स्थिति को ध्वनित करने के लिए, निरपेक्ष रूप को संकेतित करने के लिए उसकी 'शून्यरूपता' का भी संकेत मिलता है—

सुण णिरँजण परपउ सुइणो भाव सहाव।
भावहु चित सहावता णउ णासिज्जइ जाव[4]।

अर्थात् वह परमपद शून्यात्मा तथा निरंजन है—वह स्वप्नोपम स्वभाव है। चित्त के इस स्वभाव की भावना तब तक करता रहे जब तक कि उसका चांचल्य नष्ट न हो जाय। उपनिषद् भी तो कहते हैं 'निरंजनः परमं साम्यमुपंति'[5]—वह निरंजन तथा समरस है। निष्कर्ष यह कि इनका दार्शनिक पक्ष उनकी रचनाओं मंथन आलोडन करने से स्पष्ट ही विज्ञानवादी तथा अद्वयी तांत्रिक धारा का है।

मूल तत्व की 'द्वयात्मक अद्वय' रूप में तंत्र सम्मत कल्पना का संकेत न केवल वैदिक उपनिषदों में ही है, प्रत्युत विभिन्न आगमों के साथ उसकी पद्धति से प्रभावित बौद्धों में भी मिलती है। नाथ साहित्य में परतत्व अथवा मूलतत्व के स्पष्टीकरण में नाथ सिद्ध अपने को सर्वथा अक्षम पाते हैं। वे न तो उस तत्व को द्वैतमय कह पाते हैं न अद्वैतमय—बल्कि कभी-कभी उसे द्वैताद्वैतविलक्षण तक कह गए हैं। इन लोगों

---

१. अद्वयवज्र संग्रह, पृ० २८।
२. वही।
३. दोहाकोश (राहुल सम्पादित)—भूमिका में उद्धृत, पृ० २९।
४. वही, पृ० ३६।
५. मुण्डकोपनिषद् (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः) पृ० १६।

ने द्वैत अथवा अद्वैत—किसी भी मत को पूर्ण सत्य नहीं माना, पर साथ ही यह भी स्मरणीय है कि इन लोगों ने इन दोनों पक्षों का खण्डन भी नहीं किया है। सिद्धाचार्य जालंधर नाथ ने 'सिद्धान्त वाक्य' में स्पष्ट कहा है—

"द्वैतं वाद्वैत रूपं द्वयत उत परं योगिनां शकरं वा[1]"।

इसी तरह की बात "नाथ सूत्र' में भी कही गई है। उसके अनुसार पूर्ण सत्य का साक्षात्कार न भी संपन्न हो पाता है जब दोनों का सामरस्य हो जाय।

(ड) नाथ सिद्धों की रचनाएँ 'भाषा' में तो हैं ही, संस्कृत में भी हैं और उभयत्र मंथन करने पर साध्य का स्वरूप नाथ पद की उपलब्धि ही ठहरती है। नाथ पद की उपलब्धि 'पिण्ड पदसमरसीकरण' के नाम से ही कहा जाता है। नाथ दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जो लोग जड़ तथा चेतन का आत्यंतिक विरोध मानते हैं—वे भ्रान्त हैं। ब्रह्माण्ड की भाँति पिण्ड में भी चेतन और पिण्ड (शरीर) का आत्यंतिक भेद जब तक नहीं मिटता, तब तक 'पिण्डमद समरसीकरण'[2] की संभावना नहीं है। पिण्ड का भी गोरखवानी में परतत्व विषयक नाथ पंथियों की धारणा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—कहा गया है—

असारव्यंद्रा बैरी काल, कैसे कर रखिबा गुरु का भंडार।
असार तोड़ौ निद्रा मोड़ो सिव सकती ले करि जोड़ौ[3] ॥८४॥

उक्त पंक्तियों की व्याख्या करते हुए डा० पी० द० बड़थ्वाल ने लिखा है—"आहार बैंरी है, क्योंकि अति आहार से कई खराबियाँ होती हैं जिनमें से नींद का जोर करना एक है। और निद्राकाल है (ये गुरु के भंडार ब्रह्मतत्व की चोरी करते हैं उसकी अनुभूति नहीं होने देते) गुरु के भंडार की रक्षा कैसे की जाय? भोजन को तो कम करो निद्रा को मोड़ो अर्थात् आने न दो और शिव (ब्रह्मतत्व) और शक्ति (योगिनी, कुंडलिनी तत्व) को एक मिला लो (यही उसका उपाय है)—इससे स्पष्ट है कि नाथ पंथ में भी परतत्व का स्वरूप समरस यानी द्वयात्मक अद्वय है। गोरख ने इस तथ्य की अभिव्यक्ति बार-बार की है—

गोरख कहे आहे चंचल ग्रहिया।
सिव सक्ती ले निज धरि रहिया[4] ॥

अथात् गोरख कहता है कि उसने चंचल मन को पकड़ लिया है और शिव-शक्ति

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग २, पृ० २७१।
२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, पृ० ८६।
३. गोरखबानी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ ३०।
४. वही, पृष्ठ ४५।

का मेल करके अपने घर में रहने लगा और निज स्वरूप-पिण्ड पद सामरस्य में पहुँच गया। इसी प्रकार और भी उद्धरण लें—

मेरु दंड थिरि करैं स्यौं सक्ती जोड़े।
कोई गुरु आराधीला जो ब्रह्म गांठि छोड़ै[1] ॥

अर्थात् मेरुदण्ड को स्थिर करके शिव और शक्ति को जोड़ना चाहिए। यह कार्य (ब्रह्मग्रंथिमोचक) गुरु से ही साध्य है। नाथयोगी 'योग' द्वारा चिन्मयीकरण करते हैं और चिन्मय परमपद से उनका सामरस्य हो जाता है। अस्तु, 'सिद्धसिद्धान्त[2] पद्धति' के अनुसार नाथों की मान्यता है कि सृष्टि का मूल विश्वातीत तत्व है— 'अनामा'। इस स्थिति को शब्द ब्रह्म से अतीत माना गया है। यह अनामा तत्व 'निजा शक्ति' समन्वित है। यह निजाशक्ति पचीस गुण युक्त पाँच शक्तियों का समवेत रूप[3] है। इस शक्ति पंचक का समवाय ही अखंड दृष्टि से 'शिव' नाम से प्रसिद्ध है। अभिप्राय यह कि इस धारा में भी विश्वातीत मूलतत्व की कल्पना शक्ति प्रधान शैवमत के ही अनुरूप है।

(च) नाथ और संत की शृंखला है—वारकरी। ज्ञानदेव इस पंथ के प्रतिष्ठित संत हैं। उन्होंने 'अमृतानुभव' के प्रथम प्रकरण में स्पष्ट ही मूलतत्व की तंत्र सम्मत धारणा का उल्लेख किया है। उसका अविकल हिंदी रूपान्तर नीचे दिया जा रहा है—

"आत्मरमण का सुख ऐसा
दो मिला हुआ एक ही जो (Twoin one) द्वयात्मक अद्वय
कौतुक से दो बनता
बिना एकमन फोड़े[4] ।"

डा० संपूर्णानंद ने ठीक लिखा है—The Tantriks were followed in course of time by the Sadhs, Siddhas and Naths and the succession was taken up later by the Sant-mat"[5] उनके अनुसार वैदिक युग में धर्म और अध्यात्म की दो धाराएँ थीं—शास्त्रानुधावी (Orthodox and letrodox) तथा अनुभव पंथी क्रांतिकारी। शास्त्रानुधावी भी दो वर्गों में विभक्त थे—अग्नि पूजक अथवा कर्मकांडी या यज्ञोपासक और दूसरे आत्मवादी अथवा रहस्यवादी। पहला यज्ञ यागादि में संलग्न था और दूसरा योग और दर्शन में निरत। इन दोनों में कोई संघर्ष नहीं

---

१. गोरखबानी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ १५० पद ३।
२. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, संपादकः कडवः शम्भु शर्मा।
३. नाथ और संत साहित्य, प्राक्कथन, पृष्ठ ६।
४. अमृतानुभव, हिंदी अनुवाद, पृ० २६।
५. Philosophy of Gorakhnath-Introductory remarks (xxxii)

था । वे दोनों परस्पर एक दूसरे के समर्थक और परिपूरक थे । जो शास्त्र विरोधी एवं तन्निर्धारित आचारों से च्युत थे—उन्हें व्रात्य कहा जाता था वे यज्ञयागादि के विरोधी थे—और वैदिक समाज के विधि विधानों में अनास्था रखते थे । समस्त मध्यकालीन तथा सांप्रतिक धार्मिक तथा आध्यात्मिक दार्शनिक क्रिया कलाप एवं आचार विचार इन्हीं दो पुरातन धाराओं के सम्मिश्र रूप हैं ।

इस संक्षिप्त परन्तु आवश्यक वैचारिक पीठिका पर निर्गुण संत मत की मूल तत्व विषयक धारणा का विवेचन आरंभ किया जा रहा है । यह सही है कि योगी या साधक और दार्शनिक दोनों की खोज का लक्ष्य एक ही है—पर दोनों की उपलब्धि प्रक्रियाएं भिन्न हैं । पहला स्वयं प्रकाश आध्यात्मिक अनुभव पर निर्भर रहता है जबकि दूसरा बुद्धिबल पर निर्भर । पहला न तो सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण करता है और न तो तदाधृत सैद्धान्तिक स्थापना का आग्रह ही जबकि दूसरा यही करता है । पहला संश्लेष की भूमिका का होता है दूसरा विश्लेषण का धरातल पकड़ता है । पहला सीधा आध्यात्मिक साक्षात्कार करता है दूसरा विकल्प और विश्लेपण के माध्यम से वहाँ पहुँचना चाहता है । पहला जिस स्थिति में सत्य की अपरोक्षानुभूति करता है—उसे वस्तुमुखी और व्यक्तिमुखी के कठघरे में नहीं रखा जा सकता—वह स्थिति इन विकल्पों से अतीत और संकल्पात्मक होती है । इस संश्लिष्ट अपरोक्षानुभूति के उद्गारों या अभि-व्यक्तियों को आधार बनाकर दार्शनिक व्यवस्था देना कठिन है—फिर भी जिसने पहले से एक 'दृष्टि' स्थिर कर रखी है—वह उसका संचार कर सकता है । संत-निर्गुण-संत —दार्शनिक नहीं है—साधक और योगी हैं—अतः उनकी उक्तियों में पूर्वनिर्धारित 'दृष्टि' का संचार तो किया जा सकता है—पर किसी एक ही 'दृष्टि' का निर्माण असंभव है ।

कबीर एवम् कबीर पंथी साहित्य में मूलतत्व विषयक धारणा

रहस्यदर्शी संत और साधक अपनी अनुभूति को सर्वथा मौलिक मानते हैं । वे अपरोक्षानुभूति जन्य आत्म विश्वास के कारण मानते हैं कि जहाँ वे पहुँच चुके हैं वहाँ आगम, वेद, ब्रह्मा, विष्णु, ऋषि, मुनि, शैव, शाक्त और सिद्ध-नाथ कोई भी नहीं पहुंच पाया है । यह उनकी गर्वोक्ति नहीं है, आत्म विश्वास है । इस सत्य के बावजूद अनुभव की अभिव्यक्ति तो समाज-दत्त भाषा के ही माध्यम से होगी और अनुभव के लिए साधन परम्परा और निर्देश भी परम्परा से ही मिला होगा—यही कारण है कि अनुभूति के नितान्त मौलिक होने पर भी साधना और अभिव्यक्ति की दृष्टि से वे किसी न किसी परम्परा से भी संबद्ध हैं—यही कारण है कि उन पर क्रमा-गत अध्यात्म धाराओं और अभिव्यक्ति पद्धतियों का प्रभाव मिलता है ।

संतों की काव्यवाणी में 'पूर्ण' का जो वाचिक परिचय प्रस्तुत किया गया है—

उसे शुद्ध बौद्धिक भूमिका पर ग्रहण करने वाले (हम जैसे लोग) अवाग्गोचरता वश उत्पन्न व्यवधानों के कारण समग्रता और एकरूपता में ग्रहण नहीं कर पाते। फलतः उन वर्णनों से उभरे चित्र उन अधूरी भूमिका के बुद्धिवादियों की खण्ड दृष्टि में विभक्त और असंगत लक्षित होते हैं। वे इन असंगतियों को विभिन्न क्रमागत 'वादों' के ढाँचे में कसना चाहते हैं—परीक्षित करते हैं और जब अनेक वादों के अनुरूप सामग्री मिलने लगती है—तब वे विमुग्ध हो जाते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन इस प्रसंग में संगत प्रतीत होता है—"कबीर दास के पदों से, जैसा कि हम आगे देखेंगे—एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद विलक्षण वाद—आदि कई परस्पर विरोधी मतों के समर्थन हो सकते हैं, पर इस विरोध का कारण कबीरदास के विचारों की अस्थिरता नहीं है, बल्कि यह है कि वे भगवान् को (रहस्यमय तत्व को) अनुभवैक गम्य, निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियों का आधार समझते थे। इसीलिए लौकिक दृष्टि से जो बातें परस्पर विरोधी दीखती हैं—अलौकिक भगवत स्वरूप में वे सब घट जाती हैं। यह बात भक्त की दुनियाँ में नई नहीं है। भक्त लोग एक साथ भगवान् के लिए कई परस्पर विरोधी विशेषणों का व्यवहार करते[१] हैं।

कतिपय चिंतकों की यह भी धारणा है कि कबीर आदि संतों ने जो कुछ उस रहस्यमय तत्वों के संबंध में कहा है—वह सब सुनी सुनाई बातों पर निर्भर हैं। ऐसा कहने वाले कबीर आदि संतों से भी महान् हो सकते हैं—अतः अपने द्वारा कथित आक्षेप के प्रति वे स्वयम् उत्तरदायी हैं। कबीर का तो उद्घोष है—

"करत विचार मनहीं मन उपजा ना कहिं गयान आया[२]"

उन्होंने उस निर्मल ज्ञान जल का उद्गिरण किया है जो चेतते-चेतते स्वतः प्रकाशित हो गया है। यह अवश्य है कि "सतगुरु[३] तत कह्यौ विचार" से कबीर ने संकेत पाकर 'मूल गह्यौ अनभै विस्तार[४]' की बात स्वीकार की है। मूलतत्व को तो उन्होंने अपने अनुभव के विस्तार से ही पकड़ा। वे कहते हैं—"कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान"[५]। उस रहस्यमय तत्व के विषय में जो कुछ कहा जाय, वह प्रमाण नहीं है, बल्कि अपरोक्षानुभूति ही उसके विषय में प्रमाण है—

---

१. कबीर (हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, १९६४) पृ० ११० ।
२. कबीर ग्रंथावली, पद ४२ पृष्ठ १०२ ।
३. वही, पद ३८६ पृ० २१६ ।
४. वही ।
५. वही, १२ परचा को अंग ।

"स्वानुभूत्यैकमानायानन्त चिन्मात्र[1] मूर्तये" ।

वे तो कहते हैं कि शब्द मात्र विकल्प जाल के स्रष्टा हैं—अतः शब्द के माध्यम से जो कुछ सामने आता है—वह धोखा[2] पैदा करता है। वस्तुतः ,कहने में जितनी दूर तक वह आता है—अधूरा ही है—अतः कथन से उभरे हुए चित्र को ही पूरा मान लेने में धोखा ही धोखा है । वस्तुतः—जस कहत तस होत नहीं जस है तैसा होइ[3]"—वह तो जैसा है वैसा है । उसके विषय में उनका कहना है—

अविगत अकल अनूपम देखा कहता कह्या न जाई ।
सैन करै मनहीं मन रहसै, गुंगे जान मिठाई[4] ॥

कबीर उसे 'गुन अतीत' 'गुन विहून' 'निराकार' 'अलख' 'निरंजन' 'तत्' 'परमतत्' 'अनूपतत', निजतत, आतम, आप, सार, परमपद, निजपद, चौथापद, अभैपद, सहज, सुनि, सति, ज्ञान, अनंत, अमृत, उन्मन, गगन, जोति, सिव, ब्रह्म—आदि न जाने कितने नामों से वर्णित करते[5] हैं । वे उस तत्व को हरि, गोविंद, राम, केशव, माधव, अल्लाह, खुदा-जैसी न जाने किन-किन संप्रदायगृहीत संज्ञाओं से पुकारते हैं—सारांश यह कि वे वातावरण में उड़ते हुए परतत्व के लिए पूर्व प्रयुक्त किसी भी संज्ञा का निःसंकोच सांप्रदायिक आग्रह से मुक्त होकर—प्रयोग करते हैं । वे कभी कभी उपनिषदों की नेति-नेति वाली शैली भी पकड़ते हैं और कहते हैं कि वह 'अवर्ण' अरूप, अरंग, अवाल, अबूढ़, अतोल, अमोल, न हल्का और न भारी है, न ज्ञान न अज्ञान ही है—न भावात्मक और न अभावात्मक ही[6] है । उसका रूप नहीं, रेख नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, पानी भी नहीं, धरती भी नहीं, आकाश भी नहीं, सूर्य भी नहीं, चन्द्र भी नहीं, पवन भी नहीं—समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण है—अथच वह सब कुछ है । उससे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। वस्तुतः प्रत्येक शब्द सापेक्ष रूप का ही बोधक है और वह रहस्यमय तत्व है—निरपेक्ष। अतः परस्पर विरोधी नाम और रूपों से उसका वर्णन किया जाता है—ताकि एक नाम से कहने पर स्वतः प्राप्त पक्षान्तर का अभाव न सिद्ध हो जाय—अन्यथा उसकी 'पूर्णता' ही खंडित हो जायगी । इसीलिए वह भाव भी है—अभाव भी और वस्तुतः न भाव है न अभाव। यही कारण है कि वह बौद्धिक संगतियों से ऊपर उठा हुआ वह रहस्यमय तत्व है।

---

१. कबीर ग्रंथावली ।
२. वही, पृ० १४६ पद १८० ।
३. वही, पृ० २३१ ।
४. वही, पृ० ६० पद ६ ।
५. उत्तरी भारत की संत परम्परा (देखिए) पृष्ठ १६० तक (सं० २०२१) ।
६. कबीर साहित्य की परख, पृ० ८६ ।

अतएव कबीर तो कभी झुँझलाकर यह भी कह देते हैं कि 'तहाँ किछु आहि कि[1] शून्यं' वहाँ कुछ है भी कि शून्य ही शून्य है। उन्होंने यह भी कहा—"बोलना का कहिए रे भाई। बोलत बोलत तत्व नसाई[2]—उसके विषय में बोलना क्या—बोलने में आते-आते तो वह तत्व अपना स्वरूप ही खो देता है। कबीर ने यह भी कहा कि उस चरम तत्व को 'एक' (अद्वैत' और अनेक द्वैत) में भी नहीं बाँधा जा सकता। कहा है—

"एक कहै तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर बिचारि[3] ॥

बात यह है कि 'एक' और 'अनेक' भी तो परस्पर सापेक्ष हैं—इसीलिए केवल' और "निरपेक्ष' को इन सापेक्षार्थक शब्दों में किस प्रकार बाँधा जा सकता है ?

कबीरदास 'राम' को मानते हैं, पर वे राम दशरथ के घर अवतीर्ण नहीं हुए थे और न तो लंका के रावण को ही सताया था। कबीरदास कृष्ण का नाम लेते हैं—पर वे न तो देवकी की कुक्षि से प्रकट हुए थे और न तो यशोदा ने उन्हें खिलाया ही था। न तो वे ग्वालों के साथ घूमे थे और न तो हाथ में गोवर्द्धन ही धारण किया था। उनके 'रहस्य' न तो गंडक के शालग्राम हैं और न तो कोल, मत्स्य तथा कच्छयावतार हैं। बदरीनाथ में बैठकर ध्यान लगाने वाले नर नारायण से भी उनके उपास्य भिन्न हैं। उनके परशुराम ने क्षत्रियों को नहीं सताया[4] था। इस प्रकार उनके उपास्य परम रहस्यमय हैं। निश्चय ही विभिन्न अवतार उनके उपास्य नहीं हैं।

एक तरफ जहाँ इन संतों ने उसे इस प्रकार अवक्तव्य और अनिर्वचनीय कहा है वहीं दूसरी ओर उसके विराट् सगुण रूप का भी उल्लेख किया है। कबीर ने कहा है कि उस कुम्हार ने इस सृष्टि की रचना की है—वही इसका विधारक एवम् संहारक है। वे मानते हैं कि वहाँ करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं, करोड़ों शिव अपने कैलास पर्वत के सहित वहाँ विद्यमान हैं। करोड़ों दुर्गाएँ वहाँ उनकी सेवा कर रही हैं, करोड़ों पवन उनको चँवर डुला रहे हैं अष्ट कुल पर्वत उनके पग की धूल हैं, सातो समुद्र उसके नेत्र के अंजन रूप हैं—अनेक मेरु पर्वत उसके नखों पर स्थित हैं और धरती तथा आकाश को उसने अधर में ही छोड़ रक्खा है। कहीं वे ऐसी वर्णना करते हैं जिससे विष्णु के पौराणिक रूप की तुलना की जा सकती है। यों कहीं-कहीं नृसिंह और कृष्णावतार की भी चर्चा कर जाते हैं।

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १४३।
२. वही, पृ० १०६ पद ६७।
३. हि० का० नि० सं०; पृ० १०७।
४. कबीर ग्रंथावली, पृ० २४२-२ (कबीर में उद्धृत भी १२० पृ०)।

इस प्रकार ये संत एक तरफ परस्पर विरोधी विशेषणों से उस निर्विशेष एवम् अवक्तव्य रहस्यमय तत्व का स्वरूप उद्‌घाटित करते हैं—अन्यत्र उसके विश्वरूपात्मक स्वरूप का चित्र प्रस्तुत करते हैं। तीसरी ओर पुराण प्रतिपादित अवतारों से मिलते जुलते वर्णन दिखाई पड़ते हैं। कुछ[1] लोग इन वर्णनों में एकेश्वरवाद का आभास पाते हैं। अन्य[2] लोग बौद्धों के 'शून्य' की प्रतिध्वनि सुनते हैं। कितने लोग सहजियों के 'सहज' का अस्तित्व सिद्ध[3] करते हैं। इतना ही नहीं कतिपय विद्वान् समस्त मध्यकालीन हिंदी संतों को दार्शनिक भूमिका पर त्रिधा विभाजित करते हैं और कहते हैं—कबीर, दादू, सुंदरदास, जगजीवनदास भीखा और मलूक अद्वैतवादी हैं—नानक और उनके अनुयायी भेदाभेदवादी हैं और शिवदयालजी तथा उनके अनुयायी विशिष्टाद्वैती[4] हैं। अन्य चिन्तक मुसलमानी प्रभाववश कभी कबीर का झुकाव एकेश्वरवाद की ओर कभी शांकर वेदांत सम्मत अद्वैतवाद की ओर स्वीकार करते[5] हैं। कु० अण्डरहिल ने कबीर को रामानुज के विशिष्टाद्वैत का समर्थक माना था तथा फर्कुहर ने निम्बार्क के भेदाभेद का अनुयायी बताया था।[6] इन सबके साथ स्वयम् डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[7] ने अण्डरहिल और फर्कुहर का खण्डन करते हुए यह भी कहा है कि कबीर की उक्तियों में से कोई भी वाद निकाला जा सकता है—परन्तु स्वतः कबीर ने उनमें से किसी एक को नहीं अपनाया है। यह सब कुछ कहने के बावजूद डा० बड़थ्वाल यह मानते हैं कि कबीर पूर्ण अद्वैतवादी थे। अन्य संतों के अभिमत को तो अन्यत्र देखना है—यहाँ कबीर और उनके अनुयायियों का परीक्षण करना है।

इन लोगों द्वारा अनुभूत रहस्यमय तत्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इन्हीं अड़चनों का सामना नहीं करना पड़ता—इनके साथ-साथ कुछ और भी बाधाएँ हैं। उदाहरण के लिए कबीर अथवा कबीर के नाम पर कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं जिनमें विभिन्न रूहानी मंजिलों का उल्लेख मिलता है—उनमें अध्यात्म के विभिन्न स्तर मिलते हैं—इन्हें संसार के अन्तर्गत भी नहीं रखते और जीव भी नहीं मानते। जैसे, कबीर ने परमात्मा के सत्यरूप को त्रिगुणातीत होने के कारण चौथा पद कहा है—उपनिषदों ने भी 'तुरीयं पद' कहा था।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, (सं० २००७) पृ० ६६।
२. सिद्ध साहित्य, पृ० ३४०।
३. वही, पृ० ३७४।
४. हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १४७।
५. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६ तथा ७०।
६. हिंदी का० नि० सं०, पृ० ११६।
७. वही, पृ० ११७।

राजस तामस सातिगतीन्यूं ये सब तेरी माया ।
चौथे पद को जो जन चीन्हें तिन्हींह परमपद पाया[१] ॥

आगे चलकर कबीर पंथ में सत्यपुरुष को त्रिगुणातीत या निर्गुण से दो लोक ऊपर माना गया । बीच के दो लोकों का नाम 'सुन्न' और 'भवंरगुहा' रखा[२] गया। स्तरों की कल्पना संत साहित्य में उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। स्वयं 'कबीर[३] मंसूर' में न जाने कितने स्तरों का उल्लेख है । अन्यत्र भी कबीर के नाम पर सत्य समर्थ और निरंजन के बीच छह पुरुषों के लोक हैं इन छह पुरुषों के नाम हैं—सहज ओंकार इच्छा सोहम् अचिंत्य अक्षर । इस प्रकार मूलतत्व को उत्तरोत्तर परात्पर प्रतिपादित करना कहाँ तक सुसंगत है और इस निरूपण से रहस्यमय तत्व का स्वरूप क्या निर्धारित होता है ?

इस रहस्यमय तत्व की रहस्यमयता को बढ़ाने वाली एक उलझन और है। इस उलझन को स्पष्ट करें कि उसके पूर्व एक बात कहलें । डा० आर० डी० रानाडे ने[४] कहा है कि औपनिषद दार्शनिकता का निर्झर रहस्यानुभूति के पर्वतीय शिखर से प्रवाहित होता है। औपनिषद रहस्यानुभूति की प्रकृति से मध्यकालीन रहस्यानुभूति में अन्तर है—जहाँ पहले में दार्शनिक झंकृतियों का स्वर तीव्र है वहाँ दूसरे में करुणा एवं प्रेम से आपूरित हृदय का नैसर्गिक समुच्छलन है । मध्यकालीन रहस्यदर्शियों में दीन-हीन चेतना का प्रकाशन है और अंततः परमप्रेमास्पद आत्मा में अपने को विलीन कर देने की अजीवत्वरा है—बेकली और छटपटाहट है। औपनिषद रहस्यवाद या रहस्यानुभूति अथवा तत्संबद्ध निरूपण सहज दार्शनिकता की ओर उन्मुख है जबकि मध्यकालीन रहस्यवाद एक व्यावहारिक या साधनात्मक तथा प्रीति-गर्भ अनुभूति की प्रमुखता लिए हुए है । औपनिषद रहस्यानुभूति या तत्संबद्ध निरूपण चरम सत्य की प्रकृति के विषय में निर्मुक्त काल्पनिक उड़ानों, अनूठी उत्प्रेक्षाओं और साहसिक स्थापनाओं का अटपटा सा लगने वाला भानुमती का कुनबा नहीं है। मध्यकालीन रहस्यानुभूति का उद्गार ऐसा है जहाँ शास्त्रीय पाण्डित्य और दार्शनिक विवेचन के प्रति घृणा प्रकाश करता है—दर्शन-प्रसूत-कल्पनाओं को व्यर्थ समझता है—खासकर तब और जब कि ये विवेचनाएँ आध्यात्मिक साधनाओं में उपयोगी नहीं होतीं और दूर जा पड़ती हैं । इनका विवेचन केवल पाण्डित्य प्रदर्शन-पर्यवसायी हो जाता है। औपनिषद रहस्योद्गार नागरिक भनभनाहट से सुदूर पर्वतों की विजन तलहटी में पवित्र शिष्यों से घिरे एकान्त सेवी पण्डित ऋषियों के उद्गार हैं जबकि मध्यकालीन उक्तियों की

१. हिंदी का० नि० सं० पृ० १०८ उद्धृत ।
२. वही, पृ० १०९ ।
३. कबीर मंसूर सं० २००९, बम्बई, पृष्ठ ३ ।
४. Mysticism in Maharashtra.

स्थिति सर्वथा भिन्न हैं। इन संतों ने रहस्य विषयक उद्गारों में सिद्धान्त निरूपण की अपेक्षा व्यावहारिक कठिनाइयों, अनुभूतियों और साधनाओं का उल्लेख कहीं अधिक है। इनकी समस्त रहस्यमुखी दृष्टि व्यक्तिगत आध्यात्मिक परिपूर्णता की उपलब्धि से आपादमस्तक सिक्त है। इसी तल्लीनता में ये कभी-कभी लोक और वेद की उपेक्षा कर जाते हैं और जब कभी उधर उन्मुख भी होते हैं तो अध्यात्मविरोधी या रहस्यानुभूति में बाधा बनने वाली संवद्ध बातों को देखकर झुंझला उठते हैं। औपनिषद रहस्यदर्शियों में यह झाड़-फटकार नहीं है—सुधार की मनोवृत्ति उतनी उदग्र और मुखर नहीं लक्षित होती। मध्यकालीन संत सर्वसामान्य को अपनी अध्यात्म साधना में दीक्षित कर लेना चाहते हैं—औपनिषद रहस्यदर्शी पात्र का परीक्षण करते हैं और तब उपदेश देते हैं। निष्कर्ष यह कि औपनिषद स्थिति से मध्यकालीन स्थिति की ओर जितना ही बढ़ते हैं उतना ही उस 'गुह्य' तत्व का व्यापक भूमिका पर खुला फैलाव देखते हैं। जो तत्व उपनिषद् काल में बड़ी मुश्किल के साथ किसी चुने हुए व्यक्ति को दिया जाता था—वह मध्यकाल में जिस किसी को निष्प्रयास लुटा दिया जाता है।

इस निरूपण के माध्यम से औपनिषद और मध्यकालीन अध्यात्म साधकों की कई भेदक विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं। पहली यह कि यहाँ व्यक्तिगत आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए साधना पक्ष पर सर्वाधिक बल है, सिद्धान्त निरूपण पर नहीं। दूसरी यह कि साधना भी अधिकाँश माधुर्यमुखी है और तीसरी यह कि वह सर्वसामान्य में निस्संकोच वितरित की जा रही है।

इन प्रवृत्तियों के उदय का इतिहास निरूपण यहाँ अप्रासंगिक है—पर संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में उपनिषदों के अनन्तर बौद्ध आंदोलन ने ही—अथवा व्रात्य परम्परा से ही अध्यात्म की दिशा लोकगामिनी हो गई थी। बुद्ध ने सर्वसामान्य के बीच ही अपने उपदेश दिए। महाभारत आध्यात्मिक साधनाओं की न जाने कितनी परम्पराओं को आत्मसात् किए हुए है। कृष्ण का महान व्यक्तित्व गीता के माध्यम से लोकमात्र के लिए निष्काम कर्मयोग का संस्थापक स्तंभ है। कृष्ण ही भागवत धर्म के भी संस्थापक हैं—जो गोप-गोपियों के बीच अध्यात्म को रहस्यात्मक रूप दे रहे थे। जैसा कि आर० डी० रानाडे का विचार है कहा जा सकता है कि इस आंतरात्मिक कालावधि में तीन प्रकार की अध्यात्म-संवद्ध-धाराएं प्रवाहित थीं—१. दार्शनिक २. रहस्यवादी एवम् ३. साम्प्रदायिक। दार्शनिक धारा तो उपनिषदों में है ही, रहस्यवादी धारा सरस्वती की भाँति गुप्त-प्रकट रूप में अपना दीर्घ और प्रच्छन्न इतिहास रखती हैं। महाभारत में शैव और वैष्णवों की साम्प्रदायिक धारा का विवरण मिलता है। फिर इनका परस्पर प्रभावित होना भी इतिहास के पन्नों से प्रमाणित है। रहस्यवादी धारा का आगमों में उन्मुक्त उच्छ्वास है। भागवत् शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, नारद भक्तिसूत्र—इसी रहस्यवादी परम्परा के ग्रंथ हैं—जिनमें भक्ति की प्रमुखता मिली है। विज्ञवर्ग से हटकर सामान्य जनता के बीच के साधकों में रहस्यवादी तांत्रिक

परम्परा का उन्मेष ६-७वीं शताब्दी से बड़े ही प्रबल रूप में दिखाई पड़ने लगता है। दक्षिण में आलवार एवम् नायनार—वैष्णव तथा शैव संत ही हो गए हैं—ये लोक या जनता के सामान्य धरातल से ही उठे हुए लोग थे। आलवारों की विशुद्ध अनुभूति-गर्भ रचनाओं को वेद-सदृश मान्यता मिली और मिली—पण्डितों तथा आचार्यों द्वारा। रामानुजाचार्य जैसा दार्शनिक उनका उन्नायक मिला—जिन्होंने राघवानंद और रामानंद के द्वारा उत्तर भारत में भक्ति का वह बीज वपन किया—जिसकी पैदावार कबीर, तुलसी तथा नाभाजी जैसे संतों के रूप में लहलहाने लगी। दार्शनिक धारा में वैष्णव वेदान्तियों के अंतर्गत वल्लभाचार्य ने भागवत को प्रमाण ग्रंथ मानकर भक्तिभाव प्रचारित किया। मध्व ने गुजरात और निम्बार्क ने बंगाल को अरुणाभ रश्मियों से मण्डित कर दिया। चैतन्य देव निम्बार्क की ही परम्परा में दार्शनिक दृष्टि से माने जाते हैं। वे अपने पूर्ववर्ती विद्यापति और चंडीदास से भी प्रभावित थे। चंडीदास सहजिया वैष्णव थे जिनकी साधनाओं पर सहजयानियों अथवा तांत्रिक बौद्धों का प्रभाव संभव है। इसी बीच के मराठी संतों पर भी एक ओर नाथ सम्प्रदाय का और दूसरी ओर भागवत धारा का प्रभाव भी झलकता ही है। इस प्रकार ६-८वीं शताब्दी से ही सामान्य जनता के बीच अध्यात्म साधना की विचित्र आँधी झंझावात और चक्रवात दिखाई पड़ने लगता है। प्रत्येक साधक नाना प्रकार की साधनाओं से अपने संस्कार के अनुरूप रस खींचता है। ध्यान देने की बात यह है कि सामान्य जनता का हृदय पक्ष ही उदग्र होता है और उसके अनुरूप प्रेम साधना अधिक पड़ती है। मानसिक ऐकाग्र्य का सहज और सरलतम तथा निर्विघ्न साधन यही स्वीकार किया गया। यही कारण है कि मध्यकालीन संत चाहे निर्गुणधारा के हों या सगुण धारा के—एक मत से 'प्रेमा पुनर्थी महान्' का उद्घोष कर रहे हैं।

इस आन्तरालिक इतिहास से यह स्पष्ट होते विलम्ब नहीं लगता कि क्यों मध्यकालीन संत-साधन पक्ष पर बल देते हैं; किस प्रकार नितान्त गोप्य और वैयक्तिक गुह्यसाधना का इतना लोकगामी रूप प्रकट हो जाता है और किस प्रकार प्रेम या भक्ति को महत्व मिल जाता है। निर्गुण संतधारा में यह प्रेम पद्धति रहस्यमयी होगी ही।

इस विस्तृत प्रासंगिक चर्चा से मूल प्रश्न और प्रसंग अपेक्षाकृत व्यवहित अवश्य हो गया, पर इस प्रासंगिक चर्चा के बिना जो कुछ कहा जाना चाहिए—वह कहा नहीं जा सकता था। कहना यह है कि रहस्यदर्शियों ने अपनी रहस्यानुभूति के अनुसार रहस्यमय तत्व का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है—बुद्धिवादियों को उसमें संगति लगाना कठिन हो जाता है। पूर्व विवेचन में जो विरोधी विशेषण प्रस्तुत किए गए हैं—उनसे तथा अन्य कारणों से जो दुःसमाधेय स्थिति खड़ी हुई है—वह तो है—इस प्रासंगिक संक्षिप्त विवरण से मूलतत्व विषयक धारणा के स्पष्टीकरण में समस्या का एक अध्याय और जुड़ता है। वह इस प्रकार है।

सगुण धारा के पहुंचे हुए भक्तों में तो नहीं, परन्तु निर्गुण धारा के भक्त साधकों में जो प्राप्य तत्व का स्वरूप मिलता है उसकी योजना गुणवान् तथा गुणातीत—दोनों रूपों में की जाती है। वहाँ यह भी देखा जाता है कि गुणवान् या सगुण रूप के प्रति 'प्रेम' का लोकोत्तर केंद्रण है। माधुर्यभाव की भूमिका पर वह सभी निर्गुनियों में श्रृंगार का रूप धारण कर लेता है। विरहानुभूति की साँद्र एवम् निविड़तम विकलता इनकी रचनाओं में प्राण स्थानीय हो जाती है। चाहे कबीर की रचनाओं को इस दृष्टि से देखा जाय या ओरों की—उभयत्र एक तीखी, तलफलाहट और बेचैनी का भाव दिखाई पड़ता है। निश्चय ही इस विकलता का मूल 'तत्व' गत या प्राप्यगत कोई न कोई आकर्षण है। इस आकर्षण का मूल क्या है? रूप एवं गुण का परम-प्रमास्पद गुणातीत आत्मा का, सहज स्वभाव का आकर्षण? डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि इस आकर्षण का मूल जीवात्मा में आत्मरूप के प्रति सहज राग-ठीक वैसा ही जैसा बूंद का समुद्र। अर्थात् जल की हर बूंद निसर्गतः (अनजाने) अधोगामी होकर अंततः समुद्र की ओर ही वढ़ रही है—वही स्थिति जीवात्मा की भी है। अपने सहज आनंदमय, प्रेममय रूप को पा लेने की लोकोत्तर त्वरा उसे हर क्षण विकल कर रही है फलतः उसका सारा प्रयास उसी को पा लेने का है, उसके हर स्पन्दन में—मोड़ में—आनंद प्राप्ति की ही कामना निहित है। निष्कर्ष यह कि इस दृष्टान्त से जीवात्मा और परमात्मा के बीच के आकर्षण का जो निरूपण किया गया है वही बात निर्गुनिएं संतों में प्राप्त विकलता का रहस्य है या और कुछ?

उक्त दृष्टान्त से हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जो स्थापना देनी चाही है—वह बहुत संगत प्रतीत नहीं होता। उसका पहला कारण यह है कि इस प्रकार की बुभुक्षा और बेकली तो जीवमात्र में है—संत जीवात्माओं की इस दृष्टि से क्या विशेषता है? कहा जा सकता है कि असंत जीवात्माओं का आकर्षण जड़ और मायिक पदार्थों द्वारा व्यवहित है, उनका आकर्षण जड़ में ही उलझा हुआ है—फलतः वह पार्थिव और मांसल ही रह गया है—जबकि संत जीवात्माओं का आकर्षण चेतन आत्मा के प्रति अव्यवहित रूप से है—अर्थात् एक का आकर्षण और प्रेम जड़ोन्मुख है और दूसरे का चिन्मुख-पहले को तात्विकता का बोध नहीं है और दूसरे का है—तथापि फिर यह प्रश्न खड़ा होता है कि सामान्य जीव के स्तर से ऊपर उठकर प्रेम या आकर्षण के चिन्मुखीकरण में संतों को कोई माध्यम पकड़ना पड़ता है या नहीं? सगुणोपासक महान् आत्माओं को तो स्पष्ट ही 'रूप' माध्यम है—जो आकर्षक है। आरम्भ में वह कल्पित ही रहता है, पर विशिष्ट आध्यात्मिक प्रक्रिया से वह 'वास्तव' तक पहुँचा देने का माध्यम बन जाता है। सवाल जटिल है—निर्गुनिए संतों के यहाँ—कारण वे सगुण साकार को मानते नहीं, वे 'राम' का मरम 'आन' ही बताते हैं। सूफी भी निर्गुणो-

पासक हैं—पर वे आन्तरालिक प्रक्रिया के रूप में किसी पार्थिव बुत को माध्यम बनाकर ही अपना प्रेम या आकर्षण बढ़ाते हैं। भारत में भी इस प्रकार की सैद्धांतिक और प्रायोगिक पद्धतियाँ मिलती हैं। सिद्धान्ततः पातंजल योग सूत्र में ही मिलता है—'यथाभिमतध्यानाद्वा[1]"—मन को जहाँ भी आकर्षण जान पड़े—वहीं वह अपने को टिका दे। योगवासिष्ठ में भी इस प्रकार के सोदाहरण विचार प्रस्तुत किए गए हैं। चण्डीदास और रामी धोबिन का प्रसंग प्रसिद्ध है ही। प्रसंग है निर्गुण संतों की प्रेम साधना के साध्य—चरमतत्व का। इनके साहित्य को देखने से स्पष्ट है कि इनका केंद्रीय साधन है—भक्ति। यही है माध्यम जिससे 'सुरत' का 'शब्द' में लय होता है। इन संतों ने साधनकाल में अपने प्रेम का आलम्बन 'गुरु' को ही बना रखा है। इस प्रकार ऊपर जो मूल प्रश्न उठाया गया है कि निर्गुनिएँ संत जो इस प्रकार प्रेम विभोर लक्षित होते हैं—उसका कारण परमप्रेमास्पद चिन्मय का सीधा आकर्षण है या रूप-गुण के माध्यम से व्यवहित ? पहला पक्ष डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का है और दूसरा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। इस प्रश्न पर विचार करते हुए उक्त विश्लेषण के आलोक में यह निर्धारित किया गया है कि साधन काल में सभी आध्यात्मिक साधकों को कहीं अपना मन केंद्रित करना पड़ता है और यह आलम्बन रुप-गुण सम्पन्न होता है। संतों या निर्गुनिएं संतों के यहाँ यह रूप-गुण सम्पन्न आलम्बन 'गुरु' ही है। इसका समर्थन उन्हीं की निम्नलिखित पंक्तियों से होता है। कबीर दास ने स्वयम् कहा है—

चल सतगुरु की हाट, ज्ञान बुधि लाइये।
कीजे साहिब से हेत, परमपद पाइये॥

इन पंक्तियों में कबीरदास ने स्पष्ट कर दिया है कि साहब से हेत या प्रेम किए बिना परमपद की उपलब्धि संभव नहीं हैं। यहाँ संदर्भ से बहुत स्पष्ट है कि साहब शब्द का प्रयोग 'गुरु' के लिए ही किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि 'साहब' शब्द जैसे मध्यकाल में 'गुरु' के लिए रूढ़ सा हो गया है। तुलसीदास भी तो कहते हैं—'आज्ञा समन सुसाहिब सेवा[2]"—यहाँ सुसाहिब कौन है—गुरु ही तो—जिनकी आज्ञा को कार्यान्वित करने से मनुष्य या साधक सब कुछ पा लेता है। इससे स्पष्ट है कि संतों के प्रेम का आलम्बन 'गुरु' ही है।

प्रसंग है कि कबीर आदि निर्गुनिएं संतों के चरमतत्व का स्वरूप क्या है ? यदि वह निर्गुण है—तो फिर गुणवान् की उपासना क्यों ? उपासना किसी और की ओर उपास्य या प्राप्य कोई और ? यह कैसी विसंगति ? वैसे इस विसंगति का विस्तृत विवेचन बाद में किया जायगा। यहाँ निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना चाहता हूँ कि साधना काल में संतों का ध्येय और समाधि गम्य तत्व तत्वतः एक ही हैं। वही साधन काल में मूर्तिमान् है—बाह्य है और समाधि में वही वह है—'शब्द' रूप है—

१. पातंजल दर्शनम्, समाधिपाद ३९वां सूक्त।
२. रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० २४५, ३०१ सोरठा २ य पंक्ति।

अतः इनका ध्येय—प्रेम का आलम्बन मूर्तिमान् होकर भी अमूर्त है—अतः उसके तत्वतः गुणातीत या निर्गुण होने में कोई अंतर्विरोध नहीं। इस बात का सोपपत्तिक विचार और आगे चलकर किया जायगा। वाह्य देह धारी गुरु तत्व की उपासना से अंदर उसका साक्षात्कार होता है और प्रारब्ध भोग के बाद जब शरीर क्षय हो जाता है तब गुण रूप विहीन वही चिद्घनाकार गुणातीत कहा जाता है। फिर भी उसे निर्गुण या गुणातीत कहना ठीक नहीं है, कारण अन्यत्र वही अपनी मौज से गुणवान् है। अभिप्राय यह कि उसे सगुण या निर्गुण जैसे सापेक्ष शब्दों से कहना उसे सापेक्ष कहना होगा। उसे अद्वैत और द्वैत की सीमाओं से ऊपर मानना होगा, तभी तो कबीर ने कहा है—'जस है तैसा होई" ।

इन संतों की रचनाओं में चरमतत्व के लिए सगुण, निर्गुण तथा उभयातीत-जैसे विशषणों को देखकर विद्वानों में पर्याप्त मतामत चल पड़े हैं। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने इसी पशोपेश में पड़कर कहा था—"निर्गुण और सगुण के विषय में जो विचार परम्परा पुराणवादियों और वेदांतवादियों की देखी जाती है, पद-पद पर वे (कबीरदास) उसी का अनुसरण करते हैं। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमें परमात्मा का वर्णन इसी रूप में न किया गया हो। पुराणों का सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्त के भावों से प्रभावित है और वैष्णव पुराणों में उनका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है—परन्तु वे जानते हैं कि निर्गुणवाद के तत्वों को समझाना कतिपय तत्वज्ञों का ही काम है—इसलिए उनमें सगुणवाद का ही विस्तार है—क्योंकि वह बोध सुलभ है। बिना उपासना किए साधक सिद्धि नहीं पाता। उपासना सोपान पर चढ़कर ही साधक उस प्रभु के सापीप्य-लाभ का अधिकारी बना है जो ज्ञानगिरागोतीत है। उपासना के लिए उपास्य की प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त है अथवा ज्ञान का विषय नहीं, तो उसमें भावों का आरोप नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में भक्ति किसकी होगी ? प्रेम किससे किया जायगा ? और किनके गुणों का मनन चिन्तन करके मनुष्य अपनी आत्मा को उन्नत बना सकेगा ? इन्हीं बातों पर दृष्टि रखकर परमात्मा के सगुण रूप की कल्पना है। जो यह समझता है कि बिना सगुणोपासना किए हम परमात्मा के निर्गुणस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे—वह उसी जिज्ञासु के समान है जो विश्वनियन्ता का तो परिचय प्राप्त करना चाहता है किन्तु यह नहीं जानता विश्व क्या है? पुराण सगुण पथ का पथिक बनाकर निर्गुण की प्राप्ति कराते हैं किन्तु बड़ी बुद्धिमत्ता और विवेक के साथ। यही कारण है कि मुख से निर्गुणवाद का गीत गाने वाले भी अन्त में पुराण शैली की परिधि के अंतर्गत हो जाते हैं—चाहे कबीर साहब हों अथवा पंद्रहवीं सदी के दूसरे निर्गुण वादी—उन सबके मार्गदर्शक गुप्त रूप से पुराण ही[1] हैं।"

१. कबीर, पृ० ११६, ११७ में उद्धृत, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, १९९३।

हरिऔध जी के इस वक्तव्य में निश्चय ही कुछ सार है पर संतों के चरमतत्व संबंधी उद्गार को पौराणिक शैली के अंतर्गत बताने का अभिप्राय क्या है ? यदि इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पुराणों में निर्गुण की ओर बढ़ने का माध्यम अवतारों की उपासना कहा गया है—वही बात संत भी कह रहे हैं—तो अवश्य अस्वीकरणीय है। कारण, इन संतों ने स्पष्ट ही एकाध अपवादों को छोड़कर बलपूर्वक राम, कृष्ण, रहीम आदि शब्दों का प्रयोग अवतारों से भिन्न अर्थ में किया है और जहाँ तक कबीर का संबंध है—उनका तो स्पष्ट उद्घोष ही है—"रामनाम का मरम है आना"।

यदि पौराणिक शैली का अभिप्राय यह किया जाय कि जिस प्रकार रहस्यदर्शी अनुभव की भूमिका पर आरूढ़ होकर सगुण, निर्गुण एवम् उभयातीत की भाषा का प्रयोग करते हैं—पुराणों का रचयिता भी रहस्योद्गार के आवेश में वही शैली पकड़े हुए है तो कथान्चित् उक्त वक्तव्य समर्थनीय भी हो सकता है। साथ ही पुराण तो ऐसे संग्रह हैं—जहाँ आगम, निगम तथा अन्यान्य भारतीय साधन और चिन्तन की धाराएँ मिलती हैं। साथ ही यह बात अवश्य ध्यान देने की है कि कबीर आदि संतों ने संभव है कहीं से कुछ पुराण वचन सुन लिए हों—उनका अध्ययन मनन तो उन्होंने नहीं ही किया होगा, अतः यह निभ्रन्ति सत्य है कि कबीर आदि संत जो कुछ कह रहे हैं—अपनी सहज शैली में कह रहे हैं—पुराणों को पढ़कर उसका अनुकरण नहीं कर रहे हैं। संभव है उपाध्यायजी इसीलिए 'गुप्त रूप से' शब्द का प्रयोग कर रहे हों कि कबीर से पढ़कर यदि अनुकरण किया गया होता तो जानकारी में होता—वह तो उस भारतीय चेतना की प्रतिध्वनि है। जिसमें पुराण भी पचे हैं। संत भी उस परम्परा में तो दीक्षित हैं ही—उस गुरु परम्परा में तो स्नात हैं ही—जिन पर आगम-निगम की दोनों धाराओं का प्रभाव है—अतः पौराणिक शैली और संत शैली का कहीं अनायास संवाद मिल जाय—तो कोई आश्चर्य नहीं। पर साथ ही इतना सही है कि संत जन गुणातीत अथवा निर्गुण तक पहुँचने में जिस सगुण को अपनाते हैं—कम से कम कबीर की दृष्टि में वह अवतार नहीं है जब यहाँ अवतार का निषेध किया जाता है तो वह भी एक विशेष रूढ़ अर्थ में—न कि सामान्य अर्थ में। सामान्य रूप से तो प्रत्येक विशिष्ट विभूति ही अवतार है—अतः जिस गुरु को सगुण रूप में ये लोग माध्यम बनाते हैं—वह भी अवतार है—परमसत्ता का पार्थिव आकार में प्राकट्य ही है। अवतार ही क्यों—ये पुराण ही कहते हैं—

"गुरुः साक्षात् परंब्रह्म"

गरुण पुराण तो यह भी कहता है—

"अधोमुखे ततो रंध्रे सहस्रदल पंकजे[1]।
हंसगं तं गुरूं ध्यायेत् वरमिय कराम्बुजम्।"

१. गरुण पुराण।

अर्थात् सहस्रदल कमल पर गुरु का ध्यान करना चाहिए। निष्कर्ष यह कि पुराण इतने विशाल कोश हैं कि उनमें सबके अनुरूप सब कुछ मिल जाता है—फलतः यदि संतों और पुराणों की चिन्तनाओं और उद्गारों में कहीं अनायास संवाद या साम्य मिल जाय—तो आश्चर्य नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस साम्य का अर्थ कबीर को पुराण-पंथी मान लेने का नहीं है।

हरिऔध जी का कबीर या संतों के संदर्भ में यह कथन मान्य है कि चिन्मय तत्व की ओर बढ़ने का माध्यम सगुण उपास्य ही है। यह अवश्य है कि संतों के यहाँ वह सगुण, पुराण प्रतिपादित विविध विविध अवतार नहीं, बल्कि 'गुरु' ही है। मधुसूदन सरस्वती[1] ने बताया है कि साधक दो प्रकार के होते हैं—द्रुतिशील चित्त वाले और अद्रुतिशील चित्त वाले। पहले प्रकार के चित्तवाले 'भक्ति' का मार्ग पकड़ते हैं और दूसरे ज्ञान का। जहाँ तक संतों का संबंध है उनमें भक्ति का स्वर नितान्तमुखर है—इसमें कोई दो मत नहीं हैं। भक्ति का स्वरूप बताते हुए उन्होंने यही कहा है ध्येयाकार[2] अंतःकरण की वृत्ति ही भक्ति है। भक्ति का यह साध्य रूप है—साधन रूप नहीं। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि संत लोगों की गणना उन साधकों में है जो द्रुतिशील चित्तवाले हैं। फलतः इनका कोई न कोई ध्येय होना ही चाहिए—वह यदि रूढ़ अर्थ में अवतार नहीं है, कोई अन्य पार्थिव मूर्ति नहीं है—तो उक्त उद्धरणों के आलोक में 'गुरु' ही हो सकते हैं।

इस प्रसंग में म० म० गोपीनाथ कविराज के कतिपय विचार नितान्त महत्वपूर्ण हैं—उनकी चर्चा आवश्यक और प्रसंग संगत है। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य का इष्ट है—आनन्दोपलब्धि। गुरु जो उपाय बतलाते हैं—उनका आश्रित शिष्य उसी उपाय का आलम्बन कर इष्ट प्राप्ति के पथ पर आगे बढ़ता है। यह उपाय मंत्र रूप देवता का आराधन है। साधक साधना के मार्ग में चलते-चलते क्रमशः आराधना में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है एवम् दिव्य ज्योतिर्मय शक्ति के रूप में अपने आराध्य देवता का साक्षात्कार करता है। वस्तुतः यह आराध्य देवता साधक के अपने आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। उसका अपना स्वरूपभूत आनंद कर्म के प्रभाव से घन हो कर अपनी इंद्रियों एवम् मन का आकर्षण करने वाले दिव्य आकार को धारण कर अपनी सत्ता से अपृथक् रहकर पृथक् भूत रूप से दृष्टि के सामने दिखाई देता है। इसी का नाम है—इष्ट देवता का साक्षात्कार।

आगे उन्होंने बताया है कि माता के गर्भ में जैसे बीज रूप से संतान निहित रहती है एवम् क्रमशः पुष्ट होकर अंग-प्रत्यंग की पुष्टता के साथ पूर्णता प्राप्त करती है इसी

---

१. (भगवद् भक्ति रसायन)।

२. रसविमर्श, पृ० ७० पर उद्धृत।

प्रकार गुरु प्रदत्त वीज मंत्र भी अंततः इष्ट देवता के रूप में प्रकट होता है और साधक उस दर्शन से आनंद मग्न हो जाता है। इष्ट साक्षात्कार के लिए गुरु ने पहले जिस मानव देह में दर्शन दिया था—वह उस गुरु का वास्तव रूप नहीं है। इष्ट दर्शन के साथ-साथ गुरु का वह छद्मरूप तिरोहित हो जाता है। इसके अनंतर भी इष्ट एवम् साधक अतिदुर्गम पथ पर अग्रसर होते हैं यह पथ गुरु के स्वरूप दर्शन का मार्ग है।

फिर उन्होंने बताया है कि गुरु स्वरूपतः निराकार चैतन्यमय है। साधक प्राकृत या अप्राकृत आकार का है। इष्ट आनंदमय अजर, अमर देह विशिष्ट है। इस इष्ट या सगुण के साथ साधक का योग होने पर निराकार चैतन्य स्वरूप की ओर अग्रसर होना संभव है। इस गति के अंत में साधक एवं इष्ट एक होकर निराकार चैतन्य से एकान्तर हो जाते हैं—इसी का नाम है—'गुरु साक्षात्कार'। यहाँ साधक इष्ट एवं गुरु—एक ही हैं। यह साकार निराकार रूप द्वंद्व के अतीत विशुद्ध आत्मरूप है। इस प्रक्रिया से साधक सिद्ध अवस्था प्राप्त कर इष्ट देवता के साथ अभिन्न होकर निर्गुण और निराकार गुरुतत्व में एकत्व लाभ कर लेता है। इस प्रकार गुरु तत्व तक अधिकार होने पर स्वयं प्रकाश आत्मा अपने आप अभिव्यक्त हो उठता है[1]। यह समान रूप से साकार और सगुण तथा निराकार और निर्गुण—दोनों ही है, पर उभयात्मक होने पर भी उभयातीत है।

संतों ने भी ठीक इसी रूप में स्वानुभूत तत्व का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस पृष्ठ फलक पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कहना—"कवीर दास कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखाई देते हैं और कभी एकेश्वरवाद की ओर, कभी वे पौराणिक सगुण भाव से भगवान् को पुकारते हैं और कभी निर्गुण भाव से; शुद्ध दर्शन की कसौटी पर खड़े होकर विश्लेषणात्मक दृष्टि से उनका परीक्षण करना है—आत्मगत खण्ड भूमिका का उनमें प्रतिक्षेप करना है। उपर्युक्त विस्तृत विवेचित पीठिका पर शुक्लजी का कहना ठीक भी है और अठीक भी। ठीक इसलिए कि उनकी पंक्तियों में ये सभी एकाँगी दृष्टियाँ सटीक वैठ सकती हैं और अठीक इसलिए कि संश्लेषमुखी उद्गार को वे 'स्थिर तात्विक सिद्धांत नहीं"—कहते हैं। तत्व का यही तो स्वरूप ही है कि वह स्वयं में सर्वथा अगोचर है—द्रष्टा की दृष्टि से रंजित होकर सब तरह का है। इसलिए कवीर की उक्तियों से परमतत्व की जो झलक मिलती है—वह अतत्वबोध पर आश्रित है—यह मानकर चला जा सकता है और तब क्या यह पूर्वग्रह नहीं है? तांत्रिकवाद 'पूर्णतावाद' है—अतः उस दृष्टि से कोई असंगति नहीं है। अवक्तव्य तत्व को जब कोई सापेक्षार्थक शब्दों से कहना चाहेगा तब उसके द्वारा विरोधी शब्दों का प्रयोग होगा ही। विरोधी अर्थ परस्पर विरोधी हो सकते हैं पर अपने मूल अधि-

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १ 'अध्यात्म जीवन में गुरु का स्थान' पृ० २४१ से २५२ शीर्षक निबंध देखें।

ष्ठान तो विरोध करेंगे तो रहेंगे कहाँ ? हर अर्थ का कोई न कोई अधिष्ठान तो होगा ही—अंतिम अधिष्ठान ही वह चरमतत्व है । कहने का अभिप्राय यह नहीं कि कोई भी पगला जो कुछ कह दे वह सव परतत्व का स्वरूप ही है, नहीं, कदापि नहीं। यहाँ कहने का अर्थ यह है कि जो रहस्यदर्शी या तत्वदर्शी है उसके उद्‌गारों में बौद्धिक असंगति देखकर उसे गलत नहीं समझना चाहिए। हाँ सवाल यह अवश्य है कि इस वात का ही निर्णय किस प्रकार हो कि कौन रहस्यदर्शी है ? कबीर रहस्यदर्शी हैं या नहीं ? यह निर्णय बुद्धि-साध्य तो नहीं है । इसमें तो परम्परा एवं अन्य रहस्यदर्शियों के वक्तव्य ही प्रमाण माने जायँ—तो माने जा सकते हैं।

कवीर आदि रहस्यदर्शियों द्वारा अनुभूत 'रहस्य' मय चरमतत्व की प्रकृति का यथाशक्य निरुपण करते हुए अव तक यह वताया गया है कि वह तत्व अवाङ्मनोगोचर होने के कारण तो अशक्य विवेच्य है ही, उक्तियों में एक साथ परस्पर विरोधी विशेषणों से कथित होने के कारण भी दुरुपपाद्य है । उसकी तर्क प्रतिष्ठाप्पता तव और वढ़ जाती है जव कि उस अनुभूत तत्व में स्तरों का उल्लेख मिलने लगता है—उस निरवयव एवं निरतिशय चरमतत्व में स्तर भेद किस प्रकार संभव है ? पर इन तमाम अड़चनों के बावजूद उस चरम तत्व की अवाङ्मनोगोचरता तर्क सिद्ध है, उस तत्व की एक साथ दृष्टि भेद वश सगुण, निर्गुण, उभयात्मक, उभयातीत होना संभव है—उसी प्रकार वक्ष्यमाण पद्धति से उसमें स्तर भेद की वात भी सिद्ध है। स्तर भेद का प्रतिपादन अगले अध्याय से विशेष रूप से किया जायगा—यहाँ तो इतना ही कहना है कि स्तरभेद की बात अवरोहण तथा आरोहण की प्रक्रिया से स्वातंत्र्यात्मक इच्छा से संभव है । एक ही चरमतत्व अपनी मौज अथवा स्वातंत्र्यात्मक इच्छा के वल से विभिन्न स्तरों में अभिव्यक्त होता हुआ व्यक्त जगत् का आकार ग्रहण करता है—जिस प्रकार, उसी प्रकार उन्हीं स्तरों से वह स्वयं को आत्मरत भी कर लेता है। एक ही मूल सत्ता जव आत्मरमण करती है तव आरोहण और जव विश्वरमण करना चाहती है तो अवरोहण । इन प्रक्रियायों में वह अपने को विभिन्न स्तरों में संकोच-प्रसार करती रहती है। संतों में से जिसकी दृष्टि जिस स्तर पर टिकी—उसने उसका उल्लेख किया । निष्कर्ष यह कि उस चरमतत्व में स्तर भेद का होना अबुद्धि संगत नहीं है और न ही उससे उस तत्व के निरुपण में कोई कठिनाई ही आती है।

कबीर की पंक्तियों से उभरने वाली एकेश्वर वादी ("मुसलमान का एक खुदाई। कबीर का स्वामी रह्या समाई" । क० ग्रं० पृ० ६२६) धारणा का खण्डन शांकर वेदान्ती—आभासवाद, प्रतिबिंववाद, परिणामवाद एवं विवर्तवादी दृष्टान्तों और मान्यताओं के कारण हो जाता है । शांकर वेदांत के अनुरूप कबीर का चरमतत्व इसलिए नहीं है कि वह उभयात्म और उभयातीत नहीं हो सकता । शांकर सम्मत अद्वैता में सजातीय, विजातीय एवं स्वगत समस्त भेदों को निषेध है—वह निर्विशेष है—

कबीर की पंक्तियाँ शांकर अद्वैत वेदांत की परिधि में उभरने वाली चरमतत्व संबंधी रूप से एकरस नहीं हो सकती। वे स्पष्ट कहते हैं—

एक कहौं तौ है नहीं दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि[1] ॥
सर्गुण की सेवा करौ निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुण ते परे तहैं हमारा ध्यान[2]।
दरियाव की लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम्।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जी दुसरा किस तरह होयम् ॥
उसी का फेर के नाम लहर धरा
लहर के कहे क्या नीर खोयम्।
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्म में
ज्ञानकर देख माल गोयम्[3] ॥

ऐसा लो नहिं तैसा लो हैं केहि विधि कथौं गंभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरन्तर चित्त-अचित दोउ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर बातन कहा न जाइ लो[4] ॥

इस प्रकार अनेक पंक्तियों को उद्धृत कर उनके आलोक में यह कहा जा सकता है कि वे बार-बार उस तत्व को उभयात्मा और उभयातीत कहते हैं—शांकर वेदांत उभयातीत तो कह सकता है उभयात्मा नहीं कहा सकता। तांत्रिक मानते हैं कि शांकर अद्वैत तांत्रिक अद्वय का पूर्ववर्ती सोपान हो सकता है—कारण शांकर ब्रह्म में महामाया या चिन्मयी क्रिया शक्ति अविकसित है—अतएव वह शांत ब्रह्मवाद है—ज्ञानात्मक सत्ता का यहाँ पूर्ण विकास है—पर क्रिया शक्ति लुप्त है। तांत्रिक अद्वयवाद में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—दानों का समरसीकरण है अतः कबीर अथवा संतों के चरमतत्व को शांकर सम्मत मानने से बहुत सी असंगतियां शेष रह जायंगी। तांत्रिक अद्वय मानने से शांकर-वेदांत-सम्मत अद्वैत-परक उक्तियों की तो संगति लग ही जायगी—उसको आत्मसात् करते हुए उभरने वाली ज्ञानक्रियात्मक समरस अद्वयतत्व के रूप में

---

१. हिंदी का० नि० सं० (उद्धृत) पृ० १०७।
२. कबीर (कबीर वाणी) पृ० ३१७, पद १४८।
३. शब्दावली (कबीरदास बेलवेडियर—१९०७) शब्द २८।
४. कबीर बचनावली (अयोध्या सिंह हरिऔध) पृ० १३१–२, पद पृ० (उद्धृत)।

तंत्र सम्मत 'आभासवाद' के स्वीकार से रही सही असंगतियों का भी समाधान हो जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि शांकर वेदाँत में उस कुण्डलिनी[1] तत्व का कहीं कोई उल्लेख नहीं है । तांत्रिक वाङ्मय में वह चिन्मयी शक्ति का आत्मप्रसार के अनन्तर 'शष' अथवा 'उच्छिष्ट' रूप में जड़वत् प्रसुप्तप्राय रूप माना गया है। संत इस आत्म-शक्ति का विभिन्न तरीकों से उत्थान करते हैं और आत्मरूप से समरसीकरण करते हैं। इसकी संगति केवल तांत्रिकअद्वय से ही बैठती है । कबीर ने इस शक्ति को उसकी 'मौज' भी कहा है । वह नादमयी शब्दात्मिका शक्ति-तरंग मौज के रूप में उस निस्तब्ध समुद्रवत् गंभीर निःस्पंद तत्व से उठती-गिरती रहती है—इस मौज या लहर से उस दरियाव का अंतर है भी और नहीं भी । कबीर ने कहा ही है—

"दरियाव और लहर में भिन्न कोयम"
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जी दूसरा किस तरह होयम[2]"

इन सबके साथ कबीर ने एक पते की बात और कही है और वह यह कि—

"समझा होय तो शब्द चीन्है
अचरज होय अमाना ।"

—कबीर, पृ० २६५ ।

यदि पहले से उस तत्व का साक्षात्कार हो—तो शब्दों में—उक्तियों में उसे पहचान सकता है—अन्यथा असाक्षात्कारी अज्ञानी को तो केवल आश्चर्य हो सकता है—विश्वास नहीं ।

डा० पीताम्वर दत्त बड़थ्वाल ने विभिन्न दृष्टियों से विचार करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—"इस प्रकार निर्गुण संत सम्प्रदाय में तीन प्रकार का दार्शनिक मत दिखाई देता है जिन्हें मैंने वेदांत की शब्दावली का व्यवहार कर अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत के नाम से पुकारा है[3]" कबीर; दादू और सुंदरदास आदि उनके शिष्य, मलूकदास, मारी और उनकी परम्परा, जगजीवनदास, भीखा, पलटू, गुलाल— ये सब अद्वैती और विवर्तवादी हैं; (एकास्मिट्स) नानक और उनके शिष्य भेदाभेदी और सर्वात्म विकासवादी हैं (पैनेनथीटट्स) तथा शिवदयाल, तुलसी साहब, शिव-नारायण, चरनदास, बुल्लेशाह, बाबालाल, दोनों दरिया, प्राणनाथ और दीन दरवेश विशिष्टाद्वैती जान पड़ते हैं।"[4]

---

१. पा सा कुण्डलिनी सात्र जगद्योनिः प्रकीर्तिता । तंत्रालोक, तृतीय आन्हिक, पृ० २७७ ८
२. कबीर, पृ० २६५ (हिंदी ग्रंथ रत्नाकर १९५३) ।
३. हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १९[illegible] ।
४. वही, पृ० १९९–२०० ।

इस संदर्भ में डा० बड़थ्वाल का मत विचारणीय है। इसके पूर्व की इनके मत की सारासारता का विवेचन किया जाय—यह आवश्यक है कि अद्वैत वेदांत विशिष्टाद्वैत तथा भेदाभेद का अंतर और स्वरूप निर्धारित कर लिया जाय। शांकर अद्वैत मानता है कि 'जीव' और 'पर' का पार्थक्य कभी न था, न है और न होगा—यह अनादिकाल प्रवाहायात कर्म वैचित्र्य वश सोपाधि चेतन 'अथवा ईश्वर' द्वारा माया सृष्ट है। ब्रह्म का जगत् 'विवर्त' है, और माया का 'परिणाम'—ईश्वर का कर्तृत्व औपाधिक है और वह सृष्टि का उपादन नहीं निमित्तभर है। विपरीत इसके विशिष्टाद्वैतवाद में ब्रह्म सूक्ष्म चित् अचित् विशिष्ट है—अर्थात् शांकर ब्रह्म की भांति इस ब्रह्म में सजातीय और विजातीय भेद तो नहीं है—पर स्वगत भेद हैं। जीव एवम् जगत् नित्य हैं—प्रलय में सूक्ष्म तथा सृष्टि में स्थूल। पूर्वत्र अविभक्त तथा अपरतत्र विभक्त। अद्वैती के अद्वैत की भांति इनका ब्रह्मगुण हीन नहीं, अपितु गुणों का भंडार है। यह अवश्य है कि ये गुण हेय नहीं हैं। रामानुज भेद और अभेद—दोनों को सत्य मानते हैं और मानते हैं निम्बार्क भी यही—फिर भी दोनों में अंतर है। निम्बार्क के यहाँ भेद और अभेद—दोनों का एक ही महत्व है। पर रामानुज अभेद को मुख्य और भेद को गौण मानते हैं। इसीलिए एक द्वैताद्वैत है और दूसरा विशिष्टाद्वैत है। अनात्म विषय में आत्मबुद्धि ही अहंकार है—यही अविद्या है। इस अविद्या के कारण विवेकाग्रह वश अन्यथा समझ पैदा होती है और उससे जीव कष्ट भोगते हैं। एक अंतर यह है कि जिसे रामानुज ब्रह्म का शरीर कहते हैं, उसे निम्बार्क शक्ति की संज्ञा देते हैं।[1]

निम्बार्काचार्य के यहाँ भी परमात्मा का जीव और जगत् से—चित् एवं अचित् से—वद्ध और मुक्त प्रत्येक अवस्था में भेद भी सत्य है और अभेद भी। अंशात्मा जीव और परमात्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी। परमात्मा जगत् का निमित्त भी है और उपादान भी। सृष्टि के विषय में ये सत्कार्यवादी भी है और परिणामवादी भी। पर इनका परिणाम दूध और दही की भांति 'स्वरूप परिणाम' नहीं है—'शक्ति-विक्षेपात्मक परिणाम' है। इनके यहाँ माना जाता है कि 'सवात्मक और स्वाधिष्ठित' निजशक्ति को विक्षिप्त कर परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा अच्युत विषय जगत् के आकार में अपनी आत्मा को परिणत करते हैं। जिस प्रकार मकड़ी जलात्मना परिणत हो कर भी अविकृत रहती है—वही स्थिति यहाँ भी परमात्मा की भी है। जीव यहां भी सवांश है, और परमात्मा अंशी। विभाग सहिष्णु अविभाग ही जीव और ब्रह्म का परस्पर संबंध है। यहाँ ब्रह्म चित् अचित् से नित्य विलक्षण होते हुए भी

१. भारतीय दर्शन, २ पृ० ७५५, राधाकृष्णन्।

तदात्मक है। इस संक्षिप्त दार्शनिक उपस्थापन के अनन्तर संप्रति इसी निकष पर डा० बड़थ्वाल का वक्तव्य परीक्षणीय है।

कबीर की परतत्व विषयक धारणा को इन्होंने भी विवर्तवादी शांकर वेदांत के अनुरूप अद्वैत, निर्गुण एवं निर्विशेष कहा है—जो अन्यान्य उक्तियों के संदर्भ में संगत नहीं बैठता—यह अनेकशः कहा जा चुका है। शैवागमोक्त छत्तीस तत्व के अंतर्गत माया, प्रकृति सबका समावेश है—अतः शांकर वेदांत अथवा सांख्य परक आपाततः प्रतीत होने वाली सभी शक्तियों की संगति बिठाली जा सकती है—पर इन दोनों—शांकर वेदांत तथा सांख्य—से जिसकी संगति नहीं लग सकती—उसके लिए उक्त दोनों दार्शनिक पद्धतियों को आत्मसात् करने वाली अद्वयवादी तांत्रिक सिद्धान्त को मानना ही होगा।

पं० परशुराम चतुर्वेदी का कहना संगत लगता है—"जिस प्रकार इनके उसे 'जल' वा 'रामजल' कहने मात्र से इसका सहज स्वरूप भौतिक जलतत्व नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार उसे ही अन्यत्र इनके 'राम' शब्द द्वारा अभिहित करने से प्रसिद्ध अवतार दाशरथि राम का बोध नहीं हो सकता, न हम उसे कहीं अन्य स्थल पर इनके 'ब्रह्म' कह देने मात्र से ही निर्गुन परमात्मा तत्व मान सकते हैं। वह इनके अपने निजी अनुभव की वस्तु है जिसे ये स्वभावतः दूसरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं पाते और इन्हें विवश होकर इसे रहस्यमय तथा अकथनीय तक कह देना पड़ता[१] है। "गुरु-ग्रंथ साहिब में वर्तमान उनके एक पद से परतत्व के संबंध में तंत्र तथाथैत अद्वय स्वरूप स्पष्ट झलक जाता है। उसमें उन्होंने कहा है कि सद्गुरु की कृपा से शिव-स्थान में मेरा निश्चल निवास हो गया। यहाँ 'मेरा' सुरति है जो जीव का निर्मल रूप है और 'शिव' अनाहत शब्द या सार शब्द है—निश्चल निवास होना—शब्द या शिव का सुरति या जीव के साथ समरसीकरण ही है। ऐसी उक्तियों की संगति शांकर अद्वैत और वेदांत के आलोक में नहीं लगाई जा सकती।

(क) बड़थ्वाल ने यह सोद्धरण प्रदर्शित किया है कि कबीर, दादू, सुंदर दास, जगजीवन, भीखा और मलूक ने जीव और ब्रह्म को वस्तुतः एक ही माना है—उनको दो समझना भ्रम है। इनके विपरीत शिवदयाल, प्राणनाथ आदि अन्य संत उनके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा में अंशांशिभाव मानते हैं। नानक की धारणा का (आत्म-परमात्म संबंध के विषय में) पता नहीं चलता, हाँ उनके भक्तिभाव परक पदों से उन्हें स्पष्ट झलकता है कि नानक भी अशांशिभाव ही मानते हैं। अंशांशिभाव वालों में डा० बड़थ्वाल को साहमत्य नहीं दिखाई पड़ता। उनका विचार है कि बाबालाल तथा नानक तो अशंका अर्थ वस्तुतः अंश लेते हैं जबकि शिवदयाल और प्रायः अन्य सब संत अंश का अर्थ वस्तुतः अंश नहीं लेते, बल्कि अंश तुल्य लेते हैं। उनकी मुक्ति

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० १८६।

संबंधी धारणा इस बात का और स्पष्टीकरण कर देती है। इनके (नानकादि) अनुसार जीवात्मा परमात्मा में इस प्रकार घुलमिल जाता है कि जीवात्मा की कोई अलग सत्ता ही नहीं रह जाती। दोनों में जरा भी भेद नहीं रहने पाता। शिवदयाल का दृष्टिकोण भिन्न है। उनके अनुसार मुक्ति होने पर सुरत (जीवात्मा) की अलग सत्ता बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती, हाँ 'राधास्वामी के चरणों में उसे अनन्त चिन्मय जीवन अवश्य प्राप्त हो जाता है। वे सुरत की उपमा बूंद से और स्वामी की उपमा समुद्र से देते हैं। अपनी पुष्टि में डा० बड़थ्वाल ने यह भी कहा है कि शिवदयाल तथा उनके अनुयायी 'सुरत' का 'स्वामी' में 'समाना' नहीं 'धंसना' मानते हैं। उनके अनुसार प्राणनाथ की भी यही श्रेणी है। कारण, वे भी मानते हैं कि मोक्ष उस चिद्रूप लीला में सम्मिलित होकर सहायक होने का सौभाग्य प्राप्त करना है जिसमें 'ठाकुर' और 'ठकुराइन' अपने धाम में निरन्तर निरत हैं। इस प्रकार कबीर आदि के यहाँ व्यवहार और परमार्थ-उभयत्र आत्मा और परमात्मा का भेद नहीं है—अद्वैत है। नानक और बाबालाल आदि के यहां व्यावहारिक भूमिका पर भेद वस्तुत भेद है—'पर' और 'आत्मा' में अंशाशिभाव है जबकि निर्वाण दशा में जरा भी भेद नहीं। शिवदयाल और उनके अनुयायियों में जीवात्मा की चरमावस्था परमात्मा के साथ सभेद मिलन है।

(ख) अपनी स्थापना की पुष्टि में उन्होंने यह भी कहा है कि जहां कबीर का जगत् के संबंध में दृष्टिकोण विवर्तवादी है अर्थात् वे जगत् की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते, वहाँ अन्य संत यह मानते हैं कि जगत् वस्तुतः सत्य है। कारण देते हुए कहा गया है कि शिवदयाल आदि संतों ने सृष्टि के विकास क्रम का हवाला दिया है। साथ ही इन संतों की इस मान्यता का उल्लेख किया गया है कि वे—'मौज उठी रचना भई भारी" (शिवदयाल जी के शिष्य रायसाहब शालिग्राम) तथा—

आपिनै आपि साजियो, आपिनै रचियो नाऊं।
दुइ कुदरति साजिओ, करि आसन दिठो चाउ।

(नानक)—इन पंक्तियों द्वारा सृष्टि को साक्षात् परमात्मकृत मानते हैं—उनकी मौज का विलास स्वीकार करते हैं। यद्यपि माया का उल्लेख ये भी करते हैं—पर विवर्त वादियों के अर्थ में नहीं—अपितु परवर्तनशील और उत्पादविनाश के अर्थ में। सृष्टि को सत्य मानने में ऐकमत्य है—तथापि दोनों में यह अन्तर भी लक्षणीय है कि जहाँ नानक के उक्त पद से वे अभिन्न निमित्तोपादानवादी भेदाभेदी होकर सर्वात्मवाद की ओर झुकते हैं वहाँ शिवदयाल जगत् के उपादान को परमात्मा से भिन्न (राधा स्वामी से भिन्न) मानते हैं। यहाँ उपादान माया है और कर्ता निरन्जन—निमित्त दूसरा और उपादान दूसरा।

(ग) जीवन्मुक्त की अनुभूति की दृष्टि से भी देखें तो यद्यपि परमात्मा का दर्शन सर्वत्र सबको होता है, पर जहाँ भेदाभेदवादी जगत् को परमात्मा का व्यक्त रूप मानता है वहाँ अद्वैतवादी अध्यारोप मात्र।

इस प्रकार डा० वड़थ्वाल ने निम्नलिखित चार दृष्टियों से अपनी स्थापना दी है—

१. स्वरूप परक विशेषता ।
२. सृष्टि प्रक्रिया ।
३. साधन और निर्वाण का स्वरूप ।
४. जीवन्मुक्त की अनुभूति ।

डा० वड़थ्वाल की इस स्थापना से 'परतत्व' का जो तंत्र सम्मत अद्वयरूप स्थापन यहाँ उद्दिष्ट है—विरुद्ध पड़ जाता है । ऐसा मानने से परतत्व का स्वरूप एक ही संत साधना में भिन्न-भिन्न प्रकार का सिद्ध होगा । साधन-एक 'सुरतशब्दयोग' और साध्य का स्वरूप भिन्न ? एक ही सुरत शब्दयोग अथवा शब्द साधना जिस प्रकार कबीर में है, उसी प्रकार नानक और शिवदयाल में भी । उक्तियों में यत्र-तत्र प्रतीत होने वाली विभिन्नताओं से यदि लक्ष्यीभूत परतत्व का भेद सिद्ध किया जाने लगेगा—तब तो भयंकर अव्यवस्था होगी। स्वयं शिवदयाल और वाबालाल की सृष्टि प्रक्रिया में दिखाई पड़ने वाली विभिन्नताओं की डा० वड़थ्वाल ने उपेक्षा की है ।

स्वरूप निर्देश का जहाँ तक संबंध है—केवल जीव और आत्मा के बीच अंशाशि-भाव का उल्लेख इस बात का एकमात्र निर्णायक नहीं है कि ऐसा कहने वाले अद्वैत-जीव और परमात्मा में अभेद-वादी नहीं हैं । स्वयं 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी[1]' कहने वाले तुलसी को लोग अद्वैतवादी कहते हैं । प्रसंगात् कबीर में भी इस प्रकार की उक्तियाँ संभव[2] हैं। नानक की साधनावस्थागत भेदमयी भूमिका को अभेद-विरोधी रूप में उपस्थित करना नितान्त भ्रामक और असंगत तथ्य है। साधनाबेला में तो अद्वैती भी (कल्पित) भेद की बात करता है। कारण, विना भेद के भक्ति हो ही नहीं सकती । रही बात यह कि नानक और शिवदयाल सृष्टि को परमात्मा की साक्षात कृति कहते हैं—अतः वे सृष्टि सत्यवादी हैं और कबीर इनसे भिन्न—यह भी अमान्य है । मालिक की 'मौज' से सृष्टि की उत्पत्ति कबीर भी मानते हैं—रहा संसार—सो, उसके संबंध में अस्थिरता और बाधक का दृष्टिकोण सबका एक है। विकास क्रम का प्रदर्शन करना इस बात का अकाट्य पोषक नहीं है कि उसका उपस्थापक द्वैतवादी है। अद्वैतवादी भी पंचीकरण और त्रिवृत्करण प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं। यह भेद बताना कि शिवदयाल और नानक में कि एक जहाँ भेदाभेदी नानक जीवन्मुक्त दशा में सर्वथा अभेद की बात करता है वहाँ विशिष्टाद्वैती शिवदयाल आदि सम्पुज्यमुक्ति की बात करते हैं—अर्थात् भेद निर्वाण दशा में भी रहता है, ठीक नहीं । द्वैता-द्वैतवादियों के यहाँ भेद भी सदा रहता है ।

---

१. रामचरित मानस, पृ० ९५४ उ० का० ११७क द्वितीय पंक्ति ।
२. कबीर ग्रंथावली, 'कह कबीर इह रागु को असु', पृ० ३०१ ।

वस्तुतः भेदाभेदवादी और विशिष्टाद्वैतवादी में यह अंतर शास्त्र या दर्शन सम्मत है भी नहीं। भेद दोनों के यहाँ पारमार्थिक होना चाहिए—चाहे बद्ध दशा हो या मुक्त अंतर अभेद को लेकर है। भेदाभेदवादी दोनों ही दशाओं में भेदसहिष्णु अभेद मानेगा, विशिष्टाद्वैतवादी भी दोनों ही स्थितियों में भेद पर ही बल देगा। दर्शन की बारीकियों में जाने पर डा० बड़थ्वाल की स्थापना सेमर फल के रेशों की तरह उड़ जायगी।

यह मानना कि शिवदयाल के यहाँ राधास्वामी की इच्छा भर सृष्टि की होती है और निमित्त और उपादान भिन्न हैं और नानक के यहाँ जिसकी इच्छा है—वही निमित्त और उपादान भी—दार्शनिक दृष्टि से सर्वथा अग्राह्य है। तंत्र मत के अनुरूप परतत्व की इच्छा-राधास्वामी की इच्छा—ज्ञान क्रियामयी है। साथ ही इसी 'मौज' या 'इच्छा-शक्ति' में मायूरां रसन्यायेन सब कुछ सामाया हुआ है—सारा विकास और क्रम परत-दर-परत इच्छा के सृष्ट्युन्मुख होते ही आरब्ध हो जाता है। अतः जिन दृष्टियों से डा० बड़थ्वाल भेद करना चाहते हैं वे सर्वथा अग्राह्य हैं।

एक बात और जिसकी चर्चा विस्तार से साधन निरूपण परक अध्याय में की जायगी —यह कि राधास्वामी मत वालों के यहाँ 'राधा', 'धारा' 'मौज' 'सुरति' तथा 'जीव' —ये सब एक ही हैं और साधना के फलस्वरूप धारा का स्वामी से ऐक्य होना अनिवार्य और तय है। अतः वहाँ विशिष्टाद्वैती धारणा के अनुरूप परतत्व का स्वरूप निर्देश करना सर्वथा असंगत है। इसी प्रकार नानक के अनुयायियों का भी 'प्राणसंगली' की भूमिका में स्पष्ट कथन है—'विदित रहे कि शरीर, इंद्रिय, प्राण, मन रूप समुदाय संघात को एक ही काल में अपनी चेतना में चलाने वाली और इन सबकी क्रिया की अनुभाविक प्रकाशक निम्नरूपिणी शक्ति जो हमारे भीतर है—उसे 'सुरति' कहा जाता[1] है।" नानक मत के इस ग्रंथ में सुरतशब्दयोग को ही मुख्य मानकर कहा गया है कि यही निजरूपिणी शक्ति या सुरति का तुर्यातीत पद से संबंध हो जाया करता है।

परतत्व निर्णायक चर्चाएं राधास्वामी मत के ग्रंथों में जहाँ आई हैं—उनसे भी हमारा ही उद्दिष्ट पक्ष सिद्ध होता है। निर्वाण दशा का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा है—"जो बूंद सागर में मिल गई—सागर हो गई—इसी प्रकार हरि का जन हरि में मिल गया—एक हो गया।"[2] गुरु साहिब कहते हैं—

> "हरि हरिजन दोई इक, इहि विध विचार कछु नाहिं।
> जलते उपजै तरंग जिउ जल ही विषै समाहि[3]।"

---

१. संत मतप्रकाश, पृष्ठ ८२।

२. वही, पृष्ठ १०६।

३. वही।

तथा-- 'राधा आदि सुरत का नाम, स्वामी आदि शब्द निज धाम ।
सुरत शब्द और राधास्वामी, दोनों नाम एक रि जानी[1] ॥"

ये सब उद्धरण उसी राधास्वामी पंथ के हैं । इनसे क्या विशिष्टाद्वैत वादी धारणा की ही पुष्टि होती है । मूल मंतव्य के अनुसार ही 'धंसना' और 'समाना' क्रियाओं की व्याख्या समुचित है । एक बात और जीव और परतत्व की 'राधा' और 'स्वामी'-शक्ति और शक्तिमान् रूपको से रूपित करना विशिष्टाद्वैतियों के दास्यभाव के अनुरूप तो नहीं हैं—तांत्रिकों के नित्य श्रृंगार मग्न समरसीभूत परतत्व की तरह है । यदि कहीं सायुज्य की बात है भी, तो उसके अनुरूप परतत्व—राधास्वामी—की व्याख्या नहीं होगी, परतत्व के अनुरूप उसकी व्याख्या होगी। यह भी विचारणीय है कि इस पंथ में मूलतः तीन चित्, अचित् एवं ब्रह्म—तत्वों की जगह तंत्रों की भांति दो ही राधा-स्वामी -तत्वों का उल्लेख है । साथ ही इनमें से कोई जड़ या अचित् नहीं है । केवल एक या दो चार स्थानों पर जीव को अंश कह दिया गया, इतने मात्र से परतत्व का स्वरूप विशिष्टाद्वैतवाद सम्मत हो गया।

कबीर और नानक की परतत्व विषयक धारणा में एकमत्य इसलिए भी है कि दोनों ने ही परतत्व के लिए समान रूप से 'सुन्न' शब्द का प्रयोग करते हैं और 'शब्द' को उससे अभिन्न मानते हैं । नानक ने कहा है— .

"सुन्न शब्द ते उठै झंकार । सुन्न शब्द तें ओ अंकार[2]"

इसी प्रकार आदितत्व के रूप में कबीर ने भी शून्य का उल्लेख किया है—

"सहज सुँनि इकु बिरवा उपजी धरती जलहरु सोखिआ ।
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि इहु बिरवा देखिआ[3] ॥

कबीर ने यद्यपि यहाँ 'सुनि' और 'शब्द' की एकता पर बल नहीं दिया है, तथापि अन्यत्र उन्होंने सारी सृष्टि को शब्द से उत्पन्न माना है । उस दृष्टि से शब्द और सुंनि एक हो जाते हैं । राधास्वामी मत में तो स्पष्ट ही अनेकत्र शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है और उसे आदि तत्व के रूप में कहा गया है। इतना ही नहीं अन्य संतों के यहाँ भी 'शून्य' का प्रयोग आदि तत्व के रूप में होता रहा है। कबीर पंथियों की 'पंचमुद्रा' नामक ग्रंथ में समस्त तत्वों की उत्पत्ति शून्य से मानी गई है और अन्त में सभी का विलयन शून्य में माना गया है—

"आकाश शून्यते उतयत जानौ, बहुरि शून्य में जाय समानौ[4]"

---

१. संत मत प्रकाश ।
२. प्राणसंगली, पृ० २०२ ।
३. संत कबीर, पृ० १८१ ।
४. पंचमुद्रा, बोध सागर, पृ० १८७।२० ।

संतों ने शून्य का उल्लेख अनेक रूपों और स्तरों में किया है। आदितत्वास्थानीय शून्य 'सहज शून्य' है। अतः जहाँ आदि स्रोत के रूप में 'शून्य' का उल्लेख हो, वहाँ उसे सहज शून्य ही समझना चाहिए। दादू ने इसी अर्थ में कहा है—'सहज सुन्न मन राखिए इन दून्यू के माँहि[1]।" गुलाल साहब ने भी कहा है—'मन सहज सुन्न चढ़ि कार निवास'[2]। पलटू ने वीतरागी उसे कहा है जो शून्य समाधि में ध्यानमग्न होकर सहज का ध्यान करे—"शून्य समाधि में ध्यान को लाइकै, सहज का ख्याल सोई वीतरागी[3]।" कवीर पंथी साहित्य में भी 'सहज शून्य' को 'परम पद' या 'घर' माना गया है।

"सहज सुन्न में कीन्ह ठिकाना, काल निरंजन सबही ने माना[4]।"

'सहजसुंन' के अतिरिक्त 'सहज' शव्द के प्रयोग के माध्यम से भी इन संतों में एकरूपता ढूंढी जा सकती है और धर्मवीर भारती ने अपने 'सिद्ध साहित्य' में ढूंढा भी है।

मूलतत्व की 'द्वयात्मक अद्वय' रूप वाली तांत्रिक धारणा का नितांत सुस्पष्ट और निर्विवाद उल्लेख संत पलटूदास ने किया है देखिए—

सुरति सुहागिनी उलटि कै मिल सबद में जाय।
मिली सबद में जाय कन्त को बसि में कीन्हा।
चलेन सिव कै जोर जाय जब सक्ती लीन्हा।
फिरि सक्ती ना रही मिली जब सिव में जाई।
सिव भी फिर ना रहै सक्ति से सीव कहाई॥
अपने मन कौ फेर और ना दूजा कोई।
सक्ती सिव है एक नाम कहने को दोई।
पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय।
सुरति सुहागिनि उलटि के मिली सबद में जाय[5]॥

सुरति और शव्द में जो सुहागिनी का रूपक है—वह स्पष्ट ही तंत्र के नित्य श्रृंगार सम्मत समरस धारणा के अनुरूप है। संत गुलाल ने भी सुरति को सुहागिन कहकर उक्त तथ्य की पुष्टि की है।

"सुरति सुहागिन करै रसोई नाना भाँति बनाय[6]।"

इस प्रकार चाहे कवीर के अनुयायी हों या नानक और शिवदयाल—सभी सुरति को

---

१. दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० १७०।
२. गुलाल साहब की बानी, पृ० ५१।
३. पलटू साहिब की बानी, पृ० २८।
४. निरंजन बोध, बोधसागर ७, पृ० ३।
५. पलटू साहब की बानी, १ पृ० १०१।

६. गुलाल साहब की बानी, पृ० ३७।

'शक्ति' या 'जीवात्मा' मानते हैं और 'स्वामी' या 'शब्द' से उसका समरसीकरण करना चाहते हैं जिससे परतत्व का स्वरूप निर्विवाद रूप से तंत्र सम्मत ठहरता है। नानक के नाम से पंथ में प्रख्यात प्राणसंगली की प्रस्तावना में स्पष्ट ही 'सुरति' को 'शक्ति' कहा गया है—राधास्वामी 'सुरति' को 'राधा' या 'शक्ति' मानते ही हैं और डा० वड़थ्वाल के ही अनुस्वार कबीर के अनुयायी पलटू स्पष्ट ही सुरति को शक्ति कह कर उसे शब्द शिव से एकरस कह रहे हैं। संत प्राणनाथ का जो उदाहरण दिया गया है—डा० वड़थ्वाल के द्वारा—उसका विश्लेषण भी तंत्रमत के अनुसार किया जाय तो राधा या ठकुराइन शक्ति हैं और ठाकुर शक्तिमान्—दोनों का शृंगार उनकी नित्य सामरस्यमयी स्थिति ही है। राधा ह्लादिनी निजी अन्तरंगा शक्ति है और ठाकुर शक्तिमान्। जीवात्माएं उसी मूल ह्लादिनी निजी शक्ति की प्रतिच्छाया है—जो उस शृंगार में अपनी काम्य और अतृप्त शुद्ध वासना की पूर्ति के निमित्त पृथक् जान पड़ती हैं। यह सब उसी नित्य समरस परतत्व की आनंदेच्छा के विभिन्न रूप हैं—उनसे कोई फर्क नहीं पड़ता। प्राणनाथ की उक्त धारणा पर स्पष्ट ही वैष्णवागम का प्रभाव है।

अक्षर अनन्य भी इसी संत परम्परा में हैं और उन्होंने तंत्र सम्मत परतत्व विषयक धारणा का सर्वाधिक स्पष्टीकरण किया है—

"विश्व सकल सिव शक्ति महं सूच्छम रूप समूल।
ज्यों तरुवर के बीज महँ डार पात फल फूल[1] ॥"

श्री सिव सक्ति प्रभाव सुनि नजर न आवत और।
ज्यों न तरैयाँ देखिए दरस सूर सिरमौर[2] ॥

गुरु सब्दहिलौ लाइये जानि यहै सब ठौर।
कैसो वाको रूप है सुनो मूच सिरमौर[3] ॥१५॥

निर्गुन विचारैं ताको निर्गुन निरीहनाथ,
सर्गुन विचारै ताको सर्गुन गुनै रहै।
जोति से विचारै ताकों जोति है प्रकास करै,
सुन्त से विचारे ताको सुन्नमय जैसे है।
दूरि के विचारै ताकों दूर ही अनन्य मनै,
आपु में विचारै ताको आपु ही में वैसे है।
वे तो सिव सक्ति सर्व सक्ति सर्वगति नाथ,
जैसे ही को तैसे आपु जैसे ही के तैसे हैं[4] ॥१६॥ पृ० १७।

---

१. अक्षर अनन्य, पृ० ४२४।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० ३५।
४. वही, पृ० ४२४।

जोति न सुन्न न निर्गुन सर्गुन देविन देव कहौं किहिलाच्छिन
चेतन शब्दमयी धुनि मूरति, जानत जाहि न वाम न दच्छिन ।
जाग्रत और सखोयति की, लिज संधि बिषै मन वंधि ततच्छन ।
'अक्षर' बानी अनाहद की धुनि, जोवत सो सखग्यविच्छन[1] ॥६॥

और देखिए—

"आदितत्व अद्वैत पद जाने दुतिय न उक्ति ।
द्वै आख्या करि कहत तिहि, नाममंत्र सिव सक्ति ।
सिव कहिमत कल्यान सो जाकौ नास न होय ।
सक्ति कहत चैतन्य पद, समरथ करता सोय ॥
सक्ति कहौ कै सिव कहौ कारन वहै निदान ॥
तत्व एक सिव सक्ति निज आख्या एक प्रमान ॥
तत्व एक सिव सक्ति निज निर्गुन अरु गुन खानि ।
तिन्हीं ते तिरगुन भये, सो कत कहौं बखानि[2] ॥—पृ० १११

मानते ये भी हैं और सन्तों की भांति—

सुरति लीन गुरु सब्द महँ तब सखाय महात्त[3]—पृष्ठ १२६

इस प्रकार अक्षर अनन्य ने तंत्र सम्मत परतत्व के शिव शक्तिमय द्वयात्मक अद्वय का ही स्पष्टीकरण नहीं किया, उसी को आदि तत्व नहीं कहा—वल्कि यह भी कहा कि संतों का सुरति-शब्द ही शक्ति शिव है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि वह तत्व जैसा है वैसा ही है—यह तो साधक की भावना है जो वाँछित रूप में उसे अनुभव करती है। वह निर्गुण भावक के लिए निर्गुन, सगुणभावक के लिए सगुण, ज्योतिभावक के लिए ज्योति, सन्नभावक के लिए शून्य या सुन्न, वाहर पाने वाले को वाहर और भीतर पाने वाले को भीतर अपरोक्ष होता है। जैसे को तैसा दिखाई पड़ता है—स्वयं वह जैसा है वह वैसा ही है। इस प्रकार जितना भी विचार करें—संतों का चरमतत्व तंत्रसम्मत द्वयात्मक अद्वय रूप ही सिद्ध होता है—क्योंकि उससे सवकी संगति है—उसमें सवका समावेश है। इस सत्य को लक्षित न करने का ही परिणाम है एकत्र डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी को स्वीकार करना पड़ता है कि कवीर के निर्गुण राम में और वेदाँतियों के पारिभाषिक निर्गुण ब्रह्म में मौलिक भेद[4] है। पं० अम्वा प्रसाद श्रीवास्तव को एक तरफ शैव मतानुयायी और दूसरी ओर विहंगम मार्गी सुरतशब्द-योगी संत कहना पड़ता है।

---

१. अक्षर अनन्य पृष्ठ १६ ।
२. वही, पृष्ठ १११ ।
३. वही, पृष्ठ १२६ ।
४. कबीर, पृ० १४२ ।

श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव ने इन्हीं अड़चनों के कारण एक तरफ अक्षर अनन्य को शैवमतानुयायी भी कहा है और दूसरी ओर विहंगम मार्गी और सुरतशब्दयोगी। यद्यपि इन सबके साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से मान लिया है—"अक्षर अनन्य शिव शक्ति के उद्वय रूप को ही परम तत्व के रूप में स्वीकार करते थे, अतएव जहाँ भी उन्हें उसके प्रति संकेत करने की आवश्यकता हुई, उन्होंने शिव शक्ति शब्द का ही प्रयोग किया[1] है।"

संत सुंदरदास और अक्षर अनन्य—दो ऐसे साधक के अतिरिक्त पढ़े-लिखे भी संत हैं जो परतत्व को निर्विवाद रूप से (कण्ठरवेण) द्वयात्मक अद्वय के रूप में स्वीकार करते हैं। अक्षर अनन्य का उल्लेख तो ऊपर किया ही जा चुका है, उनके शोधी का भी अभिमत दिया जा चुका है। दूसरे शोधी हैं—डा० बाबूराव जोशी, जिन्होंने 'संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप'—शीर्षक अपने शोध प्रबंध में संत सुंदरदास पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा है—"उनके अद्वैतवाद पर कहीं-कहीं तन्त्रमत का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। तंत्र मत के अनुसार शिव और शक्ति दो होते हुए भी उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार एक चने के छिलके में दो दालें[2]। सुंदरदास ने कहा भी है—

जैसे कोई अर्धनारी नटे सुर रूप धरे
एक बीज हूँ ते दो दालि नाम पाए हैं
तैसे ही संदर वस्तु ज्यों है त्यों ही एक रस[3]

कश्मीरी अद्वयवादी शैवागम में ठीक यही बात और यही दृष्टान्त भी दिया गया है। सृष्ट्युन्मुख परतत्व उस अंकुरणोन्मुख उच्छूनावस्थ चने की तरह हो जाता है—जो ऊपर से एक रहते भी भीतर से द्विदल लक्षित होने लगता है। उसी संदर्भ में जोशी जी का यह भी कहना है—"एक अन्य स्थल पर भी ब्रह्म और जगत् के संबंध पर उन्होंने तन्त्र दर्शनानुकूल विचार प्रकट किए हैं। तंत्र मत का कहना है कि जिस प्रकार अग्नि और अग्नित्व और फूल व सुगन्ध क्रमशः अग्नि और पुष्प के सदृश सत् रूप होते हैं उसी प्रकार शिव में अन्तर्निहित रहने वाली जगत सत्ता शिव रूप ही मानी जायगी। सुंदरदास भी यही बात कहते हैं—

ब्रह्म में जगत् यह ऐसी विधि देखियत,
जैसी विधि देखियत फलदी महीर में[4]।"

१. अक्षर अनन्य, पृ० १६०।
२. पृष्ठ ३१३, ३१४।
३. सुंदर विलास, अद्वैत ज्ञान को अंग १६ पृष्ठ १२६।
४. संत काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, पृष्ठ ३१४।

डा० जोशी बावूराव ने विभिन्न संतों के उद्धरणों के साक्ष्य पर परोक्षसत्ता का जो स्वरूप निर्धारित किया है—साथ ही औरों के मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है—उन सबसे यह और स्पष्टतर हो जाता है कि शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप संतों की परमतत्व विषयक धारणा एक रूप नहीं बैठती । कहीं तो वे शंकर से ऐकरूप्पन पाकर औपनिषद परिवेश में पहुंच जाते हैं[1] और कहीं कोई रास्ता न देखकर द्वैताद्वैत विलक्षण कह डालते[2] हैं—कभी-कभी डा० मोती सिंह के साथ दार्शनिक दृष्टि से इसे भावमूलक अद्वैतवाद कहना चाहते हैं[3] । यह शब्द शंकर के ज्ञान मूलक अद्वैतवाद से भिन्नता प्रदर्शित करता है । शंकर ज्ञानमार्गी थे और संत भाव या रागमार्गी । विवेचकों की ये सारी अड़चनें ताँत्रिक स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में संगत बैठ जाती हैं । प्रतिबिंबवाद, आभासवाद, विवर्तवाद के मायावादी दृष्टान्तों का संत साहित्य में उपलब्ध प्राचुर्य यद्यपि शंकर के अद्वैतवाद की ओर शोधी को उन्मुख करता है तथापि इनकी संगति भूमिकाभेद से लगाई जा सकती है । अद्वैत दृष्टि संपन्न ताँत्रिक भी परमेश्वर की स्वाभाविक स्पंदमयी शक्ति को 'परावाक्' के नाम से भी जानते हैं । जैसे वेदान्त में अविद्या के दो कार्य हैं—आवरण तथा विक्षेप ठीक उसी प्रकार यह परावाक् भी एक तरफ स्वरूप का आच्छान्न करती है और दूसरी ओर विकल्प का प्रकटीकरण । विकल्प का प्रकटीकरण उसी 'माया प्रमाता' के समक्ष होता है जिसने आत्मस्वरूप का विस्मरण कर लिया है । इस प्रक्रिया में कंचुकों के अन्तर्गत एक तरफ भेदकरी 'माया' तो मानी ही गई है दूसरी ओर सांख्य के समस्त तत्व प्रायः ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए हैं । अद्वयवादी ताँत्रिक मत में सांख्य की सारी प्रक्रिया तो समाहित की ही गई है, माया का धुर और विज्ञानाकल की परिकल्पना ने शांकर मायावाद और शांत ब्रह्मवाद का भी समावेश कर लिया है । गुण में निरगुण और निरगुण में गुण के समावेश और संगति का एक मात्र निर्बाध मार्ग तंत्रसम्मत मार्ग ही है । पं० बलदेव उपाध्याय की भी धारणा है—"हिंदू तंत्रों का आदरणीय विचार तथा सिद्धान्त हिंदी के संत साहित्य में बहुशः गृहीत, आहत तथा सत्कृत होकर अध्यात्ममार्ग के साधकों का विशेष उपकार करता आया है ।[4]"

वास्तव में जो द्वैताद्वैत विलक्षण है वह 'समतत्व' ही है—कोई अतिरिक्त वाद नहीं । कहा ही गया है—

"अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्वं न जानन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्[5] ।"

---

१. संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप, पृष्ठ ३४० ।
२. वही, पृष्ठ २०४ ।
३. वही, पृष्ठ ३४० ।
४. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, प्रथमखंड, पृष्ठ ५२६ ।
५. 'अवधूत गीता'—'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में उद्धृत, पृ० [illegible] ।

अनुभवियों की विलक्षण उक्तियों के माध्यम से विचारक उस मूलतत्व को कभी अद्वैत: और कभी द्वैत कह दिया करते हैं—लेकिन ऐसा वे ही कहते हैं जो द्वैताद्वैत विलक्षण 'सम' तत्व को नहीं जानते, जिसका संकेत उपनिषदों में भी 'निरंजन: परमं साम्य[1] मुपैति' के द्वारा किया गया है। रहा, भाव मूलक अद्वैतवाद—यह कोई विचार-प्रतिष्ठ दार्शनिक शब्द नहीं है—ऐसे शब्दों की कल्पना तन्त्र सम्मत द्वयात्मक अद्वयवादी धारणा के अज्ञान का परिणाम है।

डा० बाबूराव जोशी ने एक शब्द और गढ़ा है—सहज अद्वैतवाद। उनका कहना है—"अत: यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक पद्धतियों के सिद्धान्त उनकी (कबीर की) प्रतिमा के साँचे में ढलकर सहज अद्वैतवाद के रूप में निखर उठे थे[2]।" इसके बावजूद जब वे यह स्वीकार करते हैं—"कबीर का राग योगियों और ताँत्रिकों की ब्रह्म भावना से प्रभावित है और वह सगुण निर्गुण उभयात्मक है—अद्वैत-वाद की भांति वह शुद्ध निर्गुण नहीं[3] है।" तब अनायास तंत्र सम्मत अद्वयवाद आ जाता है। अन्य[4] उक्तियों से भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१. गरीबदास भी मानते हैं—
"समतारूपी रामजी सबसो येके भाइ" गरीबदास की वाणी, पद १४, पृ० ५५।

२. संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप, पृ० १९९।

३. वही, पृ० २०२।

४. सहजोबाई का कहना है—

(क) निराकार आकार सब, निर्गुन और गुनवंत।
है नाहीं सुँ रहित है सहजो यों भगवंत ॥१॥
नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कछु ब्रह्म है, हरि पर गट हरि गूप ॥२॥
—संतबानी, संग्रह, भाग पहला, पृ० १६५।

(ख) शिव सक्ती के मिलन में यो को भयो अनन्द।
यो कौ भयौ अनन्द मिल्यौ पानी में पानी—
—पलटू साहब की बानी, पहला भाग, पृ० १०४।

(ग) द्वैत करि देखै जब द्वैतहि दिखाई देत
एक करि देखै तब, उहै एक अंग है—
—सुंदर विलास, पृ० १३०।

(घ) सिवके संग सक्ति गुन गावहिं उमंगि उमंगि रह पाई ॥सब्द २१।
—गुलाल साहेब की बानी, पृष्ठ १०।

(ङ) "सीव अरु सक्ति की मिलन साँची"
—भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ५३।

शब्द तत्व

निर्गुण संत साहित्य में परोक्ष सत्ता का दार्शनिक दृष्टि से स्वरूप स्थिर किया जा चुका है। यह देखा जा चुका है किसी ने उसे द्वैताद्वैत[1] विलक्षण कहा है और किसी ने उसे भावना या भावमूलक[2] अद्वैत तत्व की अभिधा से उल्लपित किया है। कतिपय मनीषियों ने यह भी बताया है कि संतों की परोक्षसत्ता विषयक धारणा को सहज अद्वैत शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। भीखा साहब ने तो वेदाँत का नामोल्लेख तक किया है।

'जेहि विधि कहत वेदांत, संत मुख सो कहि करत निवेरा[3]'

—भीखा साहब की वानी, पृ० १८

अन्य कतिपय चिन्तक तो द्वैत की भूमियों तक उतर गए हैं और द्वैताद्वैत तथा विशिष्टा-द्वैत की बात करते हैं। अस्तु, पूर्ववर्ती अध्याय में तय तो यह किया गया है कि समूचे संदर्भ और तद्गत उक्तियों को ध्यान में रखते हुए संतों का चरम प्रतिपाद्य और स्वरूप आगम सम्मत 'द्वयात्मक-अद्वय' ही ठहरता है। रामचन्द्र शुक्ल का यह कहना कि संतों की उक्तियों में कोई दार्शनिक व्यवस्था ढूंढ निकालना असंभव है—सर्वथा और पूर्णतः तो ग्राह्य नहीं है। उपनिषदों में ही दार्शनिकों ने न जाने कितनी व्यवस्थाएं ढूंढ निकाली हैं। आलंवार संतों की वानियों को भी आचार्यों ने वेद के समकक्ष महत्ता दी है और उसमें संगति निकाली है। वस्तुतः सत्य है 'अनुभूति' और शब्द उसे पूर्णतः व्यक्त कर नहीं सकते—अतः बुद्धि के लिए जो भी सामग्री मिलती है—वह उसी में एक व्यवस्था का वृत्त वना देती है — असीम को ससीम व्यवस्था में बाँध डालती है। शुद्ध अनुभूति जिस प्रकार औपनिषद और आलवार साहित्य के मूल में है—ठीक उसी प्रकार संत साहित्य के मूल में भी कवीर वीजक की अद्वैतपरक आद्योपाँत व्याख्या करने का प्रयत्न रीवाँ नरेश श्री विश्वनाथ जू महाराज ने किया ही है। अस्तु, कहने का अभिप्राय यह है संतों की उक्तियों में यथासंभव दार्शनिक व्यवस्था दिखाई जा सकती है—यदि दिखाने के लिए प्रयत्न किया जाय। प्रस्तुत प्रयत्न उसी दिशा में है।

परोक्ष सत्ता के लिए इन संतों ने पूर्वागत तमाम संज्ञाओं का प्रयोग किया है। संज्ञाएं चाहे जितनी वैविध्य सम्पन्न हों, पर अर्थ संवंधी धारणा एक ही है—अतः

---

१. संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप, पृ० २६६।
२. वही, पृ० २६६।
३. हि० का० नि० सं०, पृ० १४७।

कोई अंतर नहीं पड़ता । पूर्ववर्ती अध्याय में केवल इस पक्ष पर बल दिया गया है कि दार्शनिक दृष्टि से इन की परोक्षसत्ता विषयक धारणा किस कोटि की हो सकती है और उसका स्वरूप क्या होगा ? इस अध्याय में संत साहित्य के अंतर्गत उपलब्ध कतिपय ऐसी पंक्तियों से उत्पन्न समस्या पर विचार किया जायगा—जिनसे परोक्षसत्ता के शब्दात्मक या अशब्दात्मक अथवा शब्दाती होने की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ संत कबीर का कहना है—"शब्द निरंजन राम नाम साँचो।[१] —अर्थात् उनका राम-नाम निरंजन शब्द ही है । उनका अथवा निर्गुण संत धारा की साधनगत असाधारण अथवा व्यवार्तक प्रक्रिया जिसका नाम 'सुरत शब्द योग' है—भी तो उपास्य या चरम-तत्व को शब्द स्वरूप ही मानती है । संतों ने इस संदर्भ में 'सहज धुनि,[२] 'धुनि[३]' 'नाम[४]', 'ओंकारु'[५]—आदि शब्दों का प्रयोग किया है। सिख मत उसे ही 'सतिनाम'[६] कहता है । गुरु नानक ने स्पष्ट ही कहा है—'एकंकारु अवरु नहिं दूजा नानक एक 'समाई'[७]—वह ओंकार कोई अन्य नहीं, केवल वही सारी सृष्टि में समाया हुआ है। उन्होंने ओंकार से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति मानी[८] है। गुरु अंगद [९]देव, अमर[१०] दास, रामदास; अर्जुनदेव[११] की पंक्तियों से भी इसकी पुष्टि होती है। उन लोगों ने भी माना है कि परोक्षसत्ता शब्दात्मक है, वही नानक का भी स्वामी है, वही निरंजन है । ओंकार ही सृष्टि का मूल है—इसमें इन लोगों की भी सहमति है । गुरु रामदास

---

१. पद १४२, पृ० १३४ कबीर ग्रंथावली ।
२. वही, १५५, पृ० १३८ ।
३. "धुनि ही के ध्यान में मगन लवलीन रहे", अक्षर अनन्य, पृ० ९ ।
४. नाम अनादि एक को एक, भीखा साहब की बानी, पृष्ठ २१ ।
५. आदि शब्द ओंकार उठतु है, वही, पृष्ठ १६ ।
६. गुरु ग्रंथ साहिब (तृतीय संचय) पृ० ७२१ ।
७. गुरु ग्रंथ साहिब, पृ० ९३० (तृतीय संचय) ।
८. ओअंकारि ब्रह्म उतपति । आअंकारु कीया जिनि चिति ।
आ अंकारि सेल जुगभये । ओअंकारि वेद निरमए । गु० ग्र० सा० पृ० ९२९–३० ।
९. जोग सबदं गियान सबदं वेद सबदं ब्राह्मणह ।
खत्री सबदं सर सबदं सूद्र सबदं पराकृत ह ।
सख सबदं एक सबदं जे को जाणै भेद ।
नानक ताका दासु है सोइ निरंजन देउ ॥ वही, पृ० ४६९ ।
१०. ओ अंकारि सम सृष्टि उपाई । समुखेल तमासा तोरि बड़िआई ।
हरि जिउ सदा धिआइ तू गुरमुखि एकंकारु ॥ वही ।
११. एकम एकंकारु प्रभु करउ वंदना धिआइ । वही, पृ० २९६ ।
ओ अंकारि उतपाती । कीआ दिनसु समराती ॥ वही, पृ० १००३ ।

तो परोक्षसत्ता और सद्गुरु को पर्याय मानते[1] हैं। उनका सद्गुरु निराकार, निर्गुण तथा सर्वव्यापी है। किसी किसी ने गुरु को 'धुनि'[2] रूप ही माना है। कभी कभी इसी संदर्भ में 'अनहद' को भी 'शब्द'[3] से एक कर दिया जाता है। गुरु अर्जुन दास की धारणा है कि दसम द्वार में परब्रह्म का वास है और इसी से अनाहत शब्द[4] है।

पारब्रह्म संप्रदाय में दादू प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका भी अभिमत है कि जहाँ से ज्ञान की लहर उठती है वहाँ से तो वाणी का प्रकाशित होना संभव है, पर जहाँ पर अनुभव की धारा जगी रहती है वहाँ तो ध्वन्यात्मक शब्द ही है। यहीं निरंजन का वास है। वे मानते हैं कि ओंकार ही तन एवम् मन का मूल[5] है। संत मलूकदास की भी स्वीकृति है कि शब्द ही ब्रह्म[6] है। अक्षर अनन्य ने शब्द ब्रह्म की आराधना का महत्व बड़े ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उन्होंने माना है कि उपासक सुरति शब्दात्मक गुरु में लीन हो जाती[7] है। उनकी दृष्टि में गुरु का शब्द ज्ञानमय शब्द ब्रह्म[8] है। वेद का समस्त पराक्रम इसी की निरूपणा में है। नाद वेद के आदि बीज के रूप में भासमान शिवनाद की पीठिका पर ही अनहदवानी की स्थिति मानी[9] गई है। जिस 'धुनि' के साक्षात्कार के निमित्त योगी लोग निरन्तर जागरूक रहते हैं—उसे योग माया, शक्ति या आदि शक्ति हरिहराराध्य ब्रह्म या शब्द ब्रह्म कहा

---

१. हरि मेल्हु सतिगुरु दइया करि मनि बसे एकंकारु। वही, पृ० १३१४।
२. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग २, पृ० ४५।
३. अनहद्द बाजै निजधरि वासा।
   नामि रते घर माँहि उदासा। वही, पृ० १६१।
४. अनहद सबद दसम दुआर बजिओ वही, पृष्ठ १००२।
५. "ज्ञान लहर जहँ थैं उठे वाणी का परकास।
   अनभै जहँ थै ऊपजै सबदे किया निवास।
   सो घर सदा विचार का जहाँ निरंजन वास।
   तहँ तू दादू खोजि ले ब्रह्म जीव के पास।"
   —दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ४८।
६. शब्द ब्रह्म का करै विचार। सोई चलै जियत होइ छार॥
   —मलूकदास की बानी, उपदेश, शब्द ५ पृ० १७।
७. सुरति लीन गुरु सब्द महँ—(सिद्धान्तबोध) अक्षर अनन्य।
८. गुरु कोसबद ग्यान रूप है सबद ब्रह्म।
   सकल सिद्धान्त वेद वाही के अस्थ में॥वही (ज्ञान योग) पृष्ठ ६१।
९. भासै सिवनाद नादवेदनि को आदि बीज।
   जाही सौं सिद्ध होत अनहद बानी है।

जा सकता है अथवा कहा गया[1] है। उन्होंने इस 'धुनि' को शब्दमयी तथा चैतन्य स्वीकार किया है[2]।

राधा स्वामी मत के अनुयायियों की तो दृढ़ धारणा है—'धुनि और धुन एक ही है। सुरत ही इस निजरूप शब्द की प्रत्यभिज्ञा करती है। शब्द और सुरत के एकीकृत या समरसी भूत हो जाने पर ध्वन्यात्मक नाम ही नाम रह जाता[3] है।' संत मत प्रकाश (भाग १) में कहा गया है—'सतगुरु का स्वरूप शब्द[4] है।' सतगुरु का स्वरूप धुन है वह अनहद धुन मनुष्य के भीतर है। जब तो द्वारों को छोड़कर आत्मा तुरीय पद में पहुँच जायगी, तो वहाँ धुन मिलेगी[5]।' 'गुरु का शरीर नहीं होता, गुरु शब्द है। शरीर तो केवल दिखाने के लिए धारण किया[6] है।' बिहार वाले दरिया साहब का अभिमत है कि जिस प्रकार तिल फूल में वास समाया हुआ है उसी प्रकार शब्द संजीवनी की भांति सर्वत्र व्याप्त है[7]। धनी धरम-दास का अनुभव है कि सुरत जहाँ जाकर समा जाती है—वह सार शब्द है। अतः मूल शब्द की पहचान नितान्त आवश्यक[8] है। संत दूलनदास के विचार से वह स्वामी स्वयं प्रकाश शब्दात्मा ही है जिसके चरणों में सीस झुकाना[9] है। संत चरनदास के अनुसार ब्रह्म ओंकार[10] ही है। पलटूदास तो कहते ही हैं कि उस

---

१. ब्रह्मकरि मानियै तो वहै है सबद ब्रह्म हरिहर ब्रह्म जाके ध्यान अनुरागे हैं सक्ति करि जानियै तौ वहै आदि सक्ति वही नहीं जोग माया जाकी धुनि जोगी जाने है—अक्षर अनन्य, पृ० ९७।

२. 'चेतन सब्दमयी धुनि मूरति', अक्षर अनन्य, पृष्ठ ९८।

३. धुनी धुन एक कर जानो। सुरत से शब्द पहचानो।
शब्द और सुरत भए एका। नाम धुन आत्मक देखा।

४. संतमत प्रकाश, भाग १, पृष्ठ ११।

५. वही, पृष्ठ १२४।

६. सारवचन वार्तिक, भाग १।

७. दरिया साहब (बिहार वाले), पृ० १२२ दरिया सागर।
जैसे तिल में फूल जो, वास जो रहा समाय।
ऐसे सबद सजीवनी, सब घर सुरति दिखाय ॥१॥
"मूल—शब्द निज सार" वही, पृ० २३।
'सुरति समानी सार सब्द में", धरमदासजी की बानी, पृ० २।

८. मूल सब्द चीन्हे बिना जिवजम ले जाई, वही, पृष्ठ १०।

९. सबद सरूपी स्वामी आप बिराजैं, सीस चरन में धरिया।
दूलनदास जी की बानी, पृष्ठ ६।

१०. नाम ब्रह्म का है नहीं वह तो है ओंकार।
अनहद शब्द अपार दूर सुँ दूर है।
चेतन निर्मल सुख नेह भरपूर है ॥१॥

शब्द को पकड़ लो जिसने तुम्हें पैंदा किया है उनकी दृष्टि में शब्द ही मूल और शब्द ही शाखा है और कुछ है ही नहीं। 'कवीर बीजक' का तो उद्घोष ही है— "जो चाहो निज तत्व को तो शब्दहि लेहु परख।'

इस प्रकार संत साहित्य से अनगिनत उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) मूल तत्व शब्द है। वही ओंकार है। वही शब्द ब्रह्म है, आदि शक्ति है, हरिहराराध्य; वेद प्रतिपाद्य आदि तत्व है।

(ख) सद्गुरु और शब्द तत्वतः एक ही हैं—सुरति अथवा चित्त वृत्ति या जीवात्मा वही समा जाता है।

(ग) शब्द ही सृष्टि का मूल है और स्वयंम् सारी सृष्टि शब्दात्मा है।

(घ) उसे (शब्द को) ध्वन्यात्मक माना गया है। इस शब्द को कभी-कभी 'अनहद' भी कहा गया है।

जहाँ उक्त संतों के साक्ष्य पर एक ओर 'शब्द' के विषय में ये निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं वहीं निम्नलिखित अन्य पंक्तियों के साक्ष्य से यह भी कहा जा सकता है कि मूलतत्व 'अनामा' है। उसकी संज्ञा 'शब्द' नहीं हो सकती—वह सृष्टिक्रम में व्यक्त परवर्ती 'रूप' का नाम है।

संतों ने निज रूप अथवा निज देश का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है कि उस देश में चाँद, सूर्य, दिवस, रजनी—कुछ भी नहीं है। वहाँ ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की गम नहीं है, वहाँ कोई कर्ता नहीं, क्रिया नहीं, लोक वेद नहीं, पवन-पानी नहीं। शेष के लिए वह अगम्य है, शारदा वहाँ पहुँचने से पहले ही थक गई। ज्ञान, ध्यान, ब्रह्म ज्ञानी—किसी का भी वहाँ अस्तित्व नहीं है। पाप-पुण्य, स्वर्ग एवं नरक की तो वात ही व्यर्थ है। यहाँ तक कि वहाँ न सुरत की ही पहुँच है और न शब्द की ही—तीन गुणों का तो कहना ही क्या—उनकी तो वहाँ गंध भी नहीं है। खंड अखण्ड तथा सीमा और असीम की चर्चा उस देश के संवंध में

निःअच्छर है ताहि और निःकर्म है।
परमातम तेहि मगनि वही परब्रह्म है ॥२॥

चरनदासजी की वानी, पहिला भाग, पृष्ठ २६।

भीखा साहव की बानी :

१. "आदि शब्द ओंकार उठतु है"—पृ० १६।
नाम अनादि एक को एक। भीखा सब्द सरूप अनेक ॥ पृष्ठ २१।

२. धुंधूकार सब्द सुन माहीं। पारब्रह्म पर मातम भाई।
हाथरस वाले तुलसीदास की ये पंक्तियाँ हैं–जिसे आगे कहौ कहाँ है मूला का उत्तर रूप में कहा गया है। पृ० १३३।

निरर्थक है। हद अथवा अनहद वाणी भी वहाँ नहीं है। यहाँ तक कि वहाँ सुन्न भी नहीं है। वस्तुतः संतों की बात संत ही जान सकते हैं।[१] वस्तुतः मूल तत्व निरपेक्ष है—फलतः वह वागगोचर है, सापेक्ष बोध पर्यवसायी शब्दराशि की सामर्थ्य के परे है। मारवाड़ वाले संत दरिया ने ठीक ही कहा है—'काया अगोचर मन अगोचर शब्द अगोचर सोय[२]।' वह तत्व न केवल भूतातीत है, वल्कि मनसातीत तथा शब्दातीत भी है, अशब्दात्मक भी है। संत दादू की भी इसमें सहमति लक्षित होती है। वे मानते हैं कि पहले वह स्वयम् था—ओंकार तो उससे उत्पन्न है। यह ठीक है कि बाद में उस ओंकार से पाँचों तत्वों की उत्पत्ति हुई[३]। उनकी कतिपय पंक्तियाँ इस बात की साक्षी हैं कि शब्द माध्यम है—परतत्व की उपलब्धि में डोर[४] है। संत गरीबदास तो स्पष्ट ही कहते हैं कि आदि में वही केवल अनादि और अपार ज्योतिमात्र थी—जिससे ओंकार प्रकट हुआ[५]। 'प्राणसंगली' की भूमिका में

---

१. हम वासी उस देस के पूछता क्या है
चाँद ना सुरुज ना दिवस रजनी।
तीन की गम्मि नहीं नाँहि करता करै
लोक ना वेद ना पवन पानी॥
सेस पहुँचे नहीं थकित भइ सारदा
ज्ञान ना ध्यान ना ब्रह्मज्ञानी।
पाप ना पुन्न ना सरग ना नरक है
सुरति ना सबद ना तीन तानी॥
अखिल ना लोक है नाँहि परजंत है
हद्द अनहद्द ना उठै वानी।
दास पलटू कहै सुन्न भी नाँहि है
संत की बात कोउ संत जानी॥६८॥
—पलटू साहब की बानी, दूसरा भाग, पृष्ठ २४।

२. दरिया साहब, मारवाड़ वाले की बानी, संख्या २० पृष्ठ।

३. पहली कीया आपथे उतपत्ती ओंकार।
ओंकार थे उपजे पंच तत्त अकार॥
—दादूदयाल की बानी, भाग १ पृष्ठ १९९।

४. सबदै ही निर्गुण मिलै, सबदै निर्मल ज्ञान। वही, पृ० १९९।

५. आदि अनादै जोति अपार। ताथैं प्रगट्यो ऊंकार।
ऊंकार थैं पाँचो तत्व। राजस सातिग तामस मत॥
—महाराज गरीबदासजी की वाणी, चौवेला० पृ० ४१।

संत संपूर्ण सिंह ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—'इस प्रकार जब क्रम-क्रम से सच खंड में सुरत पहुँचती है तो फिर पाँचों शब्दों की इकत्रता वहाँ पाई जाती है। परन्तु जब उस सच्चे दरबार के धनी में सुरत अभेद हो जाती है तो उस अशब्द रूप अवाचपद धुरधाम में इस (सुरत) की जीत हो जाती है और पाँच शब्दों की हार। क्योंकि शब्दों की वहाँ पर गम्यता न होने से उस अगंभ देश से उरे ही रहि जाया करते[1] हैं। 'इस उद्धरण से स्पष्ट है कि चरम तत्व अशब्दात्मक है। राधास्वामी मत वालों की धारणा है—'राधा स्वामी पद सबसे ऊँचा है। इस मुकाम से दो स्थान नीचे सत्तनाम का मुकाम है कि जिसको संतों ने सत्तलोक, सच्चखंड और सार शब्द और सत्त शब्द और सत्त नाम और सत्त पुरुष करके बयान किया है[2]। 'पहला यानी धुरस्थान सबसे ऊंचा और बड़ा जिसका नाम-स्थान भी नहीं कहा जाता है, उसको राधास्वामी अनामी और अकह कहते हैं। आदि में इसी स्थान से मौज उठी और शब्द रूप होकर नीचे उतरी[3]। सत्त लोक से सहस दल कंवल तक पांच शब्द भी हैं[4]।' इन पंक्तियों में नितान्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मूल तत्व की मौज ही बाद में शब्दात्मक होती हुई सृष्टि का बीज बनती है। अनुराग सागर की कतिपय पंक्तियों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है—उनसे भी इसका संवाद होता है। वहाँ कहा गया है कि चरम तत्व की 'इच्छा' हुई—फलतः अंशात्मा हंसों की प्रतिबिम्बात्मक पंक्तियाँ खड़ी हो गईं। अपने को ही उसने अनेक रूपों में व्यक्त कर आनंद का अनुभव किया। उस पुरुष ने प्रथम प्रथम जिसका प्रकाश किया वही शब्द कहलाया[5]। संत दरिया का भी साक्ष्य है। उन्होंने भी अपना विश्वास इस पक्ष में प्रकट किया है और बताया है कि उस आदि स्थान पर—चरम तत्व तक मन, बुद्धि एवं चित्त की गम्यता नहीं है—'शब्द' भी वहाँ नहीं पहुँच पाता[6]।

---

१. प्राण संगली, भूमिका, पृष्ठ ६९–७०।
२. संत मत प्रकाश, भाग १, पृष्ठ ९।
३. वही, पृष्ठ १९।
४. वही, पृष्ठ २५।
५. इच्छा कीन्ह अंस उपजाये।
हंसन देखि हरख बहु पाये।
प्रथमहि पुरुष सब्द परकासा।
दीप लोक रचि कीन्ह निवासा॥
—अनुराग सागर, पृष्ठ ८।
६. "मन, बुधि चित पहुँचै नहीं, सबद सकै नहिं जाय।
दरिया धन वे साधवा जहाँ रहे लौ लाय॥"
—संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १३१।

धरनीदास ने गगन-गवाक्ष पर आरूढ़ होने के लिए स्वीकार किया है कि वहाँ शब्द रूपी सीढ़ी के बिना कौन चढ़ सकता[1] है ?

निष्कर्ष यह कि इन संतों ने जहाँ एक ओर 'शब्द' को ही आदि-अंत मध्य सब कुछ माना है वहीं चरम तत्व को अपरत्र शब्दातीत भी कहा है। कुल मिलाकर संगति यही कहती है चरमतत्व निरपेष है—उसे सापेक्षार्थ बोधक शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। आगम भी यही मानता है। संप्रति, संतों की इन उक्तियों में वैचारिक संगति बिठानी है और बताना है कि चरमतत्व किस प्रकार अशब्दात्मक है और उसकी मौज किस तरह शब्दात्मक रूप धारण करती है ? उस शब्द को ओंकार या प्रणव कहने से क्या आशय है ? वह सृष्टि का मूल किस तरह है ? इस अध्याय में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देना है और उत्तर के रूप में एक वैचारिक व्यवस्था देनी है। संतवानियों के संबंध में डा० ह० प्र० द्विवेदी के इस कथन से मैं सहमत हूँ—'समझ में न आना अपनी कम जानकारी का फल अधिक है, बेतुकी अनमिल बात होने का[2] कम'।

म० म० गोपीनाथ कविराज ने एक स्थान पर कहा है कि विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों—भारतीय, ज्यूइश, पूर्व हेलेनिक, मिश्री, बेबोलेनियन, मीडियन या भूमध्य सागरीय आदि—में 'शब्द' की बड़ी महिमा गाई गई है और बताया गया है कि उसमें आश्चर्यजनक एवम् असामान्य वांछित परिणाम पैदा करने की प्रबल सामर्थ्य है। जहाँ तक भारत का संबंध है न केवल वैदिक और तांत्रिक साधकों में, अपितु शाबर परम्परा में भी शब्द की महत्ता प्रकट की गई है। केवल महत्ता गान यों ही नहीं होता आ रहा है, प्रत्युत दार्शनिक तथा प्रायोगिक धरातल पर भी शब्द सामर्थ्य का उल्लेख होता आ रहा है। भारतीय वाङ्मय में वाक्, वाचिक तथा वागगोचर तत्व पर पर्याप्त विचार हुआ है। वस्तुतः योग साधना के प्राचीनतम सम्प्रदाय भैरव पथ से एकीकृत किया जा सकता है। इसकी पारिभाषिक संज्ञा है—स्पन्द विज्ञान। स्पंद की स्थिति ज्ञान और क्रिया से भी पूर्ववर्ती है अथवा 'स्पंद' में इन दोनों का समावेश है।

संप्रति, विगत अतीत में जो अनुसंधान हुए हैं उनसे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। ग्रियर्सन[3] चाहे स्वीकार करते हों कि कबीर आदि संतों ने शब्द साधना की बात ईसाई साधना से ग्रहण की है, पर संस्कृत साहित्य के उनसे कहीं अधिक प्रविष्ट मनीषी डा० ए० बी० कीथ ने यह बताया है कि शब्द की महिमा का प्रति-

---

१. सब्द सिढ़ी बिनु को चढ़ै गगन झरोखा माँहि।
धरनीदास जी की बानी, पृ० ५६।

२. सहज साधना, पृ० ३०।

३. वही, पृ० ३१।

पादन ईसाइयों की अपनी विशेषता नहीं है, बल्कि उसका उल्लेख ईसा से पूर्व निर्मित वैदिक साहित्य में प्रचुरता के साथ उपलब्ध है। वागम्भृणी सूक्त ही इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसके पूर्व कि भारतीय साहित्य के आलोक में संतों की अटपटी प्रतीत होने वाली वानियों की तर्क-संगति परीक्षित की जाय, यह भी देखना आवश्यक है कि भारतीयेतर संस्कृतियों में विशेषकर विश्व की उपर्युक्त प्राचीनतम संस्कृतियों में—शब्द तत्व का सृष्टि और साधना के संदर्भ में क्या महत्व था। सुमेरियन तथा बेविलोनियन संस्कृतियों के धर्म सम्प्रदायों में यह विश्वास बहुत प्रचलित था कि शब्द समस्त शक्तियों का आश्रय है। इसी मान्यता के अनुरूप उनकी धारणा थी—जो ईसा से हजारों वर्ष पूर्व जाती है—कि वैदिक ऋषियों के 'आपो वा इदमग्र आसीत्' की भाँति (उन्हें भी) सृष्टि का मूल तत्व जल ही है। सुमेरियन अवशेषों से उनके विश्वास का पता चलता है और वह यह है कि जल की भी बीज शक्ति 'इनिय' या शब्द है। प्राचीन सुमेरियन सभ्यता में 'मुम्मु' (उच्च ध्वनि) शब्द मेघ गर्जन का वाचक था और—है और वह जल की अधिष्ठान देवता की शक्ति ही अधिष्ठात देवता की अभिव्यक्ति है। निष्कर्ष यह कि जल के भीतर भी शब्द शक्ति काम करती है—उसी के बल से सारा जगत् रूपायित हो रहा है। 'उद्' शब्द का विश्वव्यापी प्रसार और प्रयोग उक्त धारणा की व्यापकता का साधक है। उक्त तथ्य का दार्शनिकीकरण करते हुए यह भी माना गया है कि शब्द सृष्टि मूल जल तत्व की चिच्छक्ति है—दैवी मानसी धारणा है—फलतः जो भीतर है वही बाहर आता है। अर्थात् जलतत्व की बीज शक्ति ही समस्त सृष्टि का मूल है। इस प्रकार मूलतः समस्त जड़ चेतन वस्तुएँ जल देवता की मानसी धारणा मात्र हैं और उन्हीं की मानसिक क्रियाओं से वे प्रत्यक्ष होती हैं[1]। इसलिए मुम्मु या शब्द विश्व में व्याप्त मानसी धारणा यानी चित् शक्ति का प्रतीक है। बेविलोनिया में प्रचलित धार्मिक विश्वास का यही रूप है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह भी विचार है कि यवन दार्शनिक ने इन संस्कृतियों से प्राप्त तथ्यों का दार्शनिकीकरण करते हुए यह स्थापना की है कि सृष्टि का सारतत्व चित् शक्ति ही है। अस्तु, प्रस्तुत संदर्भ में इतना ही कहना है कि शब्द को सृष्टि-मूल मानने की धारणा भारतीयेतर संस्कृतियों में भी ईसा से हजारों वर्ष मान्य है। बाइबिल में तो शब्द से सृष्टि प्रसव के विषय में प्रसिद्ध वाक्य ही है— And God said–Let there be light and there was light''[2] इसी

१. देखिए, सहज साधना, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१–३२।
२. The Holy Bible p. 1(The Old Testament). In the beginning there was the word and the word was with the God and the word was God''. The Holy Bible (The New Testament) p.94.

प्रकार कुरान में भी कहा है—खुदा ने कहा 'कुन हो और कुन हो गया'।

संप्रति भारतीय आगमिक तथा नैगमिक-उभयविध साहित्य में बड़े विस्तार से प्रतिपादित उक्त सत्य की संगति विठाई जानी चाहिए। समस्त आगम-निगम-उभयात्मक भारतीय वाङ्मय में अनेकत्र कहा गया है कि सृष्टि शब्दपूर्तिका है—शब्द प्रभव है—शब्द से ही उसका उद्‌भव[1] है। कहा तो यह भी गया है कि शब्द ब्रह्म में निष्णात होने पर भी परब्रह्म की उपलब्धि[2] होती है। यदि शब्दातीत, वागगोचर परब्रह्म का साक्षात्कार करना हो—तो शब्द का ही आश्रय लेकर जाना होगा। सारी सृष्टि शब्द का ही तो विवर्त है—अतः इस शब्द राज्य का यदि अति-क्रमण करना है—तो शब्द के ही द्वारा संभव है। शब्द से ही हम बँधते हैं और शब्द से ही छूटते हैं—शब्द का ही यह सारा पसारा है। सारी सृष्टि शब्द से उद्‌भूत शब्द से ही विधृत और शब्द में ही लीन होती है। संतों के साहित्य में चिन्तन की यही धारा मुखर है। इसीलिए संतों ने वार-वार कहा है कि शब्द के द्वारा ही नाम जप के द्वारा ही शब्द ब्रह्म-प्रणव-परावाक्-अनाहत नाद—को पारकर अशब्दात्मक परब्रह्म तक जाना संभव होता है।

प्रश्न यह है कि यह शब्द कौन सा है और कैसा है? संत जिस शब्द को 'निज-मूल' कहते हैं—सृष्टि का निमित्त और उपादान बताते हैं—क्या वह यही शब्द है जिसे हम कानों से सुनते हैं? कभी नहीं। कारण, यह शब्द जिन निमित्त और उपादानों की अपेक्षा रखता है—वे सृष्टि से पूर्व थे ही नहीं। जिसे हम शब्द कहते हैं उसके लिए पहले तो वायुमण्डल में किसी एक स्थान से उत्तेजना सृष्टि होनी चाहिए। दूसरे वाहक वायु होनी चाहिए तीसरे श्रवणयन्त्र, संवाहक स्नायु सूत्र समूह तथा मस्तिष्क का अनुभूति केन्द्र गुच्छ विशेष को उसका अपेक्षित धक्का होना चाहिए। इन सबके अतिरिक्त मनःसंयोग या अवधान भी आवश्यक है। वायुमण्डल के किसी स्थान से जो उत्तेजना भी होती है—उसकी भी प्राणि श्रोत्रग्राह्य एक सीमा होती है—ऊपर की भी और नीचे की भी। इन सीमाओं को पार करने वाली उत्तेजना वायु द्वारा ढोई जाकर भी हमें शब्द रूप में श्रुतिगोचर नहीं हो सकती। तब जिस मूल तत्व से सृष्टि का उद्‌भव हुआ है—उसे क्या कहा जाय? यह भी व्यवहार सम्मत है कि समस्त सृष्टि इंद्रिय, मन एवं बुद्धि-ग्राह्य पदार्थ राशि

---

१. (क) शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निवन्धिनी ॥११९॥ वाक्यपदीपका० १।
(ख) वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे।
(ग) वाचा इच सर्वममचृतं यच्च मर्त्यम्।

२. शब्द ब्रह्मणि निष्णातः पर ब्रह्माधिगच्छति।

है। पदार्थ पद का ही तो अर्थ है—और स्वयं पद शब्द है—फिर भी प्रश्न यही खड़ा होता है कि वह शब्द कौन सा ?

निगम आगम एवं सांप्रतिक विज्ञान-सभी एक स्वर से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि सृष्टि का—भूत भावोद्भव कर विसर्ग का—मूल जो भी है—वह प्राथमिक स्पन्द (Vibration) है। गीताकार ने इसे ही 'कर्म' कहा है—'भूत भावोद्भवकरः विसर्गः कर्म संज्ञितः'[1]—यह प्राथमिक या आद्य हलचल है—यही मूल तत्व का ईक्षण है—संकल्प है—आद्य स्पंद है—आगमों निगमों एवं तन्मूलक वाड्मय का इसका विस्तार भरा हुआ है। आगम वाड्मय की प्रख्यात 'स्पंद' धारा इसी के निरूपण में आपादमस्तक सिक्त है।

पर क्या इस मूल स्पंद को 'शब्द' 'कहा जाय ? संतों ने विभिन्न शरीरान्तर्गत चक्रों पर जो वर्णों की कल्पना की है—वह कैसे संभव है ? वर्ण की अभिव्यक्ति के लिए जिन प्रकारों के 'स्थान' 'प्रयत्न' एवं करणाभिघात आदि अपेक्षित हैं—वे वहाँ हैं क्या ? और नहीं है तो वहाँ वर्णों की स्थिति कहने का अभिप्राय क्या है—वहाँ 'सच खंड' में जिस 'धुनि' की स्थिति कही जाती है—वह किस प्रकार संभव है—उसका स्वरूप क्या है ? अनाहत नाद बिना आहनन के किस प्रकार संभव है ? इस आद्य स्पंद को प्रणनात्मक कैसे कहा गया ? उसे शब्द क्यों कहा जाय ? हम व्यावहारिक जगत् वाले इंद्रिय एवं मनोग्राह्य अनुभवों अथवा तदाधृत संस्कारों के सहारे ही सोचते समझते हैं—अतः सोचने समझने का आधार भी वे ही व्यावहारिक अनुभव होंगे। अभिप्राय यह कि हमारी वर्ण एवम् नाद या ध्वनि की विचारधारा श्रुतानुधाविनी ही होगी, श्रवणगोचर वर्ण एवं नाद के आधार पर वनी धारणा के आलोक में ही हम सोच समझ सकेंगे। पर जिसके विषय में सोचना समझना है—वह अननुभूत है और उसकी बोधक भाषा व्यावहारिक धरातल पर है नहीं, जिसका अनुभव है और तदर्थ निर्मित भाषा है—वह अवनुभूत की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं। अर्थात् जिसकी भाषा है उसे कहना नहीं है और जिसे कहना है उसकी भाषा नहीं है। इस समस्या का बौद्धिक धरातल पर समाधान क्या किया जाय ? एक दूसरी समस्या और भी है—वह यह कि संतों की अनुभूति यदि सत्य है तो वह सार्वभौम धरातल पर संभाव्यता को लेकर चले, पर यहाँ कुछ और ही है। संतो ने 'शब्द' के संदर्भ में जिस आध्यात्मिक अथवा आभ्यंतरिक वर्ण एवं नाद की चर्चा की है—क्या वे वर्ण सर्वत्र संभव हैं ? क्या उनकी उतनी ही संख्या सर्वत्र मान्य है ? और नहीं तो क्या अध्यात्म जगत् का सत्य स्वप्न और भ्रांत स्थितियों की भाँति नितान्त व्यक्तिगत ही होता है क्या ? नादों में भी कई तरह की बातें मिलती

१गभवद्गीता।

हैं—कहीं एक ही अनाहत[1] नाद की बात कही जाती है—कहीं आठ[2] और नवनाद[3] की चर्चा मिलती है और कहीं पर पाँच ही प्रमुख[4] नाद का उल्लेख है। संत साहित्य के संदर्भ में शब्द' की समस्या उठ खड़ी होने पर ये सारे विचारणीय पक्ष सामने आते हैं।

कतिपय मनीषियों की धारणा है कि प्रत्येक वर्ण विशेष, जो श्रुतिगोचर होता है—चिन्तन का भी विषय हो सकता है—सोचने में भी आ सकता है। श्रुतिगोचर रूप उसका स्थूल रूप है और मनोगोचर रूप सूक्ष्म रूप इस प्रकार सारा जगत् जो इंद्रिय गोचर हो सकता है—वह अपनी छाप या संस्कार में मनोगोचर भी हो सकता है—अभिप्राय यह कि मन में सभी वर्ण, उनसे बने पद एवम् पदार्थ—सभी कुछ सूक्ष्म रूप में मन के अंदर रह सकते हैं—ये सभी भावात्मक रूप से वहाँ हैं।

---

१. एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सो नस्तमित रूपात्वात् अनाहत इहोदितः ॥२१७॥
—तंत्रालोक ६ आन्हिक ।

२. स्वच्छंदतंत्र में नाद, जो ध्वन्यात्मक है—आठ भेदों में व्यक्त होता है—
पटल ११ पृष्ठ ९ ।

३.

नवनाद (तंत्रालोक)	आठ नाद (स्वच्छंदतंत्र)	पाँच शब्द
चिणि	घोष	
चिणिचिणी	राव	
घण्टा नाद	स्वन	संत्त लोक-गत
शंख नाद	शब्द	महासुन्न गत
तंत्री नाद	स्फोट	सुन्न गत
ताल नाद	ध्वनि	त्रिकुटी गत
वेणु नाद	झांकर	सहसदल कमल गत
भेरी नाद	ध्वङ् कृति	
मृदंग नाद		

४. 'मध्यमा' को नाद और ध्वनि शब्दों से बोधित किया जाता है इसके दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। सूक्ष्म के नव भेद हैं। ये समाधिग्राह्य हैं। इन्हीं नव नादों की समष्टि को ही मध्यमा कहा है—भास्कर राय ने।
द्विविधा मध्यमा सा सूक्ष्मस्थूलाकृतिः स्थिता सूक्ष्मा ।
नवनादमयी..........—काम कला विलास २७ ।

५. पाँच गुप्त शब्द—संतों ने कहे हैं—
"सत्त लोक से सहसदल कमल तक पाँच शब्द भी हैं।"
—सारवचन वार्तिक भाग १ पृ० २५ ।

'भाव' का अर्थ ही है—होना, मन में ये सभी 'होते हैं' अतः ये सभी भाव हैं। निष्कर्ष यह कि जो कुछ बाह्य है—वह सब अंदर हो सकता है और है—जो बाहर है वह भीतर है—जो स्थूल होगा, वह सूक्ष्म भी होगा—अतः यदि वर्ण, नाद ध्वनि—ये सब स्थूल हैं—तो सूक्ष्म भी होंगे। 'सूक्ष्म' भी मनोगोचर दशा में जितने सूक्ष्म हैं—अमनोगोचर दशा में और भी सूक्ष्म हैं। मनोगोचर दशा में पद-पदार्थ जैसे विना काल-देश के हैं, अमनोगोचर दशा में पहुँचने पर भेदातीत, देश-कालातीत, बुद्धयतीत होकर भी वे रह सकते हैं। इसीलिए माना है कि एक स्थिति वह भी हो सकती है जहाँ मायूराण्ड रसन्याय से 'सब कुछ' एकत्र है—किंवा एकात्मक है—पर अबुद्धिगोचर है।

पर इस सारी चिंतन प्रक्रिया का दोष यह है कि यह सब स्थूल अनुभव पर आधृत कल्पना है। इस प्रक्रिया में हम बाहर के दृष्टान्त पर भीतर की बात मान लेते हैं। हम श्वास-प्रश्वास में 'सः' एवं 'हं' आरोपित कर लेते हैं—पूर्वश्रुत स्थूल वर्ण का आरोप कर लेते हैं। उसी श्वास-प्रश्वास में एक फ्रेंच 'हं' 'सः' का आरोप तो नहीं कर सकता। सो वर्ण—ध्वनि की सारी बातें स्थूल जगत् की बाते हैं—इनसे निर्मित धारणा के आधार का सारा चिंतन पूर्वतः अन्यथा स्थित वस्तु स्थिति को किस प्रकार स्पष्ट कर सकता है ?—समस्या यह है।

वस्तुस्थिति यह है कि सोचना तो जानने के आधार पर ही संभव है, पर ज्ञात पर आधृत चिन्तन किसी अज्ञात का आविष्कार नहीं कर सकता—यह कैसे मान लिया जाय ? झूठ से भी सही की ओर जाया जाता है—कल्पना से भी यथार्थ की उपलब्धि होती है, मानकर चलने से स्वतः सिद्ध वस्तु तत्व की अधिगति हो जाती है। हाँ, यह अवश्य है कि यदि कल्पित के सहारे गति-शील बुद्धि वस्तु तत्व में पर्यवसित नहीं होती—तो उसे अपर्यवसित फलतः अप्रतिष्ठ ही समझा जाता है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तक अथवा अध्यात्म जगत् के पथिक यह मानते हैं कि केवल ज्ञाताघृत शुष्क चिन्तन से हमें वस्तुस्थिति का बोध नहीं हो सकता—जब तक कि वस्तुस्थिति को जानने के लिए तदनुरूप साधना या प्रयत्न न करें। साधक चिन्तक का चिन्तन साधनालभ्य वस्तुस्थिति में पहुँचकर पर्यवसित और प्रतिष्ठित हो जाती है। अभिप्राय यह कि इस समस्या के समाधान का एक मार्ग तो यह है—पर विशुद्ध चिन्तक (Research Scholar) का यह द्वार भी बंद है—तब उसके लिए यही रास्ता है कि जिन संतों ने वस्तुस्थिति का साक्षात्कार कर लिया है—जो भीतर से चलकर अपनी वानियों में बाहर आए हैं—अपनी उक्तियों द्वारा भीतर का प्रकाश बाहर ला रहे हैं—उनको यथातथ मानकर अपने अनुभवाधृत चिन्तन से उसकी संगति विठावें।

आज हमें एक सुविधा और है। जहाँ वस्तुसत्य को जानने के लिए एक ओर हम अनुभवाधृत चिन्तन करते हैं—वहीं प्रयोगशालाओं प्रयोगों के द्वारा अज्ञात वास्तविकताओं का पता भी लगाते हैं और उसके सहारे 'सामान्य सत्य' की ओर बढ़ते चले जाते हैं। प्रयोग द्वारा अज्ञात सत्य का साक्षात्कार किए लेने पर 'चिन्तन' को भी चलाते

हैं और चिन्तन को उसी में मिला देते हैं—अनुभवाधृत चिन्तन से वस्तु सत्य की एकरूपता हो जाती है । इससे एक निष्कर्ष स्पष्ट निकला 'वस्तु सत्य' की उपलब्धि का माध्यम 'प्रयोग' और 'साधना' है—विशुद्ध चिंतन नहीं—व्यावहारिक अनुभव पर आधृत केवल सोचना-विचारना नहीं । लेकिन पूर्वानुभव पर आधृत चिन्तन जब ऊहा-पोह गर्भ होता है अन्वय व्यतिरेक करके चलता है—तब सर्वदा किसी नए तथ्य जो प्रतिष्ठित भी हो सकता है—पहुँच जाता है, दूसरे चिन्तन जिज्ञास्य विषय का एकाग्रतापूर्वक अनुसंधान या समाधि ही तो है—इस प्रक्रिया से अनेकानेक आवरण भंग हो जाते हैं—यह पद्धति तमाम आवरणों को चीरती हुई जिज्ञास्य का समाधान ढूंढ लाती है—और नया तथा प्रतिष्ठित सत्य सामने आ जाता है । फिर केवल 'चिंतन' भी क्यों निरर्थक ? इतना अवश्य है कि चिन्तन प्रसूत निष्कर्ष की प्रामाणिकता स्वयम् नहीं है—वस्तुस्थिति सापेक्ष है—वस्तुसत्य की संगति में ही मान्य है। इसके विपरीत 'साधना' अथवा 'प्रयोग' से उपलब्ध सत्य स्वयम् में भी एक प्रमाण है। यही कारण है कि विशुद्ध चिन्तन को भारतीय दार्शनिक भी ,'तर्काप्रतिष्ठानात्'[1] कह कर उपेक्षित कर देते हैं और—वैज्ञानिक भी 'प्रयोग' निरपेक्ष चिन्तन को बौद्धिक विलास कह देते हैं । फिर अध्यात्म राज्य के 'सत्यों' पर जब विचार करने बैठे, तब सामने एक ही रास्ता है और वह यह कि जो है उसे यथातथ मानकर उसकी विश्वसनीय और तार्किक संगति दें । यह अवश्य है कि इस चिन्तन में आध्यात्मिक सत्यों को यथासंभव बोधगम्य और विश्वसनीय बनाने के लिए हम विज्ञान की 'प्रयोग' लब्ध निष्पत्तियों का भी सहारा ले सकते हैं ।

स्वामी श्री प्रत्यगात्मानंद सरस्वती ने अपने 'जपसूत्रम्' की भूमिका में विज्ञानलब्ध निष्पत्तियों का सहारा लेकर इस दिशा में अपने चिन्तन को बोधगम्य और विश्वसनीय बनाया है । उन्होंने जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि चाहे 'ज्ञान' हो या 'ज्ञेय' —विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी गतिमय हैं—जगत् (गच्छति इति जगत्) का सब कुछ संसरणशील है—स्थिर कुछ भी नहीं है। 'ज्ञान' मात्र—रूप, रस, गंध, शब्द एवं स्पर्श के ज्ञान मात्र—के मूल में जो व्यापार है—उसे 'स्पंद' कहा जा सकता है । स्वामी जी का कहना है—'ईथर'[2] में किसी स्थान में एक चाँचल्य उत्पन्न हुआ, उसने तरंग की भाँति चारो ओर फैलकर हमारे चक्षु और मस्तिष्क को चंचल कर दिया, इस चाँचल्य का हमारी चेतना में जो प्रकाश अथवा अभिव्यक्ति (Resultant manifestation) होती है वही तो हमारा वस्तु का रूपज्ञान है। आलोक, ताप शब्द प्रभृति सभी प्रकार की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में यह विवरण लागू होता है किसी एक द्रव्य के अणु-अणु अस्थिर होकर काँप रहे हैं, ईथर अथवा तज्जातीय किसी

१. ब्रह्मसूत्र अ० २ पा० १ अ० ३ सू० ११, पृ० ३६६ ।

२. जपसूत्रम्, पृष्ठ ७ ।

एक अतीन्द्रिय सूक्ष्म वाहन ने उस कंपन को वहन करके लाकर हमारे स्नायुओं को उत्तेजित कर दिया, इस उत्तेजना की चेतना में जो प्रतिक्रिया है वही तो हमारा ताप का अनुभव है (निष्कर्ष यह कि) सब प्रकार की अनुभूति की उत्पत्ति (ज्ञान की सत्ता) चाँचल्य में ही है— Stir, Agitation में ही है इस पक्ष में हमारा संदेह करना भी चल सकता है।"[1]

जो बात अनुभूति या प्रत्यय के पार्श्व से देखने पर सिद्ध होती है वही विषय या ज्ञेय की ओर से भी विचार करने पर पुष्ट होती है। स्वामी जी कहते हैं कि दृश्यमान द्रव्य मात्र यौगिक हैं—उनके निर्माण में अणु-परमाणुओं का योग है। रासायनिक अणु परमाणु भी एक यौगिक द्रव्य हैं—पर इनकी गठन प्रणाली जटिल है। इनके आरम्भकों को विज्ञान इलेक्ट्रान इत्यादि कहता है—ये तड़ित के अणु हैं। जिस प्रकार द्रव्यारम्भक अणु अस्थिर हैं—बारह बाहर एक दूसरे के संपर्क में परस्पर अस्थिर हैं उसी प्रकार ये भीतर भी अस्थिर हैं—उनके भीतर भी स्पंद है—हलचल है। ऊर्मिविज्ञान ने (Wave machanics) ने इलेक्ट्रान की भी आँतरिक स्थिति (Inner pattern) देखने का प्रयास किया है। अर्थात् द्रव्यारम्भक अणु के भीतर इलेक्ट्रान गतिमय है और इलेक्ट्रान के भी भीतर कला एवं वर्ण (Partial तथा Element) होने ही चाहिए और वे हैं तो क्या चंचल नहीं हैं। यदि उन्हें ईथर का एक आवर्त्त भी मान लिया जाय—तो भी यह मानना पड़ेगा कि उसके भी सूक्ष्मतर अवयव चंचल होकर घूम रहे हैं। प्रयोग से विज्ञान इतनी दूर पहुँच गया है—गणित ने उसे और भी दूर पहुंचा दिया हो—इस अंतिम चित्र या ढाँचे का क्या रूप हो—वह भी कल्पनीय है—इसे छोड़ ही दिया है। स्वामी जी का कहना है—"इस विज्ञान का पागलपन है कि सब कुछ हिसाब के अनुसार रहे, हिसाब दुरुस्त रखना होगा। किन्तु इस साध में भी कमी है—मूल में हिसाब को लाँघकर आना पड़ता है—मानना होता है अनिश्चित संभावना मात्र[2] को।"

इस समस्त विवरण विवेचन का निष्कर्ष यह कि ज्ञानात्मक अथवा ज्ञेयात्मक—जो कुछ भी जगत् है गहरे जाने पर सब कुछ 'गति' ही है 'स्पंद' ही है—'कर्म' ही है 'व्यापार' ही है—'नाम' और 'रूप' एक परिणाम मात्र हैं। 'हलचल' अथवा 'स्पंदन' से ही जगत् का आरंभ हुआ। हलचलमयता में ही यह स्थिति मान् है। इस प्रकार जगत् के आरंभ, मध्य और अंत में—सर्वत्र चलना ही है। पर चलाना की कल्पना या धारणा अचल की धारणा के बिना क्या कभी संभव है। क्या सकल सचल को अपनी छाती पर रखकर जो स्वयम् अचल हो—ऐसी कोई भूमि या आयतन है क्या? यदि है तो वह क्या है? वेद और आगम क्या जिसे 'अक्षर परम' या 'परम ब्रह्म' या 'परम-

१. जपसूत्रम्, पृ० ७।
२. वही, पृ० ६।

शिव' कहते हैं वही है, नाथ जिसे 'अनामा' कहते हैं वही है, संत जिसे सर्वातीत या चरम पद कहते हैं वही है ? भारतीय अध्यात्मधारा के हिसाब से हमारी अनुभूति की अचल (Quiescent) और सचल (Stressing) ये दो दिशा हैं। इन दोनों दिशाओं को ही समेट कर 'सत्य' रहता है—एक को छोड़कर केवल दूसरे को पकड़ना सत्य का खण्ड रूप है—मूल सत्य सस्पंद एवं निःस्पंद-उभयात्मक है—तांत्रिक दृष्टि से 'सत्य' का यही रूप है।

यह स्पंद, चाँचल्य अथवा विक्षोभ—जो पूर्ण सत्य का पक्ष है—शब्द कहा जाता है। इस प्रकार संतों की दृष्टि से मूलतत्व शब्दात्मक यानी स्पंदात्मक भी है और अशब्दात्मक भी—अचल अर्थात् निःस्पंद की अपेक्षा में सस्पंद अर्थात् शब्दात्मक है—और निरपेक्षता में अशब्दात्मक अर्थात् शब्दातीत है—दोनों ही बातें युक्ति सत्य हैं—बुद्धिगम्य हैं। संत साहित्य के आलोडन से पूर्ण सत्य के संबंध में जो पहली समस्या उठ खड़ी हुई थी—उसका समाधान यह है।

सम्प्रति, दूसरा प्रश्न यह है कि इस स्पंदमय समस्त चराचर जगत् को जिस स्पंद से प्रसूत एवं जिस स्पंदमयता से गतिशील या ,स्थितिशील माना जाता है—उसे शब्द क्यों कहा जाता है ? शब्द तो उसे कहते हैं जो श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य हो—क्या यह श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है ? मूल में जब श्रवणेंद्रिय ही नहीं थी—तब वह किसका ग्राह्य था वहाँ ग्राहक श्रवणेन्द्रिय थी कहाँ ? यही तो मूल समस्या की जड़ है। सामान्यतः हम व्यावहारिक धरातल पर जिसे शब्द कहते हैं वह मूल 'वाक्' की ही एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति है। तंत्रों में 'वाक्' की व्याख्या करते हुए कहा ही गया है—'वक्ति-अभिलपति'।

मूल वाक् की अभिव्यक्ति तो सभी कुछ है—श्रूयमाण शब्द विशिष्ट अभिव्यक्ति है। सामान्य स्पंद या मूल हलचल को 'शब्द' इसलिए कहना संगत है कि उससे इतर किसी भी इन्द्रिय ग्राह्य विषय में गति या चाँचल्य वैसा दृष्टिगोचर नहीं होता। रूप, रस, गंध एवं स्पर्श की अपेक्षा शब्द में चाँचल्यजन्यता पर्याप्त व्यक्त है, जहाँ रूप, रस, गंध एवं स्पर्श होंगे—वहां मौन एवं शांति संभव है—पर शब्द वहीं होगा, जहाँ अशान्ति, हलचल और भाग दौड़ होगी। स्थिरता और शाँतिमयता नीरवता तथा गतिमयता और भाग दौड़ मुखरता का साधक है। यह सही है कि मूल चाँचल्य से सभी प्रसूत हैं—सभी उसके कार्य हैं पर इन सभी अनुभूति धाराओं में वह चाँचल्य 'शब्द' में कहीं अधिक स्पष्ट है, अतः लक्षणा शक्ति से हम अपनी समझ और व्यवहार के लिए 'शब्द' शब्द को उसका संकेतक मान लेते हैं—उस मूल तत्व को 'शब्द' ही कहना चाहते हैं। संतों ने और उनके पूर्ववर्ती साधकों ने मूलतत्व को व्यावहारिक भाषा में समझाने के लिए 'शब्द' शब्द का ही प्रयोग उचित समझा। अतः इस समस्या को हटाने के लिए कि जिसके लिए जो भाषा गढ़ी गई है—वह संतों को बोध्य नहीं है और जो संतों का बोध्य है—तदर्थ भाषा नहीं है।—यहीं शब्द की लक्षणा तथा

व्यंजना शक्तियाँ काम देती हैं। यहाँ 'शब्द' को उस मूल तत्व का 'प्रतीक' या संकेतक माना जा सकता है—इसमें कोई आपत्ति नहीं। श्रूयमाण शब्द को मूल स्पंद का प्रतीक मानने का दूसरा कारण यह भी है कि दोनों ही स्रष्टृत्व धर्म सम्पन्न है। श्रूयमाण शब्द भी अपनी सांगीतिकता में पार्थिव कणों को जो अस्त व्यस्त हैं—व्यवस्थित आकार दे देते हैं। प्रयोक्ताओं ने प्रयोग कर के यह सब कुछ देखा है। अतः तोड़ने और गढ़ने की क्षमता—जो दोनों में समान है—प्रतीकत्व का मूल है। इन्हीं समानताओं के आधार पर गौणी लक्षणा द्वारा एक के बोध के लिये दूसरे का प्रयोग कर सकते हैं। स्वामी जी का यह कहना भी संगत है—"आदि कारण के कार्य प्रवाह रूप में, ब्रह्म के जगत् रूप में आविर्भूत होने का जो उपक्रम और अवस्था है—उसे 'शब्द ब्रह्म' कहना बहुत ही सुसंगत है।[1]" इसी संदर्भ में उन्होंने आगे कहा है—"यह मानों एक विराट् सुषुप्ति के पश्चात् विराट् जागरण है, महामौन व्रत के भंग के पश्चात् प्रथम आलापन है। इसका उपक्रम एक चाँचल्य में है"—इस प्रकार 'ईक्षण' में। मौन की अवस्था 'अशब्द' की अवस्था है, उसके पश्चात् आदिम चांचल्य की जो प्रथमा वाक् अथवा वाणीमूर्ति है, वही प्रणव[2] है।" स्वामी जी के ये शब्द संतों के शब्दातीत, शब्दात्मक प्रणव या ओंकार के वक्तव्य की युक्ति संगत व्याख्या करते हैं। संतों की बात कितनी युक्तियुक्त है।

इस वैचारिक आलोक में संतों की एक बात तो युक्ति सिद्ध है कि मूल तत्व निरपेक्ष होने से नेति-नेति की पद्धति से कहा जाय तो 'अशब्दात्मक' ही कहा जायगा। सृष्ट्युन्मुख हलचल के होते ही वह सापेक्षात्मकता में द्विदल हो जायगा—'निःस्पंद' के वक्षस् पर 'स्पंद' का उदय होगा। तंत्रों में सृष्टि का यही क्रम कहा गया है। यही परमशिव की सृष्ट्युन्मुख उच्छूनावस्था में 'प्रकाश'-'विमर्श' या शिव-शक्ति भाव है। इस 'स्पंद' सामान्य में समस्त स्पंदविशेष निहित हैं—जो उत्तरोत्तर अनुरूप ग्राह्य-ग्राहकता में स्थूल—स्थूलतर होते जायंगे। यह स्पंद सामान्य ही 'शब्द' है और वही सृष्टि का मूल किस प्रकार? उसके प्रणवात्मक होने का क्या अभिप्राय? वह ओंकार रुप क्यों? वेहद या अनहद क्यों?

ऊपर कहा गया है कि 'चल' की कल्पना 'अचल' सापेक्ष है—अतः मूल स्पंद के परे की अवस्था को 'अशब्दात्मक' ही कहना होगा, जब कि दूसरे को 'शब्दात्मक'। जब यह अनुभव तथा तर्क-उभयतः सिद्ध है कि जहाँ चाँचल्य होगा—वहाँ 'शब्द' होगा ही, तो यह भी मानना पड़ता है चाँचल्य की मात्रा की तारतमिकता तज्जन्य शब्द में भी होगी—यह मात्रा चाँचल्य में जितनी अधिक होगी—तज्जन्य शब्द उतना ही श्रवण ग्राह्य होगा। इस प्रकार चाँचल्य के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होने से शब्द और श्रवण सामर्थ्य

---

१. जपसूत्रम्, (भूमिका) पृ० २३।

की भी सातिशयता या तारतमिकता होगी। इस कल्पना से पीछे चलते-चलते जहाँ हमारे अनुभव सामर्थ्य की चरमकाष्ठा होगी—पर निरतिशय श्रवण सामर्थ होगा—और इस निरतिशय श्रवण सामर्थ्य से श्रुत शब्द 'शब्द-तन्मात्र' होगा—उसमें कोई भी विकृति नहीं होगी—वह तदेव या तन्मात्र होगा—और किसी भी प्रकार का साँकर्म न होगा। सांकर्म होते ही वह तन्मात्र नहीं रह जायगा—विकृत हो जायगा, पर विकृत शब्द भी सर्वश्राव्य नहीं हो सकता। जैव कोषों में तैरते जीवाणुओं का स्पंदन हम सुन सकते हैं क्या? इलेक्ट्रान की हलचल से संभूत शब्द हम सुन सकते हैं क्या? कहने का मतलव यह कि विकृत अथवा संकीर्ण शब्द भी दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म तथा स्थूल। पहला सूक्ष्म यंत्रों तथा साधक योगियों के श्रवण सामर्थ्य से सुना जा सकता है और दूसरा सर्वसामान्य के लिए श्रव्य है। एक वात और, प्रत्येक पदार्थ या वस्तु की सृष्टि के मूल में एक शक्तिव्यूह (Constituting forces or causal stress) रहता है—जिसकी हलचल या मुखरता को उसकी 'प्रकृति' में सुनने की सामर्थ्य निरतिशय श्रवण सामर्थ्य है। यह शब्द शब्दतन्मात्र है। इस प्रकार मूल में अशब्द, तदनन्तर सामान्य स्पंदात्मक शब्द, तदनन्तर विषमस्पंदात्मक पदार्थ सर्जक शब्द तन्मात्र, तत्पश्चात् विकृत सूक्ष्म और स्थूल शब्द—ये पाँच स्तर हुए।
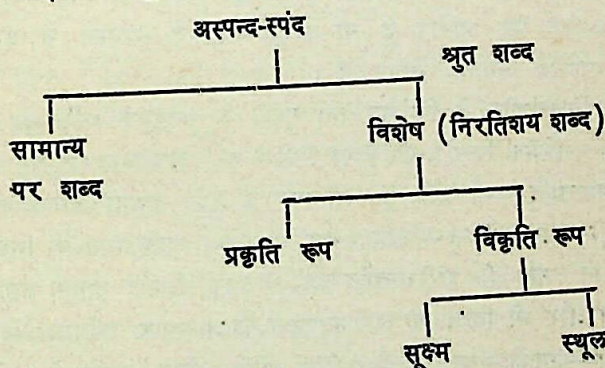
तंत्र ग्रंथों में भी पाँच स्तरों का उल्लेख मिलता है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य तथा अतितुर्य। प्रपंच सारतन्त्र के टीकाकार पद्मपादाचार्य ने स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सामान्य और साक्षी के नाम से इन पाँचों को उल्लेख किया है। शब्द के कुल रूप इस प्रकार के हो सकते हैं—

निःस्पंद	=	अशब्द
स्पंदसामान्य	=	परशब्द - (अश्रुत)
अपनी प्रकृति में स्पंद विशेष	=	शब्दतन्मात्र (निरतिशय श्रवण सामर्थाश्रुत शब्द)
विकृति में ग्राह्य	=	सूक्ष्म शब्द=साधना अथवा यंत्र सहकारश्रुत
विकृति में ग्राह्य	=	स्थूल बैखरी शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य

इसके पूर्व कि आगम और तंत्रों में जो मूल सत्ता के पाँच स्तर बताए गए हैं—उनसे ये स्तर एक रूप हैं या विरूप—यह समझ लेना आवश्यक है कि मूलतः प्रत्येक द्रव्य या इंद्रिय ग्राह्य पदार्थ शक्ति व्यूह का ही घनीभूत रूप है। इस शक्ति व्यूह के साथ नाद या शब्द लगा रहता है—अर्थात् इसकी हलचल से जो शब्द उत्पन्न होता है वह अपनी प्रकृति में उस द्रव्य का बीज है—द्रव्य उसी का रूप है—नाम ही नामी के रूप में परिणत होता है। इस मूल या बीजभूत प्रकृतिस्थ शब्द का जिसने निरतिशय श्रवण सामर्थ्य से साक्षात्कार कर लिया—वह उस द्रव्य का प्रजापति हो सकता है। हमारी अनुभूति की चरमकाष्ठा ही तो निरतिशय श्रवण सामर्थ्य है और इसी सामर्थ्य से वह प्रकृतिस्थ शब्द सुना जा सकता है। जिसने अपने भीतर यह सामर्थ्य पैदा कर ली—वह प्रजापति हो सकता है।

अब, यह बीजात्मक शब्द किस पदार्थ का क्या है—प्रयोग और परीक्षण का विषय है। संतों ने और संतों के पूर्ववर्ती ताँत्रिक तथा नैगमिक साधकों ने उदाहरणार्थ अग्नि का बीज 'रं' माना है। अग्नि के आरंभक शक्तिव्यूह का शब्द 'रं' ही है या कुछ और अनुभव के अभाव में मानकर ही चल सकता है—फिलहाल कोई न कोई शब्द अवश्य है—इतना निश्चय है। यह श्रुतानुधावी संस्कार का उस मूल पदार्थ-आरंभक-नाद पर आरोप है या वस्तुस्थिति है—प्रमाण के अभाव में कह सकना—विश्वसनीय बनाना कठिन है।

यह भी विचारणीय है कि तत् तत् द्रव्यों के आरंभक शक्तिव्यूह से जो नाद होता है—वह वर्णात्मक किस प्रकार होगा ? वर्ण या व्यक्तनाद तत् तत् स्थान प्रयत्न एवं करणाभिघातादि जन्य होते हैं—वाग्यन्त्र से पूर्व अथवा अन्यत्र वर्णाभिव्यक्ति की प्रक्रिया ही संभव नहीं है—फलतः मूल आरंभिक शक्तिस्पंद को भिन्न भिन्न वर्ण के रूप में कल्पन करना और शरीरान्तर्गत चक्रों में उनकी स्थिति माननी कैसे संभव है ?

एक बात और भी विश्व की अन्य भाषाओं की आरम्भक वर्णमाला में तो भिन्न-भिन्न वर्ण होंगे—उनकी संख्या भी भिन्न भिन्न होगी—फिर शरीर के चक्रों की संख्या और उनके दलों पर स्थित वर्ण की उपपत्ति किस प्रकार बिठाई जा सकेगी ?

न्याय-वैशेषिक और शब्द :

शब्द (अभिधेय बुद्धि हेतु)

जहाँ तक नैगमिक दर्शनों का संबंध है भारतीय दार्शनिकों में से तार्किकों अर्थात नैयायिक तथा वैशेषिकों ने शब्द को आकाश का एक ऐसा गुण माना है जो श्रोत्रग्राह्य होता है। यह शब्द उत्पाद विनाश शाली फलतः अनित्य माना जाता है। इसके दो रूप हैं—ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक। उत्पन्न शब्द लहरी की गति किसी किसी के मत से वीचितरंग न्याय से आगे आगे बढ़ती जाती है और दूसरे लोगों के अनुरोध

से कदम्बगोलक न्याय से ऊर्ध्वाधः एवम् आगे-पीछे सब तरफ मानी जाती है। इन लोगों का सिद्धान्त है कि अर्थ की प्रतीति जिस पद या वाक्यात्मक शब्दों से होती है—उसका अन्त्य वर्ण प्रत्यक्ष तथा शेष पूर्ववर्ती स्मृतिगोचर माने जाते हैं।

मीमांसा दर्शन और शब्द :

मीमांसा सर्वस्व 'द्वादश लक्षणी' के शब्द नित्यत्वाधिकरण में अट्ठारह सूत्र हैं। इनमें से छह पूर्व पक्ष के हैं और छह उत्तर पक्ष के। उत्तर पक्ष के इन छह सूत्रों में स्वकीय मंतव्य का प्रतिष्ठापन है। 'वृद्धिश्चकर्तृभूम्ना'[1] द्वारा एकत्र शब्द की वृद्धि की बात भी कही गई है—जिससे जान पड़ता है कि सांख्य[2] और पातंजलों[3] की भांति ये मीमाँसक भी शब्द को सावयव या अवयवी मानते हैं। वासुदेव दीक्षित ने 'कुतूहल[4] वृत्ति' में इसका निर्देश भी किया है। शब्द सावयव है—इसलिए द्रव्यात्मक हैं।

अन्यत्र 'श्लोक वार्तिक' तथा 'शावरभाष्य'[5] आदि में भी कहा गया है कि शब्द निरवयव है। 'अपूर्वाधिकरण' में जो कुछ आत्मा के लिए कहा गया है वही अन्यत्र शब्द के लिए भी कहा गया है—अर्थात् शब्द आत्मा की भांति न केवल नित्य है, प्रत्युत विभु भी। शावर भाष्य में भी कहा गया है—"असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम्।"[6]

मीमांसा दर्शन में शब्द द्रव्य है अथवा गुण—इसको लेकर पर्याप्त विचार हुआ है। कुमारिल भट्ट जाति (कत्वादि) का आश्रय होने के कारण द्रव्य मानते हैं और प्रभाकर किसी गुण का आश्रय न होने के कारण स्वयम् गुण मानते हैं। पक्ष प्रतिपक्ष पूर्वक एक लम्बी परम्परा द्रव्य गुण समर्थन में तत्पर लक्षित होती है। एक ओर कुमारिल तथा उनके अनुयायी-मण्डन मिश्र, वाचस्पति, सुचरित मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, विश्वेश्वर भट्ट; चिदानन्द पण्डित तथा नारायण पण्डित हैं और दूसरी ओर प्रभाकर, शालिक नाथ, भवनाथ मिश्र, नन्दीश्वर तथा रामानुजाचार्य प्रभृति हैं।

शब्द के संबंध में तीसरी बात जो विचारणीय है—वह है उसकी जड़ता तथा चिन्मयता। कट्टर मीमाँसक मानते हैं कि यदि शब्द को चेतन मान लिया गया तो

---

१. १।१।६ (सव्याख्यशावरभाष्यसमेत) मीमांसा दर्शनम्, पृ० ७५, आनन्दाश्रम ग्रंथावली—१६२६।
२. सांख्यतत्व कौमुदी, पृ० १७१–१७२।
३. पातंजल दर्शनम्, पृ० ८७–८८।
४. कुतूहल वृत्ति, पृ० १२ "नित्य एव शब्दः स्यात्"।
५. (सव्याख्य शावरभाष्यसमेत) मीमांसा दर्शनम्, पृ० ८४।
६. (सव्याख्य शावरभाष्य समेत) मीमांसा दर्शनम्, पृ० ७४।

मीमांसकों का वेदान्तियों से अपना वैशिष्ट्य ही क्या रह जायगा ? फलतः इनमें से अधिकांश मानते हैं कि शब्द जड़ है । शब्द वर्णात्मक हैं और यद्यपि मंत्र वर्णघटित होते हैं और देवता मंत्रात्मक होते हैं—फलतः देवता के चिन्मय होने से बचने के लिए मीमांसक मानते हैं कि देवतात्व और कुछ नहीं, प्रत्युत 'विधिविहितत्व' ही है। भाट्टदीपिका[1] (९ अ० १ पा० चतुर्थ अधिकरण) में स्पष्ट कहा है—"शब्द मात्र देवता।"[2] वैसे समन्वय की दृष्टि से मर्मी मीमाँसकों का कहना यह है कि इनकी चिन्ताधारा में शब्द को चेतन-अचेतन—सिद्ध करने का कोई प्रसंग ही नहीं है—फलतः वे इस तरफ से उदासीन हैं । यदि इसे और भी स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि शब्द मात्र देवता हैं—इतनी शर्त अवश्य है कि वह शब्द विधिविहित हो । उदाहरण के लिए —'अग्नेय जुष्टं निर्वपामि" यह एक विधि है—इसमें विधि विहितत्वविद्यमान है—इसकी तद्धितान्त अथवा चतुर्थ्यन्त शब्द की आनुपूर्वी ही देवता है—इस मान्यता के कारण ये मीमांसक देवता का विग्रह स्वीकार नहीं करते। वे कहते ही हैं—"अतः कथमपिन विग्रहादिस्वीकारः" । किन्तु शब्दमात्रं देवता । अर्थस्तु प्रतिपादकानुरोधेन चेतनोऽचेतनो वा कश्चित् स्वीक्रियते, न तु विग्रहादिमान् । उपासनादौ परं ध्यानमात्र-माहार्यं तस्मेति जैमिनिमतनिष्कर्षः । मम तु एवं वदतोऽपि वाणी दुष्यति—इति हरि-स्मरणम् ।"[3] अर्थात् कर्म वादी मीमांसक अपनी मान्यता के अनुसार यह मानता है कि इस चिन्ताधारा में फल कर्म की ही अनिवार्य परिणति है—एतदर्थ किसी विग्रहवती अतिरिक्त शक्ति की अपेक्षा नहीं है । यहाँ तो तद्धितान्त अथवा चतुर्थ्यन्त शब्द की आनुपूर्वी ही देवता है । रहा यह कि यदि शब्द है (अग्नये आदि) तो उसका कुछ अर्थ हैं या नहीं ? और अर्थ है तो वह चेतन है या अचेतन ? मीमांसक इस निर्णय की ओर से उदासीन हैं और चेतन या अचेतन में से कुछ कहें भी—तो भी वे उसे विग्रह सम्पन्न मानने को कथमपि प्रस्तुत नहीं हैं । कहीं-कहीं "शारदा तिलक" की शक्ति—"शब्द ब्रह्म यमूचिरे सुकृतिनः चैतन्यमन्तर्गतम"—या ताँत्रिकों की धारणा के अनुसार यह माना जाता है और माना गया है कि शब्द चैतन्य है। 'अनिर्वचनीयता सर्वस्व' में शंकर चैतन्य माली ने यह स्वीकार किया है कि शब्द चिन्मय है। अस्तु, मीमांसक शब्द के विग्रहादिमान् होने में अपनी स्वीकृति नहीं देते ।

'उपासना' के संदर्भ में—जो 'वस्तु-तंत्र' ज्ञान की अपेक्षा 'इच्छा-तंत्र' है—मीमांसक मानते हैं कि वहाँ देवता का ध्यान करने के लिए किसी रूप का आहरण या आरोपण कर लिया जाता है। इन मीमांसकों की दृष्टि से जैमिनि के मत का निष्कर्ष तो यही है । खण्ड देव अपनी वैयक्तिक निष्ठा के विपरीत इसे अवश्य मानते हैं और

१. खण्ड देव कृत भाट दीपिका, भाग २ मद्रास विश्वविद्यालय, १९५२, पृ० १७६ ।
२. वही, पृष्ठ १८० ।
३. शारदा तिलक, पृष्ठ १ ।

ऐसा कहते हुए भी अपनी वाणि को वे स दोष समझते हैं—अपराधो मानते हैं। तात्का-लिक विचारधारा और समय की चिन्तन गति के अनुरोध से ये मीमांसक 'कर्म' का ही महत्व प्रतिपादित करने में तत्पर हैं—फलतः पार्थसारथि मिश्र जैसे मीमांसक धुरीणों ने यह माना है—"मंदधियस्तु श्रद्धालवः तात्पर्यमजानानाः भ्रामयन्तु नाम देवता फलं प्रयच्छति, वस्तुतस्तु कर्मण एवतत्"[1]—अर्थात् मंद बुद्धि श्रद्धालु गण वेद का तात्पर्य न समझते हुए इस भ्रम में भले पड़े रहें कि कोई विग्रहादिमान् देवता फल देगा—पर वास्तविकता यह है कि फल तो कर्म का ही मिलता है। और भी प्रविष्ट होकर विचार किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि ग्रंथकार देवता की विग्रह मत्ता का खण्डन नहीं करता, अपितु जैमिनि के मत का निष्कर्ष कहता है।

मीमांसकों ने 'शब्द' स्वरूप विमर्श के संदर्भ में उसकी स्फोटात्मकता का भी विचार किया है। वैयाकरण तो मानते हैं कि स्फोट निरवयव है, पर मीमांसक 'वर्ण' को सावयव कहना चाहते हैं। इस स्थापना के पक्ष में वे तर्क यह देते हैं कि यदि शब्द को सावयव न माना गया तो 'ऊहा' आदि की निष्पत्ति न हो सकेगी। फलतः मीमांसकों ने 'स्फोट का खण्डन किया है और वर्ण को नित्य तथा विभु माना है। ये लोग नित्य वर्ण की अभिव्यक्ति मानते हैं—उत्पत्ति नहीं—यही कारण है कि इनके यहाँ 'क' एक ही है—अनन्त उच्चरित व्यष्टियाँ नहीं—फलतः कत्वादि जातिमान् 'क' की कल्पना निरर्थक है।

शास्त्र दीपिका (१।१।५) में वर्णनित्यतावाद का समर्थन मिलता है और स्फोट वाद का खण्डन। आनुपूर्वी (ध्वनिक्रमागत) आरोपित है—शब्दगत वास्तविकता नहीं। वाक्य स्फोट वादी वैयाकरण इसे (आनुपूर्वी को) भी नित्य मानते हैं। इसीलिए वे कहते हैं—"तसमाद् व्यंजकानां ध्वनीनां क्रमेण व्यङ्ग्येषु वर्णेषु समारोपितेन तद्वन्तः स्मर्यमाणा वर्णा वाचकाः नान्यः शब्दोऽस्ति—इति सिद्धम"[2]। (अध्वरमीमांसा) 'कूतू-हल वृत्ति' में भी कहा गया है—"वाचा विरूप-नित्यया"[3]—जिससे वाक् या वर्ण का नित्यत्व सिद्ध है।

इन मीमांसकों ने नैययिकों का भी खण्डन करते हुए यह कहा कि नैययिक शब्द को आकाशाश्रित होने से गुण मानते हैं पर श्रोत्र आकाश प्रत्यक्ष द्वारा शब्द ग्रहण नहीं करता, प्रत्युत साक्षात् ग्रहण करता है—अतः उसे 'द्रव्य' ही मानना संगत है—गुण नहीं। उनके तर्क हैं—शब्दो द्रव्यं सत्वे सत्यनाश्रयत्वात्, गगनवत् (पृ० २१९)। "शब्दो विभुः स्पर्शविहंद्रव्यत्वात्; अनारम्भकले सति अनवयवद्रव्यत्वात् वा आत्मवत् इति

१. शास्त्र दीपका।
२. वही, पृष्ठ ६४, १७ निर्णयसागर, बम्बई, सन् १६१५ (पार्थसारथि मिश्र)।
३. मीमांसा दर्शनम्, म० म० [illegible] शास्त्री कृत भूमिका में उद्धृत, पृ० १८।

विभुत्वसिद्धिः"—अर्थात् शब्द इसलिए द्रव्य है कि वह 'है' और साथ ही किसी अन्य का आश्रित नहीं—अन्य अधिकरण सापेक्ष नहीं। उदाहरण के लिए 'गगन' को लिया जा सकता है। आकाश इसीलिए तो द्रव्य है—कि एक तो वह 'है'—उसका अस्तित्व सिद्ध है और दूसरे यह कि वह अपने अस्तित्व के लिए किसी अतिरिक्त आश्रय का अपेक्षी नहीं [1]। साथ ही शब्द विभु या व्यापक होता ही है। मीमांसकों की इस 'वर्ण-नित्यता' के विपरीत वैयाकरणों की जो 'एक बुद्धिग्राह्यता' वश अखण्ड-वाक्यता की प्रतीति होती है—वह भ्रान्त है। 'अखण्ड बुद्धि ग्राह्यता' वश प्रतीत वाक्य-गत आनुपूर्वी आरोपित है—वास्तविक नहीं। कहा ही गया है—"एकार्थावबोधकत्वात्, वर्णे-पुनरेकत्वप्रतीतिर्नानुपन्ना[2]"।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन के 'शब्द' संबंधी समस्त विचारों को संपिण्डित करने पर यह जान पड़ता है कि वे लोग वैखरी शब्द को लेकर चाहे उसे सावयव मानें, पर सामान्य स्वर यह भी श्रुतिगोचर होता है कि 'वर्ण' नित्य है। साथ ही यह भी कि उसके चेतन या चिन्मय होने पर भी उन्हें न केवल अनापत्ति है, अपितु कहीं-कहीं तो कण्ठरवेण समर्थन भी करते हैं। इस प्रकार तंत्र सम्मत धारणा की पुष्टि भी होती है। मीमांसा दर्शन इससे विरुद्ध नहीं जाता।

सांख्य और पातंजलि की भांति उत्तर मीमांसक भी मानते हैं कि शब्द आहंकारिक है—अहंकार से समुत्पन्न शब्द तन्मात्र है। यहाँ शब्दतन्मात्र से आकाशीय अणु और फिर इस अणुप्रचय से अवयवी आकाश की उत्पत्ति मानी जाती है। जहाँ तार्किक गण आकाश में शब्द की स्थिति मानते हैं—वहाँ सांख्य तथा पातंजल शब्द तन्मात्र से ही आकाश की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं—साथ ही उसका स्वरूप भी भिन्न (निरवयव नहीं, सावयव) बताते हैं।

पूर्व मीमांसक श्रोत्रग्राह्य ध्वनि को अभिधेय बुद्धि का निमित्त नहीं मानते, विपरीत इसके वे कहते हैं कि ध्वनि व्यंजक है—नित्य और विभु वर्णों का। वर्ण नित्य हैं—इसीलिए विभु भी हैं। इसके विभुत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

> अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः
> तन्नित्यं विभु चेच्छन्ति, आत्मनो विभुतेष्यते ॥

वैयाकरण और शब्द :

वैयाकरण इन सबसे हटकर अपना स्वतंत्र मत स्थापित करते हैं। पाणिनीय शिक्षा, वाक्यपदीय तथा स्फोट निरूपण परक व्याकरण शास्त्र के अन्यान्य ग्रंथों के आधार पर शब्द विषयक जो दार्शनिक धारणा व्यक्त होती है वह यह कि वैयाकरण शब्द

---

१. मानमेयोदय, पृ० २१६।
२. वही।

को न तो नैयायिकों की भांति आकाश गुण मानते हैं और न तो सांख्य और पातंजलों की माँति आहंकारिक अथवा आकाश का आरम्भ ही। साथ ही वे मीमांसकों की भाँति यह भी नहीं मानते कि शब्द ध्वनिव्यंग्य नित्य वर्णात्मक ही हैं। वे तो इन सब लोगों से भिन्न 'स्फोटात्मक' मानते हैं। स्फोटात्मक शब्द नित्य, निरवपन, तथा चिन्मय शब्द ब्रह्म हैं। ध्वन्यात्मक शब्द क्षणस्थायी फलतः अनित्य हैं—अतः उनका एक बुद्धि में उपारूढ़ होना—जो अनुभव संगत लगता सा है—विचारित सुस्थ नहीं है। अनुभव तथा विचार की इस असंगति को दूर करने के लिए वैयाकरण ध्वनि से अतिरिक्त स्फोटात्मक शब्द की कल्पना करते हैं। साथ ही मानते हैं कि पूर्व वर्णानुभव जन्य संस्कार सहकृत चरमवर्ण से वह व्यंग्य होता है। वस्तुतः श्रोत्र ग्राह्य ध्वनि 'मध्यमा' वाक् को व्यक्त करती है और व्यक्त मध्यमा वाक् से (वैखरी वाक् की भांति) पुनः ध्वनि होती है जो उपर्युक्त क्रम से स्फोट को उपरक्त कर देती है—फिर उपरक्त स्फोट का मन द्वारा साक्षात्कार होता है। इसी एक बुद्धि में उपारूढ़ पद या वाक्य द्वारा अर्थ वोध होता है।

'पाणिनीय शिक्षा'[1] में कहा गया है कि शरीर-इंद्रिय मन तथा वुद्धि से व्यतिरिक्त आत्मा (द्रष्टा) वुद्धि को करण वनाकर अर्थाविगम करता है। अधिगत अर्थमयी बुद्धि विवक्षा वश मन को प्रेरित करती है और मन कायाग्नि को धक्का देकर जागरित करता है। वह कायाग्नि मारुत को प्रेरित करती है। मारुत उरः प्रदेश की ओर बढ़ता है और मन्द स्वर पैदा करता है। कण्ठ प्रदेश में आकर मध्यस्वर तथा वही मारुत मूर्द्धा में जाकर तारस्वर का जनन करता है। मूर्द्धा के वाद अगतिक गति होकर टकराहट के वाद वह लौट आता है और यह परावृत्त मारुत मुखविवर के विभिन्न अवयवों से टकराता हुआ नानाविध वर्णों को उत्पन्न करता है।

प्रश्न यह है कि वैखरी वाक् की होती है या वायु सहकृत वैखरी वाक् की होती है? परस्पर सहकृत मानने में कोई निर्णायक (विनिगमक) न होने से कार्यकारण की परम्परा गौरवाक्रान्त हो जायगी—फलतः यही मानना उचित लगता है कि मारुत वैखरी वाक् की अभिव्यक्ति में निमित्त है और वैखरी वाक् आकाश की अभिव्यक्ति में निमित्त—इसी आकाश की परिणति ध्वनि हो सकती है—तभी उसे श्रोत्र ग्राह्य माना जाना भी संभव है—संगत है। जैन दार्शनिकों की भांति ये वैयाकरण भी तर्क देते हैं कि शब्द से आघात लगता है—अतः यह द्रव्य है।

वास्तव में कायाग्नि जिस मारुत को प्रेरित करती है उसके सहकार से परावाक् व्यक्त होती है—जो पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के स्तरों पर उत्तरोत्तर देश भेद

---

१. 'पाणिनीय शिक्षा', वेचनराम त्रिपाठी संशोधित, ब्रजभूषण दास और कम्पनी, नई सड़क, बनारस, १८८७।

से स्थूल-स्थूलतर रूप में आत्मप्रकाश करती है। अनुभव है कि स्मृति, आवृत्ति तथा जप आदि के सायास सम्पादन में हृद् देश पर दवाव पड़ता है। इसीलिए कहीं-कहीं यह कहा गया मिलता है कि मानस जप में 'मध्यमा' व्यक्त होती है। फलतः यह माना जाता है व्यवत मध्यमा वाक् पुनः ध्वनि करती है और उस ध्वनि से संहृतक्रम रूप में स्फोट ग्रहण होता है। प्रश्न यह है कि वैखरी ध्वनि को ही अभिव्यंजक क्यों नहीं मान लिया जाता? उत्तर दिया जाता है कि वैखरी और कुछ नहीं, स्थान या अवच्छेद भेद से 'परा' की ही एक स्थूल या भेदमयी दशा है। बैखरी (मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा) वाक् है और 'स्फोट' शब्द। द्वैत स्तर पर वाक् एवम् शब्द में अंतर है। बैंखरी असन्निहित है। फलतः मध्यमा वागुच्चरित ध्वनि का ही स्फोट में अव्यवधान पूर्वक वाक्यात्मक प्रतिविम्व स्वीकार करना पड़ता है।

हृद् देश में व्यक्त या गृहीत होने वाला यह स्फोटात्मक शब्द दो प्रकार का है—व्यक्तिस्फोट तथा जातिस्फोट। प्रथम के पाँच रूप हैं—वर्ण, सखण्ड पद, सखण्ड वाक्य, अखण्ड पद, अखण्ड वाक्य। द्वितीय के तीन रूप हैं—वर्णत्व, सखण्ड पदत्व तथा सखण्ड वाक्यत्व।

यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि वाक् चार प्रकार की है। परमलघु[1] मंजूषा-कार का कहना है—"तत्र मूलाधारस्थ पवन संस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्द ब्रह्मरूपा स्पंद शून्या बिंदुरूपिणी परावाक् उच्यते"—अर्थात् गुदा से दो अंगुल ऊपर एवम् मेढ़ से दो अंगुल नीचे या कुल चार अंगुल के स्थान को मूलाधार कहते हैं। परावाक् यहीं मूलाधारस्थ पवन के योग से अभिव्यक्त होती है। यही शब्द ब्रह्म हैं। भर्तृहरि ने इसे ही शब्द ब्रह्म कहा है।

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम्।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः[2] ॥१॥

वैयाकरण इसे 'पश्यन्ती' कहते हैं—यहीं तक का वे विवेचन करते हैं—परा इसी की 'परा' स्थिति है। इसी शब्द तत्व से जगत् की प्रक्रिया विवर्त भाव से चलती है। नाभि पर्यन्त आती हुई इसी वायु से अभिव्यक्त मनोगोचरी भूत वही वाक् 'पश्यन्ती' कही जाती है। वाग्ब्रह्म के ये दो स्तर-परा तथा पश्यन्ती—निर्विकल्पक ज्ञान में योगिजनों द्वारा अनुभूत किए जाते हैं। तदनन्तर वही हृदय पर्यन्त आई हुई उसी वायु से अभिव्यक्त 'तत्तदर्थवाचक शब्द स्फोट रूपा' सूक्ष्म जपादि में बुद्धि ग्राह्य होकर मध्यमावाक् कही जाती है। कहा ही है—

---

१. वैयाकरण सिद्धांतपरमलघु मंजूषा, प्रकाशक... बंशीधर मिश्र, सं० २०१४ पृ० ३०–३२ तक।

२. वाक्यपदीय प्रथम काण्ड, १।

"ततो हृदयपर्यन्तभागच्छता तेन वायुनाभिव्यक्ता तत्तदर्थ वाचक शब्द स्फोट रूपा श्रोत्रग्रहणयोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिर्ग्राह्‌या मध्यम वागुच्यते[1]" ।

वहीं यह भी कहा गया है—

परावाङ् मूल-चक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया बैखरी कण्ठदेशगा ।
वैखर्या हि कृतो नादः पर श्रवणगोचरः ।
मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यंजक उच्यते[2] ॥

टीकाकारों ने कहा है—मध्यमा वाक् ही स्फोट है; अथवा यह कहना ठीक होगा कि स्फोट प्रकाशक हैं—मध्यमावाक् । और भी सार की बात यह है कि मध्यमा के दो पक्ष हैं—एक स्फोटात्मक और दूसरा उसका व्यंजक ध्वनिमय रूप। टीकाकारों ने इस समस्या को और बढ़ाया है और कहा है—मध्यमानाद सूक्ष्मतर होता है । कान बंद कर जपादि के अवसर पर यदि अनुभव किया जाय तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि यह मध्यमा नाद सूक्ष्मतर वायु से व्यंग्य होता है—प्रकाशित होता है। यह शब्द ब्रह्मात्मक होता है—साथ ही स्फोट का प्रकाशक भी । देखें—"मध्यमानादश्च सूक्ष्मतरः । कर्णपिधाने च जपादौ सूक्ष्मतरवायुव्यंग्यः शब्दब्रह्मरुपः स्फोटव्यंजकश्च । तादृशमध्यमानादव्यंग्यः शब्दः स्फोटात्मकः ब्रह्मरूपो नित्यश्च[3] ।" यह मध्यमानाद व्यंग्य शब्द ही स्फोट कहा गया है—वही ब्रह्म है, नित्य है। इसकी ब्रह्मरुपता के समर्थन में भर्तृहरि को उद्धृत किया जाता है। प्रश्न यह है कि परावाक् शब्द ब्रह्म है अथवा स्फोटात्मक शब्द ? इस प्रश्न का उत्तर हरिवल्लभ कृत 'वैयाकरण भूषण सार' की 'दर्पण' नामक टीका में मिलता है । उन्होंने कहा है—"मायाविद्ययरपर्यायत्रिगुणात्मकाव्यक्तप्रभवः शब्द ब्रह्मापरनामा चेतनाधिष्ठितोऽनभिव्यक्त वर्णविशेषो रवः परादिशब्दैर्व्यवह्रियमाणः नादः स्फोट इत्युच्यते । स च सर्वगतोऽपि पुरुषस्पज्ञातार्थविवक्षाधीनप्रयत्नाधिष्ठितमूलाधारस्थपवनेनाभिव्यक्तः पश्यन्तीति . . . ॥"[4] अर्थात् माया, विदु अथवा अव्यक्त का प्रभाव शब्द ब्रह्म नामक चेतनाधिष्ठित अनभिव्यक्त वर्ण विशेष रव ही परा आदि शब्दों द्वारा व्यपदिष्ट नाद ही स्फोट कहा जाता है। वह

---

१. परमलघु मंजुषा, पृ० ३१ ।
२. वही, उद्धृत, पृ० ३१ ।
३. परमलघु मंजुषा, पृ० ३१–३२ ।
४. वैयाकरण भूषणसार, दर्पण टीका, पृ० ५६८, भार्गव पुस्तकालयाध्यक्ष गायघाट, वाराणसी, १६६१ प्रथम राज संस्करण ।

सर्वव्यापक होता हुआ भी ज्ञातार्थ की विवक्षा वश संपादित प्रयत्न के कारण मूलाधार स्थित पवन द्वारा प्रकाशित होने पर 'पश्यन्ती' आदि नामों से कहा जाता है। अर्थात् द्वैत भूमि पर जो 'परा' आदि वाक् तथा 'स्फोट' आदि शब्द भिन्न माने जाते हैं—वे ही अद्वैत दृष्टि से अभिन्न हैं—केवल स्थान तथा अवस्था भेद से ही वाक् एवम् शब्द भिन्न हैं—तत्वतः नहीं।

पर उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि मध्यमा या स्फोट पृथक हैं या अपृथक्? स्फोट यदि शब्द ब्रह्म है तो वह माया प्रभाव कैसे? टीकाकारों की यह घपलेवाजी वात को सुलझाने की जगह और भी उलझा जाती है। वस्तुतः मूल तत्व ही सव कुछ है और वह चिन्मय है। वही औपाचिक दृष्टि से नाना रूपों में व्यपदिष्ट होता है। वही मूलाधारस्थ होकर योगियों के लिए भी अगम्य 'परा' है और 'पश्यन्ती आदि उसी की व्यक्त-व्यक्ततर दशाएं हैं। परमार्थतः कहीं कोई भेद नहीं। व्यवहार भूमि पर वही प्रकाशक और प्रकाश्य रूप से भिन्न हो जाता है। मध्यमा वाक् या नाद से व्यंग्य शब्द 'स्फोट' नाम से पुकारा जाता है। मध्यमा से भी ध्वनि होती है और उससे स्फोट उपरक्त होता है—यह कहा जा चुका है।

परादि का विचार सृष्टि क्रम में तो होता ही है, अर्थक्रम में भी होता है। सृष्टि क्रम में 'पश्यन्ती' को 'परा' का सोपाधिक विवर्त माना गया है और उपाधि के रूप में 'माया' अथवा 'काल' का भी कभी पर्याय रूप में और कभी भिन्न रूप में उल्लेख हुआ है। इसी माया के वल से परा में जो सिसृक्षा होती है—उसी से वह 'पश्यन्ती' अवस्था में अपने को व्यक्त करती हैं। इसी के गर्भ में 'शब्दतन्मात्र"[1] की भी स्थिति मानी गई है। वाक्य प्रदीप में भी एक कारिका है—

> अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्म वागात्मना स्थितम्।
> व्यक्तौ स्वरूपरूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥
> शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो बिदुः।
> छंदोम्य एवतद् विश्वं प्रथमं व्यवर्तत[2] ॥३॥

विश्व जिस सूक्ष्मा वाक् का परिणाम है, वह पश्यन्ती अथवा शब्दतन्मात्र कहा जाता है। विश्व जिसका विवर्त है—वह परा वाक् कही जाती है। इस वस्तुस्थिति के विपरीत जहाँ जो कुछ हो—वह उपाधि तथा उपहित को लेकर समंजस कर ली जानी चाहिए।

व्याकरण दर्शन तंत्रवाद के अधिक नजदीक ही नहीं, तंत्रवादी ही है। वैसे तो सृष्टि को सभी शब्द पूर्विका मानते हैं—पर तंत्रों में 'शब्द' तत्व का विशेष व्याख्यान है।

---

१. साम्वपंचाशिका, पृष्ठ ३।
२. वाक्य पदीय, पृ० १२५ (चौखम्भा, १६६१ स० ना० शुक्ल सं०)।

तंत्र और वर्ण :

तंत्रों में 'वर्ण' पद का प्रयोग केवल वैखरीवत् तात्वाद्यभिघातजन्य स्फुट वर्णों के लिए ही नहीं होता—अपितु अव्यक्त नाद के लिए भी होता है। तंत्रों में 'विंदु' से लेकर 'उन्मना' तक नव की समष्टि को भी 'नाद' कहा जाता है और साथ ही 'वर्ण' भी। यह कहना कि वे नाद दकारादि की भांति स्पष्ट रूप से अनुच्चार्य हैं—और तंत्री स्वर की भांति सुने जाते हैं—अतः इन्हें वर्ण नहीं कहा जा सकता—ठीक नहीं है। कारण यह है कि इन्हीं तर्कों के वावजूद अनुस्वार और विसर्ग भी वर्ण कहे जाते हैं। रहा यह कि ताल्वादि परिगणित स्थानों द्वारा अनभिव्यंग्य होने के कारण इन्हें वर्ण न कहा जाय, तो 'पश्यन्ती' आदि को भी 'वर्ण' न माना जाय तो ऋग्वेद (२।३।२२) के इस कथन की कि 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि"—अर्थात् परा आदि वाक् चार हैं और ये सम्मिलित होकर 'पद' हैं—क्या संगति होगी? इस परिमित अथवा सम्मित रूप को 'पद' किस प्रकार कहा जा सकेगा[1]? यदि इन्हें 'वर्ण' न समझा जाता या समझा जाय तो इन्हें 'पद' कहा किस प्रकार जायगा? साराँश यह कि 'वर्ण' शब्द का प्रयोग वैखरीवत् स्फुट और उच्चरित ध्वनि विशेष ही नहीं, प्रत्युत 'नाद' भी हैं। नादात्मक तो 'वर्ण' होते ही हैं—यह बात दूसरी है कि वे जितने ही स्फुट होते जायंगे, उतने ही चिन्मय भी होते जायंगे। इसीलिए कहीं-कहीं यह भी कहा गया है—"वर्णाश्चिन्यरीचयः" वर्ण का स्वरूप अप्राकृत स्तरों पर चिन्मय ही हैं। तंत्र साहित्य में सामान्य स्पंदात्मा नादात्मक तत्व तथा उसके अप्राकृत-परा, पश्यन्ती, मध्यमा स्तरों के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग होता है और वे चिन्मय भी माने जाते हैं। वैखरी भूमि से मध्यमा भूमि में जाना ही-शक्ति का जागरण है—मंत्र का चिन्मयीकरण है। इसे 'शब्द' संज्ञा से केवल इसलिए उल्लपित किया जाता है कि उभयत्र 'चाँचल्य' या 'स्पंदन' समान है। षट् चक्रगत वर्ण कल्पना का रहस्य इसी आलोक में स्पष्ट होता है। शांकर वेदांती व्यवहार में भाट्टनय ही स्वीकार करते हैं—फलतः उक्त मत से वे भी सहमत हैं। आचार्य[2] शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में वैयाकरणों के विपक्ष में मीमांसकों के मत की ही पुष्टि की है और माना है कि सृष्टि शब्द पूर्विका ही है और उपवर्ष के 'वर्णा एवतु शब्दः' के अनुरूप स्वीकार किया है कि वर्ण नित्य है। श्रूयमाण वर्ण इसी नित्य वर्ण के व्यंजक हैं। वैयाकरण भी तो तार्किकों का खण्डन करते हुए यही मानते हैं कि श्रूयमाण एवं उच्चरित शब्द केवल व्यंजक हैं—नित्य स्फोटात्मक शब्द थे। उसी स्फोटात्मक शब्द से ही अर्थ का प्रत्यय होता है। आगमिकों ने भी वैखरी वर्णों को मूल वर्णों का प्रतीक ही माना है। स्थूल रूप ही स्वीकार किया है—"मंत्राश्चिन्यरीचयः' मूल सामान्य स्पंदमय वाक् भी वर्ण है, पर ऐसा जहाँ सभी

---

१. वरिवस्या रहस्य, पृष्ठ ११।

२. ब्रह्म सूत्र, शांकर भाष्य अ० १ पा० ३ अ० ८ प० २५५।

वर्ण अविभक्त रूप से वहाँ एकीकृत हैं—ऐसे ही वर्ण को, नाद को शब्द को, शक्ति और अर्थ को शिव माना गया है। शक्ति ही शब्दब्रह्म है वही प्रणव या ऊंकार है। पातंजल दर्शन, माण्डूक्य उपनिषद् तथा अन्यत्र भी इस ऊंकार का वर्णन उपलब्ध होता है। शास्त्रों में यह भी माना गया है कि सभी मंत्रों की परमा प्रकृति प्रणव या ऊंकार ही है। आगमों में मध्यमा भूमि को मंत्रमयी भूमि माना जाता है और वर्ण घटित मंत्रों को चिन्मय-वैखरी में यह चिन्मयता नहीं रहती—उन्हें मंत्र औपचारिक रूप में कहा जाता है। कारण, स्थूल धरातल पर वे उनके वाचक माने जाते हैं। पश्यन्ती वाक् में कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्ति होती है—यही देवता का स्वरूप है। निष्कर्ष यह कि वैखरी से ऊपर जो वर्ण की वात कही जाती है—वह उससे भिन्न प्रकार की है। म० म० गोपीनाथ कविराज का कहना है—"हमारी परिभाषा में जो वर्ण मातृ का हैं वे सब पृथक् पृथक भावों की शाब्दिक अभिव्यंजना मात्र[१] हैं।" "ये (अ से ह तक) सब वर्णमाला भगवान की रश्मि या शक्तियों के प्रतीक[२] हैं।" अन्यत्र उन्होंने यह भी कहा है—"प्राण के चलन से वर्णादि का उदय होता रहता है। प्राण का चलन दो प्रकार का होता है—एक स्पंदात्मक और स्वाभाविक दूसरा क्रिया-त्मक और प्रयत्नजन्य। जो स्पंद रूप स्वाभाविक चलन है, उससे स्वभावतः ही वर्ण का उदय होता है। वर्णों के उदय में किसी की भी इच्छा अथवा प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती—सभी वर्ण नियत रूप और सर्वत्र अविशिष्ट हैं, किंतु मंत्रपदादि का उदय योगी की इच्छा के विना नहीं हो सकता। वे अगणित और अनियत हैं—वर्णों के तुल्य नियत और परिगणित[३] नहीं।" जहाँ प्राण हैं अथवा स्पंद शक्ति का खेल है वहाँ प्रवाह रहेगा ही, मूल में यह प्रवाह सरल रहता है पर बाद में वह क्रमशः वक्रभाव में परिणत होता है। दोनों ही वर्णोदय के अन्तर्गत तथा प्रयत्ननिरपेक्ष और स्वारसिक है। वर्ण का जो परमस्वरूप है, उसकी सूक्ष्मतर अवस्था में वर्णगत भेद अथवा विभाग नहीं रहता क्योंकि वही सब वर्णों का अविभक्त सामान्य[४] रूप है—

> "एको नादात्मको वर्णः सर्व दर्णाविभागवान् ।
> सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इवोदितः[५] ॥

संवित् शून्यता से होकर पहले प्राण रूप में परिणत होती है। यह प्राण स्वाभाविक उच्चार करता है। इस प्राणात्मक उच्चार की दो वृत्तियाँ हैं—सामान्य तथा प्राणादि-

---

१. भा० स० सा० भाग १, पृष्ठ ३१७ ।
२. भारतीय साधना और संस्कृति, भाग १, पृ० ३१७ ।
३. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ३, १, २ ।
४. वही, पृष्ठ ३०२ ।
५. वही ।

भेद पंचमयी । पहली ही अनाहत है—जिसमें सभी वर्ण एक रस हैं। वर्णोत्पत्ति निमित्त होने से यह भी वर्णमयी कही जाती[1] है ।

कविराज जी के वर्ण संबंधी ये वक्तव्य सिद्ध करते हैं कि भारतीय आगम एवं निगम का वर्ण के विषय में मथितार्थ क्या है। इस धारा में वर्ण नित्य हैं—वे 'पूर्ण' की 'कलाएं' हैं—चिन्मरीक हैं—चिन्मय हैं । मुखोच्चरित एवं श्रवण-श्रुत वर्णों में चिद्भाव गुप्त हैं। वैखरी से मध्यमा की यात्रा जड़ता से चिन्मयता की ओर यात्रा है। पश्यन्ती और परा की भूमियों पर वर्णात्मक कलाओं का उत्तरोत्तर अविभाग बढ़ता जाता है। इस विस्तृत विवरण के आलोक में स्थिर यह होता है कि श्रूयमाण वर्ण की धारणा से स्वतः प्रवहमान सूक्ष्म भूमियों (मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा) के वर्णों की धारणा भिन्न हैं । 'वरिवस्पा रहस्य' के टीकाकार सुधीभास्कराचार्य ने यह भी प्रश्न उठाया है और उसका समाधान दिया है कि वर्ण उसे ही कहना चाहिए जो ताल्वादि अभिघात जन्य होने के कारण स्फुट हैं—फलतः जिस भूमि पर ताल्वादि ही नहीं हैं—वहाँ वर्ण का व्यवहार असंगत है । समाधान देते हुए उन्होंने व्यवहार का ही प्रमाण दिया है और कहा है कि आगमिक और नैगमिक चिन्तकों ने जिन परा, पश्यन्ती और मध्यमा को नाद के अतिरिक्त वाक् भी माना है—वर्णात्मा भी कहा है—जिन मीमांसकों ने वर्ण को नित्य माना है और ताल्वाद्यभिघात जन्य वर्ण को उनका केवल व्यंजक तथा प्रतीक बताया है—उनका ही साक्ष्य है कि वर्ण का व्यवहार ऐसे रूपों के लिए भी किया गया है जो श्रूयमाण वर्ण की तरह नहीं हैं। उनका तो यह भी कहना है कि श्रूयमाण वर्ण ही वास्तविक वर्ण या शब्द नहीं है—वे तो अभिव्यंजक और स्थूल धरातल पर उनके संकेत मात्र हैं। अतः यह आपत्ति निराधार है कि 'वर्ण' शब्द से उन आँतर रूपों का बोध असंभव है। उन आँतर रूपों के साक्षात्कार के अभाव में उल्लेख मात्र ही हमारा पाथेय है—उन्हीं उल्लेखों के साक्ष्य पर उन्हें स्वीकार करना है। इस विवेचन के आलोक में इस कथन की असारता स्पष्ट है कि जिनकी (चक्रस्थ वर्ण) स्पष्टता या बोध के लिए वर्ण का प्रयोग किया जा रहा है—वे उनके बोधक हैं जिनका बोधक कराना यहाँ अभिमत नहीं है ।

दूसरा प्रश्न यह है कि वर्ण नित्य भी मान लिए जायं, तो प्रत्येक देशवासी के लिए वे अविशिष्ट किस तरह हैं—उनकी संख्या भी एक रूप किस प्रकार हो सकेगी ? उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रत्येक मानव नाम धारी प्राणी जब सोचता है तब किसी भाषा का सहारा लेता है और जिस भी भाषा का सहारा लेता है उसकी अपनी वर्णमालाएं होती हैं—अतः वह अपने अनुसार कल्पित चक्रों में वर्णमालाओं की व्यवस्था कर सकता है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है—"भारतीय

१. भारतीय संस्कृति और साधना ।

साधक पचास ध्वनियों में ही सोचते हैं—इसलिए उनकी दृष्टि से कमलों के पचास दल हैं। चीनी साधक इसी रास्ते सोचता, तो कदाचित् वहुत अधिक दलों की कल्पना करता। सो, सारे प्रपंच का सीधा अर्थ यह है कि हमारी भाषा में जो अक्षर हैं, वे केवल मुंह से ही नहीं निकलते मन में भी रहते हैं अगर वे वहाँ न होते तो आप ही आप मन में न आ जाते।"[१] डा० द्विवेदी ने 'सहज साधना' में वार-वार समझाया है कि सूक्ष्म शब्द श्रुतानुधावी छाप या संस्कार हैं और धीरे-धीरे गहराई में अव्यक्ततम होते हुए 'मध्यमा', 'पश्यन्ती' तथा 'परा जैसी पारिभाषिक शब्दावलियों से कहे जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि मन में जो शब्द हैं वह बैखरी की छाप होने के कारण बैंखरी ही है या और कुछ? वैंखरी की यह छाप और वाक् का मध्यमात्मक सूक्ष्म रूप—दोनों में क्या अन्तर है? तीसरी समस्या यह कि श्री गोपीनाथ कविराज ने (वर्ण माला) उन्हें सर्वत्र अविशिष्ट क्यों कहा? द्विवेदी जी के हिसाब से तो वह वर्णमाला विशिष्ट और भिन्न-भिन्न संख्या में हो सकती है।

जप-प्रक्रिया के विशेषज्ञों की यही मान्यता है कि जप चाहे वाचिक हो, उपाँशु या मानस—सभी वैंखरी हैं—क्योंकि वे प्रयत्न जन्य हैं। प्रयत्न जन्य इसलिए कि प्रयत्न-जन्य श्रुत शब्दों के संस्कार को या तो मन में जगाना पड़ता है या वाग्यंत्र से उच्चरित करना पड़ता है। अतः श्रुत और श्रुतानुधावी संस्कार तक वैखरी का ही प्रसार माना जाता है। डा० द्विवेदी श्रुतानुधावी मानस छाप को जव सूक्ष्म शब्द कहते हैं—तो उसे मध्यमा (और पश्यन्ती) से एक रूप करना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। योगियों और निगमागम मर्मज्ञों की धारणा 'मध्यमा' के विषय में कुछ और ही है—वे उसे सहज उच्चरित मानते हैं। मध्यमा सहज प्रवाहित नाद है—वह चिन्मय है—वहाँ ग्राहक-शब्द एवं ग्राह्य अर्थ और प्रत्यय का सांकर्य नहीं है—वह मंत्रमयी भूमि है। मंत्र चित् की मरीचियाँ और उसकी कलाएं ही हैं—वर्ण भी कलाएं हैं। विभक्त चित्कलात्मक वर्णों की स्थिति यहाँ विद्यमान है। इन चिन्मय वर्णों या शब्दों का निखिल अर्थजात से एकरूपता है—अतः 'अ' से 'ह' तक की वर्णः कला समष्टि निखिल अर्थ का जनक है। ये वर्ण और कुछ नहीं, मूल स्पंद की विभक्त कलाएं हैं। विभक्त कलाओं से मूल शक्ति जव आच्छन्न हो जाती है—तव वह परिच्छिन्न हो जाती है—इसी दशा के लिए 'कलाविलुप्त विभव' कहा गया है। 'परा' वाक् जव निखिल सृज्यमान पदार्थ सार्थ का अवलोकन करती है—तभी तो उसका नाम 'पश्यन्ती' रखा गया। यहाँ वर्ण अविभक्त हैं—'मध्यमा' भूमि में जाकर वर्णात्मक कलाएं विभक्त हो जाती हैं—फिर भी भेदाभेद की दशा रहती है। यह बैखरी भूमि

---

१. सहज साधना, पृष्ठ ८१।

है—जहाँ शब्द अर्थ और प्रत्यय पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। पातंजल दर्शन में स्मृति परिशुद्धि वश इस के समापन की बात संकेतित की गई है। विकल्पात्मक वैखरी भूमि में शब्द-अर्थ एवं प्रत्यय का पार्थक्य रहता है और निर्विकल्प भूमि में अर्थमात्र का निर्भास होता है—वहाँ यह सांकर्य नहीं होता। जगत् का सारा श्रुत और आनुमानिक व्यवहार साधकों के इसी प्रत्यक्ष—अर्थ मात्र निर्भास—के आधार पर चलता है। निर्विकल्प भूमि में शब्द-अर्थ और प्रत्यय का भेद ही समाप्त हो गया है।

जिस 'सोचने' की बात द्विवेदी जी करते हैं—वहाँ शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय पृथक् पृथक् हैं—वहाँ संजल्पात्मक या विकल्पात्मक चिन्तन है—उसका भी आधार निर्विकल्पक भूमि के योगियों को प्रत्यक्ष है—जहाँ के सोचने में और देखने में अंतर ही नहीं है—कारण, वहाँ शब्द-अर्थ-प्रत्यय का भेद ही नहीं है—वहाँ अर्थ मात्र का निर्भास होता है। बाहर का समस्त चिन्तन इसी आधार पर है। इसलिए वैखरी तल के 'सोचने' को माध्यम बनाकर 'परा; पश्यन्ती तथा मध्यमा' को नहीं समझाया जा सकता। वैसा सोचना श्रुतानुधावी या वैखरी पर आश्रित चिन्तन है—अतः उस रास्ते 'मध्यमा' की बात नहीं सोची जा सकती। एक बात और—यदि हम द्विवेदी जी की भाँति श्रुतानुधावी बाहरी छाप से अंतर की ग्रंथि सुलझाएं तो भीतर-बाह्य-सापेक्ष हो जायगा —जबकि होना उलटा चाहिए। उसका रास्ता पातंजल की उपर्युक्त वही प्रक्रिया है जहाँ 'अर्थमात्रनिर्भास' की योगज साक्षात्क्रिया अन्य 'श्रुत' और 'अनुमानों' को आधार देता है। अतः यह कहना ठीक है कि श्रुत वर्णों की छाप सूक्ष्म और सूक्ष्म होते चले जाते हैं, प्रत्युत यह कि श्रुतानुधावी समस्त सूक्ष्मता और तदाधृत चिन्तन और जप वैखरी भूमिका का ही वृत्त बनाते हैं। मध्यमा उसका सूक्ष्म रूप है—अर्थात् वह जड़ व्यापार है—प्राण की ताल्वाद्यभिघातजन्य स्थूल अभिव्यक्ति है और 'मध्यमा' चिन्मय विभक्त वर्णों की भेदाभेद मयी भूमि है।

इस प्रकार 'परा' वह शब्द ब्रह्म है—जहाँ ईक्षण भी नहीं है। उसी में जब सिसृक्षात्मक स्पंदन होता है, सृष्टि से पूर्व जब समस्त सूक्ष्मात्मना स्थित विश्व का आकलन-दर्शन:विमर्शन-करती होता है—तब वही 'परा' 'पश्यन्ती' (आत्मदर्शन कुर्वन्ती) नाम से अभिहित होती है। यह भी सामान्य स्पंद है—यहाँ भी वर्ण कलात्मना विभक्त नहीं रहते, प्रत्युत अविभक्तावस्था में नादमय रहते हैं—यह अभेदमयी भूमि है। वैयाकरण इसी भूमि को अंतिम मानते हैं। भर्तृहरि ने इसे ही 'अनादि निधनं शब्द ब्रह्म' कहा है। इसी दिव्य भूमि और वैखरी पशुभूमि के बीच स्थित होने से मध्यवर्तिता के कारण एक और वाग्भूमि कल्पित की गई–जिसे 'मध्यमा' कहां गया है। पशुभूमि से दिव्यभूमि में जाने की यही 'मध्यमा' सेतु है। वैखरी से मध्यमा भूमि में प्रविष्ट होने के लिए ही तमाम-दीक्षा तथा साधक को प्रयत्न-यत्न करने पड़ते हैं। वैखरी जप की

प्रयत्न जन्य साधना मध्यमा की सहज साधना में पर्यवसित होती है। वैखरी आहननाद है—मध्यमा में आहननात्मक प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है । वह अनाहत नाद है ।

इस प्रकार बैखरी और मध्यमा की जो स्थूलता और सूक्ष्मता है वह जड़ और चित्कला के धरातल की है न कि वाह्य और मानस के तल की—अतएव आगमों और तंत्रालोक के आधार पर कविराज गोपीनाथ का यह कहना संगत है कि वर्णकलाएं सर्वत्र नियत और अविशिष्ट[1] हैं । मध्यमा स्तर पर उनकी यही स्थिति है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[2] वैखरी की श्रुतानुधावी मानस छापों को सूक्ष्म बताकर उस रास्ते वर्ण-रहस्य समझना-समझाना चाहते हैं —पर यह पद्धति संतों तथा पूर्ववर्ती नाथों एवं आगम-निगम की उक्तियों के आलोक में संवादी नहीं हैं। वैखरी का श्रुतानुधावी संस्कार चाहे मानस या मनसम्तीत (यदि हो?) जितना भी सूक्ष्म और अव्यक्त हो—उसका मूल वैखरी ही है—इसीलिए वे सारे शब्द बंध के ही हेतु हैं। समय-समय पर ऐकाग्रय विरोधी जो विचार या अर्थ मन:पटल पर रील की भांति उघरते रहते हैं—वे वैखरी के ही विकल्प हैं । विकल्प की जन्मदात्री वैखरी ही है। अतः 'मध्यमा' आदि का स्पष्टीकरण करते हुए जब डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी यह कहते हैं—घट एक पद है इसका अर्थ घड़ा नामक वस्तु है पद का अर्थ होने के कारण ही वह पदार्थ है । पदार्थ अर्थात् पद का अर्थ । लेकिन यदि बाहर प्रकटन करके आप 'घट' शब्द का मन ही मन चिन्त करें तो 'घट' पद और 'घट' पदार्थ की अलग-अलग प्रतीतियाँ होगी, लेकिन वहाँ 'पद' और 'पदार्थ' अलग-अलग विद्यमान नहीं होंगे—एकमेक होंगे । और भी भीतर पद और पदार्थ होंगे तो अवश्य, पर उनकी अलग प्रतीति भी नहीं होगी । और, और गहराई में वह पद और पदार्थ होंगे तो अवश्य पर उनकी अलग-अलग प्रतीति भी नहीं होगी । और, और गहराई में वह पद विशुद्ध निःस्पंद गतिहीन 'शब्द' मात्र ही होगा। बात इतनी सी[3] है" इन लम्बे वाक्यों का जो अर्थ है उसका एक नाम दे देना ही उचित होगा। 'मध्यमा' वाक् वही नाम है । "द्विवेदी हजारीप्रसाद के इस लम्बे उद्धरण से उनका आशय स्पष्ट है कि सोचने का हमारा माध्यम मन में वैखरी धरातल के श्रुत शब्दों की छाप ही है। उनके द्वारा घटित भाषा के माध्यम से ही हम सोचते हैं। यह भाषा बैखरी है। श्रुत उपाँशु और मानस-प्रयत्न जन्य शब्द वैखरी ही हैं—उसका मनसातीत और गहरे कोई रूप नहीं है—अतः इस रास्ते सोचने से संतों के आध्यात्मिक, धरातल वाले 'वर्ण' का आशय स्पष्ट नहीं किया जा सकता । अध्यात्म धारा स्पष्ट मानती है कि

---

१. तंत्रालोक ।

२. सहज साधना, पृ० ४०, ४१ ।

३. वही, पृ० ४० ।

बैखरी वर्ण घटित-चाहे वे स्थूल हों, उपाँशु हों या मानस—सभी जड़ हैं—मृत हैं। मंत्र चैतन्य की प्रक्रिया उनका चिन्मयीकरण है—जो वैखरी से 'मध्यमा' के धरातल पर शब्द का साक्षात्कार है। यहाँ का वर्णोच्चार वैखरी के वर्णोच्चार सा आहनन सापेक्ष नहीं है—वह आहनन निरपेक्ष फलतः 'अनाहत' है। वर्ण, नाद या शब्द की यह अनाहत धारा मध्यमा से परा तक उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अविभाग मुखी होकर प्रवाहित हो रही है। निष्कर्ष यह कि वैखरी और मध्यमा तथा तदुत्तरवर्ती वर्णों का पारस्परिक भेदक रेखा उनकी वाह्यता और मानसिकता नहीं हैं—जड़ात्मकता और चिन्मयता है।

आध्यात्मिक 'शब्द' चर्चा के प्रसंग में 'परा', 'पश्यन्ती', मध्यमा और बैखरी—को भी थोड़ा और स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। 'जपसूत्रम्' के अनुसार अशब्द, पर-शब्द, निरतिशय श्रुत शब्द, सूक्ष्म एवम् स्थूल शब्द—जो विभिन्न स्तरों की चर्चा की गई है—उनका आगम सम्मत परा, पश्यन्ती आदि से किस प्रकार संगति बिठाई जा सकती है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि परा, पश्यन्ती के क्रम में मूल शब्द तन्मात्र का भी कोई उल्लेख या संगति है—अथवा नहीं ?

'प्रपंचसार[1]' के टीकाकार पद्मपादाचार्य ने चेतन तत्व को पाँच स्तरों पर रखा है—जागर, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और अतितुर्य शब्द की भी जागर, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुर्य—ये चार अवस्थाएं होती हैं। तुरीय शब्द ही शब्द ब्रह्म है जिसका अतिक्रम कर के अतितुर्य अथवा परब्रह्म पद की प्राप्ति होती है। प्रथम को परप्रणव तथा द्वितीय को अपर प्रणव भी कहते हैं।

विविक्त नभ के सदृश शोभित वह परमशिव बहिर्मुख होने की इच्छा से किंचित् चलित होता है। यह चलन उसका आद्य प्रसर है। इसी को स्पंद, प्राण और ऊर्मि की संज्ञा दी जाती है। परमशिव रूप पर संवित् का यह प्रथम स्पंद, स्फुरता अथवा प्रतिभा नामक परावाक् है जो अनन्त अपरिमित प्रभातृ प्रमेयों का उद्भवस्थान[2] है। "नाद सर्व प्रथम परास्वरूप होकर मूलाधार से उठता है। पुनः मणिपूर और अनाहत चक्रों में आकर प्राण और मन से संयुक्त होकर पश्यन्ती और मध्यमा के रूप में परिणत हो जाता है। अनन्तर कण्ठ में आकर वही वैखरी रूप वर्णात्मकता को ग्रहण करता है। समस्त वर्णों के कारणता रूप उस नाद में वर्णराशि सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है जैसे बीज में फल और पुष्प आदि[3]।"

"मूलाधार से भी नीचे वाग्भवाकार त्रिकोण में समष्टि कुण्डलिनी का निवास है। मूलाधार में अग्नि कुण्डलिनी हृदय में सूर्य कुण्डलिनी और भ्रूमध्य में सोम कुण्डलिनी

१. पृष्ठ संख्या, २।
२. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० सं० ४३।
३. वही, पृष्ठ सं० ५२।

की स्थिति है। वस्तुतः इससे समष्टि प्रणव तथा अकार, उकार तथा मकार का ही वोध[1] है। परमादित्य स्तोत्र में कहा गया है—"परमादित्य प्राणिमात्र के अन्तर्गत शव्दात्मक ओंकार अथवा प्रणव के रूप में निनादित होता रहता है और उससे तन्मात्रात्मक शव्द को गर्भ में लिए हुए परा का जन्म होता है। कहा ही है—

> ओमित्यतर्नंदति नियतं यः प्रतिप्राणि शव्दः ।
> वाणी यस्मात् प्रभवति परा शव्दतन्मात्रगर्भा ॥
> प्राणापानौ बहति च समौ यौ मिथोग्रामसक्तौं ॥
> देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये ॥[2]

भास्कर राय का कहना है कि शव्द ब्रह्म रूप वीज की उच्छूनतावस्था परा है, स्फुटितावस्था पश्यन्ती, मुकुलित, अव्यक्त एवम् दल द्वयाकार मध्यमा और सम्यक् विकसित अवस्था ही बेखरी है[3] ।

इस आगम प्रतिपाद्य तथ्य को अनेकशः कहा जा चुका है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—पर ब्रह्म या पर प्रणव तथा शव्द ब्रह्म या अपर प्रणव। इसी प्रकार यह सृष्टि भी मूलतः शव्दमयी एवं अर्थमयी-द्विविध हैं। यह द्विविधात्मकता मूल और चरम परिणति अथवा विकास में तो है ही पिण्ड और ब्रह्माण्ड में भी है। मूल में शव्दार्थमय द्विविध सृष्टि का वीज, अंकुर और उनकी छाया के समान एक साथ ही उद्भव और अभिवर्द्धन होता है। छाया के दर्शन से वृक्ष की अनुमिति अनुभव सिद्ध है ही। छाया में वृक्ष का आकृतिगत सादृश्य भी है और छाया की वृक्षमूलकता भी प्रसिद्ध है। ठीक यही स्थिति परस्पर शव्द और अर्थ की भी है। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अनयथा सिद्ध है। शव्द एवं अर्थ—उभयविध सृष्टियाँ चार-चार प्रकार की हैं—स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम। श्रोत्र और मन भी अर्थ के ही अन्तर्गत हैं जिनसे शव्द तथा अर्थ का वोध हुआ करता है। फलतः वे भी चार प्रकार के हैं। अनुरूप करण से अनुरूप विषय का वोध होता है। श्रोत्र एवं मन की सूक्ष्मावस्था शास्त्राभ्यास तथा योगाभ्यास से सम्पन्न होती जाती है। पातंजल दर्शन में मन के इस वैशारद्य का स्पष्ट विवेचन उपलव्ध होता है।

इन सव विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रवण शक्ति का निरतिशय रूप सूक्ष्मतम रूप है और उस सूक्ष्मतम रूप से तन्मात्रात्मक जिस शव्द का साक्षात्कार योगी को होता है वह परा के गर्भ में है। परा स्वयम् पर शव्द है और निरपेक्ष निःस्पंद तत्व शव्दातीत-अनिर्देश्य, अग्राह्य तथा अशव्दात्मक। निरतिशय शव्द का इन दोनों के वाद क्रम आता है। इस का साक्षात्कार शव्द का प्रकृतिगत साक्षात्कार है।

---

१. साम्वपंचशिका, ३ ।
२. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० ६८ ।
३. वरिवस्या रहस्य, पृ० ४७ ।

इस शब्द के द्वारा ही रूप का प्राकट्य होता है। जिसने इस शब्द का साक्षात्कार कर लिया—वह उसका उच्चार भी कर सकता है और उच्चार कर सकता है तो अनुरूप अर्थ निर्माण भी कर सकता है। इसीलिए कहा गया है—"ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति"[1]। आद्य ऋषि ऐसे ही निरतिशय शब्द श्रवण सामर्थ्य सम्पन्न व्यक्ति हैं—जिनके उच्चारण के अनुरूप अणु परमाणुओं का जुटना और टूटना आरम्भ हो जाता है, वस्तुओं का निर्माण और संहार होने लगता है। भारतीय परम्परा में शाप एवं वरदान की सार्थकता इसी व्याख्या में निहित है।

ब्राह्मण परम्परा-नैगमिक तथा आगमिक—में ही नहीं, सिद्धों के समकालीन बौद्ध आचार्य शान्तिरक्षित ने भी शब्द ब्रह्म की कल्पना को स्वीकार कर लिया था और अपने तत्वसंग्रह में सृष्टि के नाश और उत्पाद का कारण शब्दमय ब्रह्म को ही बताया था—

"नाशोत्पादसमालीढं ब्रह्म शब्दमयंच यत्[2]" ॥८॥

इस प्रकार परमतत्व की कल्पना नाद और शून्य के रूप में परम्परा से ही चली आ रही थी। आगमों में भी मूलतत्व को 'अभाव' या 'शून्य' कहकर यही कहा गया है कि—'अ भाव' वह है जहाँ सारे भाव लीन होकर निःशेष हो गए हों[3]। शैव और शाक्तागमों में भी सृष्टि प्रक्रिया का निरूपण करते हुए माना है कि संवित् प्रमाता शून्य प्रमाता होकर 'प्राण' में परिणत होता है और उससे संचार या स्पंद द्वारा सृष्टि का उन्मेष होता है। औपनिषद वेदाँत में भी (कदाचित् नासदीय सूक्त में) कहा गया है कि ब्रह्म भी ईक्षण से पूर्व एक अंधकार में अपने को डुबो लेता है। तब सृष्टि का आरंभ होता है। संतों में नानक ने स्पष्ट कहा है—

सुंन्न शब्द ते उठे झंकार। सुंन्न शब्द ते ओं अंकार"

कबीर ने भी शून्य को आदि तत्व के रूप में वर्णित किया है—

(क) सहज सूँनि इक बिरवा उपजी धरती जलहरु सोखिया[4] ॥
(ख) सूँनहि सुँनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिंगे ॥

कबीर पंथियों के 'पंच मुद्रा' (पृ० १९९) में भी माना गया है कि समस्त तत्वों की उत्पत्ति शून्य से है और अन्त में सभी का विलयन शून्य में है। संतों में अंत तक शून्य को आदि तत्व के रूप में मानने की परम्परा अक्षुण्ण रही है।

---

१. उत्तर राम चरित, प्रथम अंक, पृ० २०।
२. तत्व संग्रह, ८।
३. भा० सं० सा०, भाग १ पृ० ३०१ (उद्धृत)।
४. संत कबीर, पृ० १८१।

इन चिन्मय विभक्त वर्णमयी कलाओं का एकीकृत या अविभक्त रूप ऊंकार द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। यही कारण है कि इसी परम्परा में संतों ने ऊंकार को भी कभी-कभी सृष्टि का मूल कहा है। संप्रति, यह ऊंकार क्या है—निगमागम् तथा अन्य पूर्व संत परम्परा इस विषय में क्या कहती है—संतों की अनुभूति और अभि-व्यक्ति क्या है—यह भी 'शव्द' के प्रसंग में द्रष्टव्य है।

'काम कला विलास' में 'रवि' ही मूल तत्व कहा गया है और उसकी दो कलाएँ हैं—सोम और अग्नि। इस मिश्र शुक्ल और रक्तात्मक त्रिविंदु रूप त्रिकोण को भी प्रणव अथवा ओंकार कहा जाता है। कहा ही है—

बिंदुत्रयात्मकं स्वात्मभ्रृंगाटं विद्धि सुन्दरम् ।
मिश्रं शुक्लं च रक्तं च पुराणं च प्रणवात्मकम्[1] ॥

यह प्रणव भी शव्दात्मक और शव्दातीत है। इस त्रिकोण के सोम, सूर्य और अग्नि से अ, उ एवं म् की एकरूपता समस्त आगमों में कही गई[2] है। 'रुद्रयामल' में तो उमा (उ म अ) को भी ऊँ से अभिन्न ही कहा गया है। वस्तुतः उमा, ओंकार और कुण्डलिनी भी एक ही हैं। सौभाग्य भास्कर[3] में परमशिव में भगवती शक्ति को संवोधित करते हुए यह भी कहा है कि उनके प्रणव में क्रमशः अ, उ एवम् म अवस्थित हैं पर शक्ति के प्रणव में उ, म तथा अ की स्थिति है।

"बैखरी में शव्द और अर्थ के मध्य परस्पर भेद रहता है। मध्यमा भेदाभेद की और पश्यन्ती अभेद की भूमि है। मंत्र-साक्षात्कार की यही स्थिति है। समस्त विकल्प-क्षय पूर्वक पूर्णाहंता का विकास ही 'परा' का आत्म प्रकाश है। पश्यन्ती की ही पृष्ठभूमि परा है। यही परा शव्द ब्रह्म है। इसका भी भेद कर साधकगण परब्रह्म दशा को प्राप्त करते हैं। अविभक्त वर्ण ही 'परा' वाक् है। यह ब्रह्म प्रणव संलग्न नाद अथवा ज्योति है। इसी नाद से संपूर्ण विश्व की सृष्टि होती है और सृष्ट विश्व के अंतर्गत नाद ही प्राण अथवा जीवनी शक्ति के रूप में निहित रहता है। यही अनन्त विश्व को धारण कर प्रसुप्त सर्पाकार में रहता है। वास्तव में परा संवित् ही शून्य भाव पूर्वक प्राण में परिणत होती है। व्यष्टि प्राण की भाँति समष्टि प्राण का भी उच्चार ही मूल प्रणव है—यह सामान्य स्पंद रूप एवं सहज प्रवाहित

---

१. काम कला विलास, पृष्ठ २६।

२. "कामकलाक्षरस्य बिंदूत्रयात्मकत्वेन बिंदुत्रयस्य
सूर्य सोमाग्नित्वेन, सोमसूर्याग्नीनामकारोकारमकारात्मता
सर्वत्रागमेषु दृष्टेत्येतत्सर्वं त्रिकात्मकं काम कलाक्षरे
विश्रान्तमिति प्रणवेन कामकलाक्षरमेव गीयत इति तात्पर्यम ।"
—त्रिपुरामहिमस्तोत्र टीका, पृ० ६।

३. वही, पृष्ठ १३५।

है । आगमविदों ने इस नाद को स्वयं उच्चरणशील अनच्क हकार अथवा परमबीज कहा है । इस अवस्था में नाद भाव अभिभूत रहता है और प्राणात्मक जाग्रत । यही नाद अवस्था भेद से तीन नाम धारण करके रहता है—परा कुण्डलिनी, वर्ण कुण्डलिनी तथा नाद कुण्डलिनी । पहली में विश्व गर्भस्थ रहता है, दूसरी में नादात्मक स्फुरण रहता है और तीसरी में नाद रूप डूब कर गंभीर सुषुप्ति धारण करता है ।

यह प्राण स्वभावत: ऊर्ध्वाधः संचार करता रहता है—ऊर्ध्वाधः संचार त्याग-ग्रहणात्मक प्रक्रिया है । 'हकार' विमर्श रूप से त्याग करता है और सकार विमर्श रूप से ग्रहण करता है । नादात्मक प्राण हंस का यही नित्य उच्चारण है । अनच्क 'ह' का अभिव्यंजक 'अ' कार है । यही नाद का शीर्ष है—या उस रूप में कल्पित है । इस 'अकार' के साथ योग होने पर 'उ' कार अधः ऊर्ध्व संचारक होने के कारण चरण रूप में कल्पित होता है। उकार का योग होने पर विन्दु आदि प्रमेय के प्राक्ट्य का सूत्रपात होता है । यह अनुस्वार अथवा मकार मात्रा में ही होता है । इस प्रकार अउम् अथवा प्रणव रूप में इस उच्चरण की उपलब्धि संभव होती है । यही वर्ण का उच्चार है । इन तीन मात्राओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप से प्रसिद्ध सब भेद विद्यमान हैं । ये सब भेद एकीभूत होकर जहाँ विद्यमान हैं वही विंदु[1] हैं ।

डा० सम्पूर्णानंद का विचार है कि प्रणव वस्तुतः अनुच्चार्य है । प्रणव की अनुभूति उस प्रकार के स्वन जैसी नहीं होती जिसका ग्रहण श्रवण इन्द्रिय सामान्य रूप से करती है । उसका अनुभव गति के रूप में होता है । गति का अनुकरण अक्षरों और शब्दों से हो भी कैसे सकता है और गति भी ऐसी जो किसी प्रकार के पदार्थों के आघात से नहीं हुई । वेद इसीलिए तो कहते हैं—[2]

सर्वे वेदा यत्पदमामनान्तितपांसि सर्वाणि च यत्पदमामनन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमिओमित्येतन ॥

अर्थात् सब वेद जिस पद का उच्चारण करते हैं, सब तपस्वी जिसका वर्णन करते हैं । जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं—वह पद तुमसे संक्षेप में कहता हूँ । वह यही ओश्म् है । माण्डूक्य भी कहता है—

"ओमित्येदक्षरमिदं सर्वतस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति ।
सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदोंकार एव ।"

---

१. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ३०३ एवम् ४ ।

२. योग दर्शन, पृष्ठ १६३ (हिंदी समिति, लखनऊ १९६२) ।

यह सब कुछ 'ओम्' अक्षर ही है। उसकी महिमा है कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब ओंकार है और त्रिकाल के परे जो कुछ भी है—वह भी ओंकार ही है। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में भी ओंकार हैं।

इस आदि शब्द या प्रणव की अन्यथा व्याख्या करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के भी कुछ विचार हैं। बड़ी लम्बी भूमिका के साथ उन्होंने कहा है कि पातंजल दर्शन में स्वरूपावस्थान ही स्वसंवेदन है। यह स्वसंवेदन ही प्राकृत में आकर 'सुसंवेद' बना, आगे चलकर सुच्छवेद और सूच्छम वेद के रूप में परिणत हुआ। परवर्ती नाथपंथियों ने अपने संस्कृत ग्रंथों में इसे ही संस्कृतीकरण पूर्वक सूक्ष्म वेद कहा और कहा कि (सिद्ध सिद्धान्त संग्रह) पृ०, २२–२७–७५–७६) वेद द्विविध हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। पहला या स्थूल वेद यज्ञ यागादि का विधान करते हैं और दूसरा प्रणव या ओंकार है। क्योंकि ओंकार ही वेदों का सार है।

आत्मा पर—प्रकाश नहीं स्वयं प्रकाश और स्वयंवेद्य है—वह, स्वसंवेद्य है—वह संवेदन रूप ही है—अपना बोध अपने से ही करता है। नाथ योगी स्वसंवेदन को ओंकार कहते हैं। इसका आशय द्विवेदी जी ने इस प्रकार व्यक्त किया—

सिसृक्षु परमात्मा की इच्छा एक प्रकार का स्पंद या कम्पन है। उपनिषदों में इसे 'एजन' भी कहते हैं। शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्त रूप है। यह अत्यंत सूक्ष्म है। श्रुतिगोचर शब्द स्थूल है। बौद्धिक दृष्टि से उस प्रथम सूक्ष्म स्पंद की बात सोची जा सकती है। इस प्रकार यह परम सूक्ष्म तत्व है। स्थूल उच्चरित शब्द से उसका ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता। मान लीजिए प्रथम स्पंद नाद रूप में प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अकार है। मान लीजिए प्रथम स्पंद 'अ' रूप में गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कंपन या स्पंद नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही गति है, विंदु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत् है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिए आवश्यक है उसके साथ विंदु भी। मकान अनुस्वार या चंद्र विंदु रूप में ही तो बदलता है। अब 'अ' स्वर 'म' व्यंजन से रुद्ध हुआ। कंठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पड़ी और ओष्ठ बंद हो गए। बंद होते-होते वह 'उ' जैसा हो जायगा। इस प्रकार अउम् प्रथम स्पंद हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ। एक बार उठ कर बंद हो गया, तो फिर कम्पन कसा? अउम—इस अक्षर त्रय का मिलित रूप है—ओम्[१]। आगे द्विवेदी जी साफ कहते हैं—"स्थूल वर्णों से यह समझाया गया है—इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायगा परन्तु यह समझाने का एक तरीका भर है। प्रथम विश्व ब्रह्माण्डव्यापी स्पंद (कास्मिक वाइब्रेशन) कुछ

---

१. संतों का सूक्ष्मवेद, पृ० ११।

इसी प्रकार का, लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म होगा । इसीलिए यह ओंकार विश्व का आरंभ है । सगुण ब्रह्म का यह नव रूप है । नव, नवीन आदि शब्द वहुत अच्छे नहीं हैं, क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी होता है । प्रथम नया स्पंद कभी पुराना नहीं हुआ । वह प्रतिक्षण नित्य स्पंदित हो रहा है । इसलिए केवल नव कहना ठीक कहना नहीं है—वह 'प्रणव' है—नव नवं जायमान है । स्वयंसंवेद्य ज्ञान का यह प्रथम व्यक्त रूप[1] है । "इस स्थिति में यदि ओंकार को नाथ साधकों ने सूक्ष्म वेद कह दिया तो कोई आश्चर्य की वात नहीं है । कवीरदास इस रहस्य को जानते थे । वे यह भी जानते थे—

> जो ओंकार आदि को जानै ।
> लिखि के मेटे सो, सोई जानै[2] ॥

जो आदि ओंकार को ठीक-ठीक जानता है, वह सृष्टि और प्रलय के रहस्य को—उस रहस्य के उस मूल कर्ता को, जो लिखकर मिटाया करता है, जानता है । भगवद्-गीताकार ने 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' कहकर यही कहना चाहा है कि वह स्पंदन एक ही अर्थात् भेदशून्य ओर 'एक' ही है—इसीलिए उसे 'एकाक्षर' कहा गया ।

द्विवेदी जी ने 'स्वसंवेदन' (पातंजल या शांकर दर्शन सम्मत) में त्रिपुटी का विलयन मानते हुए नाथों के 'ओंकार' पद वाच्य अभिप्राय को थोड़ा भिन्न करना चाहा है । उनकी दृष्टि से 'स्वसंवेदन' में 'भेद' का विलयन है पर 'ओंकार' अथवा आद्यस्पंद में भेद का आरंभ होता है आगमों के अनुसार प्रणव या ओंकार सूक्ष्मवेद ही है अर्थात् ज्ञान है । पर अपरज्ञान, परज्ञान तो परासंवित् है । अतः वह ज्ञान रूप होते हुए भी साधन ही है—अंतिम तत्व नहीं है ।

कवीर पंथी साहित्य में शांकर और आगमिक अद्वैत को भी एकमिथ्याभिमान ही मानते हैं । इसलिए उनकी दृष्टि में यह सूक्ष्म वेद नहीं हो सकता । गीता में जो 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' में 'सर्वे वेदैः का तात्पर्य स्थूल, सूक्ष्म एवं पर—सभी प्रकार के वेद हैं । इस प्रकार के वेदों का लक्ष्य निरंजन या परमात्मा है और ये सव वेद अंततोगत्वा जीव का निरंजन के साथ अभेद ही सिखाते हैं। इस अभेद से भी विलक्षण वह परतत्व है । इसलिए सूक्ष्म वेद वही है जो इस विलक्षण परतत्व को प्रकट करे । कवीरपंथी दर्शन में निरंजन के साथ अभेद प्रतीति रूप मिथ्याभिमान को दूर करने वाली वाणी ही वह साधन हो सकती है । इसीलिए उन्होंने सद्गुरु की वाणी को ही सूक्ष्मवेद की मर्यादा दी है ।"

आगमों में मूल समष्टिगत स्पंद को ऊँकार से व्यक्त किया गया । नाथ साधकों में—

१. संतों का सूक्ष्मवेद, पृ० ११ ।
२. वही, उद्धत ।

स्वयं (पर) शिव

अपर	निजा १
पर	परा २
शून्य	अपरा ३
निरंजन	सूक्ष्म ४
परमात्मन	कुण्डली ५

ओंकार इस परमात्मतत्व के कुण्डलित होने को प्रतीक रूप में व्यक्त करता है। वास्तव में जब असीम तत्व सीमा के बंधन में बार-बार टकराता है तो कुण्डलित होकर गतिशील रूप-परिग्रह करता है । कबीर पंथी मानते हैं कि यह ज्ञान की इच्छा और क्रिया-नाद और बिंदु का व्यक्त आदि रूप है, पर स्वयं ज्ञान नहीं है। कबीर पंथी इसे सूक्ष्मवेद नहीं कहना चाहते । कबीर पंथियों का चरम प्राप्य स्वर्लोक, विष्णु-लोक तथा निरंजन लोक से परे हैं निरंजन तो निर्गुण आत्म ज्ञान का विषय है। निरंजनतत्व के ज्ञान से परे जो परमज्ञान है वही कबीर पंथियों की दृष्टि से सूक्ष्मवेद है। स्वसंवेद ज्ञान वस्तुतः परासंवित् है और गुरु का भी तात्विक रूप चिन्मय है। सद्गुरु की वाणी उसका चिन्मय ही है । फलतः सद्गुरु की वाणी ही सूक्ष्मवेद हो सकती है । निष्कर्ष यह कि सूक्ष्मवेद वह है जिससे परतत्व वेद्य हो । फलतः जब कबीर पंथी यह कहते हैं कि कबीर वाणी ही सूक्ष्मवेद है तो उनका आशय यही होता है कि उसी वाणी से परतत्व वेद्य है । अन्य लोग भी गुरु के चिन्मयवपु को इसी रूप में ग्रहण करते हैं ।

इस प्रकार 'सूक्ष्मवेद' की प्रसंगागत चर्चा से हटकर प्रक्रान्त ऊँकार की स्वरूप विषयक धारणा पर उक्त मतों के आलोक में देखें—तो स्पष्ट है कि संत मत भी जब ऊँकार को सृष्टि बीज कहता है तो वह मूलभूत समष्टिस्पंद की ओर ही आद्य-स्पंद की ओर ही संकेत करता है। डा० सम्पूर्णानंद[1] तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[2] ऊँकार या अउम्—इनको प्रतीक ही मानते हैं—वैखरी धरातल पर इन्हीं वर्णों के माध्यम से उसे समझाया जा सकता है—पर वस्तुतः वह नादात्मा और अउम् या ओश्म अथवा ऊँ के श्रुतिगोचर रूप से भिन्न है । कविराज भी समष्टि में संवित् की (शून्यान्तर) प्राक् परिणति 'प्राण' तत्व के ओर-छोर रूप में कल्पित 'ह' एवं 'स' कार का व्यंजक 'अ' और 'उ' का माना है—इससे प्रमेय त वों के प्राकट्य को 'म्' से व्यक्त करना चाहा है । इस प्रकार संतों के 'सो हम्' और 'ओम्' की

१. संतों का सूक्ष्मवेद, पृ० ११ ।
२. योग दर्शन ।

भी एकात्मकता की झलक मिल जाती है । अस्तु, निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि ऊँकार सामान्य स्पंद का ही प्रतीक है—क्योंकि वही समस्त सृष्टि का मूल है । पर यह 'शब्द ब्रह्म' है—'परब्रह्म' इससे भी परे का तत्व है—जो समरसीभूत है । समरसीभूत स्थिति के संकेत देना या उसके विषय में ठीक-ठीक कुछ कह देना संभव नहीं है ।

कहीं-कहीं 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' की व्याख्या करते हुए यह भी कहा गया है कि अ, उ, म, विंदु, अर्द्धचन्द्र रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना, उन्मना, अपनी इन बारह कलाओं से ओंकार पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त समस्त तत्वों और भुवनों को आकलित करता[1] है ।

इस प्रकार संतों की वानियों को आधार बनाकर जो निष्कर्ष निकाले गए हैं उनका पूर्ण यौक्तिक समर्थन इन विचारों के आलोक में हो जाता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है—

(क) मूल निरपेक्ष तत्व अशब्दात्मक है ।

(ख) अपेक्षाकृत व्यक्त स्तर शब्दात्मक है, वही ओंकार है, वही शब्द ब्रह्म है, आदि शक्ति है, हरिहराराध्य वेद प्रतिपाद्य आदि तत्व है ।

(ग) चिन्मय गुरु एवं चिन्मय शब्द तत्व मूलतः एक ही हैं इसीलिए सूक्ष्म या गुरु की वाणी और गुरु अंततः एक ही है । सद्गुरु धुनि रूप है वही सृष्टि का मूल है । यह आदि अनाहत नाद सृष्टि का मूल भी है—सृष्टि में अनुस्यूत भी है और अंत में यही शेष भी रहने वाला है । सृष्टि इसी का स्फुटन है—विकास है—प्रसार है और संहार इसी का संकोच । मूल प्राण का ऊर्ध्वाधः संचार के ओर-छोर हैं—हं—सः अ उ । म् तो सृष्टि प्राकट्य का प्रतीक है । यह ऊँकार ही अपनी व्यापकता में सृष्टि को क्रोडीकृत किए हैं ।

(घ) इस प्रकार शब्द ही सृष्टि का मूल है और वही सारी सृष्टि है ।

(ङ) यही ध्वन्यात्मक और अनहद नाद भी है ।

ऐसा शब्द तत्व निज रूप ही है—उसका साक्षात्कार भी आपेक्षिक (परब्रह्म की अपेक्षा) स्तर पर आत्म साक्षात्कार ही है । निगमागम सिद्ध-नाथ की परम्परा की अंतिम कड़ी संत भी अपने अनुभव से अटपटी वानियों में वही बात कहते हैं । उनकी यौक्तिक संगति है और आगम इस दिशा को अपेक्षाकृत अधिक स्फुट करते हैं—यह उक्त विवेचन से स्पष्ट ही है । निष्कर्ष यह कि संतों ने आदितत्व को अशब्दात्मक, शब्दात्मक तथा शून्यात्मक कहा है । यह स्तर भेद ही है—मूलवर्ती ।

---

१. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० ५८ ।

अशब्दात्मक, शून्यात्मक तथा शब्दात्मक—के परात्पर स्तरों की सुस्पष्ट निरूपण नैगमिक की जगह आगमिक चिन्ताधारा में ही स्पष्ट मिलती है। अशब्दात्मक परतत्व शून्य अथवा अभावात्मक स्तर पर सृष्टि की आकांक्षा के लिए स्वातन्त्र्य कल्पित रूप धारण करता है। आगमों की सृष्टि-संदर्भ में प्रकटित इस चिन्ताधारा का नाथ साहित्य में अपनी शब्दावली से स्पष्ट ही विभिन्न सोपानों के रूप में उल्लेख मिलता है।

अवरोहणात्मक प्रक्रिया

(क)

पूर्ववर्ती अध्यायों में 'चरमतत्व' के विषय में संतों की धारणा स्पष्ट की जा चुकी है। संप्रति, उसकी अवरोहण प्रक्रिया अथवा सृष्टि या विश्व के रूप में आत्माभिव्यंजन की प्रक्रिया पर विचार करना उद्दिष्ट है। संतों की 'अवरोहण' प्रक्रिया में उन 'दृष्टियों' का नाम ही नहीं लिया जा सकता जो 'ईश्वर' ही नहीं मानतीं और 'ईश्वर' मानती भी हैं तो उन्हें 'निरीह' या इच्छाहीन निर्विशेष या निर्धर्मक स्वीकार करती हैं। उन दर्शनों के आलोक में भी संतों की 'अवरोहण' प्रक्रिया का विचार करना असंगत होगा—जो 'ईश्वर' में 'इच्छा' तो मानते हों, पर उन्हें केवल निमित्त ही मानते हों, निमित्तोपादान—दोनों नहीं। सांख्या और पातंजल के 'ईश्वर' अथवा 'पुरुष' की तो कोई बात ही नहीं है, कारण—उनके यहाँ तो प्रकृति ही सब कुछ कर लेती है—केवल पुरुष का संग मात्र चाहिए। एक ही तत्व को निमित्तोपादान मानने वाली दृष्टियों में भी जो 'द्वयात्मक अद्वयवादी' नहीं हैं, उनसे भी इनकी अवरोहण प्रक्रिया नहीं समझी-समझाई जा सकती। वे मानते हैं—हम सब मांहि सकल मह माहीं हम थें और दूसरा नाहीं।

तीन लोक में हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा।[1] अर्थात् उनकी धारणा है कि यह सृष्टि उसी चरमतत्व की मौज[2] से है, उस कर्ता ने अपने आनंद के लिए इसे लीला रूप में सृष्ट किया[3]। तत्वतः आत्मा और परमात्मा एक ही हैं उसी में सब कुछ है और सब में वही है—उससे अतिरिक्त और कुछ है नहीं दृश्यमान त्रैलोक्य में उसी ने आत्मप्रसार कर रखा है। यह आवागमन—जाना, आना—सभी उसी के खेल है। यह आवागमन—आना जाना जीवात्मा की दृष्टि से मरना जीना है, पर चरमतत्व की दृष्टि से अवरोहण तथा आरोहण, प्रसार तथा संकोच है। यह संकोच-प्रसार, अवरोहण तथा आरोहण चरमतत्व की संकोच प्रसारात्मिका स्पंदात्मा

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०१।

२. (क) मौज उठी रचना भई भारी—प्रेमबानी, पृष्ठ ५४, २—रामसाहिब शालिग्राम (शिवदयाल के शिष्य)।

(ख) जाबूझ हमलीला ठानी
मौज हमारी हुई सुनबानी, पृष्ठ ८४, सारवचन छंदबंद भाग २।

३. करता आनंद खेल लाई, कबीर, पृष्ठ २८०।

विमर्श शक्ति की ही खेल[1] है । इस प्रकार अवरोहण या विश्वात्मक दशा में विश्वातीत का आत्म प्रकाशन एक पारिभाषिक शब्द है । चरमतत्व की दृष्टि से अद्वयवादी आगम इस 'अवरोहण' को उस आदि शक्ति का 'निग्रह' मानते हैं । आगम की इस प्रकान्त धारा में वह तत्व 'पंचकृत्यकारी'-निग्रह, सृष्टि, स्थिति, संहार तथा अनुग्रह—माना गया[2] है । अतः यह अवरोहण या विश्वात्मक आत्मप्रकाश स्वातंत्र्य शक्ति वश आत्म-निग्रह के कारण ही संभव है । अद्वयवादी आगमिकों की भाँति ये संत जन मानते हैं—

"जैसे वट का बीज ताहि में पत्र-फूल-फल-छाया[3]"

---

१. (क) निराशंसात् पूर्णदहमिति पुरा भासयति यद्
द्विशाखःमाशास्ते तदनु च विभक्तूँ निजकलाम् ।
स्वरूपादून्मेष प्रसरण निमेषस्थितिजुष :
तदद्वैतं परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग १, श्लोक १ ।

(ख) चितिशक्तिरेव भगवती स्वातन्त्र्यात् गृहीतसंकोचा
चित्तभूमि संसार्यात्मरूपां बहुशाखामाभास्य, पुनः
स्वेच्छयैव क्वचित्संकोचं प्रशयय्य, पूर्णतया स्फुरति
—तत्वचिन्तामणि विवृत्ति, पृष्ठ १२७ ।

अथवा
स स्वयं कल्पितास्फार विकल्पात्ममककर्मभि ।
बध्नात्यात्मानमेवेह स्वातन्त्र्यादितिर्वर्णितम् "१०४॥
—तंत्रालोक, भाग ८ आ० १३ ।

अथवा
एषं देवोऽनया देव्या नित्यं
क्रीडारसोत्सुकः । विचित्रान्सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद विभुः
—बोधपंचमदशिका, श्लोक ४ ।

२. (क) स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशति ,रूपमामृशन्
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥
—शिवस्तोत्रावली, १३ स्तो० १५ ।

(ख) शिवादिक्षितिपर्यन्तं विश्वं वपुरूद चयन् ।
पंचकृत्य महानाट्य रसिकः क्रीडति प्रभुः ॥
—अनुत्तर प्रकाश पंचाशिका, श्लोक २ ।

३. (क) यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥
—परात्रिंशिका, का० २४-२५ ।

(ख) कबीर, पृष्ठ २६४ ।

अर्थात् जिस प्रकार वट-बीज में सूक्ष्मात्मना फल, फूल, छाया तथा स्वयम् वृक्ष सब कुछ समाया हुआ है—ठीक उसी प्रकार सारा विश्व 'वटधानिकावत्' उस चरमतत्व में सूक्ष्म रूप से; बीज रूप में समाया हुआ है। निष्कर्ष यह कि 'अवरोहण' विश्वातीत और विश्वात्मक का ही आत्मप्रकाश है और वह भी केवल लीलामात्र, आनन्द के लिए। मूल सत्ता और विश्व-के बीच वही संबंध है—जो दरिया और लहर का। ये कहते हैं—

दरियाव की लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम्।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जी दूसरा किस तरह होयम्
उसी का फेर के नाम लहर धरा
लहर के कहे क्या नीर खोयम्।
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्मं में
ज्ञान कर देख माल गोयम्[1] ॥

अर्थात् सरिता की तरंग सरिता नहीं तो और हैं क्या ? क्या सरिता और उसकी छलकती हुई तरंगों के बीच कोई बीच है ? अंतर है ? अरे, छलक कर सामान्य सतह से ऊपर आ गई तो भी जल है और शांत होकर सतह पर पूर्ववत् फैल गई—तो भी जल ही है—दोनों भिन्न हो किस प्रकार की सकती हैं ? सरिता का ही उसके रूपान्तर के लिए दूसरा नाम धर दिया गया—लहर। रूप-भेद की दृष्टि से नामान्तर की कल्पना है—रूप और नाम बदल जाने से तत्व कहाँ निःशेष हुआ ?

---

१. (क) कबीर, पृष्ठ २४१ (हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, १६५३) बम्बई।
(ख) तेन बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः।
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंघट्टचित्रताम् ॥
—तन्त्र्यालोक, भाग २ आ० ३ १०२॥१०३॥

अथवा

अम्बुधिवीचिवत्।
तत्रवीचित्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते।
न चतत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता ॥
—शिवदृष्टि, आ० ३।३७, ३८।

अथवा

यथाम्बुधेस्तरंगाणां ,चैक्येऽपि व्यवहारभेदः
तथा शिवस्य विश्वस्य च।
—शिवदृष्टिवृत्ति, पृष्ठ ११३।

तत्व तो दोनों ही स्थितियों में एक ही रहा। यह पद चाहे प्रामाणिक हो या अप्रामाणिक—पर इसके माध्यम से संतों की धारणा स्पष्ट है कि वे विश्वातीत या निःस्पंद तत्व से विश्वात्मक अथवा स्पंदात्मक रूप का अभेद ही स्वीकार करते हैं। शांकर वेदान्त रस्सी और सांप के माध्यम से अपनी बात रख सकता है जहाँ विश्वातीत और विश्व—दोनों की भिन्न-चेतन एवम् जड़ात्मक-सत्ताएँ हैं—पर आगम अथवा अद्वयवादी आगम दोनों को एक ही सत्ता का परस्पर रूपान्तर मानता है—दोनों को अभिन्न कहता है। यहाँ अपादान और अधिकरण में अंतर नहीं है। परिच्छिन्न जीवों के कार्य के अपादान और अधिकरण पृथक्-पृथक् हुआ करते हैं।

'अवरोहण' स्वयम् में एक कार्य है और कार्य मात्र या तो निमित्ततः होते हैं अथवा स्वभावतः। प्रक्रान्त अवरोहण निमित्ततः है अथवा स्वभावतः। इस संदर्भ में एक बात नितान्त महत्वपूर्ण यह भी है कि 'इच्छा' और 'लीला' की पदावली और उससे अभिव्यक्ति 'आशय' का प्रयोग ज्ञानमार्गी-रुक्ष 'अंतःकरण के साधक नहीं, प्रत्युत द्रवशील अंतःकरण के भक्तिमार्गी ही कर सकते है और किया भी है। उनकी धारा ही भिन्न है। स्मरणीय और ध्येय है कि निर्गुनिएं संत जन द्रवशील अंतःकरण के भक्त हैं, भक्तिमार्गी हैं अतः इनकी साधन धारा में आराध्य की 'इच्छा'[1] या 'मौज' और उनकी 'लीला' या 'खेल' अनिवार्य है। इसकी अनिवार्यता पर विशेष विचार 'साधना' वाले प्रकरण में करना उचित होगा—अतः इस विचारधारा को यहाँ रोककर प्रक्रान्त विषय से संबद्ध कहना यह है कि 'अवरोहण' रूप कार्य संतजनों की दृष्टि में आगमिक दृष्टि के अनुरूप निमित्ततः संभव नहीं है। यदि कोई तार्किक उस आत्माराम चरमतत्व को ही निमित्त कहना चाहता है तो उसका आशय 'स्वभावतः' से भिन्न नहीं है। इसके बावजूद यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि किसी क्रिया में निमित्त अविद्यमान अभीष्ट की पूर्ति हुआ करती है और सर्वप्रमुख अभीष्ट आनंद हुआ करता है। संत जनों की दृष्टि में जो चरमतत्व स्वयम् आनंद[2] मूर्ति है—वहाँ अभीष्ट असपद्यमान कहाँ है—फिर पूर्ति अथवा निमित्त का प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है ? अतः निमित्त विशेष को अवरोहण में कारण बताना तर्कसंगत ही नहीं है। शक्ति और शिव अग्नि और दाहकता की भाँति अयुतसिद्ध हैं। शक्ति संकोच प्रसारात्मिका है—यही इसका आनंदमय उच्छलन है और यही सृष्टि एवम् संसार की क्रीड़ा है। शक्ति शिवता है और शिवता शिव का स्वभाव है।

---

१. इच्छा कीन्ह अंश उपजाये, अनुराग सागर, पृ० १४ बम्बई सं० १९७१।
इच्छा कीन्ह पुरुष तेहि बारा; वही, पृ० २०।
"आदि ब्रह्म की इच्छा उपजी", संत गुलाल साहब की बानी, पृ० २३।

२. "जानबूझ हम लीला ठानी।
मौज हमारी हुई सुनवानी॥", सारबचन भाग १, ७७-८२।

अतः सृष्टि संहार स्वभावतः हो रहा है—स्वभावसिद्ध कार्य में निमित्त का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। कहा ही है—

"महाप्रकाश रूपाहि येयं संविद् विजृम्भते।
सा शिवः शिवतैवास्य वैश्य रूप्यावभासिता"

—तंत्रालोक, भाग ६। आ०१५।२६५, २६६।

जब कोई क्रिया किसी निमित्त से नहीं होती, फिर भी होती है—तब उसका कारण 'स्वभाव' या 'स्वभाव में' ही निहित होता है। बैठा-बैठा व्यक्ति हाथ पाँव हिलाता रहता है—निर्निमित्त। इसका कारण स्वभाव ही में कहीं है और वह है—एक विशेष प्रकार चैन। इसी प्रकार चरमतत्व भी स्वभावतः संकोच प्रसार करता रहता है—सृष्टि प्रलय करता रहता है—जब आत्मरमण चाहता है तो प्रलय कर लेता है जब आत्म प्रसार-रमण करना चाहता है तो सृष्टि कर लेता है। दोनों ही उसकी 'स्वातंत्र्य' शक्ति की लीला है—दोनों ही उसके स्वातंत्र्य का प्रकाश है।

औपनिषद ऋषियों और दार्शनिकों की भाँति इन संतजनों को भी जिज्ञासा है कि यह सृष्टि क्यों? कहाँ; कहाँ से और कैसे? कबीर ने कहा है—

कहो भइया अम्बर कासूं लागा
कोई जानेगा जाननहार सभागा।
अम्बर दीसै केता तारा
कौन चतुर ऐसा चितरन हारा[1] ?

भाई! यह आकाश कहाँ से आ गया—इसे कोई भाग्यवान् ही समझ सकता है। आसमान में गणनातीत ये नक्षत्र गण रहस्यात्मकता की धारासार सृष्टि कर रहे हैं और रहस्य को जानने की शतमुख जिज्ञासा पैदा कर रहे हैं। है कौन वह चतुर चितेरा—जिसने इनको उरेहा? उनकी जिज्ञासा यहीं तक नहीं रुकती—वे यह भी कहते हैं—

उपजै प्यंड प्रान कहाँ थै आवै।
मूवा जीव जाइ कहाँ समावै[2] ॥

ये दृश्यमान पिण्ड और इनमें संचारशील प्राण—ये सब कहाँ से कैसे आ गए अस्तित्व में? मर जाने के बाद ये कहाँ चले जाते हैं। और फिर जो चीजें दृश्यमान हैं—भोक्ता, भोग्य और करण के रूप में विद्यमान हैं—इनके उत्पन्न होने में कोई क्रम भी है या ऐसे ही कुछ का कुछ क्रम-अक्रम से सब सत्ता में आ गए?

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२३।

२. वही, पृ० १००।

प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभु, प्रथमे पवन कि प्राणी ।
प्रथमे चंद कि सूर प्रथमें प्रभू, प्रथमें कौन बिनाणी ।।
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमें प्रभू प्रथमे रक्त कि रेतं ।
प्रथमे पुरुष किनारि प्रथमे प्रभू प्रथमे पा कि पुनयं ।
कहैं कबीर जहाँ बसहु निरंजन वहाँ कछु आहिकि सुन्यं[1] ।

जिज्ञास्य है कि पहले गगन हुआ या पृथिवी, पवन या पानी, चंदा या सूरज, प्राण या पिंड, रक्त कि रेतस्, पुरुष कि नारी, पाप या पुण्य—इनमें से क्रम में पहले पहले कौन है ? अथवा दूसरी जिज्ञासा यह भी है कि ये सभी अक्रम से अर्थात् युगपत् तो वहाँ नहीं थे—वट बीज में वट विश्व की भांति ? या जहाँ वह चरम सत्य मूल में केवल था—वहाँ केवल शून्य शून्य था—कुछ था ही नहीं ? इस प्रकार जिज्ञासा यह थी कि यह सब कुछ—जो विश्व के नाम से जाना जाता है—वह सब कुछ वहाँ पहले से ही था—या वहाँ कुछ भी नहीं था ? और था भी तो क्रम से दृष्टिगोचर हुआ या युगपत् ? साथ ही यह भी कि यदि वहाँ कुछ था ही नहीं तो आ कहाँ से गया—यह सब कुछ ? संतवानी के साक्ष्य पर इन सब प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है।

वैसे डॉ० श्यामसुंदर[2] दास तथा डॉ० बड़थ्वाल[3] तथा अन्यान्त गवेषकों ने यह कहा है कि संतों ने किसी 'दृष्टि' विशेष से व्यौरेवार सृष्टि प्रक्रिया का विवरण नहीं दिया है। ठीक भी है—संतजन 'दर्शन' लिख भी नहीं रहे थे—वे तो उस माध्यम (भाषा) से कुछ कह रहे थे—जो बना है किसी और का बोध कराने के लिए और काम लिया जा रहा है और का बोध कराने के लिए। इसीलिए उनकी उक्तियाँ बौद्धिक धरातल पर अटपटी लगती हैं—परस्पर विरुद्ध (अपने में भी और—एक दूसरे से) भी लगती हैं। अक्षर अनन्य[4] और कबीर[5] शिवदयाल आदि की उक्तियों में एक तरफ 'वटधानिकावत्" जहाँ यह कहा जाता है कि उसमें 'सब कुछ' है—फलतः वह 'पूर्ण' है—वहीं दूसरी ओर उसे 'सुन्न' भी कहा गया है—

सुन्न ते कीता धरती असमानु

कदाचित् इसीलिए यह मान लिया गया कि जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है—वह कुछ है नहीं, केवल दृष्टिभ्रम है। सुंदरदास ने कहा ही है—'सुंदर विलास' में।

सुंदर यह सकल मिथ्या भ्रमजार है दूसरी ओर 'सब कुछ' को सही (इसी 'सही' के कारण डा० बड़थ्वाल ने शिवदयाल आदि को विशिष्टाद्वैती तथा नानक आदि को

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १४२–१४३ ।
 वही ।
३. हिं का नि० सं०, पृष्ठ १८६ ।
४. प्राण संगली, पृष्ठ १६६ ।
५. सुन्दर विलास ।

भेदाभेदी तक कह डाला है) मानकर उसमें पूर्वस्थिति तो कही ही गई है—विशेष बात यह है कि सृष्टि प्रक्रिया में क्रम का भी निर्देश है। स्वयं सुंदरदास[1] तथा गुलाल[2] ने ऐसा किया है। तीसरी ओर दादू[3] ने कतिपय पंक्तियाँ ऐसी दी हैं जिनसे सृष्टि-विधान में किसी क्रम की बात मानने का विरोध होता है। इस प्रकार इस 'पूर्ण' 'शून्य' 'सही' भ्रम तथा 'क्रम' और 'अक्रम' को देखकर यदि एक ओर आचार्य शुक्ल संतों की बानियों को अटपटी तक कह देते हैं और दूसरी ओर डा० बड़थ्वाल उनमें भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ या दार्शनिकता कल्पित कर लेते हैं। मेरा प्रस्ताव यह है कि यदि अद्वयवादी आगमिक दृष्टि इनकी उक्तियों के मूल में मान लिया जाय और उसका संचार किया जाय तो सारी संगति लग जायगी—न तो कहीं अटपटा पन लगेगा और न भिन्न-भिन्न दार्शनिक भूमियाँ ही माननी पड़ेगी।

समस्त विश्वप्रपंच की व्याख्या करते हुए ये अद्वयवादी आगमिक तीन[4] स्तरों की कल्पना करते हैं—

(क) अभेद भूमि—परमशिव
(ख) भेदाभेद भूमि—शिवशक्ति से शुद्धविद्या
(ग) भेद भूमि—माया से पृथिवी

इन तीन भूमियों के अतिरिक्त वे छत्तीस तत्व भी मानते हैं—जिनमें वेदान्त और सांख्य के सभी तत्व अन्तर्भूत हो जाते हैं। यह 'दृष्टि' इतनी व्यापक और विभिन्न भूमिकाओं को आत्मसात् करने वाली है—कि उसके संचार से सारी असंगतियाँ निःशेष हो जाती हैं।

अभेदभूमि :

द्वितीय अध्याय में परोक्षसत्ता का स्वरूप निर्णय करते हुए जिस 'द्वयात्मक अद्वय' या 'समरसतत्व' की तत्वातीत स्थिति का संकेत किया गया है—आगमिकों ने उसे परमशिव की संज्ञा दी है। उसके लिए सापेक्षार्थबोध क्षम शब्द मात्र का प्रयोग निरर्थक है—वह 'अकथ्य' तथा अन्तःस्वानन्दगोचर है। विज्ञान भैरव में कहा ही है—

"व्यपदेष्टुमशक्यासौ अकथ्या परमार्थतः[5]"।

---

१. "ऐसे अनुक्रम से सिस्यन सो कहत सुन्दर यह सकल मिथ्या भ्रमजार ले"—वही।
२. महात्माओं की वाणी, पृष्ठ १६२।
३. एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।
आगे पीछे तौ करे जे बलहीण होइ—वही, पृ० १६८।
४. देखिए—काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी—अध्याय-३।
तथा—भेदसार, भेदाभेदमय चाभेदसारमापादयन्ति... स्पंद संदोह, पृ० २०।
तथा—स्पंदनिर्णय, पृष्ठ १४।
५. विज्ञानभैरव, पृष्ठ सं० ११, १६१८।

यह वह स्थिति है जहाँ न 'शिव' का पता है और न 'शक्ति' का, न जिसे 'विश्वात्मक' कह सकते हैं और न 'विश्वोत्तीर्ण'—अभिप्राय यह कि इसे किसी शब्द से कहा ही नहीं जा सकता। इसी सामरस्यापन्न स्थिति में जब उसका स्वरूप 'प्रकाश रूपता' अथवा 'विमर्श रूपता' के प्राधान्य से प्रकाशित होता है—तब उसके लिए शिव-शक्ति, शक्तिमान्-शक्ति, प्रकाश-विमर्श, बोध-स्वातन्त्र्य, चित्-आनंद-विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगता है। दृष्टिभेद से विवेचकों ने कभी तो शिव और शक्ति-दोनों को तत्वातीत कहा है और फलतः उनकी गणना तत्वों में नहीं की है और कभी-कभी की भी है। जो शिव-शक्ति को तत्वातीत मानते हैं उनकी दृष्टि से विमर्श द्वारा दर्पण नगर की भांति आत्मगत ही अभिन्न भाव से अनन्त सृष्टि संहार को प्रतिबिंबित करने में क्षम शिव स्वयम् प्रकाश-विमर्श-मय है—अनाभासमय है—भासनातीत है। अतः तत्वातीत भी है, पर उपदेश या भावना के प्रसंग में यह माना जाता है—समझाने के लिए कहा जाता है कि विश्वोन्मीलन के प्रति परमशिव की 'इच्छा' की 'उन्मुखता' से ही उसके दो स्वरूपों का आभास होने लगता है—विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक-पहला 'शिव' है और दूसरा 'शक्ति'। यद्यपि न शिव से रहित शक्ति है और न शक्ति से रहित शिव-तथापि प्राधान्य वश एक-एक का व्यवहार है। 'प्रकाश' का 'विमर्श' उसके 'शिव' रूप की अभिव्यक्ति है और 'विमर्श' का 'प्रकाश' उसके शक्ति रूप की। एक संविद् रूप परमेश्वर में शिवतत्व और शक्तितत्व का आभास पूर्णतः अभेद भूमिका का आभास है।[1] यहाँ 'शिव' विश्वोत्तीर्ण है—अतः उसकी स्फुरत्ता केवल अपनी आत्मा में ही है—अतः उस स्तर का प्रत्यय अनन्योन्मुख स्वात्मप्रकाशपूर्ण होता है और उसे 'अहम्' द्वारा व्यक्त किया जाता है। जहाँ तक 'शक्ति' का संबंध है—वह परम-शिव की 'इच्छा' ही है—उस परमशिव की जो उन्मीलन की ओर उन्मुख है—अथवा उस इच्छा का यह प्रथम 'स्पंद' है यह 'शक्ति' इसलिए कही जाती है कि यह विश्वात्मक है—अर्थात् इसमें प्रकाश्यमान निखिल विश्व तादात्म्यापन्न होकर निलीन रहता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वटवृक्ष अपने बीज में। शिव तो विश्वोत्तीर्ण है। अर्थात् उन्मीलनोन्मुख परमशिव की इच्छा का प्रथम स्पंद 'शक्ति' है—परमशिव के इस उद्रिक्त रूप के प्रत्यय को 'अहमस्मि' से प्रकट किया जाता है और इसे 'आनंद' मय समझा जाता है जब कि अनुद्रिक्त समरस एवं इस अवस्था की अपेक्षा में विश्वोत्तीर्ण रूप को चिन्मात्रस्वभाव 'शिव'। निष्कर्ष यह कि परमेश्वर की इस अभेद भूमिका में युगपत् दो तत्वों का अवभासन होता है—अपरिमित 'अहं' प्रकाशरूप (विश्वोत्तीर्ण) तथा अन्तरमुख होता हुआ शिवतत्व कहलाता है और इसके विपरीत यही अपरिमित 'अहं' विमर्श रूप, विश्वमय तथा वहिर्मुख होता हुआ शक्तितत्व कहलाता है। परमार्थतः यह अभेदमय भूमिका है—व्यावहारिक दृष्टि

---

१. देखिए, काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृष्ठ ६७–७२।

से ही, प्राधान्य के प्रयोजन से ही शक्ति और शक्तिमान् का पृथक्-पृथक् व्यवहार होता है ।

भेदाभेद भूमिका :

अभेद की भूमिका में 'विश्व' शक्त्यात्मना स्थित है—वहाँ का प्रत्यय या परामर्श 'अहम' अथवा 'अहमस्मि' तक ही है—'इदम्' का सर्वथा अनुल्लेख है। परमशिव अथवा शक्ति की अपेक्षा में 'शिव' की इच्छा का निमेष 'सदाशिव' तथा 'उन्मेष' 'ईश्वर' तत्व है।

'ईश्वरो बहिरुन्मेषः
निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।

'सदाशिव' स्तर पर 'इच्छा' की अन्तर्मुखी स्थिति में आत्म परामर्श का प्राधान्य रहता है—'अहन्ता' का परामर्श स्फुट रहता है—बीजात्मना अवस्थित इदमंश या विश्वांश अंकुरायमाण स्थिति में रहने से अस्फुट होता है—एक प्रकार से अंकुरायमाणता के बीजगत होने से प्रलय की ही स्थिति होती है । यहाँ का परामर्श 'अहमिदम्' रूप से होता है । 'ईश्वर' स्तर पर अंकुरायमाण विश्व या इदमंश अंकुरित अर्थात् स्फुट हो जाता है—तब का प्रत्यय 'इदमहम्' है । इन दोनों स्तरों पर 'अहम्' के विचार से अभेद है पर 'इदम्' अंश की अस्फुटता तथा स्फुटता के कारण भेद भी है—अतः इन भूमियों को भेदाभेद की भूमि कह सकते हैं ।

जिस प्रकार परमशिव का वहिरौन्मुख्य 'शक्ति तत्व' कहलाता है उसी प्रकार 'सदाशिव' और 'ईश्वर' का 'शुद्ध विद्या'। इस स्तर पर 'अहम्' और 'इदम्' की समान स्फुटता रहती है । 'अहम्' और 'इदम्' अर्थात् प्रमाता और प्रमेय की स्फुट तथा पृथक् प्रतीति शुद्ध भेद-भूमिका पर भी होती है—पर वहाँ और यहाँ के बोध में कई अन्तर है—पहला यह कि शुद्ध विद्या स्तर पर प्रमाता और प्रमेय दोनों का अधिकरण एक ही होता है जबकि भेद भूमिका में भिन्न। भेद-भूमि अर्थात् माया राज्य में प्रमाता से प्रमेय स्पष्ट ही भिन्न प्रतीत होता है—द्रष्टा और दृश्य में अंतर होता है—दोनों एक नहीं होते । दूसरा अंतर यह भी है कि माया राज्य में प्रमाता प्रकाशमय होता है किन्तु प्रमेय जड़(वत्) प्रतीत होता है। शुद्धविद्या के धरातल पर 'प्रमाता' और 'प्रमेय' 'अहम्' और 'इदम्'—एक ही अधिकरण में भिन्न रूप से प्रकाशित हैं—ठीक वैसे जैसे अंगी और उसका अंग । दूसरे यहाँ प्रमेय भी प्रमाता की भाँति अपने पारमार्थिक 'प्रकाशमय' रूप में प्रतीत होता है । इस प्रकार यह स्तर भी अधिकरण की दृष्टि से उभयत्र—अहम् तथा —इदम् अनुस्यूत प्रकाशमयता की दृष्टि से जहाँ एक ओर 'अभेद' का है वहीं दूसरी ओर प्रमाता और प्रमेय जैसा स्फुट भेद के प्रत्यय वश 'भेद' का भी है । इस प्रकार ये तीन स्तर-सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्धविद्या-भेदाभेद के हैं।

इस प्रकार मूल सत्ता इन स्तरों में आत्मप्रकाश करती हुई आणवमल से स्वातंत्र्य-वश परिच्छिन्न भाव को धारण कर लेती है—फिर मायीय मल के कारण विशुद्ध भेद

की भूमिका पर माया प्रमाता के नाम से रूपान्तरित हो जाती है। विभिन्न कंचुकों से उसका ऐश्वर्य विलुप्त हो जाता है। अद्वैत वेदांत दर्शन इसी 'माया' स्तर से आरंभकर सृष्टि प्रक्रिया का हवाला देता है। माया, राग, कला, काल, विद्या तथा नियति जैसे षट् कंचुकों से आच्छन्न 'पुरुष' त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' के परिणामों से अपने को एक समझकर दुखी हो जाता है। इसी 'प्रकृति' और 'पुरुष' से सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया का आरंभ होता है। क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञा' हृदय में विभिन्न दर्शनों में उक्त सृष्टि प्रक्रिया को भूमिका भेद से संगत किया है। उन्होंने 'शून्यवादी' बौद्धों और 'शब्द ब्रह्मवादी' वैयाकरणों की भूमियों का भी अपनी तांत्रिक प्रक्रिया में समावेश करते हुए उनकी सीमा निर्दिष्ट की है।

अभेद भूमि (विश्वोत्तीर्ण-शिव

	परमशिव	इच्छा का प्रथम स्पंद—शक्ति विश्वात्मा विश्व का बीजात्मना अवस्थान
	(सदाशिव—	विश्व की अंकुरायमाण स्थिति या अस्फुट स्थिति
भेदाभेद	(ईश्वर—	विश्व की अंकुरित स्थिति या स्फुट स्थिति
भूमियां	(शुद्धविद्या—	विश्व की स्फुटतर स्थिति पर सर्वत्र प्रकाशमय ही
भेदभूमि—	(माया भूमि—	प्रमाता चिन्मय, पर प्रमेप जड़

संत साहित्य में डा० बड़थ्वाल ने जिस 'परात्पर[१]' की चर्चा की है—उसकी संगत व्याख्या इसी आलोक में की जा सकती है। यों तो इस बात की विस्तृत चर्चा नवम अध्याय में—जहाँ संतों की आध्यात्मिक यात्रा और उसमें पड़ने वाली रूहानी मंजिलों की व्याख्या की जायगी–होगी। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना है कि इस 'पर' प्रवृत्ति की—जिसकी संत साहित्य में चर्चा है—संगति लगाई जा सकती है।

बात थोड़ी और स्पष्ट कर ली जाय। डा० बड़थ्वाल ने 'परात्पर' शीर्षक से यह बताया है और संत बानियों का साक्ष्य भी दिया है कि जब एक बार 'परोक्ष सत्ता' अथवा 'परमसत्ता' को भाव-अभाव सबसे 'पर' कह दिया गया—तो संत साहित्य में पुनः 'पर' 'पर' की उक्ति कोई दार्शनिक संगति नहीं रखती।

अपने मन्तव्य को उपस्थापित करने से पूर्व उन्होंने बताया कि सर्वप्रथम कबीर ने उस परतत्व को त्रिगुणातीत चौथे पद[२] का कहा है। बिहारी दरिया ने भी उसे तीनों लोक के ऊपर माना[३] है। कबीर पंथियों ने सत्य पुरुष को निर्गुण से दो लोक और ऊपर माना और आँतरालिक दो लोकों का नाम सुन्न और भंवर गुहा रखा[४]। इनके

१. हि० का० नि० सं०, पृष्ठ १०८।
२. चौथे पद को जो जन चीन्हे तिन्हहिं परम पद पाया ॥ बानी, भाग १ पृ० ५३।
३. तीन लोक के ऊपर अभयलोक विस्तार। संत बानी संग्रह, भाग १, पृ० १२३।
४. हि० का० नि० सं०, पृष्ठ १०६।

धनियों का नाम रखा गया—ब्रह्म और परब्रह्म । नानक[1] ने कबीर की भांति चौथे स्तर का कहा, पर गुलाल[2] साहब ने उसे चौथे से ऊपर उठा लिया । ऐसा ही कुछ स्वर प्राणनाथ का भी है ।[3] कबीर मंसूर ने समर्थ और निरंजन के बीच छह पुरुषों के लोक हैं—सहज, ओंकार; इच्छा, सोहम्, अचिंत्य और अक्षर[4] । इस 'परात्तर' कल्पना की प्रवृत्ति आगे और बढ़ी फलतः वह 'सत्यपुरुष' से भी आगे बढ़ा । स्थिति यह आ गई कि कबीर पंथियों का 'अनामी' और शिवदयालं का राधास्वामी 'सत्य पुरुष' से भी तीन लोक और ऊपर चला गया—बीच के पुरुष हुए-अगम और अलख । डा० बड्थवाल का कहना है कि शिवदयालजी अनामी को राधास्वामी का विशेषण कहा था, पर सांप्रदायिक अनुयायियों ने अनामी को एक अलग पुरुष मानकर राधा-स्वामी के नीचे रख दिया । शिवदयालजी ने सत्य को निर्गुण से चौथा न मानकर चारलोक ऊपर माना और इस प्रकार बढ़ी हुई जगह को भरने के लिए एक और लोक तथा पुरुष की कल्पना की जिनके नाम क्रमशः सोहंग लोक और सोहंग पुरुष रखे गए । इस प्रकार राधास्वामी साहित्य में निरंजन अथवा निर्गुण परात्पर कल्पित पुरुषों या स्तरों के क्रम में सबसे नीचे आते हैं—क्रम यों हुआ—
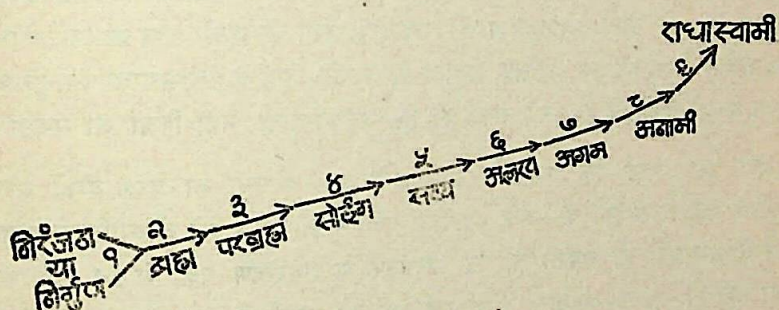
इस प्रकार गुणराज्यं को प्राकृत अथवा मायीय स्तर की भेद भूमि मानें, तो उपर्युक्त ये स्तर भेदाभेद अथवा अभेद भूमि के हो सकते हैं । डा० बड़थ्वाल का कहना है कि इस 'पर' प्रवृत्ति की कोई संगति नहीं है । एक बार जब परमात्मा को सगुण-निर्गुण-दोनों से 'पर' बतला दिया, तब एक के बाद एक और 'पर' जोड़ने से लाभ हो क्या सकता है ? डा० बड़थ्वाल संतों की इस प्रवृत्ति के मूल में निम्नलिखित[5] हेतु संभावित करते हैं—

---

१. तीनि समावे चौथे वासा, ग्रंथ, पृ० ४५ । सं० वा० सं० भाग २ । पृ २०६
२. ब्रह्म सरूप अखंडित पूरन चौथे पद सों न्यारो
३. निराकार के पार थें तिन पारहु के पार, प्रगटबानी, पृ० १ ।
४. कबीर ग्रं० पृ० ६५-६६ ।
५. हि. का. नि. सं.पृ० ११२ से ।

(क) रामानंद जी द्वारा प्राप्त सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का, जिनका प्रचार कवीर ने किया था—परवर्ती अनुयायियों द्वारा दुर्वोध्य होना, फलतः पूर्ववर्ती संतों तथा अन्य धर्मानुयायियों के अनुभवों को अपने से नीचा ठहराना।

(ख) वौद्ध एवं सूफियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक अभ्यास मार्ग में रूहानी मंजिल का अनुकरण।

जहाँ तक प्रथम तर्क का संवंध है—उसे केवल कवीर पंथियों तक ही लागू किया गया है—अतः समग्र संत साहित्य में व्याप्त 'परात्पर' कल्पना की दृष्टि से वह अपर्याप्त अथवा अव्याप्त है। यदि यथाकथञ्चित् कवीर प्रवर्तित 'सुरत शब्द सावना' मार्ग का सावक मानकर—समस्त संतों को कवीर-अनुयायी मान कर उक्त तर्क की व्याप्ति स्वीकार भी कर लें, तव भी उक्त तर्क की चरितार्थता उसी स्थिति में मानी जायगी जव सभी तथोक्तकल्पक संतों को अवोव मान लिया जाय। कवीर के अनन्तर उनके मार्गानुधावी परवर्ती संत जन, जिन्होंने विभिन्न लोकों की कल्पना की—सव अवोव और असावक ही थे—यह मानकर तो कुछ भी कहा जा सकता है। डा० वड़थ्वाल के इस तर्क में यत्र-तत्र आंशिक सत्य हो भी तथापि इस कल्पना की कथमपि संगति न लगने पर ही पूर्णतः अग्राह्यता हो सकेगी। जैसा कि आगे कहा जायगा, संगति की संभावना है। यत्र-तत्र आंशिक सत्यता से आशय यह है कि समस्त पंथानुधावी साहित्य में जो कुछ भी है—सव संगत ही है—इसका दावा नहीं किया जा सकता।

रहा दूसरा तर्क कि संतों के साहित्य में इस कल्पना का प्रेरक बौद्धों और सूफियों के रुहानी सोपान हैं—अतः आरोहण पक्ष से जीवात्मा की आध्यात्मिक यात्रा में इनकी संभावना हो सकती है; पर 'परात्पर' के अवरोहण पक्ष से इन स्तरों की कल्पना नहीं हो सकती—नितान्त हास्यास्पद तर्क है। इसीलिए इन सोपानों की लोक अथवा पुरुष के रूप में कल्पना भी सार्थक है—निरर्थक नहीं।

आरोहण पक्ष से इन सोपानों की सार्थकता मानते हुए भी डा० वड़थ्वाल अवरोहण पक्ष से इन्हें इसलिए निरर्थक मानते हैं कि आरोहण पक्ष में अपूर्ण जीवात्मा उत्तरोत्तर तारतमिक भाव से 'पूर्णता' की ओर विभिन्न सोपानों को पार करता हुआ जा सकता है—यह संगत और संभव भी है, पर परात्पर परतत्व जो कभी 'अपूर्ण' होता ही नहीं 'अवरोहण' क्रम में किस प्रकार नीचे उतर सकता है? इसीलिए उन्होंने उस अंश का खंडन भी किया है जहाँ शिवदयाल जी ने राधास्वामी दयाल से कहलवाया है कि अगम, अलख और सत्य पुरुष में उनका ही पूर्ण रूप है—देखिए—

पिरथम अगम रूप मैं धारा। दूसर अलख पुरुष हुआ न्यारा।
तीसर सत्त पुरुष मैं भया। सतलोक मेंही रचि लिया।

इन तीनों में मेरा रूप । ह्यां से उतरी कला अनूप ।
ह्यां तक निज कर मुझको जानो । पूरन रूप मुझे पहचानो[1] ।

उनका कहना है "जहाँ परमात्मा को एक पग भी नीचे उतरना पड़ा, समझना चाहिए कि पूर्णता में कमी आ गई । साधक के पूर्ण आध्यात्मिकता में प्रवेश पाने में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यात्राएं हो सकती हैं परन्तु निर्लेप परमतत्व में, जब तक वह निर्लेप परमतत्व है, न्यूनाधिक यात्राओं का विचार घट नहीं सकता । पूर्ण ब्रह्म की जब तक पूर्ण प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक साधक अपूर्ण ही कहलायेगा—चाहे उसकी अपूर्णता सूक्ष्म हो अथवा स्थूल[2] ।" उनके अनुसार "यदि पूर्ण ब्रह्म भावना पर बाह्यार्थ का आरोप किया जायगा, तो वह अवश्य ही सारहीन होकर ऐसी अदार्शनिक प्रवृत्ति में बदल जायगी—यही यहाँ हुआ भी[3] है । अतः उनका निष्कर्ष है—"अभ्यास[4] मार्ग में उन्नति के सोपानों के रूप में इन पदों की चाहे जो सार्थकता मानी जाय, परंतु इसमें संदेह नहीं कि लोक अथवा पुरुष रूप में उनका कोई दार्शनिक महत्व नहीं ।"

डा० बड़थ्वाल के ग्रंथ से इतना बड़ा उद्धरण इसलिए दिया गया है कि उसमें स्पष्टतः अंतर्विरोध दिखाया जा सके । इस संदर्भ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत सही कहा है—"परात्पर तत्व किस प्रकार सूक्ष्म रूप में आविर्भूत होता है, यही मूल बात है । लोक, द्वीप, मुकाम—आदि को उसी को समझाने की कल्पनाएं हैं। इनकी नियत संख्या नहीं है । विभिन्न रुचि के साधक चाहे जितनी कल्पनाएं कर सकते हैं ।" इसके पूर्व कि अन्य लोगों के उद्धरण से मैं अपनी धारणा की पुष्टि करूं—पहले उसे स्पष्ट कर लूं ।

संतों के संदर्भ में यह पूर्ववर्ती अध्याय में स्थिर किया जा चुका है कि वे द्वयात्मक अद्वयवादी हैं—शांकर अद्वैतवादी नहीं । शाँकर अद्वैतवादी ज्ञानमार्ग के अनुरूप है भक्ति मार्ग के नहीं । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक कहा है—"निर्गुण आत्म-ज्ञान में प्रेमा भक्ति को कोई स्थान नहीं है । वह परतत्व के सत् और चित् रूप तक ही सीमित है । अर्थात् निर्गुण आत्मज्ञान केवल यह बताता है कि परतत्व 'है' (सत्) और वह चैतन्य रूप है (चित्) । परंतु यह निर्गुण आत्मज्ञान यह नहीं बताता कि परतत्व आनंदमय भी है—अपनी आनंदिनी (क्रिया) शक्ति के द्वारा वह लीला किया करता है । सभी भक्तिशास्त्रियों की तरह कबीर प्रभृति संतों ने भी उसके इस आनंद निकेतन रूप को महत्व दिया है । यह आनंदिनी शक्ति ही सच्चिदानन्द परब्रह्म की वह इच्छा है जिसके द्वारा लीला के लिए वह एक होकर भी बहुत्व की आकांक्षा

---

१. सारवचन, भाग १, पृ० ७५ ।
२. हिं० का० नि० सं०, पृष्ठ ११३ ।
३. वही ।
४. वही, पृष्ठ ११४ ।

रखता है। भक्ति संप्रदायों के अनुसार अद्वैत ज्ञान सच्चिदानंद भगवान् के पूर्ण रूप की उपेक्षा करता है। भक्ति के लिए, जो भगवत्प्रेम का ही नामान्तर है, इस अद्वैतभाव के तिरस्कार की आवश्यकता है। "पर इतना सब मानने पर भी द्विवेदीजी न जाने क्यों कहते हैं—"कबीर आदि संत मुख्य रूप से निर्गुण आत्मज्ञान की परम्परा में आते हैं[1]।" लगता है ऊपर प्रथम उद्धरण में वे 'सहज' हैं, पर दूसरे में 'सचेत'। अध्यात्म में (इण्टूयूटिव नालेज) सहज स्फुरण जितने काम का होता है—उतना सचेत बोध नहीं। अस्तु। कह यह रहा हूँ कि उपर्युक्त आगमिक अद्वयवाद के अनुसार परात्पर तत्व ही जिस स्तर से अवरोहण करता है—अपनी 'शक्ति' के प्रसारात्मक पक्ष से—उन्हीं स्तरों से वही आरोहण भी करता है—निज शक्ति के संकोचात्मक पक्ष से। अतः स्तरों की कल्पना चाहे भी जिस ओर से की जाय—उसकी एकरूपता 'अवरोहण' और 'आरोहण'—दोनों पक्षों से होनी ही चाहिए। अतः डा० वड़थ्वाल का यह कहना कि आरोहण पक्ष से ही इनकी सार्थकता है—अवरोहण पक्ष से नहीं—सर्वथा अविचारित और अदार्शनिक है।

रहा यह कि परात्पर पूर्ण तत्व अवरोहण बेला में 'अपूर्ण' हो जाता है—पता नहीं डा० वड़थ्वाल को यह भ्रम कहाँ से हुआ? इस भ्रम का एक कारण तो यह है कि उन्होंने 'अवरोहण' का अर्थ नीचे उतरना समझ लिया और दूसरे यह कि उन्हें आगमिकों की 'अभेद' और 'भेदाभेद' की भूमियों का पता नहीं था।

ऊपर आगमिक दृष्टि से जिन अभेद और भेदाभेद की भूमियों का उल्लेख किया गया है—उनके आलोक में यह स्पष्ट है कि परात्पर तत्व 'भेद' की भूमिका ग्रहण करने से पूर्व भी अनेक स्तरों या रूपों में अपना प्राकट्य करता है। इन भूमियों में ही नहीं, तत्वतः सदा सर्वदा वह तत्व अपनी पूर्णता से प्रच्युत नहीं होता—फिर भी अपूर्णता का बाना ग्रहण कर लेता है। लौकिक दृष्टि से प्रतीत होती हुई ये तार्किक असंगतियाँ उस लोकोत्तर का स्पर्श नहीं करतीं। वह अन्यनिरपेक्ष एवं स्वतन्त्र हैं—अतः 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्व मुन्मीलयति'—अर्थात् वहाँ उपकरण भी वही है, आधार भी वही है—प्रसार भी बीजात्मना विश्व को निलीन करके अवस्थित उसी की शक्ति का है। इस प्रकार अवरोहण, नीचे उतरना, पूर्ण का अपूर्ण होना नहीं—प्रत्युत सूक्ष्म का स्थूल होना, अव्यक्त का व्यक्त होना है। परतत्व तो सदा स्वरूप विश्रान्त है—उसकी प्रच्युति का सवाल ही नहीं उठता—अन्यथा अवस्थान्तरण मानने से तो वह परिणामी हो जायगा—एक रूप नहीं होगा। अतः सदा वह एक रूप है—फिर भी अनेक रूप है—यही तो उसका सामर्थ्य है। वह स्वयम् देश काल को क्रोडीकृत करता हुआ देशकालातीत है—पूर्णता, अपूर्णता, चढ़ना, उतरना परिमित पदार्थों की सापेक्ष स्थिति

१. संतों का सूक्ष्म वेद, पृष्ठ २०।

मत्ता है—निरपेक्ष में ये क्रियाएँ कैसे संभव हैं? जव उससे अतिरिक्त कोई भिन्न प्रदेश है ही नहीं, तव उसका उतरना कहाँ है ? और चढ़ना कहाँ है ?

अव प्रश्न रहा यह कि फिर अवरोहण तथा आरोहण का अर्थ क्या है ? अवरोहण—जो है उसी का प्राकट्य है—इस प्राकट्य में 'क्रम' भी है और 'अक्रम' भी इस प्राकट्य की तीन भूमियाँ हैं—अभेदमयी, भेदाभेद मयी और भेद मयी। संतों ने जिन लोकों की चर्चा की है—स्पष्ट है कि वे गुणातीत हैं—मायोर्द्धव हैं—भेद-भूमि के परे हैं । अतः मायोर्द्धव भूमि को समष्टि में 'तुर्य' या चौथा पद भी कह सकते हैं और प्राकट्य के स्तरों को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न नाम भी दे सकते हैं । नाम सभी उसके विशेषण भी हो सकते हैं—और स्तर भेद को व्यक्त करने की दृष्टि से संज्ञा भी हो सकते हैं । अतः डा० वड़थ्वाल का यह कहना कि "कहना न होगा कि निरंजन, अलख, अगम, अनामी, सत्य-आदि शब्दों को—जिन्हें पिछले संतों ने विभिन्न पुरुषों का नाम मान लिया है—पहले के संतों ने परमतत्व या परमात्मा के विशेषण मानकर उसके पर्याय के रूप में ग्रहण किया[1] है"—संगत भी है और असंगत भी। संगत इस दृष्टि से कि मायोर्द्धव भूमि को अखंड रूप में मानकर ये शब्द विशेषण और पर्याय हो सकते हैं, असंगतियों कि मायोर्द्धव भूमि में प्राकट्य के स्तर भेद की दृष्टि से ये पृथक्-पृथक् संज्ञा भी हो सकते हैं। इसीलिए जव शिवदयाल जी राधास्वामी से यह कहलवाते हैं कि परतत्व ही अगम, अलख और सत्यपुरुष के रूप में प्रकट होता है—तव वह सर्वथा आगम दर्शन संगत है, उसमें कोई असंगति नहीं है । विवाद नाम में नहीं है—विवाद अर्थ में होता है । यदि आगमों में पूर्ण और अभेद भूमियों में भी स्तर का होना सिद्ध है—तो संतों की यह कल्पना भी असंगत नहीं है, उसकी दार्शनिक संगति है ।

इस प्रकार की भेदोर्द्धव भूमिक कल्पना आगमों में ही नहीं, नाथ साहित्य तथा पुराणों में भी उपलव्ध है । उन सवके आलोक में संत साहित्य में उपलव्ध इन स्तरों की भी संगति और सार्थकता अच्छी तरह स्पष्ट की जा सकती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'संतों का सूक्ष्मवेद"—शीर्षक अपने एक व्याख्यान में इसे विस्तार के साथ स्पष्ट किया है । निष्कर्ष यह कि यदि आगम और आगमिक परम्परा के आलोक में संत साहित्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाय तो न शुक्लजी के शब्दों में अटपटापन और अव्यवस्था ही दिखाई देगी और न डा० बड़थ्वाल की तरह विभिन्न दार्शनिक भूमियाँ ही लक्षित होंगी ।

इस परात्पर कल्पना की शास्त्र-सम्मत प्रतिष्ठा कविराज जी की निम्नलिखित उक्तियों के आलोक में भी होता है—"सत्व, रजस् और तमस्—ये तीन विंदु अथवा मूलत्रिकोण रूपा महाशक्ति के तीन कोण-जिनका अविर्माव सृष्टि के आरंभ में हुआ था, अपना वैषम्य परित्याग कर अंतः स्थित महाबिंदु में साम्यभाव से अवस्थित रहते

१. हि० का० नि० सं०, पृष्ठ १२३-१२५ ।

हैं। इसी महाबिंदु को वैष्णवगण 'महाविष्णु' तथा त्रिकमतावलम्बी शैवाचार्य या शाक्तागम विद्गण 'सदाशिव' कहते हैं। वेदान्त में यह 'तुरीय' नाम से व्यवहृत होता है। इसके अनन्तर भी एक अवस्था है जिसका कुछ विद्वान् 'तुर्यातीत' पद से व्यवहार करते हैं। शैव और शाक्तगण के शिव और शक्ति या कामेश्वर-कामेश्वरी तथा गौड़ीय वैष्णवों के राधाकृष्ण पूर्वोक्त महाविंदु से ऊर्ध्वभूमि में अवस्थित हैं। कहा जाता है कि द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावन—ये तीनों धाम महाविंदु की सीमा से अतीत हैं। सदाशिव तत्व का भेद कर शांकर-सम्मत निर्गुण भूमि में प्रतिष्ठित हुए विना—नित्य-लीला में प्रवेश पाया ही नहीं जा सकता।"[1]

संतों की इस अवरोहण प्रक्रिया को आगमसम्मत तथा विश्वसनीय और संगत बताने के लिए 'संतों का सूक्ष्मवेद' से एक विस्तृत उद्धरण दिया जाना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है—"इस परमतत्व को जव सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें 'सगुण' शिव कहा जाता है। पहले वताया जा चुका है कि यह इच्छा (सिसृक्षा) ही शक्ति है। अव इस अवस्था में परमशिव से एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है—(१) परमशिव की या 'स्वयम्' की अवस्था मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती और प्रायः स्फुरित होने की उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरं पदम्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पंदित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के वारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएं क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती हैं। इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस प्रकार निखिलानंद संदोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप में प्रकट हुए और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्व कुंडली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है। इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्व-प्रपंच की उत्पत्ति, पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली शिव और शक्ति प्रथम दो सूक्ष्म तत्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार अगले पृष्ठ की सारिणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा।

इस प्रकार की योजना अन्य आगमों में भी मिलती है। शब्द सब समय समान नहीं होते, पर मतलव सबका एक ही होता है—पर शिव का अपरशिव में परिणत

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० ३०७।

होने के अनेक उपक्रम। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म या पर तत्व के प्रथम उपक्रम को 'सहज' नाम दिया जा सकता है। उसमें कोई भी वैशिष्ट्य आया परंतु वैशिष्ट्य अंकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो गई है। परब्रह्म का यह दूसरा रूप सहज है, तीसरा-अंकुर। फिर अंकुर रूप में प्राप्त होने की स्थिति 'इच्छा' कही जा सकती है। इच्छा होते ही अत्यंत सूक्ष्म रूप से आरम्भिक 'इदंता' और 'अहंता का योग सूत्र 'सो हं' वृत्ति की अभिव्यक्ति होगी और उससे 'इदं' और 'अहं' का अचिन्त्य ऐक्य स्वयम् अभिव्यक्त होता रहेगा। सृष्ट्युद्यत परब्रह्म निरंजन के पूर्व की अवस्था 'अक्षर'—जो अभी तक निजरूप से क्षरित नहीं हुई है—कही जा सकती है। अर्थात् सहजानंद परतत्व से क्रमशः सहज→अंकुर→इच्छा→सोऽहं→अचिन्त्य अक्षर→निरंजन प्रादुर्भूत हुए। यही वह क्रम है—जो ऊपर 'कवीर मंसूर' में वताया गया है। कवीर मंसूर में वह अविकसित मस्तिष्क के अधिकारियों की दृष्टि में रखकर पौराणिक शैली में कहा गया है। आध्यात्मिक सत्य को आधिदैविक भाषा में कहने वाली शैली को ही पौराणिक शैली कहा जाता है। इस शैली में इन अपरब्रह्म या निरंजन भाव तक की अवस्थाओं को लोक विशेष के रूप में कहा गया है और उन लोकों के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में ब्रह्म के तत्तत् स्वरूप को वैठा दिया गया है। पुराणों और संहिताओं में व्यापक रूप से इस शैली का प्रयोग मिलता[1] है। "उदाहरणार्थ विश्वनाथ सिंह की वीजक टीका (पृष्ठ २४०) में उद्धृत सदाशिव संहिता के श्लोक देखे जा सकते हैं—वहाँ भी एक के वाद एक लोकों की विस्तृत तालिका मिलेगी। वहाँ मह, जन, तप, सत्य, कौमार, भ्रम, शिव महावैष्णव, सत्य एवं गोलोक-आदि का परात्पर उल्लेख मिलता है।" इन सब विवरणों से नितान्त सुस्पष्ट और सिद्ध है कि मायोर्द्धव अभेद भूमि पर पर तत्व के सृष्ट्युन्मुख रूप के उन्मीलन में कई स्तरों का लोक अथवा तद-धिष्ठातृ देवता के रुप में कथन की परम्परा आगम की है और उसके दार्शनिकों द्वारा उसका स्पष्टीकरण भी हुआ है। आगम, नाथ, संत और पौराणिक स्तर निरूपणों में डा० वड़थ्वाल की धारणा का पूर्णतः निरसन हो जाता है और इस बात की चतुष्पाद प्रतिष्ठा हो जाती है कि संत साहित्य में 'अवरोहण' की प्रक्रिया में उक्त लोकों

१. संतों का सूक्ष्मवेद, पृष्ठ १२-१४।

अभेद भूमि

(क) आगम सम्मत—

(परमशिव, शिव[१]-शक्ति[२]
(बीजात्मना स्थित तथा अंकुरायमाण
(सृष्टि-अतिभव

([३]सदाशिव--अस्फुट अंकुरण)
([४]ईश्वर—स्फुट अंकुरण) अभाव
([५]शुद्धविद्या — स्फुटतर अंकुरण)

(ख) नाथमत सम्मत—

स्वयम्-अपर[१]-निजा[२]
अस्फुरित-स्फुरियायमान

(२—परम्-परा-स्फुरणोन्मुख
(३—शून्य-अपरा-स्पन्दन
(४—निरंजन-सूक्ष्मा-मार्थक्याभास
(५—परमात्म-कुंडली-स्फुटपार्थक्य

(ग) संत सम्मत—
अनेक स्तरीय
कल्पनाएं

(१) तुर्य पद (कबीर नानक)

(२) तुर्यातीत पद (गुलाल)

(३) निर्गुण, ब्रह्म, परब्रह्म, सत्यपुरुष (कबीर पंथ)

(४) सत्य पुरुष, सहज, इच्छा, सुहंग, अंकुर अचिन्त, अक्षर निरंजन (कबीर मंसूर)

(५) ब्रह्म, परब्रह्म, सोहंग, पुरुष, सत्यपुरुष, अलख, अमग और अनामी, राधास्वामी।

परब्रह्म १ सहज
परतत्व

२—इच्छा-अस्फुट अंकुरण
३—सुहंग-द्विदल- (सः-अहं) आभास
४—अंकुर-स्फुट अंकुरण
५—अचिन्त्य-अचिन्त्य ऐक्य की स्थिति
६—अक्षर-स्वरूप से अप्रच्यव
७—निरंजन-अन्जन् अथवा माया से ऊर्ध्व

या स्तरों की कल्पना निराधार नहीं है। इन उदाहरणों में स्पष्ट ही परतत्व के विशेषणों को स्तरों की संज्ञा मान लिया गया है। इस प्रकार अभेद तथा भेदाभेदमयी मायोर्ध्व भूमि की शुद्ध सृष्टि-अभव तथा अतिभव की तुलनात्मक स्थिति, आगम सम्मत परम्परागत उक्त धारणा के आलोक में इस प्रकार की होगी।

इस दृष्टि से संतों की सृष्टि प्रक्रिया पर विचार किया जाय, तो दृष्टि भेद से वह 'सही' भी जान पड़ेगी और 'भ्रम' भी—'क्रम' से उत्पन्न प्रतीत होगी और 'अक्रम' से भी। परतत्व कर्ता भी जान पड़ेगा और अकर्ता भी। जो प्रक्रिया ऊपर कही गई हैं उसके अनुसार विश्व या सृष्टि सत्य इसलिए है कि बीजात्मिका शक्तिका ही रूपान्तरण है—जो था—उसी का प्रकाशन है—इसीलिए संतों ने जगत् को ब्रह्म और ब्रह्म को जगत् कहा साथ ही दरियाव और लहर, वट बीज और वृक्ष का दृष्टांत देकर स्पष्ट किया।

> बीज बिना नहिं वृक्ष रहाई, वृक्ष के बिना बीज कहाँ पाई।
> तैसा जग में ब्रह्म विराजै, ब्रह्म बिना जगत कहाँ छाजै।
> बीज वृक्ष को जैसा लेखा, तैसा ब्रह्म अरु जगत् विवेका।
> बीज वृक्ष पृथिवी में लहिए, ब्रह्म, जगत आतम में कहिए[1]।

इसी प्रकार अभेद और भेदाभेद की भूमियों में देश-काल का उद्भव ही नहीं पर सृष्टि-अतिभव-वह भी है। इस प्रकार जहाँ देश और काल ही नहीं है—वहाँ तत्सापेक्ष प्रतीयमान 'क्रम' भी किस तरह संभव होगा? सच पूछा जाय, तो 'अभेद' एवं 'भेदाभेद' मयी सृष्टियों में तो 'क्रम' है ही नहीं, 'भेद' सृष्टि में भी 'क्रम' नहीं है—कारण है—सृष्टि का 'दर्पणनगरवत्'[2] अवस्थान। दर्पण में प्रतिफलित दृश्य एक तो युगपत् झलक जाता है—अतः काल सापेक्ष 'क्रम' की संभावना ही नहीं है—रहा देश सापेक्ष क्रम-सो ठोस दर्पणतल में अवकाश या देश का अभाव होने से वह भी किस तरह संभव है? साथ ही 'क्रम' संभव भी है—क्योंकि दर्पण में एक के बाद एक वस्तु या व्यक्ति की स्थिति दिखाई पड़ती है—इसीलिए वह 'सत्य' भी है और 'भ्रम' भी। परम पुरुष अपनी मूल स्वरूपभूता 'इच्छा' शक्ति के बल से जैसा है—बीज रूप में पूर्वस्थित—वैसा का वैसा ही, फलतः 'सही' भी सृष्ट करता है—परमार्थतः 'अह्म' और 'इदम्' को प्रकाश मय ही प्रकाशित करता है—और इसके अतिरिक्त 'माया' शक्ति के द्वारा अन्यथा अर्थात् प्रकाशात्म जगत् को जड़वत् भी प्रकाशित करता हुआ भ्रमजाल भी तैयार करता है। यह उपर्युक्त समस्त जगज्जाल शक्ति का स्फार है—अतः पुरुष अथवा परतत्व अकर्ता भी है—साथ ही शक्ति से अभिन्न होने के कारण पंचकृत्यकारी

---

१. निर्णयसार, पृष्ठ २७।
२. ज्युंदरपन प्रतिव्यंब देखिए, आप दवासू सोई।
—कबीर ग्रंथावली, पृ० १७८, माताप्रसाद गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, १९६९।

कर्ता भी है। अभिप्राय यह कि आगम-सम्मत अद्वयवादी दृष्टि के संचार से ये सारी आपात प्रतीत असंगतियाँ समाप्त हो जाती हैं।

(ख)

सृष्टि-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण देते हुए आगमिकों ने उसे तीन संज्ञाएँ दी हैं—भव, अभव तथा अतिभव। अभेदभूमिक सृष्टि 'अतिभव', भेदाभेदभूमिक सृष्टि-अभव तथा 'भेदभूमिक सृष्टि'-भव के नाम से उल्लपित होती है। ऊपर 'अभव' तथा 'अतिभव' का परिचय और उस संदर्भ में उत्थित ग्रंथियों का समाधान दिया गया है।

(क) खण्ड में मायोर्द्धव भूमि पर विशेष विचार किया गया है अभी कतिपय समस्याएं और भी शेष हैं—जो उस भूमि से ही संबंध रखती हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के मूल पर विचार करते हुए—जैसा कि तीसरे अध्याय में दिखाया गया है[1]—कहीं तो इन संतों में यह मिलता है कि उस परतत्व की लीलामयी स्वतंत्र 'इच्छा' अथवा 'मौज' से सृष्टि का आरंभ हुआ और जब भी वह चाहता है तब अपनी इच्छा पलक को मूंद लेता है—फलतः प्रलय हो जाता है। पंक्तियाँ प्रमाण रूप में इस प्रकार हैं—

(अ) आदि पुरुष है सिरजन हारा[1]

कबीर तो उसे स्पष्ट ही सिरजनहार कहते हैं और कहते हैं—

एक तें सब होत हैं सबतें एक न होउ[2]

कबीर पंथी साहित्य में भी अनेकशः इस तथ्य की पुष्टि हुई है। छत्तीसगढ़ी शाखा के 'आत्मबोध' के कवि ने कहा है—

"पल एक में भाजिकरि फिर रचन करे।
समरत्थ की बाजिया कौन[3] जाने।

बुरहानपुर के कबीर पंथी महात्माओं की अलबत्त कुछ भिन्न ही धारणा है। 'न्याय-नामा' नामकी कृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि सृष्टिकर्ता कोई ब्रह्म है ही नहीं। तर्क इसे स्वीकार नहीं करता कि कर्ता कार्य में अनुस्यूत रहता है, हाँ उपादान या समवायी कारण अवश्य कार्य में व्याप्त रहता है। यह कहना कि यहाँ उपादान और निमित्त एक ही है—अतः वह व्याप्त हो सकता है—घट और कुलाल को देखते हुए यह संभव नहीं जान पड़ता। इस शाखा वालों ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि अनेकत्र और अनेकधा की है 'पंच ग्रंथी' में कहा है—

रूप बिना इच्छा नहीं रूप बिना नहिं माप।
रूप बिना संकल्प को, कर्ता कौने ठाम[4] ॥

---

१. अम्बु सागर, पृ० ४ बम्बई संस्करण, सं० २००१।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९।
३. आत्मबोध, पृष्ठ ६।
४. पृष्ठ ३४५।

अर्थात् विना रूप के इच्छा नहीं और विना इच्छा के काम या कार्य नहीं, अतः ब्रह्म से सृष्टि की रचना कल्पना मात्र है। इसीलिए कबीर ने ब्रह्म में इच्छा शक्ति मानी थी। छत्तीसगढ़ी शाखा में भी ब्रह्म में इच्छा शक्ति का अस्तित्व माना गया है—'इच्छा कीन्ह अंस उपजाये[1]।" बुरहानपुरी संतों की धारणा यह है कि इच्छा और क्रिया का संबंध साकार शरीर से है। यदि ब्रह्म निराकार है तो उसमें इच्छा शक्ति का होना संभव ही नहीं है। बुरहानपुरी संतों की इस धारणा के मूल में ऐसा लक्षित होता है कि सद्गुरु कबीर को ही स्रष्टा मानना चाहते हैं—अतः इस प्रकार के तर्क देते हैं। राधास्वामी मत के ग्रंथों में भी सद्गुरु के प्रति ऐसी ही आस्था यत्र-तत्र लक्षित होती है। अस्तु। यह मान्यता आस्थामूलक है। अन्यथा वैसे कबीर पंथी इस तथ्य में आस्था रखते हैं—

तीन लोक तबना रहै पाँच तत्व गुण तीन
वर्णभेद नहिं दिवस निशि, एक ब्रह्म सबकीन[2] ॥

इस पंथ में उस परमतत्व को 'सत्य पुरुष' कहा गया है।

कबीर ने इस ब्रह्म को 'शून्य' रूप में भी कहा है।

सहजसंनि इकु बिरवा उपजि आ धरती जलहरु सोखिया
कह कबीर हउ ताका से वक्त जिन इहु बिरवा देखिआ[3]।

अथवा कबीर ने यह भी कहा है कि समुद्र के जल में जल की भाँति और नदी में तरंग की भाँति (हम) समा जायेंगे और समदर्शी होते हुए 'शून्य' में'शून्य' को मिलाकर पवन की भाँति सूक्ष्म और अदृश्य हो जायंगे। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि वे सृष्टि का मूल उद्गम 'शून्य' को मानते हैं।

उदक समुंद सलिल की साखिया नदी तरंग समावहिंगे।
सुनंहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ नावहिंगे[4] ॥

परवर्ती कबीर पंथी साहित्य में भी 'शून्य' को आकाशतत्व का प्रतीक मानकर शून्य से ही सृष्टि के विकास की कहानी कही गई है। इस संदर्भ में 'पंचमुद्रा' नाम की पुस्तक देखी जा सकती है। वहाँ कहा गया है—

बायें रूप अकाश उपजाई, फिर अकास पुन ताको खाई।
आकाश शून्यते उतपत जानों, बहु शून्य में जाम समानों[5] ॥

इस वक्तव्य के आलोक में जहाँ एक ओर स्पष्ट ही शून्यतत्व को सृष्टि का रचयिता कहा गया है—वहीं कुछ और-और तरह की भी बातें मिलती हैं—इसी ग्रंथ में यह

१. अनुराग सागर, पृ० १४ बम्बई, सं० १९७१।
२. सुरति शब्द संवाद, पृष्ठ १।
३. संत कबीर, पृ० १८१। सं० २८।
४. वही, १८२। सं० २९।
५. पंच मुद्रा, पृष्ठ [illegible]

भी कहा गया है कि जीव से काल, काल से ओंकार, ओंकार से शून्य और शून्य से ज्योति की उत्पत्ति मानी गई है[1]। तीसरी ओर इसी पंथ की एक पुस्तक में यह भी कहा गया है कि 'शून्य' बीच की भूमिका है—अंतिम नहीं—

'नहिं तब शून्य सुमेर न भारा।
कर्म न शेष धरे अवतारा[2]।

बाद में 'शून्य' को निरंजन का स्थान भी मान लिया गया। वास्तव में इस पंथ के साहित्य में 'शून्य' का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। कबीर के 'निरंजन' की ही हालत उनके 'पंथ' में 'शून्य' की भी हुई। इसी प्रकार ब्रह्म अथवा मूल तत्व के लिए कबीर ने जिन-जिन शब्दों का प्रयोग किया है प्रायः उन सबके सहज, खसम; आदि-अर्थ में परवर्ती कबीरपंथी साहित्य में विकास होता गया है। इनकी सृष्टि प्रक्रिया पर 'धर्म' संप्रदाय का भी प्रभाव माना गया है और माना गया है कि निरंजन संप्रदाय की ही होड़ाहोड़ी में कबीर का निरंजन काल पुरुष हो गया, जिसने कच्छप महाराज को मारकर उनके भीतर से सृष्टि का सारा मसाला प्राप्त कर लिया। इन परवर्ती कल्पनाओं में आधिदैविकी करण अथवा पौराणिक प्रकल्पन अधिक हुआ है। अतः दार्शनिक संगति के संदर्भ में उधर अधिक जाना अनावश्यक प्रतीत होता है।[3]

परम तत्व को भावात्मक मानकर उससे सृष्टि की उत्पत्ति कही गई। 'शून्य' को भी सृष्टि का 'प्रभव' और 'अप्यय' कहा गया। साथ ही यत्र-तत्र 'शब्द' और उसके प्रतीक ऊंकार को भी सृष्टि का उद्‌गम स्थान कहा गया हैं। कबीर ने स्पष्ट ही कहा है—

साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द ते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै[4] ॥

साथ ही उन्होंने 'ऊंकार' को भी सृष्टि का मूल कहा है—'

"ऊँकारे जग ऊपजै" तथा "ऊँकार है आदि मूला[5]"।

इस सृष्टि अथवा अवरोहण की प्रक्रिया में नाद-विंदु की भी वात आती है। डा० पीताम्वर दत्त वड़थ्वाल का इस संदर्भ में यह व्याख्या संगत लगती है—"ब्रह्म का पहला विवर्त प्रणव, ऊं अथवा शब्द ब्रह्म है जिसमें पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और माया दोनों (सभी) समाहित हैं। प्रणव का अव्यक्त स्वरूप विंदु है और व्यक्त स्वरूप

---

१. पंच मुद्रा, पृष्ठ १६६।
२. भवतारण बोध, पृष्ठ ५०।
३. विशेष देखिए, कबीर और उनका पंथ (केदारनाथ द्विवेदी कृत)।
४. कबीर (ह० प्र० द्विवेदी) परिशिष्ट, कबीरवाणी, पद ५७८—२६८।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४४।

नाद। अव्यक्त रूप में वह गणित के विंदु के समान है जिसका अस्तित्व तो है, पर माप नहीं। इस बात को तो सब जानते हैं कि रेखागणित के सब आकार विंदुओं की वृद्धि से ही बनते हैं। नाद अथवा इच्छा या मौज का प्रकम्पन ही एक विंदु को अनेक में परिणत कर विश्व सृजन का कारण होता है। नाद के प्रकम्पन के सिमिट कर बंद हो जाने पर यह समस्त सृष्टि भी सिमिट कर विंदु में समाविष्ट हो जाती है[1]।" डा० हजारीप्रसाद[2] द्विवेदी ने भी 'संतों का सूक्ष्मवेद' में इस प्रणव की व्याख्या करते हुए कहा है कि सृष्ट्युन्मुख परमात्मा की इच्छा एक प्रकार का स्पंदन है— उपनिषदों में इसी को 'एजन' (तदेजति) कहा गया है। नाद इसी कम्पन या स्पंदन का मूर्त रूप है। इस प्रकार यह इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है और वह क्रिया ही विंदु है। अपनी इस धारणा की पुष्टि उन्होंने 'शारदातिलक' के एक उद्धरण से की है। उद्धरण इस प्रकार है—

सच्चिदानंद विभवात् सकलात्परमात्मनः।
आसीच्छाक्तिस्ततो नादस्तस्माद्विंदूसमुद्धवः॥

कलामय सच्चिदानंद परमात्मा से इच्छा शक्ति का, उससे नाद का और उससे विंदु का उद्भव हुआ। उनके अनुसार शक्ति ज्ञानात्मिका है, इच्छा नादात्मिका और क्रिया विंदु रूप। यही ज्ञान, इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। लेकिन आगमों में इच्छा पहले है, ज्ञान और क्रिया तो आरंभ में उसी से एक रस हैं—इच्छा के स्फुर या उच्छून होते ही ज्ञान का आभास होता है और ज्ञान के आभास के साथ-साथ प्रमाता-प्रमेय का द्विदल भाव लक्षित होने लगता है—शैवागम के अनुसार यही स्तर सदाशिव का स्तर माना जाता है। पर द्विवेदी जी ज्ञान की पूर्ववर्तिता पता नहीं किस स्तर पर और किस तरह मानते हैं? उनके अनुसार नाद या इच्छा शक्ति गति है और विंदु या क्रिया शक्ति स्थिति। इसी गति और स्थिति को लेकर ही रूप या आकार-मयी सृष्टि बनती है। आगे उन्होंने प्रणव अथवा ॐ की व्याख्या करते हुए यह भी कहा है—"मान लीजिए प्रथम स्पंद नाद रूप में प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर आकार है। सबसे स्थूल औष्ठ्य वर्णों का अन्तिम म कार है। जो ओष्ठों तक को तो बंद कर ही देता है नाक की भी सहायता लेता है। अब हमारा जाना हुआ मूल स्वर या नाद अ कार ही है। मान लीजिए प्रथम स्पंद 'अ' रूप में गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पंद नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। सो नाद ही गति है, विंदु ही स्थिति है। गति और स्थिति का ही विलास जगत् है। गति रूप नाद सृष्टि के लिए आवश्यक है उसके साथ विंदु भी। मकार अनुस्वार

---

१. हिं० का नि० सं०, पृष्ठ १३२।
२. पृष्ठ ६ से ११ तक।

या चंद्रविंदु रूप में ही तो वदलता है। अब 'अ' स्वर 'म्' व्यंजन से हुआ। कंठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पड़ी और ओष्ठ बंद हो गए। वंद होते-होते वह 'उ' जैसा हो जायगा इस प्रकार 'अ उम्' प्रथम स्पंद हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक वार उठकर वंद हो गया तो फिर कम्पन कैसा? अ उम्—इस अक्षरमय का मिलित रूप है—ओम्। स्थूल वर्गों में समझाया गया है—इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायगा। परन्तु यह समझाने का एक तरीका भर है। प्रथम विश्व ब्रह्माण्ड व्यापी स्पंद (कास्मिक वाइब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यंत सूक्ष्म रूप में होगा। इसीलिए यह ओंकार विश्व का आरंभ है। सगुण ब्रह्म का यह नव रूप है। नव, नवीन आदि शब्द बहुत अच्छे नहीं हैं। क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है। प्रथम नया स्पंद कभी पुराना नहीं हुआ। वह प्रतिक्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसलिए केवल 'नव' कहना ठीक कहना नहीं है—वह 'प्रणव' है—'नव नवं जायमानः'[1] है।" इस प्रकार द्विवेदी जी ने ऊं की व्याख्या की है और नाद विंदु की स्पष्टता।

इस संदर्भ में कई वातें विचारणीय क्रम से आती हैं। पहली यह कि आगमों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का क्रम है या ज्ञान, इच्छा और क्रिया का? दूसरी यह कि इच्छा दान और क्रिया विंदु है? साथ ही तीसरी यह कि इच्छा में गति और बिंदु में स्थिति की कल्पना कहाँ तक शास्त्र सम्मत या तर्क सम्मत है? चौथी यह कि फिर डा० वड़थ्वाल के इस कथन का क्या अर्थ है कि ऊंकार (प्रथम स्पंद) का अव्यक्त रूप 'विंदु' और व्यक्त रूप 'नाद है'?

और वातें तो विवादास्पद हैं, पर चौथी वात पहले ले ली जाय। आगम या शैवागम की अद्वयवादी धारा में मूल तत्व को 'विंदु' ही कहा गया है जो 'अनुत्तर' माना गया है। यह चिन्मय मूल विंदु है—यदि इच्छा-शक्ति-मौज इसका स्पन्दात्मक पक्ष है—तो निश्चय ही इच्छात्मक स्पंद अथवा ऊं का वह अव्यक्त या निःस्पंद पक्ष है। सस्पंद पक्ष शक्ति और नादात्मक है। द्वैतवादी धारा में यह कहा गया है कि शिव कर्ता है और शक्ति करण और दोनों चिन्मय। 'विंदु' इनसे भिन्न है—जो जड़ है—इसी 'विंदु' को शिव-शक्ति के द्वारा क्षुब्ध करता है—तव उससे नाद और ज्योति प्रकट होते हैं नाद से वर्ण, पद एवं मंत्र और ज्योति से कला, तत्व एवम् भुवन की सृष्टि होती है। शुद्धाध्वा का उपादान निर्मल विंदु (महामाया, कुण्डलिनी) है और अशुद्धाध्वा का समल विंदु माया। माया को क्षुब्ध करता है—अनन्त। उससे फिर अशुद्ध सृष्टि होती है।

शाक्त दृष्टि से सृष्टि का विचार करते हुए यह भी कहा गया है कि विश्व का मूल उपादान है—सोम विंदु—जो अग्नि विंदु के संपर्क वश क्षुब्ध होता है और सोम

---

१. संतों का सूक्ष्म वेद पृ० ८-११।

का क्षरण आरंभ हो जाता है—सृष्टि का आरंभ हो जाता है। वास्तव में शाक्त दृष्टि से शिव-शक्ति-में शक्ति-गत है सोम विंदु और अग्नि विंदु समरसीभूत रहते हैं—उस अवस्था में वह 'रवि' अथवा 'काम' कहा जाता है। सिसृक्षा के होते ही शक्ति और शिव के परस्परानुप्रवेश से उच्छूनता बढ़ती जाती है—उसमें दोनों विंदु विषयभावापन्न होकर संघर्षशील हो जाते हैं। इसी संघर्ष से क्षरण या विसर्ग का आरम्भ हो जाता है। क्षुब्ध सोम से कला (५) तत्व (३६) और भुवन का बनना आरंभ हो जाता है। उत्तरोत्तर रूपों में पूर्व पूर्व रूप समाया रहता है।

इसी के साथ-साथ यह भी ज्ञातव्य है कि अद्वयवादी धारा में जहाँ एक ओर शिव शक्ति का समरस रूप 'विंदु' कहा जाता है वहीं वह परावाक् भी माना जाता है। द्वैतवादी धारा में परावाक् शिव-शक्ति से भिन्न विंदु है और वही महाकुण्डलिनी या परावाक् है। शिव-शक्ति उससे ऊपर है। यह शिव प्रकाशाँश है और शक्ति विमर्शांश। प्रकाशाँश को अंविका और विमर्शांश को शांता कहा जाता है। दोनों ही पुनः त्रिधा आत्म प्रसार करती हैं और अपने इस त्रिधा भाव में भी युगल रूपता विच्छिन्न नहीं करतीं। इस प्रकार परावाक् रूप मूल विंदु सृष्टिक्रम में पहले त्रिकोण या एक से तीन होता है। परावाक् मध्यविंदु है। इस त्रिकोण में अम्विका (प्रकाश शिव) और शाँता (विमर्श-शक्ति) के त्रिधा विभक्त रूपों से एक-एक युग्म बनता है। चित्र यों होगा—
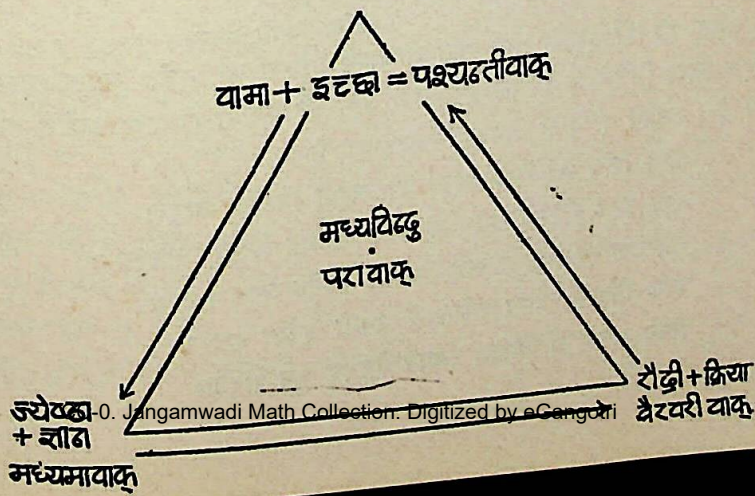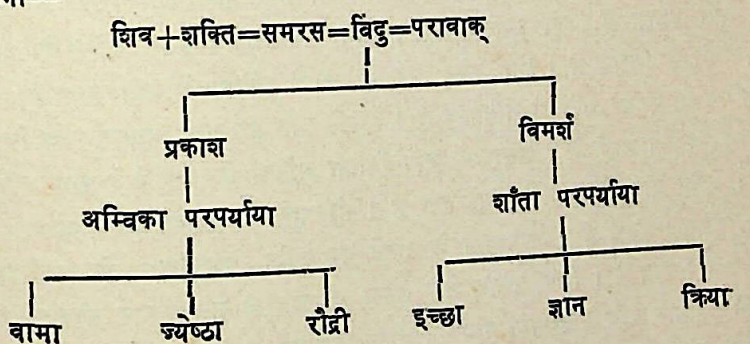
विवेचन के शास्त्र सम्मत इस क्रम में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का ही क्रम मिलता है। अशुद्ध अथवा मायिक सृष्टि में अवश्य ज्ञान इच्छा कृति का क्रम..मिलता है । अतः डा० द्विवेदी के उद्धतांश के संबंध में जहाँ तक क्रम की वात है—वह इस प्रकार की है । दूसरी समस्या नाद और विंदु के क्रम की है—उस विषय में विंदु का—अंतर इतना ही होगा कि प्रथम विंदु को 'पर' या 'कारण' कहा जायगा और द्वितीय को 'अपर' या 'कार्य'। जहाँ तक 'इच्छा' का गति से और 'विंदु' का स्थिति से संबंध है—'पर' विंदु तो स्थिति शील और निःस्पंद है और इच्छा संकोच प्रसारात्मक गतिमय—पर नाद—जन्य विंदु स्थितिशील है—यह विचारणीय है । हाँ, अभी 'श्वेतक्रांति' नामक एक छोटा सा पत्र निकला है—उसमें वैदिक दर्शन के अनुसार जगत् को ठीक वैसे ही अग्निषोमात्मक माना गया है—जैसा कि ऊपर आगमिक दृष्टि से स्पष्ट किया गया है । वहाँ अग्निषोम को गति स्थितिमय वताया गया है । वात यों है—"चतुर्द्धा विभक्त वेद तत्व विज्ञान दृष्टि से अग्निसोम भेद से द्विधा विभक्त है । वह तत्व जो दाहक होता हुआ केन्द्र से निकलकर विविध अवस्थाओं से परिणत होता हुआ उत्तरोत्तर विशकलित होता रहता है । वही अग्रगामी होने से अग्नि कहलाता है। आगे चलना, आगे वढ़ना इसका स्वाभाविक धर्म है । परोक्षभाषानुसार यह अग्नितत्व अग्नि नाम से व्यवहृत-होता है । वह तत्व जो दाह्य होता हुआ परिधि से केन्द्र की ओर आता हुआ परिधि की ओर जाते हुए दाहक अग्नि में आहुत होकर अग्नि को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखता है, वही सुत (आहुत) होने से 'सूयते'। इस विवर्चन के अनुसार सोमनाम से प्रसिद्ध है । सोन स्नेह तत्व है, इसकी प्रतिष्ठा स्थिति तत्व है। अग्नि तेजतत्व है; इसकी प्रतिष्ठा गतितत्त्व है । स्थिति-गति ही आगे जाकर स्नेह तेज रूप में परिणत हो जाती है । संसार में आप जितनी मूर्तियाँ देख रहे हैं वे सव अग्निमयी हैं । अग्नि ही मूर्ति का निर्माण करता है । सोमाहुति से ही वद्ध होकर अग्नि मूर्ति रूप परिणत होता है । सोमाहुति के रुकने पर अग्नि विशकलित होकर पिण्ड का स्वरूप खो देता है । जिस प्रकार अग्नि प्राण कहलाता है उस प्रकार सोम रयि कहलाता है। प्राण रयि के दाम्पत्य भाव पर ही सृष्टि संभव है।"

—श्वेत क्रांति, नवम्वर १९७१ पृष्ठ ८ ।

सृष्टि क्रम की एक से तीन द्वारा अवरोहण प्रक्रिया का संकेत अक्षर अनन्य के ग्रंथों में स्पष्ट मिलता है । शब्द-ब्रह्म तथा ओम् की महिमा का ज्ञान इन्होंने पर्याप्त किया है । उन्होंने 'सिद्धान्त वोध' में स्पष्ट कहा है—

इहि विधि श्री सिव सक्ति कौ कर्यौ निरूपन चार ।
अव वरन हुँ सिव सक्ति तैं, ज्यों उतपति विस्तार ॥५१॥ ।
तीनि सक्ति तिन तैं भई, सकला त्रिगुन अनूप ॥५२॥
इमि त्रिसक्ति सिव सक्ति तैं उपजी इच्छा रूप ।
तिनि तत्त्वे तैं देवता, त्रिगुन देहभव भूप ॥५३॥

प्रगट भई सिव सक्ति तें, तीन सक्ति धरिगात ।
ब्रह्मानी नारायनी, रुद्रानी जगमात[1] ॥५४॥

अर्थात् सृष्ट्युन्मुख शिव-शक्ति की इच्छा से तीन शक्तियाँ उत्पन्न हुई । उनसे ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र-तीन देवता उत्पन्न हुए जो सर्जक, पालक एवं संहारक होने के कारण रजोगुण, सत्वगुण तथा तमोगुण के अधिष्ठाता हैं ।

इमि त्रैसक्ति त्रिदेव उपाये । तिन तैंजग उतपत कत गाये[2] ।

निष्कर्ष यह कि संत साहित्य में आगम सम्मत शब्द-प्रभवा सृष्टि का निरूपण ही उपलब्ध होता है । एक से तीन-के इस उक्त क्रम में स्पष्ट ही तांत्रिक दृष्टि का संचार संभव है ।

आगमिक चिंतकों ने श्रीचक्र यंत्र, ब्रह्माण्ड विश्व एवं पिण्ड-तीनों के निर्माण का समान सूत्र, क्रम और प्रक्रिया निर्दिष्ट की है । उनके विस्तार द्वारा प्रसंग को बोझिल बनाना अनावश्यक है । यों चेतन को सृष्टि प्रक्रिया अथवा अवरोहण के संदर्भ में अनेक स्तरों पर विभक्त करके कहना-सुनना आगमोक्त प्रक्रिया है । पद्मपादाचार्य ने प्रपंच सारतंत्र की टीका करते हुए उसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण, साक्षी एवं सामान्य के नाम से कहा है । कहीं क्या वही, जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और अतितुर्य— जैसे पाँच स्तरों पर भी देखा है । आदि चेतन की भाँति शब्द को भी चार स्तरों पर बाँटकर कहा गया है—जाग्रत्, स्वप्न‘ सुपुप्ति एवं तुर्य। तुरीय शब्द ही शब्द ब्रह्म हैं और अतितुर्य-चेतन परब्रह्म ।

यह प्रसंग मायोर्द्धव सृष्टि का है । इस ऊर्ध्व धरातल पर कहीं अनादि परतत्व को सृष्टि का मूल कारण माना गया है, कहीं ‘शून्य’ को स्रोत कहा गया है और कहीं पर ‘शब्द ब्रह्म’ अथवा ‘ऊंकार’ को या प्रणव को। अन्य संत धाराओं में भी इन तीन की मूलस्रोत रूप में चर्चा मिलती है। सिक्खमत अथवा नानक पंथ में भी ये बातें स्पष्ट हैं ।

गुरु नानक की धारणा है कि परमात्मा ने अन्य निरपेक्ष होकर सृष्टि की रचना की । उन्होंने यत्र-तत्र परमात्मा और सृष्टि को कहीं-कहीं एकरूप भी कह दिया है अर्थात् कह दिया है कि परमात्मा ही सृष्टि रूप में परिणत हो गया है—फलतः वह

---

१. अक्षर अनन्य ग्रंथावली, पृष्ठ ११० ।
२. वही, महिमा समुद्र, पृष्ठ २२४ ।
क इस त्रिकोण में पश्यंती और मध्यमा एवं बैखरी को भी बिंदु, नाद और बीजात्मक कहा गया है ।
ख देखिए ‘मंत्र और मातृकाओं का रहस्य’, पृ० ३६–३८ ।

मिथ्या नहीं सत्य है। माया स्वतंत्र नहीं, परमात्मा के अधीन उन्हीं की शक्ति है। मोहनसिंह ने गुरु नानक के मूल बीजमंत्र-ओं सतिनामु करता[1].... इत्यादि की व्याख्या करते हुए कहा है कि वह एक है, शब्द अथवा वाणी है और इसी के द्वारा सृष्टि रचता[2] है। वे मानते हैं—"आपे आपु उपाइ निराला"[3] अर्थात् निर्गुण परब्रह्म ने अपने आप अन्य निरपेक्ष होकर सृष्टि का निर्माण किया—अपने को सगुण किया। नासदीय सूक्त से मिलती जुलती वाणी कबीर ही ने नहीं, नानक ने भी कही[4] है। नानक देव ने कहीं कहीं यह भी कहा है—"सुंन कला अपरंपरिधारी[5]"—अर्थात् वह तत्व शून्यात्मा है और उससे सृष्टि हुई। इसके साथ ही साथ यह भी मानते हैं कि—"ओ अंकारि ब्रह्मा उतपत्ति"[6]—अर्थात् ओंकार से ही ब्रह्मादि सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है। गुरु नानक परमात्मा को निमित्त तथा उपादान-दोनों ही मानते हैं—"आपीन्है आपीन्है रचिओ[7] नाद।" उनकी यह भी मान्यता है कि सृष्टि का यह प्रसार परमात्मा के हुक्म से-इच्छा से ही होता है। वे कहते हैं कि सृष्टि का अनन्त विस्तार उनके एक वाक्य से होता है—

"कीता पसाउ एको कवाउ[8]"।

हुकुम के होते ही 'हउमै' (अहंकार) की उत्पत्ति होती है और उससे जगत् की उत्पत्ति आरंभ हो जाती है—

"हउमै विचि जगु उपजै[9]"।

गुरु नानक के अनुसार 'अफुर अवस्था' में तो सर्वातीत और अव्यक्त है पर 'सफुर अवस्था' में सर्वव्यापी और सर्वान्तरात्मा है।

इसी प्रकार दरिया साहब ने भी सृष्टि प्रक्रिया पर अपने ग्रंथों (ज्ञानदीपक; दरिया सागर तथा ज्ञानरत्न) में प्रकाश विकीर्ण करते हुए कहा है कि आदि में केवल शून्य था और उसमें पुरुष अकेला था। सिसृक्षा होने पर उसने एक पुत्र-निरंजन तथा एक पुत्री आदि जगज्जननी भवानी-उत्पन्न की। इन दोनों के दाम्पत्य वंश ब्रह्मा-

---

१. सिक्खों का मूल मंत्र, नानक वाणी, पृष्ठ १।
२. पंजाबी भाखा विगिआन अते गुरमति गिआन, पृष्ठ २१।
३. नानक वाणी, मारू, सोलहे ११।
४. वही मारू, सोलहे १५।
५. वही १७।
६. वही।
७. वही, भैरउ, अष्टपदी, ६।
८. वही, जपुजी, पउड़ी २१।
९. वही, सिध गोसटि, पउड़ी ६८।

विष्णु, महेश की उत्पत्ति हुई। जननी ने इन तीनों को तीन कन्याएं दीं सावित्री, देवी और लक्ष्मी। फिर इनसे सृष्टि हुई—चतुर्विध-अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज।

राधास्वामी मत में सृष्टि प्रक्रिया

इस मत की पुस्तक 'सारवचन वर्तिका' भाग दो—में कहा गया है—"प्रथम धुंधकार था। उसमें पुरुष सुन्न समाध में थे, जव तक कुछ रचना नहीं हुई थी। फिर जव मौज हुई, तव शव्द प्रकट हुआ और उससे सव रचना हुई। पहले सत्तलोक और फिर सत्तपुरुष की कला से तीन लोक और सव विस्तार हुआ[1]।" इसी पुस्तक में अन्यत्र यह भी कहा गया है—"पहिला यानी धुरस्थान सवसे ऊंचा और वड़ा कि जिसका नाम स्थान भी नहीं कहा जाता है, उसको राधास्वामी अनामी और अकह कहते हैं। यह आदि और अन्त सवका है और कुल्ल का मुहीत यानी सव उसके घेर में हैं और हर जगह इसी स्थान की दया और शक्ति अंश रूप से काम दे रही है और आदि में इसी स्थान से मौज उठी और शव्द रूप होकर नीचे उतरी[2]"। इन लोगों की धारणा है कि वह मौज और सुरत राधास्वामी पद से चलकर बीज में दो लोक छोड़ती हुई (अनामी-अकह) चिन्मय सत्तलोक में उतरीं। इस मत में इसे ही नीचे के लोकों का कर्त्ता माना जाता है। इसे महानाद और सारशव्द भी कहते हैं। इस सत्तलोक के नीचे दो स्थान छोड़कर सुन्न अर्थात् दसवाँ द्वार है। सत्तलोक से उतरी हुई सुरत यहाँ ठहरी और फिर वहाँ से व्रह्मांड में फैली-पिंड में उतरी। आरोहण क्रम में सुरत जव यहाँ पहुंचती है—तव तुर्यदशा में आती है—अर्थात् पाँच तत्व, तीन गुण, स्थूल, सूक्ष्म एवम् कारण-शरीर का त्याग करती हुई निर्मल हो जाती है—मायोर्द्ध्व भूमि में पहुंच जाती है। इन लोकों के अनुसार दसवें द्वार के नीचे त्रिकुटी या गगन है—व्रह्म, प्रणव या ओंकार पद इसी स्थान को कहा जाता है। यहाँ का पुरुष प्राण पुरुष कहा जाता है। यहाँ से महासूक्ष्म तीन गुण और पाँच तत्व, समस्त रचना का सूक्ष्म मसाला और ईश्वरी माया अर्थात् शक्ति प्रकट हुई। इसके नीचे सहस्रदल कंवल है। निरंजन ज्योति, शिव शक्ति, लक्ष्मी-नारायण आदि इसी के नाम हैं। इसी स्थान से तत्वों की तन्मात्रा पैदा हुई। तदनन्तर स्थूलतत्व, इन्द्रिया और प्राण उत्पन्न हुए। इसी स्थान से चिदाकाश प्रकट होकर तमाम देह अर्थात् पिंड में—जो इस मुकाम के नीचे हैं—फैला। यहाँ तक आसमानी स्थान है। व्रह्मा, विष्णु और महादेव —अर्थात् तीनों गुणों के अधिष्ठाताओं का स्थान इससे नीचे है। आँखों तक पिण्ड की हद है। आँखों के ऊपर मैदान सहस्रदल कमल का है। यही व्रह्माण्ड की शुरूआत है—जिसकी समाप्ति प्राक् दशम द्वार तक है।

---

१. पृष्ठ ११०।
२. पृष्ठ १९९।

प्रणव स्थान के ऊपर पारब्रह्माण्ड कहलाता है। इनके अनुसार सहस्रदलकंवल के नीचे स्थूल सगुण, सहस्रदल और त्रिकुटी तक निर्मल सगुण तथा सुन्न स्थान केवल निर्गुण कहा जाता है। इसके वाद संतों का स्थान आरंभ होता है—जो सगुण और निर्गुण-दोनों से परे है। सहस्रदल कंवल से सत्तलोक तक छह मुकाम हैं—उन्हीं की प्रतिच्छाया पिण्ड में पड़ती हैं—जिन्हें षट्चक्र के नाम से कहा जाता है।

"सारवचन छंद वंद दूसरा भाग"—में भी "हाल उत्पत्ति प्रलय रचना का और महिमा सुरत शब्द मारग की वास्ते पहुंचने निज स्थान के"—शीर्षक देकर उत्पत्ति और प्रलय की वात कही गई है। उत्पत्ति की वात तो वही है, रही प्रलय की वात-सो इस प्रकार है।

जीवन काल में समा जाता है और पार्थिव देह अथवा पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि पवन में, पवन आकाश में, आकाश माया में, माया ब्रह्म में, शक्ति शिव में, शिव ओंकार में, ओंकार सुन्न में, सुन्न महासुन्न में, महासुन्न भंवर गुहा में विलीन हो जाता है। यहाँ तक का प्रलय कभी-कभी होता है। भंवरगुहा सत्यलोक का द्वार है। प्रलय की गति आगे नहीं है। अर्थात् सत्तलोक में नहीं है। त्रिलोककाल में, काल महाकाल में, महाकाल सतलोक के द्वार पहुंचता है। यह है प्रलय और महाप्रलय की स्थिति। सम्प्रति, पिंड प्रलय की वात कहने जा रहा हूं। काल शरीर में जव प्रवेश करता है—तव जीव उस प्रदेश का त्याग कर अन्यत्र चला जाता है। मूलाधार में पृथ्वी का वास हैं वहीं से श्वास औ चित्प्रकाश खिंच जाता है। खिंच कर इन्द्रिय तक आ जाता है और फिर वहाँ से नाभि-मध्य तक पहुंच जाता है। नाभि से हृदय, हृदय से कंठ तक जीव खिंचा चला जाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन-सवका कण्ठ में (तथा कण्ठ का) अवरोध होने लगता है। चारों तत्व तथा श्वास आकाश की ओर गतिशील हो जाते हैं। अंततः काल के द्विदल कमल देश में कर्मानुसार प्रवेश हो जाता है।

इस संदर्भ में मूलाधार से श्वास और चिदाभास के खिंचने की तो बात कही गई है, ताँत्रिक दृष्टि से वह भी महत्व की है। प्रपंचसार के द्वितीय पटल में कहा गया है—

"मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्चभावः पराख्यः[1]"

इसकी व्याख्या करते हुए पद्मपादाचार्य ने कहा है—मूल का अर्थ है—जगन्मूलभूत परिणामिनी शक्ति माया और उसका आधारभूत है-चिदात्मा (सौ, वही मूलाधार है)। शरीरगत मूलाधार भी सर्वगत चिदात्मा की अभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण मूलाधार कहा जाता है। जव उक्त विवरण के अनुसार पिण्डगत चेतन में खिंच

१. प्रपंचसार, द्वितीय पटल।

जाने अर्थात् अनभिव्यक्त हो जाने की बात कही जाती है और उसका स्थान मूलाधार बताया जाता है—तब निश्चय ही इसी चिन्तन परम्परा में वह बात आती[1] है।

इस प्रकार इस मत में राधास्वामी की मौज से सृष्टि होती है। मौज होते ही सुरत भी नीचे उतरती है। सृष्टि बीज जिसे माया कहा जाता है वह दो प्रकार है—शुद्ध एवं अशुद्ध। शुद्ध माया सत्तलोक में सत्यपुरुष से एक रस रहती है और क्रमशः निम्न स्तरों पर वह उत्तरोत्तर स्थूल होती चली जाती है। अंततः निरंजनलोक में पहुँचकर वह अत्यंत स्थूल हो जाती है। सत्यलोक के ऊपर के स्तरों पर 'माया' का सत्व नहीं है—वे मायातीत स्तर हैं—राधास्वामी अगम अलख। सत्य पुरुष के बाद जो स्तर आते हैं—वे हैं सोहम् परब्रह्म ब्रह्म। निरंजन सबसे नीचे है। यही निरंजन अशुद्धाध्वा की सृष्टि करता है। आगमिक धारा में जो स्थान महामाया का है—वही यहाँ सत्य पुरुष निष्ठ निर्मल माया का है और जो स्थान अनन्त पुरुष तथा समल माया का है वही निरंजन तथा स्थूल माया का। आगमों की भाँति ये लोग भी मानते हैं कि जैसे पूर्व-पूर्व तत्व उत्तरोत्तर तत्वों में अनुस्यूत रहते हैं उसी प्रकार नीचे के लोक ऊपर के लोकों के घेरे में हैं। कारण आधारभूत चेतन के विना माया रह भी कहाँ सकती है? हुजूर साहब शालिग्रामजी ने अपनी अँग्रेजी पुस्तक 'राधास्वामी मत प्रकाश' में एक चित्र द्वारा लोकों की स्थिति स्पष्ट की है। डा० बड़थ्वाल ने इस कल्पना की तुलना नाद बिंदु युक्त शब्द ब्रह्म अथवा यूनानी लोगोस से की है और कहा है कि उसी भाव का विस्तार यहाँ निरंजन से होकर सत्यपुरुष के धाम वस्तार में निहित हैं।

दूसरी पुस्तक——राधास्वामी मत प्रकाश के आधार पर

राधास्वामी मत के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया :

सृष्टि प्रक्रिया का आरंभ बौद्धिक धरातल पर वहीं से आरंभ किया जा सकता है जहाँ से वह बुद्धि की परिधि में आने योग्य हो। अतः सृष्टि और लय को परस्पर सापेक्ष मानकर लय से सृष्टि का आरंभ किया जा रहा है। सृष्टि की प्रलीन स्थिति में सर्वत्र समान रूप से परिव्याप्त चिन्मयी शक्ति अपनी अचिन्त्य स्वतंत्रता और क्षमता से अपने में ही दो स्थितियाँ अविर्भूत की—घन और विरल, घनात्मक और ऋणात्मक, व्यक्त और अव्यवत। अव्यवत को 'शून्य' स्थिति भी कहा जा सकता है। प्रलय काल में इस 'शून्य में असंख्य बिंदुओं की स्थिति रही होगी—जिन पर शक्तियों की असंख्य धारें काम कर रही होंगी। ये धारें केंद्राभिमुखी रही होंगी। इन्हीं बिंदुओं में 'शक्ति' लीन दशा में 'अव्यक्त' हो गई होगी। यही 'शून्य' वह क्षेत्र है जहाँ समस्त रचना साकार होती है। वह मूल शक्ति अथवा आदि शक्ति—जो दृश्यमान विश्वा त्मक प्रपंच में स्थित है—सुरत चैतन्य की शक्ति कही जाती है। आगमिक धारा के

1. प्रपंचसार, टीका खण्ड।

अनुसार भी यही स्वीकृति है कि मूल सत्ता के सिसृक्षा वश आत्मसंकोच किया और इसके परिणाम स्वरूप 'शून्य' ही व्यक्त हुआ—जिसे सामान्यतः 'इदम्' कहा गया और भरे हुए धन भाग को 'अहम्'। ताँत्रिक दर्शन में जिस प्रकार यह स्वीकार किया जाता है कि 'प्रकाश' या 'चित्' से भिन्न दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं—जिसे हम 'जड़' कहकर उसका विरोधी समझते हैं—वह वस्तुतः 'परिच्छिन्न प्रकाश[1]' ही है। प्रकाशन क्रिया का आधार होना और स्वयम् को 'अप्रकाश' मानना परस्पर विरुद्ध है। ठीक यही बात वहाँ भी कही गई है—"ऋणात्मक ध्रुव से कभी भी चैतन्य शक्ति पूर्ण रूप से 'शून्य' नहीं हुई। वहाँ भी काफी चैतनता छुटी हुई थी या भास था। लेकिन उसकी तीव्रता में जरूर कमी आ गई थी। इस अनादि अवस्था की छाप स्थूल, घने से घने द्रव्य कणों में भी मौजूद है क्योंकि वे बिलकुल चैतन्यता से खाली नहीं[2] हैं। 'पूर्ण' में इन दो ध्रुवों का होना असीम में ससीम होने की भावना है। इसीलिए वहाँ कहा गया है—"जिस प्रकार के शाश्वत ध्रुवीकरण के अस्तित्व के विषय में हम चर्चा करते आ रहे हैं—उसकी भावना से स्वाभाविक है कि असीम में सीम की भावना उठ सकती है।[3] क्या इस चिन्तनधारा को 'पूर्ण' का आणव-अख्यति-संकोच वश दो होने की आगम-सम्मत धारा से एकरूपता नहीं की जा सकती ?

यह 'अव्यक्त' अथवा निम्नध्रुव शाश्वत धुंधुकार की अवस्था में था। संतों ने इस धुंधुकार की अनेकत्र चर्चा की है। इस धुंधकार में अचेतावस्थापन्न बिंदुगण ही भिन्न भिन्न सुरतें थीं। इन बिंदुओं में दो प्रकार की क्रियाएं हैं—व्यक्तिगत और सामूहिक। प्रथम क्रिया से उत्पादित आवरण उन्हें ढँकते जाते हैं—अर्थात् उन पर खोलें चढ़ती जाती हैं—उनकी क्षमता परिमित होती जाती है। सामूहिक अथवा दूसरी क्रिया सनातन सूक्ष्म आकर्षण के रूप में विद्यमान थीं। यह सामूहिक क्रिया ध्रुवीकरण की क्रिया प्रलय काल में सामान्य थी—सृष्टि से पूर्व शनैः शनैः इसका और धनीकरण प्रारंभ हो गया—'शून्य' और भी 'शून्य' होने लगा। इस स्थिति में घनात्मक ध्रुव के उस भाग से जो ऋणात्मक ध्रुव अथवा शून्य से निकटतम था—चैतन्य की एक वृहद् धार निकली। यह उस 'पूर्ण' सागर में उठी सिसृक्षात्मक हिलोर का परिणाम था। इस धार ने अचेत बिंदुओं को चेतन किया—चेतनीकरण की क्रिया द्वारा इस धार ने अपनी अभिव्यक्ति की।

इस मूल सागरमयी चिन्मयी शक्ति के दो सामर्थ्य हैं—पहला—एकीकरण का और दूसरा केन्द्रीकरण का—पहले को 'शब्द' की धार कहते हैं और दूसरे को 'सुरत' की धार। दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं और एक ही शक्ति के दो रूप हैं। पहला

---

१. राधास्वामी मत पर प्रवचन, पृ० सं० १६७।

२. वही।

३. वही, पृष्ठ १६७।

प्रेरक और दूसरा एकत्रीकृत केन्द्र है। पहला आकर्षण करता है और दूसरे से संचय होता है। दोनों धाराओं की इन्हीं भेदक विशेषताओं से आगे चलकर प्राणि रचना के अंतर्गत स्त्री पुरुष का भेद उत्पन्न हुआ।

इस समस्त रचना के तीन खण्ड हैं—पिण्ड, ब्रह्माण्ड तथा निर्मल चैतन्य देश और प्रत्येक में छह उपविभाग हैं। परम पुरुष शाश्वत ध्रुवीकरण की अवस्था में होने से वह तीन खण्डों में विभाजित था—(१) पूर्ण चिन्मयता का असीम प्रदेश। (२) मध्यवर्ती तटस्थ प्रदेश तथा (३) निम्न ध्रुव प्रदेश। इसलिए रचना के समय 'शब्द' और 'सुरत' की जो धारें परम पुरुष से निकलीं—उनमें भी प्रत्येक में तीन उपविभाग हैं—(१) राधास्वामी (२) अगम (३) और अलख (ख) सुरत की धार के—(१) अनामी (२) सत्तलोक तथा (३) भंवर गुफा। शब्द और परम-पुरुष के श्वास-प्रश्वास की भाँति है। परम पुरुष में चिन्मयता से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, अतः प्रश्वास स्थानीय चाहे शब्द की धार हो अथवा श्वास स्थानीय सुरत की धार—दोनों ही चिन्मय हैं। फिर भी चिन्मयता की जो स्थिति उपरिवर्ती तीन खंडों में है वह निम्नवर्ती तीन खंडों में नहीं है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि इन छहों स्थानों में गुण प्रधान भाव से दोनों की स्थिति है। इस प्रक्रिया के आलोक में भी यह स्पष्ट है कि तंत्र सम्मत ढंग से यहाँ भी द्वयात्मक (सुरत-शब्द) अद्वय रूप मूल तत्व जिन रूपों में अपने को प्रकाशित कर रहा है—वे सभी द्वयात्मक हैं—यह अवश्य है कि वह द्वयात्मकता गुण प्रधान भाव से प्रत्येक में अनुस्यूत है। चेतनीकरण की क्रिया के बाद प्रलीन स्थिति में पड़ी रहने वाली जिन सुरतों ने ऊर्ध्वारोहण किया—उन्होंने चिन्मय देह धारण किया संभवतः शाक्त तांत्रिकों का शाक्त देह यही हो। उपर्युक्त तीन ऊर्ध्ववर्ती प्रदेशों में प्रवुद्ध और स्थित होने वाली सुरतों को परमहंस तथा अपेक्षाकृत अधोवर्ती तीन तलों में स्थित सुरतों को संत कहा गया है। इस निर्मल चैतन्य देश में स्त्री-पुरुष के चिन्ह व्यक्त नहीं हैं—केवल शब्द और सुरत के अपेक्षाकृत अंशाधिक्य वश ऐसी बात कही जाती है।

जिस प्रकार तंत्रों में भेद राज्य के ऊपर के स्तरों या लोकों में पद, लोक तथा उसके अधिष्ठाता हैं ठीक उसी प्रकार यहाँ के भी इन छह लोकों में वे ही स्थितियाँ हैं। दयामय परतत्व की आदि चिन्मयी धारा ने जहाँ एक ओर प्रलीन सुरतों को प्रवुद्ध किया, वहीं दूसरी ओर उनमें से कितनी परिपक्व सुरतों को आत्मरूप भी बना लिया। 'अगम' लोक 'राधास्वामी' देश का द्वार है। शेष चारों स्तर भी इसी प्रकार बने—वहाँ का सौर चाँद्र जगत् भी इसी प्रकार निर्मित हुआ। इस निर्मल चैतन्य देश के छहो स्तर परिवर्तन, प्रलय या अभाव से मुक्त हैं।

उक्त निर्मल चैतन्य मंडल की रचना के बाद एक प्रकार से इस स्थान के नीचे एक शून्य स्थान पैदा हो गया। इस महान् रिक्त प्रदेश को संतमत में 'महासुन्न' का मैदान कहते हैं। वह अंतरालिक अवकाश है जिसके एक ओर निर्मल चैतन्य देश है

और दूसरी ओर ब्रह्मांड अथवा ब्रह्मांडी मन है। ब्रह्मांडी तथा पिंडीमन सघन और विरल ध्रुवों के मध्यवर्ती भाग के निम्न प्रदेश से निर्मित हुए। रचना की जिस क्रिया द्वारा निर्मल चैतन्य देश का निर्माण हुआ–उसका प्रभाव इस महाशून्य प्रांत में भी पड़ा फलतः उसमें भी छह स्तर निर्मित हुए। इसकी या इनकी रचना साक्षात् रूप से निर्मल चैतन्य देश के अंतिम लोक 'भवंर गुहा' के धनी द्वारा हुई। इस पुरुष का नाम था—सोहं पुरुष। रचना के निमत्ति जो प्रथम वेग उठा था—उसने निर्मल चैतन्य मण्डल की सृष्टि की और तदनन्तर वह समाप्त हो गया फलतः अधोवर्ती मंडलों के निर्माण से पूर्व कुछ दैशिक ही नहीं, कालिक रिक्तता भी आ गई।

प्रत्येक मंडल के छह उपविभागों में स पंचम विभाग उत्पत्ति की क्रिया से सम्पन्न हैं। निर्मल चैतन्य मंडल के ऊर्ध्ववर्ती चार मंडलों में शब्द और सुरत की धारें तादात्म्यापन्न रत या युगनद्ध अवस्था में रहती हैं—पंचम स्तर—सत्पुरुष का देश है—जहाँ आकर 'शब्द' और 'सुरत' की धारें ताँत्रिक अभेद राज्य के स्तरों में 'अहम्' तथा 'इदम्' की भाँति स्पष्ट पृथक् होती हैं। निर्मल चैतन्य देश की भाँति ब्रह्मांड मंडल में भी पाँचवा स्तर ब्रह्मा का है और पिंड स्थल में उपस्थगत पंचमचक्र का। प्रजनन क्रिया के ये ही स्रोत हैं। ब्रह्मांड मंडल की रचना के निमित्त काल अथवा ब्रह्म संज्ञक जो प्रथम धार निकली—वह शब्द की धार की शाखा है—ताँत्रिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि यह ऋणात्मक है—इसमें केंद्र बनाने की क्षमता नहीं है। उसी सत्त पुरुष से निकलने वाली दूसरी धार सुरत की धार है—जो मूल धार की शाखा है —यह धनात्मक है—प्रजनन की शक्ति इसमें है पर सहयोग शब्द तत्व का भी अपेक्षित है। यहाँ के शब्द की धार का रंग नीलाभ तथा सुरत धार का रंग हरिताभ पीला था।

इस प्रकार काल पुरुष तथा आद्या की धारों के सतलोक से निकलने पर निर्मल चैतन्य देश की अपेक्षा कम चिन्मय फलतः उसके साथ रहने में अक्षम दूसरा रचनालोक 'ब्रह्मांड' बना। यह महाशून्य के निम्नतम धरातल से रचित प्रदेश है। इस निम्नतल प्रदेश के धनी की संज्ञा 'अक्षर' पुरुष थी। काल और आद्या की धारें अक्षर पुरुष के साथ मिलने के फलस्वरूप अतीव चैतन्य शक्ति सम्पन्न हो उठे और ब्रह्मांड निर्माण का कार्य सम्पन्न हो गया। इस मंडल में ये तीन धारें प्रकट हैं और त्रिवेणी कहलाती हैं। वह केन्द्र या संचय जो अक्षर पुरुष के नीचे हैं—मानसरोवर कहलाता है। काल पुरुष ब्रह्म अथवा ब्रह्मांडी मन के देश में चढ़ाई करने से जो भ्रांति या थकावट या मलिनता आ गई होती है—उसका यहाँ स्नान कर लेने से क्षालन हो जाता है। वह स्थान जहाँ ये तीनों धारें (अक्षर+काल+आद्या) एक केंद्र में एकत्र हुई—उसे त्रिकुटी कहा गया है—मेरु सुमेरु या कैलास। यहाँ आकर दो धारें (काल आद्या) जो कि सतलोक से आई ब्रह्म और माया कही गई। सुन्न या दसन दुआर त्रिकुटी से ऊपर है। ये तीन धारें चलती चलती त्रिकुटी से नीचे मिल गई और माया व ब्रह्म से दो

बड़ी धारें निकल कर नीचे की ओर चलीं। इन दो धारों ने तीसरी बार जहाँ ठेका लिया—वह सहस्रदल कमल है। माया—ब्रह्म का नाम यहाँ ज्योति नारायण (निरंजन) पड़ा। उक्त तीन शिखरों से सहस्रदल कवंल तक तीनों धारों के नीचे उतरने का जो रास्ता है—उसे वंकनाल (टेढ़ी सुरंग) कहते हैं। जहाँ से इन तीनों मिली हुई धारों ने नीचे उतरना आरंभ किया, वहाँ से पहले रास्ता ऊपर चढ़ता है और तब नीचे उतरता है। इन धारों में से एक में चिन्मय प्रावल्य, दूसरी में प्रजनन क्षमता तथा तीसरी में संहरण क्षमता है। त्रिकुटी पर केंद्रित तीन धाराओं तथा माया ब्रह्म की दो धाराओं की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से जो पाँच तहे बनी वे ही द्रव्य की पाँच द्रव्य सूक्ष्म अवस्थाएं हैं। सहस्रदल कमल को कभी-कभी अष्टदल भी कहा गया और उसका कारण भी बताया गया है। कारण यह है—दो ज्योति निरंजन की और छह पुरुष और स्त्री भेद से तीनों गुणों की—ये ही आठ धारें—अष्टदल कमल—सहस्रदल कमल मंडल के रचना में निरत थीं। प्रत्येक धार में पाँच-पाँच तत्व और फिर (८×५ =४०) एक-एक में पच्चीस प्रकृतियाँ—कुल १००० पत्रावली बनी। इस प्रकार आठ खास धारों के चारों ओर पंखड़ियों का जमघट लगा-हजार पंखड़ियों वाला कमल बन गया।

सहस्रदल कंवल निहित तीनों गुण नारायण के तीन पुत्रों—विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव के रूप में निकल पड़े। इन लोकों के बन जाने पर ब्रह्मांड के छहों लोक तैयार हो गए।

. . . . . ब्रह्माण्ड मण्डल

महा सुन्न प्रदेश

सुन्न

त्रिकुटी तीन धारें (काल आद्या अक्षर)

(नारायण) तीन गुण—सहस्रार—८×५×२५=१०००

विष्णु

ब्रह्मा

शिव

ब्रह्मा, विष्णु और शिव के लोकों के नीचे कुछ-कुछ महा सुन्न की तरह एक विशाल मैदान है—यद्यपि यह छोटा है तथापि इसमें भी एक शुद्ध सृष्टि है। इस व्यवधान या शून्य के निम्न प्रांत में पिंड देश का शिखर है। इसमें ब्रह्मांड में प्रवेश करने के निमित्त एक छिद्र है। इस छिद्र को तीसरा तिल (सूक्ष्मनेत्र या दिव्य चक्षु) कहते हैं। इसके द्वारा ब्रह्मांड के निचले हिस्से की झाँकी मिल सकती है। यही वह द्वार है जहाँ से सुरत पिंड से ब्रह्मांड की ओर प्रवेश करती है। निचले स्थान को यहीं से चिन्मयता उपलब्ध होती है। पिंड की भी तह या पेंदी में नरक लोक है। इस प्रकार इस ग्रंथ में सृष्टि प्रक्रिया का नितान्त विस्तृत ब्योरेवार विवरण है।

अघोरपंथी कीनाराम की भी धारणा है कि आदि में सत्यपुरुष रूप नाम रहित केवल था। उसने स्वेच्छा वश शब्द स्फोट किया—फलतः ब्रह्मादि त्रिदेवों की उत्पत्ति हुई—साथ ही एक नारी की भी। उस नारी रूप आदि शक्ति ने इच्छा, क्रिया तथा शक्ति का रूप ग्रहण सृष्टि आरंभ की। इसी प्रकार सरभंग सम्प्रदाय तथा साहिब संप्रदाय में भी सृष्टि-क्रम का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार जितना भी संत साहित्य में उपलब्ध सृष्टिप्रक्रिया—मायोर्द्धव भूमिका का उपस्थापन और पर्यालोचन किया जाय यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कहीं 'परतत्व' को, कहीं 'शून्य' की ओर कहीं 'शब्द-ओंकार' अथवा प्रणव को सृष्टि का स्रोत बताया गया है। 'लीला' 'मौज' 'इच्छा' 'अस्फुर' विश्वातीत, 'स्फुर' विश्वात्मक, शक्ति, एक से तीन का होना, मूलतत्व का विभिन्न स्तरों में उत्तरोत्तर व्यक्त होना आदि जिन शब्दावलियों के माध्यम से सृष्टि प्रक्रिया अथवा अवरोहण पद्धति का विचार किया गया है—वह सब नैगमिक की अपेक्षा आगमिक विचार धारा की परम्परा के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल है। इस तथ्य अथवा निष्कर्ष की पुष्टि समस्त विवेचन के संदर्भ में यत्र तत्र कर दिया गया है।

एक बात मायोर्द्धव भूमिका की सृष्टि संबंधी विचार समाप्त करने से पूर्व कह लेनी और आवश्यक जान पड़ती है। वह है—परतत्व, तथा शब्द तत्व के अतिरिक्त शून्य तत्व। परतत्व का विचार द्वितीय अध्याय में और शब्द तत्व का निरूपण तृतीय अध्याय में किया जा चुका है। शून्य तत्व संबंधी धारणा का प्रासंगिक विचार यहाँ कर लेना चाहिए।

यों तो 'शून्य' शब्द का प्रयोग आगमिक परम्परा में भी अर्थ और संख्या की दृष्टि से अनेक रूप में किया गया है, पर सृष्टि या अवरोहण के संदर्भ में जब मूल स्रोत के रूप में 'शून्य' का प्रयोग किया जाता है—तब आगमिक परम्परा उसे निम्न-लिखित रूप में ग्रहण करती है।

तंत्रालोककार अभिनव गुप्त का कहना है कि संवित् या पर तत्व की एक स्थिति वह है जहाँ प्रमातृ प्रमेय स्वरूप विश्व का अविभक्त रूप में ही अवभास होता है—फलतः किसी भी स्वात्मातिरिक्त रुप की रूपणा का अभाव होता है। इसलिए उसे शुद्ध और प्रकाश परमार्थ माना जाता है।[1] तदनन्तर वही परतत्व अथवा परासंवित् अपनी स्वातंत्र्य शक्ति की महिमा से जब अपने को ही परिछिन्न रूप से अवभासित करने की इच्छा करता है तब अविभक्त रूप में स्थित विश्वात्मक मेयमात्र को आत्म-

१. संविन्मात्रं हियच्छुद्धं प्रकाश परमार्थकम् ।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः ॥९॥
तदेव शून्य रूपत्वं संविदः परिगीयते ।
नेति नेति विमर्शन योगिनां सा परा दशा ॥१०॥

व्यतिरिक्त कर देता है। इस स्थिति में वह पर संवित् अपना 'विश्वोत्तीर्ण' रूप से आमर्शन करती है और निरभ्र नभ्र की भाँति प्रकाशित होती है। सकल भाव शून्य होने के कारण निरावरण ढंग से प्रस्फुरित होती है। संवित् या पर तत्व के इस रूप को 'शून्य' कहते हैं। इसे शून्य प्रमाता संज्ञा दी गई है। इसे शून्य इसलिए कहते हैं कि इस दशा में संवेद्यमात्र का संक्षय रहता है—केवल केवल संवित् का अवस्थान रहता है। स्वच्छंद तंत्र में भी कहा गया—

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ॥२९२॥
अभावः स समुद्दिष्टः यत्र भावाः क्षयं गताः[1]।

यहाँ जिसे शून्य कहा गया है वह वस्तुतः अशून्य है—चिदानन्दघन परमशिव तत्व है। कारण यह है कि 'शून्य' को 'अभाव' कहा जाता है। अभाव का आशय यह है कि जिस रूप में वीजात्मना निहित निखिल 'भाव' जात-प्रमेयादि प्रपंच-विद्यमान न हो। इस प्रकार शून्य से अशून्य चितत्व ही अभीष्ट है। वह शून्य तत्व सत्ता मात्र है—जो भाव-अभाव सर्वत्र समान रूप से अनुस्यूत है। यह शून्य तत्व व्यापक है और प्रमेयादि विश्व प्रपंच व्याप्य, तत्वतः दोनों भिन्न नहीं हैं—व्यापक ही तो व्याप्य है—

यत्र तत्र च नादादिस्थूला अन्युऽपि संस्थिताः।
तत्र तत्र परं शून्यं सर्व व्याप्य व्यवस्थितम् ॥२९४॥
व्यापकमेव च व्याप्यात्मतया स्फुरति, न तु व्याप्यं नामान्यदिति[2]।

यही शून्य प्रमाता वहिर्मुख होता हुआ प्राण प्रमाता बन जाता है। अपूर्णम्मन्यतात्मक आणवमल के योग से शून्य तत्व साकाङ्क्ष हो जाता है—आत्मव्यतिरिक्त मातृ-मेयमय विश्वात्मक प्रपंच को पुनः स्वीकार करने की ओर उन्मुख हो जाता है—फलत. उल्लासपूर्वक समुच्छलित होता हुआ— मेय से मिलता हुआ प्राण प्रमाता कहा जाने लगता है। किंचिच्चलतात्मक आत्मविमर्श रूप स्पन्दन का ही यह आद्य प्रसर है। इस प्रकार पर संवित् का यह प्रथम परिस्पंद है। इसे ही स्पंद, स्फुरता, विश्रांति, हृत् एवम् प्रतिमा आदि कहा गया है।

उपर्युक्त तंत्रोक्त विवरण से नितान्त स्पष्ट है कि अवरोहण क्रम में प्रथम प्रथम समरस परतत्व निरीह स्थिति में है। तदनन्तर वह परतत्व स्वातंत्र्य शक्ति वश अपूर्णम्मन्यतात्मक आणवमल से युक्त होकर मातृमेयात्मक विश्वात्मक प्रपंच को अपने से पृथक् कर 'शून्य' नामक एक भिन्न स्तर में आ जाता है। फिर यही साकाङक्ष 'शून्य'

---

१. स्वच्छेद तंत्र, पृष्ठ १८८।
२. स्व एव स्वात्मा मेयेऽस्मिन् भेदिते स्वीक्रियोन्मुखः।
पतत्समुच्छलत्वेन प्राण स्पंदोर्मिसंज्ञितः ॥११॥—तंत्रालोक ६ आ०, पृ० १०।

तत्व स्वयं पृथक् कृत मातृमेयात्मक विश्व प्रपंच से मिलने के लिए उल्लास वश उच्छ-लित हो उठता है—उसका यह सामान्य-परिस्पंद-अवरोहण क्रम का तृतीय स्तर है।

इस आगमोक्त आलोक में संत साहित्य गत प्राप्त परतत्व, शून्य तत्व तथा सार शब्द या शब्द ब्रह्म-प्रणव, ऊंकार—तीनों की सुस्पष्ट संगति लग जाती है।

अवरोहण क्रम का विचार करते हुए तीसरी बात यह आती है कि मायोर्द्धव लोक की तंत्रोक्त लोक परम्परा में क्या स्थिति अथवा संगति है। यह बात तो अनेकशः कही जा चुकी है कि मायोर्द्धव स्तर पर संक्षुब्ध बिंदु से नादज्योति या वाच्य वाचक अध्वा की सृष्टि होती है। वाचकाध्वा में तीन-वर्ण, पद एवं मंत्र तथा वाच्याध्वा में कला, तत्व और भुवन हैं। पूर्व पूर्व अध्वा उत्तरोत्तर में व्याप्त रहते हैं। कला पाँच हैं—शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या; प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति। तत्व छत्तीस हैं और भुवन असंख्य।

पृथ्वी तत्व से निर्मित और उसकी परिधि में पार्थिव ब्रह्माण्ड है। पुराणों में सात ऊर्ध्वलोक-भूलोक से सत् लोक तथा सात पातालादि अधोभुवन कुल चौदह भुवनों का ब्रह्माण्ड के अंतर्गत विचार है। तंत्रों में इनसे भिन्न अण्डों तथा भुवनों का भी उल्लेख है। जल तत्व से लेकर प्रकृतितत्व तक प्रकृत्यण्ड का विस्तार है। ब्रह्माण्ड की भाँति प्रकृत्यण्ड भी असंख्य हैं। एक एक प्रकृत्यण्ड में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं इन प्रकृत्य-ण्डों का उपादान जल से लेकर प्रकृति तक के तत्वों की समष्टि है। एक मायाण्ड के अंतर्गत असंख्य प्रकृत्यण्ड हैं। मायाण्ड पुरुष से षट् कंचुक तक के उपादानों से निर्मित है। माया से ऊपर ज्योतिर्मय शुद्ध सत्वात्मक शाक्ताण्ड है। इसका उपादान है—शुद्धविद्या, ईश्वर तथा सदाशिव-तीन हैं। इस प्रकार 'पृथ्वी' से 'शक्ति' तत्व तक चार अण्ड हैं—ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड तथा शाक्ताण्ड। ये चारों अण्ड विश्व हैं। शिवतत्व विश्वातीत तथा 'शून्य' है। यहाँ अण्ड नहीं है पर भुवन हैं—क्योंकि कला है। शाक्ताण्ड में शान्ति मायाण्ड में विद्या, प्रकृत्यण्ड में प्रतिष्ठा तथा ब्रह्माण्ड में निवृत्ति कला व्याप्त है। शिव तत्व में शान्त्यतीत कला है। परम शिव निष्कल तथा परमपद है वह एक साथ ही विश्वात्मक तथा विश्वोत्तीर्ण है। वहाँ कला, भुवन तथा संनिवेश—तीनों ही उन रूपों में नहीं हैं जिन रूपों में शिव तत्व, शाक्ताण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्य एवं ब्रह्माण्ड में हैं। ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता ब्रह्मा, प्रकृत्यण्ड के विष्णु तथा मायाण्ड के रुद्र हैं। मायोर्द्धव शाक्ताण्ड का अधिष्ठाता ईश्वर सदाशिव है।

यहाँ मायोर्द्धव-लोकों की चर्चा प्रसक्त है—अतः वहीं तक का विचार युक्तियुक्त है। शाक्ताण्ड शुद्धाध्वा में है। प्राचीन वैष्णव तथा शैव आचार्यों ने भी इसी प्रकार के शुद्ध जगत् स्वीकार किए हैं। महायानी का अनाश्रव धातु यही है। इस शाक्ताण्ड का 'ध्वंस' नहीं 'उपसंहार' होता है। तदनन्तर सृष्टि संहार रूप अहोरात्र का 'उपशम' होता है। संत साहित्य में जिन विभिन्न लोकों की चर्चा पहले की गई है—अभेद एवम् भेदाभेद राज्य के अंतर्गत उनका इसी मायोर्द्धव शाक्ताण्ड के अंतर्गत समावेश किया

जा सकता है । सबका तो नहीं, पर कबीर एवं कबीरपंथी साहित्य तथा राधास्वामी साहित्य में कहे हुए मायोद्भव लोकों के दृष्टान्त से इस आगमिक सृष्टि-दृष्टि का संचार किया जा सकता है ।

ऊपर अवरोहण प्रक्रिया का विवरण देते हुए कहा गया है कि परमतत्व जिन स्तरों पर अपना प्राकट्य उत्तरोत्तर स्थूल धरातल पर करता गया है उन्हें लोक भी कहा गया है और उसके धनी अथवा अधिष्ठाता का नाम भी लिया गया है। यह सब आगम परम्परा के आलोक में स्पष्ट है ।

छत्तीसगढ़ी शाखा के अनुसार सर्वोपरि सत्य पुरुष को माना गया है और उसका लोक सत्यलोक कहा गया है—इसका नितान्त काव्यमय वर्णन भी किया गया है। इसे स्पष्ट करने के लिए डा० केदारनाथ द्विवेदी ने एक मानचित्र भी दे दिया[1] है ।

जिस प्रकार कबीर अथवा कबीर पंथी छत्तीसगढ़ी शाखा या अन्यान्य ग्रंथों में सत्यलोक की बात कही गई है और उसे 'अमर लोक' की संज्ञा प्रदान की गई है— वहाँ तक पहुँचने को वास्तविक मुक्ति मानी गई है और उसका नितान्त मनोरम तथा आकर्षक वर्णन किया गया है—उसी प्रकार अन्य पंथों में भी अमरपुर अथवा अमरलोक की चर्चा मिलती है । संत दरिया ने भी सुरति की डोर पकड़कर अमरलोक में जाने की बात कही[1] है । दरिया ने इस लोक के लिए अनेक संज्ञाओं का प्रयोग किया है और मनोरम वर्णन भी[2] । समभंग सम्प्रदाय में भी अमर लोक को सतलोक और नूरमहल आदि कहा गया[3] है । शिवनारायणी सम्प्रदाय का 'संत देश' भी अमरलोक के ही समान है[4] । राधास्वामी सम्प्रदाय की तो बात ही क्या है । वहाँ तो कहा ही गया है कि निरंजन लोक से भी ऊपर ब्रह्म, परब्रह्म, सोहंग, सत्य पुरुष, अलख, अगम (अनामी) तथा राधास्वामी का देश[5] है। राधास्वामी से अलख तथा माया का अभाव है । सत्य लोक की माया निर्मल है । उत्तरोत्तर वह स्थूल होती जाती है और निरंजन लोक तक उतरते-उतरते वह स्थूल हो जाती है ।

इस राधास्वामी मत में उत्तरोत्तर आविर्भूत लोक ऊर्ध्व ऊर्ध्व के लोकों के घेर में हैं । हुजूर साहब शालिग्राम जी ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'राधास्वामी मत प्रकाश' में एक चित्र दिया है जिससे उनकी सृष्टि क्रम प्रक्रिया का आभास मिलता है । चित्र

---

१. देखिए, कबीर और उनका पंथ, पृष्ठ २३४
२. शब्द—५३—६—अजर अमरपुर भैंहे वास ।
३. वही तथा ज्ञानदीपक २१—० ।
४. आत्मनिर्गुण, ककहरा, पृष्ठ २ पद १० ।
५. मूलग्रंथ, पृष्ठ ३ ।
६. राधास्वामी मत प्रकाश ।

आगम सम्भूत सृष्टिक्रम

इस प्रकार है। विवरण यों है। उन्होंने कहा है कि एक बड़ा सा वृत्त खींचो और उसके भीतर कई छोटे वृत्त इस प्रकार खींचो कि उनके केंद्र एक ही व्यासार्द्ध में पड़ें और भीतर के सब वृत्तों की परिधियाँ बाहर के वृत्त की परिधि को एक ही स्थान
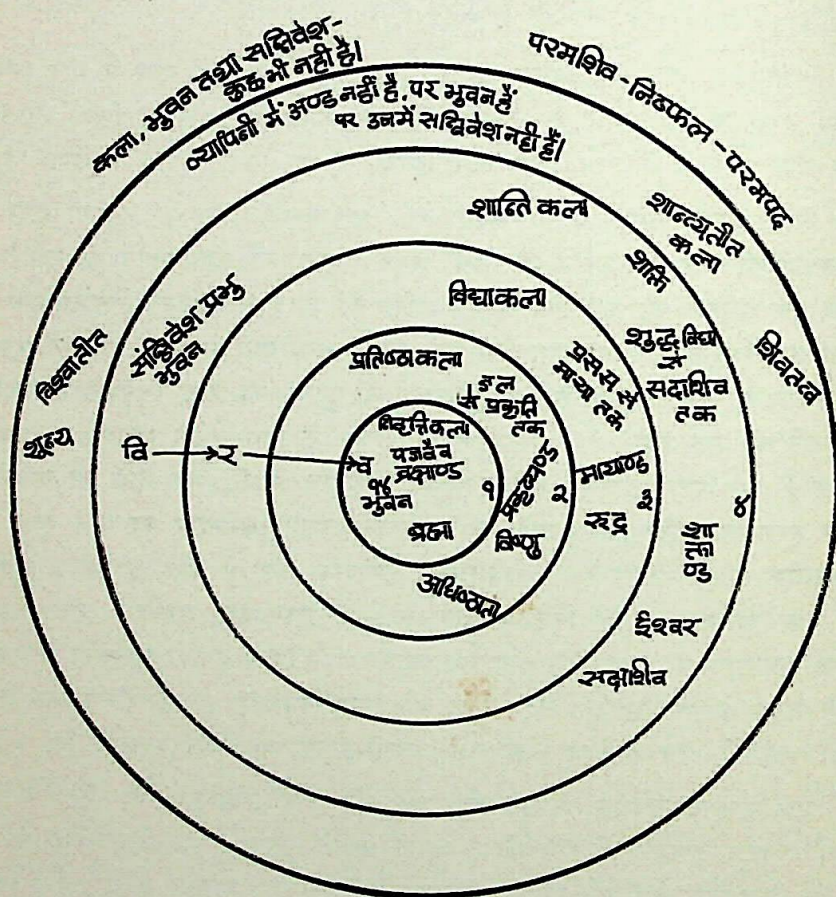
पर छुवें। सबसे बड़े वृत्त के बाहर दयाल देश है और भीतर के वृत्त क्रमशः नीचे के लोकों की सीमा है। डा० बड़थ्वाल ने ठीक कहा है—"जो भाव नाद बिंदु युक्त शब्द ब्रह्म में अथवा यूनानी लोगोस में है, उसी का विस्तार निरंजन से लेकर सत्य पुरुष तक है। और पूर्ण ब्रह्म भावना का विस्तार उनसे ऊपर के तीन चार धनियों के रूप[1] में।" चित्र इस प्रकार है—

सृष्टि चित्र
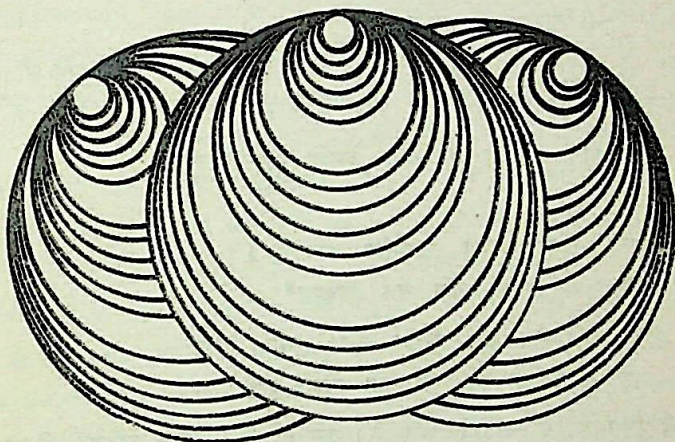
आगम-निरूपित सृष्टिक्रम या अवरोहण प्रक्रिया के आलोक में ऊपर कबीर पंथी तथा अन्य पंथों की धारणा का उल्लेख करते हुए 'हाँड़ी के एक चावल' के दृष्टान्त से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि संत साहित्य में भी मायोर्द्धव लोक है—जिन्हें शुद्ध सत्वमय अथवा चिन्मय माना जा सकता है। सत्य लोक की माया का निर्मल रूप तथा निरंजन-लोक की माया का समल रूप सिद्धान्त शैवागम की उस धारणा का स्मरण दिलाता है जहाँ महामाया या बिंदु के दो भाग माने गए हैं—एक प्रकाशमय और दूसरा अंधकार मय। एक का क्षोभक शिव तथा दूसरे का अनन्त नामक विद्येश्वर। ठीक इसी प्रक र निर्मल माय' का धनी सत्यपुरुष है और समत्व का निरंजन। अनेक संतों के सृष्टि क्रम में निरंजन का उत्पादित जगज्जननी पर मुग्ध होना भी बताया गया है और संभोग जन्य त्रिदेवों की उत्पत्ति भी कही गई है। इस प्रकार संत साहित्य में उक्त मायोर्द्धव लोक का निरूपण प्रस्तुत किया गया।

दरिया साहब की उक्तियों में भी इन तीन सारों का उल्लेख मिलता है—निःशब्द, शून्य शब्द

---

१. हि० का० नि० सं०, पृष्ठ १४३–१४४।

१ तब नहिं करते कीतम कीन्हा। तब नहिं निगम नेति अस[1] चीन्हा। १०२.१
अब किछु उतपति करन चहै, चित चेतनि चित चीन्ह।
नारि पुर्ख रस रस रंग में, इंह किछु इक्ष्या कीन्ह[2] ॥

२ शून्य—
सत्तरि जुग रहु सूँन बेलूना, तब नहिं होते पाप ना पूना[3] ।७.१
सत्तरि जूग सैन सुख वासा। सत्त पुर्ख कै अजब तमासा[4] । ७.११

दादू दयाल की पंक्तियाँ भी साक्षी हैं—
ईश्वर ही जगत् का रचयिता है। लीला, क्रीड़ा या लोकानुग्रह ही प्रयोजन है—खालिक खेलै खेल करि, बूझै बिरला कोइ।
ले करि सुखिया न भया, देकरि सुखिया होइ[5] ॥

सृष्टिक्रम—
पहली कीया आपथैं उतपत्ति ओंकार।
ओंकार थैं ऊपजैं, पंच तत्र आकार[6] ॥

एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ
आगे पीछै तौ करे, जौ बल हीणा होइ[7] ॥

दादू ने इस परम तत्व को सरोवर कहा है। इसे कहीं कहीं 'सुनि सरोवर' भी कहा है।
दादु सहज सूँनि सब ठौर है सब घट सबही माँहि।
तहाँ निरंजन रमि रह्या, कोई गुण व्यापै नाहिं[8] ॥५०॥

(ग)

अभेद तथा भेदाभेदमयी सृष्टि का विचार आगमिक आलोक में कर लेने के अनन्तर संप्रति भेदभूमि की अवरोहण प्रक्रिया पर भी विचार करना अपेक्षित है। इस संदर्भ में अनेक प्रश्न विचारणीय हैं। सबसे पहले 'बंध' या 'अज्ञान' का स्वरूप विचारणीय है—कारण, इसके अभाव में भेद राज्य के उदय का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। दूसरा

---

१. दरिया ग्रंथावली, प्रथम ग्रंथ, दरिया सागर, पृ० ४०।
२. दरिया सागर, पृ० ६६।
३. दरिया ग्रंथावली, प्रथम ग्रंथ, ज्ञान रत्न, पृ० १४।
४. वही।
५. दादूवाणी (मंगलदास) पद २३५।
६. संतबानी संग्रह, भाग १ पृ० ७७।
७. बानी १ म, पृ० १६८, १०।
८. दादूदयाल ग्रंथावली, ४ परचा का अंग।

प्रश्न है—सृष्टिक्रम में गृहीत आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद तथा आभासवाद का। संत साहित्य में इनमें से लगभग सबके अनुरूप सामग्री मिल जाती है—अतः उसकी संगति क्या है? तीसरा प्रश्न है—मायिक सृष्टि में क्रम क्या है? साथ ही जीवात्मा, जगत्, माया तथा प्रकृति और तत्प्रसूत प्रपंच का स्वरूप क्या है?

जहाँ तक 'बन्धन' अथवा 'बंध' का संबंध है—कहा जाता है कि यह अनादि है—पर शांकर अद्वैत वेदांत की भांति नहीं। अवतरण या विश्वासमास मूल अद्वय शक्ति का ही आत्मा स्वातंत्र्यवश आत्म संकोच है। यह सब उसकी इच्छा की ही परिणति है। संतों का परतत्व भी आगमों की भांति इच्छा शक्ति सम्पन्न है—वह शांकर वेदान्त की भांति निरीह नहीं है। इसीलिए आगमिकों की भांति संतों की माया भी लीला पुरुष का स्वेच्छा परिगृहीत रूप है—वह शांकर वेदान्त की भांति आकस्मिक नहीं है। आगमिकों की धारणा है कि परमेश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से सबसे पहले अपने स्वरूप को ढंकने वाली महामाया शक्ति का प्राकट्य करते हैं जिसके कारण आकाशवत् स्वच्छ आत्मा में संकोच का आविर्भाव होता है। यह संकोच और कुछ नहीं उसके स्वातंत्र्य की हानि ही है—यही आणवमल है—अज्ञान है, अख्याति है—बंध है। इस संकोच की व्याप्ति शिव से लेकर माया प्रमाता तक है। अद्वय तत्व अपने समरस रूप में स्वातंत्र्य और बोध का समन्जस रूप है। संकोच दशा में स्वातंत्र्य गत बोध का और बोध-गत स्वातंत्र्य का अभाव रहता है। विज्ञानाकल नामक अवस्था में बोध तो है, पर स्वातंत्र्य शक्ति नहीं है। यहाँ माया और कार्यमल भी नहीं हैं। उचित अवस्था के प्रलयाकल जीवों में स्वातंत्र्य तो है—पर बोध नहीं। यह अज्ञान दो प्रकार का है—(१) पौरुष तथा (२) बौद्ध। इस स्वातंत्र्य परिगृहीत संकोच से ही 'अहं' के साथ 'इदं' जैसे प्रमेय का आभास होता है और प्रमेय के आते ही प्रमा, प्रमाता का भी अपनी अनुरूपता नें अवस्थान होता है। आणवमल का आविर्भाव होने पर भी जब तक 'मायामल' का उद्भव न हो तब तक भेद राज्य की सृष्टि नहीं हो सकती। इसीलिए आगमिकों ने विज्ञानाकल प्रमाता से आणवमल माना है, पर उसे भेद राज्य से पार का जीव बताया है। यह 'माया' ही भेदमय विश्व की योनि है। शरीर का मूल 'कार्म' मल है। इस प्रकार ये तीनों मल—आणव, मायीय तथा कार्म—पुरुष के स्वरूप को आच्छन्न कर लेते हैं—अतएव मल कहे जाते हैं।

(क) परतत्व का जीव भाव ग्रहण—निर्गुण संत साहित्य में 'आणव मल' शब्द का तो शब्दतः कहीं भी प्रयोग उपलब्ध नहीं होता, परंतु उस आशय की अभिव्यंजना अवश्य होती है। इस तथ्य का पूर्ववर्ती पृष्ठों में अनेकत्र उल्लेख हो चुका है कि प्रायः सभी संत परमतत्व की 'मौज' 'इच्छा' 'लीला' 'नट वृत्ति' आदि का उल्लेख करते हैं—इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इनके यहाँ भेदमयी विश्व सृष्टि की मूलभूता माया आकस्मिक नहीं है, प्रत्युत परतत्व की इच्छा या मौज के अधीन है। जब संत जन उसको स्वयं बाजीगर और स्वयम् नाचने वाला कहते हैं—तब यह तभी संभव

है जब वह स्वयम् का आत्मसंकोच करें और जीवात्माओं की भूमिका में स्वेच्छया उतरें। संतों का यह स्वेच्छापरिगृहीत रूप आत्मसंकोच रूप आणव मल ही का नामान्तर कहा जाना चाहिए। कबीर स्पष्ट कहते हैं—

"हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपना आपलखावा[1]।"

स्वेच्छया मैंने (परतत्व ने ही) ही अपने-आपको नाम-रूप में बाँधकर परिच्छिन्न कर लिया।

जीवात्मा के संबंध में दार्शनिक दृष्टि से जो अन्य प्रश्न उठते हैं—वे ये कि वह एक है या अनेक ? उसकी स्वरूपगत विशेषताएं क्या वे ही हैं जो परतत्व की हैं—अथवा भिन्न ? यदि वे एक हैं तो उनमें नानातत्व किस प्रकार आया ?

इन संतों की परतत्व विषयक जो धारणा पहले प्रतिष्ठापित की गई है—उसके अनुसार तो यही मानना संगत है कि जीवात्मा परमात्मा का ही स्वेच्छापरिगृहीत आत्म संकुचित रूप है—

स्वातंत्र्यहानिर्वोधस्य स्वातंत्र्यस्याध्यबोधता ।
द्विधाणवमलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥

डा० वड़थ्वाल ने कतिपय संतों की धारणा विभिन्न आधारों पर यह व्यक्त की है कि वे जीव और ब्रह्म में भेद मानते हैं। केवल कहीं अंश कह देना अथवा विभिन्न आध्यात्मिक लोकों में अनेक जीवात्माओं का क्रीडा परायण होना इस निष्कर्ष का साधक नहीं है कि आत्मा परमात्मा भिन्न हैं। कहने को तो कबीर ने भी कहा है—"कहु[2] कबीर इहु राम को अंसु"—तो क्या कबीर अद्वयवादी नहीं हैं ? रही वैष्णव भक्तों की भांति मुक्ति में जीव हंसों का स्वामी से क्रीड़ा परायण होने की बात—वह माया राज्य अर्थात् भेद राज्य पार करने पर संभव है। वह आदि में भी कल्पित भेद की क्रीडा है। स्वयम् राधा स्वामी मत में भी, जिसे डा० वड़थ्वाल भेद वादी कहना चाहते हैं—कहा गया है—

"सुनो सुरत तुम अपना भेद। तुम हमथैं थी सदा अभेद[3]।"

अस्तु। इस प्रश्न को पुनः उभारकर तर्कों के पिष्टपेपण की आवश्यकता नहीं है।

महामाया अथवा शुद्धाध्वा से अशुद्धाध्वा अथवा माया राज्य में अवतीर्ण होने पर घट भेद से माया प्रमाता भिन्न भिन्न हो जाते हैं और कार्म मल के संबंध से विभिन्न योनियों में नियत आयु के अन्तर्गत शुक्ल-कृष्ण कर्मों का भोग भोगते रहते हैं। अंशा-

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०१।
२. वही, पृष्ठ ३०१।
३. सारवचन, भाग, १—७७—७८।

शिभाव को पारमार्थिक न मानने पर अनेकता के संबंध में दार्शनिकों में प्रतिविंबवाद, अवच्छेदवाद; आभासवाद—जैसे मत प्रचलित हैं। आभासवाद आगमिक भी मानते हैं। पर वह शांकर वेदान्तसम्मत आभासवाद से भिन्न है। आगम ग्रंथों में जीव-गत व्यावहारिक अनेकता के लिए 'तंत्रालोक' कार ने स्पष्ट कह दिया—

देवः स्वतंत्रचिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः ।
रूपप्रच्छादनक्रीडायोगादणुरनेककः ॥

अर्थात् स्वतंत्र, चिद्रूप तथा स्वभावतः प्रकाशात्मा परतत्व रूपप्रच्छादनात्मा क्रीड़ा की स्वारसिकता वश अनेक अणु आत्माओं के रूप में आत्म प्रकाश करता है। एक ही परतत्व के ये सव अनेकात्मा अवभास है।

वैसे कवीर आदि संतों की रचनाओं में जीवगत अनेकता का प्रतिपादन करते हुए ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जो प्रतिविंबवाद के अनुरूप संगत लगती हैं। संत सुंदरदास ने अवच्छेदवाद के अनुसार भी अनेक जीववाद का विचार किया है। कहीं-कहीं मलिन प्रतिविंब को ही आभास कहा गया है। प्रतिविंबवाद के अनुसार एक किंतु अनाद्यन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिविंब पड़ता है वही जीव है। संतवर कवीर ने कहा ही है—

कासुं कहूँ कहन कुं नाहीं दूसर और जना ।
ज्यूं दरपन प्रतिव्यंब देखिए, आप दवासूं सोई ।
संसौ मिट्यौ एक कौ एकै, महा प्रलय जब[1] होई ॥

विश्व के अनेकात्मक विस्फुरण के निमित्त दर्पण का ही दृष्टान्त आगमिक भी देते हैं—पर वे 'जड़ माया' की जगह 'चिन्मयी शक्ति' को रखते हैं। 'माया' की कल्पना शांकर अद्वैत में ही नहीं, आगमोक्त छत्तीस तत्वों में भी एक है। दोनों की 'माया' निरवच्छिन्न को उपहित करती हैं—संकुचित करती हैं। आगमो के अनुसार स्वरूप गोपनात्मिका माया परमेश्वर की इच्छा शक्ति का ही नामान्तर है। शुद्धाध्वा में 'विश्व प्रमाता' स्वयम् को शुद्धप्रकाश रूप में अनुभव करते हुए 'इदम्' रूप में भासित वैद्य रूप को अपने से अभिन्न समझता है; परन्तु अशुद्ध-अध्वा में अवतीर्ण होते ही माया शक्ति उसके स्वयंप्रकाश स्वभाव को तिरोहित करती है और जड़ में आत्मभाव पैदा कर देती है—देहात्म वोध की स्थिति उत्पन्न कर देती है। शांकर वेदान्त की भांति इतना साम्य अवश्य है कि माया न केवल स्वरूप विस्मृति करती है—प्रत्युत अन्यभावभास का भी कारण वन जाती है। कबीर यदि उस माया को 'महाठगिनी' कहते हैं, तो 'विज्ञान भैरव' नामक आगमिक कृति में भी उसे 'माया विमोहिनी' नाम कहा गया[2] है। भेदरूप होने के कारण आगम भी इसे जड़मय मानता है। आगम के

१. क० ग्रं०, पृ० १०५ ।
२. तंत्रालोक भाग ६।६।१५, का० ६६ ।

अनुसार परिच्छिन्नता ही जड़ का पर्याय है। समस्त विश्व का उपादान है—अत: इसे व्यापिनी भी कहा जाता है। शांकर माया की तरह आगमोक्त माया भी 'तिरोधान[1] करी' तथा 'अन्यभावभासनमयी' (विक्षेपात्मा) है। इस 'माया' के कारण निरवच्छिन्न प्रकाशात्मा शिव ही जीव बन जाता है। जीव भाव का आविर्भाव होने पर उसकी सभी शक्तियाँ—सर्व कर्तृता, नित्यता, पूर्णता और व्यापकता भी संकुचित होकर जीव के जिन आवरण रूपों में प्रकट होती हैं—उन्हें क्रमश: कला-विद्या, काल, राग और नियति कहा जाता है। ये सभी सामान्यत: आवरण होने के कारण 'माया' ही हैं। इस प्रकार 'माया' का अनेकश: उल्लेख देखकर इसे शांकर अद्वैत का असाधारण गमक नहीं समझना चाहिए। इसकी व्याख्या आगमिक दृष्टि से भी हो जाती है।

मध्यकाल में साधना की धारा आगम-सम्मत ही थी—इस साधना से जन्य अनुभूति अथवा उसके दृढ़ीकरण के निमित्त अपनाई गई चिन्तना के लिए कभी कभी शांकर वेदान्त के प्रचलित दृष्टान्तों से भी से संत जन अपनी बात कह जाते थे। प्रतिबिंबवाद—अथवा अवच्छेदवाद की संगति इसी प्रकार लगाई जा सकती है। 'प्रतिबिंबवाद' के विपक्ष में कभी कभी यह कहा जाता है कि जीवों को प्रतिबिंब जैसा मानने से मुक्ति का अर्थ हो जायगा—जीवों का नाश, जो अविनश्वर जीव के लिए संभव नहीं है। शांकर वेदांत के अनुसार अविद्या अनादि अवश्य है, पर ज्ञान निवर्त्य होने के कारण सान्त है। यदि प्रतिबिंबात्मा जीव को माना जाय, तो अविद्या की निवृत्ति से जीव की भी आत्यंतिक निवृत्ति मानली जायगी। अत: अवच्छेदवाद की कल्पना की गई है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापी और एक है—उसी प्रकार आत्मचैतन्य भी है—फिर भी घट, मठ आदि आवरकों से आवृत कर घटाकाश, मठाकाश आदि भिन्न-भिन्न रूपों में व्यपदिष्ट होता है ठीक उसी प्रकार एक ही आत्मा अन्तःकरण रूपी भिन्न-भिन्न उपाधियों से घिर कर नाना जीव भाव की स्थिति प्राप्त करता है। कबीर ने इसे इस प्रकार कहा है—

> "जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतरि पानी।
> फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी[2]।

दादू ने भी परतत्व को 'सहज सरोवर' से उपमित किया है। इन सब दृष्टान्तों के बावजूद शांकर वेदांत से इनकी सृष्टि प्रक्रिया इसलिए संगत नहीं हो सकती—कि शांकर परतत्व को अकर्ता मानता है और माया को आकस्मिक जबकि संत जन

---

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा। भाग २।३।१७।
२. क० ग्रं०, पृ० १०३।

परमात्मा को ही सिरजनहार कहते हैं और माया को उसकी दासी—उसकी शक्ति, उसकी इच्छा के अनुरूप चलने वाली । संत नानक कहते हैं—

आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ ॥
—(नानक वाणी, आसा की वार)

इस प्रकार ये संत उस परतत्व को सृष्टि का उपादान भी मानते हैं और निमित्त तथा करण भी । आगम कहते हैं—

"चितिः स्वतंत्रता विश्वसिद्धि हेतुः"—विश्व की सृष्टि में वह तत्व स्वतंत्र है—वह विश्व रूपी चित्र का स्वयम कर्ता है, स्वयम् आधार है और स्वयम् ही उपकरण भी । इस आशय की शतशः पंक्तियाँ संत साहित्य से एकत्र की जा सकती हैं । इनके आधार पर इनकी सृष्टि प्रक्रिया की संगति भी आगमोक्त सरणि से ही सिद्ध की जा सकती है । गुरु नानक ने आगमिक धारा के अनुरूप ही यह स्वीकार किया है—

आपे आप निरंजना जिनि आपु उपाइ आ ।
आपइ खेल रचाइओनु सभु जगत् सवाइ आ ।
त्रैगुण आपि सिरजिअनु माइआ मोहु वधाइ आ ॥
—नानक वाणी, सारंग की वार ।

उस निर्मल परमात्मा ने स्वयम्र अपने आपको उत्पन्न किया है । सारा विश्व उसी का खेल है । तीनों गुण तथा उससे संबद्ध माया की रचना उसने ही की है । मोह की वृद्धि के साधन भी उसी ने पैदा किए हैं ।

इन सब बातों से अंततः स्थापना यही करनी है कि शांकर मत की कतिपय पारिभाषिक पदावलियों का संतों की उक्तियों में आभास पाकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इनकी उक्तियों की संगति उसी चिन्ता धारा से लगेगी ।

कबीर पंथियों की विभिन्न शाखाओं में जीव की स्वरूपगत विशेषताओं में यत्र तत्र भेद मिलता है । कबीर तथा कबीर पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा में तो कुछ साम्य भी है, पर अन्य शाखाओं में जीवन की स्वरूपगत विशेषताओं के संबंध में जो कुछ कहा गया है—उसमें पर्याप्त वैषम्य है । कबीर ने आत्मा की स्वरूपगत विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वह सत्, चित् तथा आनंदमय तो है ही—सक्रिय भी है[1] । आगमिक दृष्टि से कबीर की यह धारणा नितान्त महत्व की है । कबीर मानते हैं कि ऐसा जीव माया के ही कारण भवचक्र में गिरा । डा० केदारनाथ द्विवेदी ने इस दिशा में काम करते हुए कुछ बातें कही हैं—यहाँ उन्हीं की छाया लेकर कबीर पंथियों की जीव तत्व संबंधी धारणा का उल्लेख करना

१. क० ग्रं०, पृष्ठ २०५ ।

परमात्मा को ही सिरजनहार कहते हैं और माया को उसकी दासी—उसकी शक्ति, उसकी इच्छा के अनुरूप चलने वाली । संत नानक कहते हैं—

आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ ॥
—(नानक वाणी, आसा की वार)

इस प्रकार ये संत उस परतत्व को सृष्टि का उपादान भी मानते हैं और निमित्त तथा करण भी । आगम कहते हैं—

"चितिः स्वतंत्रता विश्वसिद्धि हेतुः"—विश्व की सृष्टि में वह तत्व स्वतंत्र है—वह विश्व रूपी चित्र का स्वयम कर्ता है, स्वयम् आधार है और स्वयम् ही उपकरण भी । इस आशय की शतशः पंक्तियाँ संत साहित्य से एकत्र की जा सकती हैं । इनके आधार पर इनकी सृष्टि प्रक्रिया की संगति भी आगमोक्त सरणि से ही सिद्ध की जा सकती है । गुरु नानक ने आगमिक धारा के अनुरूप ही यह स्वीकार किया है—

आपे आप निरंजना जिनि आपु उपाइ आ ।
आपइ खेल रचाइओनु सभु जगत् सवाइ आ ।
त्रैगुण आपि सिरजिअनु माइआ मोहु वधाइ आ ॥
—नानक वाणी, सारंग की वार ।

उस निर्मल परमात्मा ने स्वयम्र अपने आपको उत्पन्न किया है । सारा विश्व उसी का खेल है । तीनों गुण तथा उससे संवद्ध माया की रचना उसने ही की है । मोह की वृद्धि के साधन भी उसी ने पैदा किए हैं ।

इन सब बातों से अंततः स्थापना यही करनी है कि शांकर मत की कतिपय पारिभाषिक पदावलियों का संतों की उक्तियों में आभास पाकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इनकी उक्तियों की संगति उसी चिन्ता धारा से लगेगी ।

कबीर पंथियों की विभिन्न शाखाओं में जीव की स्वरूपगत विशेषताओं में यत्र तत्र भेद मिलता है । कबीर तथा कबीर पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा में तो कुछ साम्य भी है, पर अन्य शाखाओं में जीवन की स्वरूपगत विशेषताओं के संबंध में जो कुछ कहा गया है—उसमें पर्याप्त वैषम्य है । कबीर ने आत्मा की स्वरूपगत विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वह सत्, चित् तथा आनंदमय तो है ही—सक्रिय भी है[1] । आगमिक दृष्टि से कबीर की यह धारणा नितान्त महत्व की है । कबीर मानते हैं कि ऐसा जीव माया के ही कारण भवचक्र में गिरा । डा० केदारनाथ द्विवेदी ने इस दिशा में काम करते हुए कुछ बातें कही हैं—यहाँ उन्हीं की छाया लेकर कबीर पंथियों की जीव तत्व संबंधी धारणा का उल्लेख करना

---

१. क० ग्रं०, पृष्ठ २०५ ।

चाहता हूँ : उन्होंने कहा है—"छत्तीसगढ़ी शाखा के अनुसार जीवात्मा स्वतः प्रकाश स्वरूप और ज्ञान स्वरूप है इस शाखा के अनुसार जीवात्मा पहले सत्य स्वरूप में था। धैर्य, दया, शील, विचार तथा सत्य पाँच पक्के तत्व तथा विवेक, वैराग्य एवम् गुरु भक्ति इन तीन गुणों की हंस देह जीवात्मा की थी। जब जीव ने अपने सौंदर्य पर विचार किया; तब वह आनंद विभोर हो गया और आनंद की उस स्थिति में उसने अपनी सुधि भुला दी। पक्के तत्व का शरीर कच्चे तत्व का हो गया। (धैर्य से आकाश, शील से अग्नि, विचार से जल दया से वायु और सत्य से पृथिवी हो गई। पाँच तत्व की पच्चीस प्रकृति हो गई)। कच्चे तत्व का शरीर प्राप्त करते ही जीव भ्रम में पड़ गया और सचेत होते ही उसने आँखें उठाकर ऊपर देखा, तो उसे अपनी ही छाया शून्य में दीख पड़ी। वही छाया स्त्री रूप होकर इसके निकट आयी। दोनों का संयोग हुआ। इसी से माया और ब्रह्म का संयोग हुआ[१]।" छत्तीसगढ़ी शाखा के इस उद्धरण की आगमिक दृष्टि से बड़ी सटीक व्याख्या संभव है। अविकल यही भावना सूफियों के उस तात्विक मतवाद से मिलती जुलती है—जिस पर कविराज[२] गोपीनाथ त्रिपुरा, गौड़ी, तथा प्रत्यभिज्ञा का प्रभाव और सादृश्य स्वीकार करते हैं। सूफी और आगमिक मानते हैं कि परतत्व एक, नित्य और सौंदर्य-मय है। चिरसुंदर का यह स्वभाव है कि वह विश्व दर्पण में भाव-विव्हल होकर अपना ही मुख निरन्तर देखता रहता है। इसी सौंदर्य का आत्म प्रकाश ही सृष्टि का कारण है। नटनानन्द नाथ ने भी 'कामकला रहस्य' में कहा है कि जिस प्रकार कोई राजा अपने सामने के दर्पण में आत्म प्रतिबिंब देखकर उसी को आत्मस्वरूप समझता है ठीक उसी प्रकार परतत्व भी स्वांग भूता शक्ति-दर्पण में अपने को देखकर 'मैं पूर्ण हूँ'—ऐसा स्वरूप बोध करता है। उस तत्व ने आत्म प्रकाश के लिए सृष्टि की—पर आत्म प्रकाश विरोधी की अपेक्षा में ही संभव है—अतः उसने पहले 'महाशून्य' का आविर्भाव किया। नासदीय सूक्त, प्रत्यभिज्ञा आदि आगमों में भी परतत्व का अवतरण क्रम में 'महाशून्यात्मा' होना कहा है। इसी अभावमय दर्पण में भावमय का प्रतिबिंब पड़ा। छत्तीसगढ़ी शाखा वालों का यह कथन—'अपनी ही छाया शून्य में दीख पड़ी'—कितनी एक रूप उक्ति है। शून्य-गत छाया का स्त्री या माया रूप होना—आत्मशक्ति का रूपान्तरण ही है। आगे की कथा शक्ति और शक्तिमान् के संयोग से आगम सम्मत पद्धति पर विश्व विस्तार की कहानी है। इस प्रकार आगमिक चिन्ताधारा और—साधन प्रक्रिया कैसे पौराणिक आवरणों में व्यक्त हुई है—यह स्पष्ट है।

काशीवाली शाखा जीव को ज्ञानमय मानती है जबकि बुरहानपुर वाली शाखा

---

१. कबीर मंसूर, पृष्ठ ११०८।

२. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १ पृ० ५४ से ५९।

को उसका धर्म मानती हुई भी दोनों में अभेद स्वीकार करती है । भक्ति के आवेश में आकर कभी-कभी इन पंथियों ने जीव की नित्य अनेकता और पार्थक्य भी माना है । पर इसे जैसा कि कहा गया है—भक्ति भाव के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए । इस संदर्भ में 'कबीर परिचय साखी' १०२ तथा 'तिमिर भास्कर' देखा जा सकता है । बुरहानपुर वाली शाखा जीव और ब्रह्म के बिंब प्रतिबिंब भाव वाले संबंध का खंडन करती है ।

इस प्रकार जीव तत्व पर विचार कर लेने के बाद उसके मूल 'माया' की बात आती है । यों तो 'माया' के संबंध में ऊपर बहुत कुछ कहा जा चुका है । संतों में प्रायः सभी ने माया को त्रिगुणात्मिका कहा है । नैगमिक परम्परा में भी इसे 'लोहित शुक्ल कृष्णाम्' कहा गया है । आगमों में 'माया' को 'तत्व' और 'शक्ति' रूप तो माना ही गया है—उसे ग्रंथ्यात्मक भी कहा गया है । आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने कहा है—

ततो माया त्रिपुटिका मुख्यतः –तंत्रालोक, भाग ६।६।१५२.

यह त्रिपुटिका और कुछ नहीं—तत्व, शक्ति तथा ग्रंथि ही है । क्षेमराज तथा तंत्रालोक के टीकाकार जयरथ ने इस ग्रंथ्यात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि माया की ये तीन ग्रंथियाँ तीन पाश ही हैं—आणव, मायीय तथा कार्म । यही माया प्रमाता में संकुचित जीव भाव पैदा करती है । कहना चाहें तो 'माया' को इस दृष्टि से त्रयात्मक कह सकते हैं । तत्व के रूप में अशेष विश्व व्यापिनी है, शक्ति के रूप में स्वातंत्र्य शक्ति का सार है और ग्रंथि में जो कुछ है वह कहा ही जा चुका[1] है । वस्तुतः आगमोक्त छत्तीस तत्वों में 'प्रकृति' एक तत्व है—जिसे त्रिगुणात्मक कहा गया है । संतों की पारिभाषिक पदावलियों में यत्र-तत्र सटीक दार्शनिक बारीकियाँ चाहे न मिलें—पर चिन्ताधारा वही है—इतना स्पष्ट है ।

संतों ने इस माया को मोटी और झीनी दो प्रकार का कहा है और मन से संबद्ध करते-करते यहाँ तक भी कह गए कि—"मन ते माया ऊपजे" । निश्चय ही यहाँ माया स्वप्नोपम विश्व के लिए है—जो भाववादी चिन्तकों के अनुसार भीतर का ही बाहरी प्रसार है । शांकर दर्शन भ्रान्त संस्कार और उसकी सृष्टि या बहिःप्रसार विश्व को कहेगा जबकि आगम बीज और–वृक्ष के दृष्टांत से स्पष्ट करेगा । संगति दोनों से लग सकती है ।

इसके पूर्व कि माया से विश्व-सृष्टि के क्रम के विषय में कुछ कहा जाय—माया और विश्व या प्रकृति और विश्व के बीच दार्शनिकों तथा आगमिकों में प्रसिद्ध संबंधों पर भी संक्षेप में विचार कर लिया जाय ।

---

१. स्वच्छंद तंत्र टीका, भाग ५ ब, पृष्ठ ४८१।

जो लोग अणुओं या परमाणुओं को नित्य मानते हैं वे आरंभवादी कहे जाते हैं। जिन्होंने प्रकृति अथवा माया को विश्व का मूल उपादान माना है—वे परिणामवादी हैं। साथ ही शांकर वेदान्ती विश्व को माया का परिणाम और ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। आगमिक परिमाणवाद में तो आस्था रखते हैं—पर तत्वतः अद्वयवादी आगमिक 'आभासवाद' का समर्थन करते हैं।

दार्शनिकों ने अनुभवी ऋषियों और संतों–साधकों की अभिव्यक्तियों को आधार बनाकर सृष्टि प्रक्रिया के संबंध में अनेक मतवादों की प्रतिष्ठा की है। सामान्यतः आरंभ में परिणाम अथवा विवर्त और प्रतिविम्व अथवा आभास में वह अंतर नहीं था जो उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित होता गया। सृष्टि के संबंध में आरंभवाद नितान्त स्थूल धरातल का मतवाद है। तांत्रिक इस विषय में इसीलिए मौन हैं।

एक ही वस्तु में एक रूप का तिरोभाव और दूसरे रूप का आविर्भाव परिणाम है—इसीलिए परिणाम को समसत्ताक माना जाता है। जो परिणत होती है और जिस रूप में परिणत होती है—दोनों ही समान सत्ता की मानी जाती है। विवर्त में यह स्थिति नहीं होती। वहाँ जो रूपान्तरित होती है उसकी सत्ता भिन्न कोटि की होती है और जिसके रूप में रूपान्तरित होती है उसकी सत्ता भिन्न कोटि की होती है। पहले का उदाहरण है–दूध और परिणत दही-दही दूध का रूपान्तरण है, समसत्ताक हैं दोनों, पर साँप रस्सी का रूपान्तरण होते हुए भी एक चेतन (सा) है और दूसरा जड़। आरंभिक प्रयोगों में परिणाम तथा विवर्त का यह अंतर नहीं मिलता, पर परवर्ती दार्शनिकों ने इन्हें स्पष्टतः भिन्नार्थक कर दिया है।

तांत्रिक प्रवर भास्कर राय मखी ने विश्व सृष्टि के संदर्भ में परिणामवाद ही माना है। उनका कहना है कि मृत्तिका तथा उसके परिणाम घट में जैसे कोई भेद नहीं है ठीक उसी प्रकार मूल सत्ता तथा उसकी परिणति में कोई भेद नहीं है। यदि एक सत्य है तो दूसरा भी सत्य है भेद मात्र मिथ्या है और भेद यहाँ है ही नहीं—जो है वह अभेद है। इस प्रकार मखी का परिणामवाद थोड़ा वैलक्षण्य लिए हुए है। उन्होंने तो श्रुति और व्यास का भी आशय परिणामवाद में ही बताया है। यहाँ तक कि सौंदर्य लहरी से एक उद्धरण देकर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि—"त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्व वपुषा[1]" इसमें आचार्य शंकर ने भी अंततः परिणामवाद ही स्वीकार किया है। द्वैतवादी आचार्यों में अणु भाष्य, वेदान्त पारिजात, श्रीकरभाष्य, श्रीकण्ठभाष्य-आदि ग्रंथों में अविकृत परिणामवाद पर ही बल दिया है। पर यह परिणामवाद अविकृत परिणामवाद है। इस प्रकार भास्कर राय के मत में तांत्रिक परिणामवादी ही हैं।

इस परिणाम और विवर्त के अतिरिक्त सृष्टिप्रक्रिया के संबंध में तीसरा वाद

१. वरिवस्या रहस्य, पृ० ५–६।

है प्रतिबिंब वाद। कश्मीर दर्शन में सृष्टि के पदार्थों को 'आभास' माना जाता है।

"आभास रूप एवं जड़ चेतन पदार्थाः[1]"

विश्व के सभी चाहे जड़ हों या चेतन—आभास ही हैं। राजानक जयरथ ने तंत्रालोक की टीका में कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिंबित पदार्थ दर्पण से अतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त सा भासित होता है ठीक उसी प्रकार चित् दर्पण में प्रतिबिंबित विश्व वृत्ति उससे अनतिरिक्त होती हुई भी अतिरिक्त सा भासित होती है। इस प्रकार प्रतिबिंब और कुछ नहीं 'भासनसारता' ही है। आगम का यही आभासवाद है[2]।

अभिनव गुप्त ने और तात्त्विक भूमिका पर विचार करते हुए यह कहा कि मूल तत्व प्रकाशात्मा है और प्रकाश का स्फुरण विश्व है। इस तथ्य को न परिणामवाद ठीक ठीक रख पाता है और न विवर्तवाद, यहाँ तक कि आभासवाद भी उक्ततथ्य को ठीक-ठीक नहीं रख पाता। परिणाम माना जाय तो रूपान्तर का आविर्भाव और पूर्व रूप का तिरोभाव मानना होगा। जब प्रकाशातिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो प्रकाशात्मा पूर्व रूप का तिरोधान आन्ध्य की स्थिति ला सकता है। ठीक यही अड़चन विवर्त वाद में भी है—वस्तु का एक ओर प्रकाशित होना—अर्थात् प्रकाशात्मा होना और दूसरी ओर असत्य कहा जाना नितान्त असंगत है। रही बात भासनमात्रसारता प्रतिबिंबन की—वह इसलिए असंगत है कि वहाँ और कुछ नहीं—प्रतिबिंब के लिए 'स्वच्छता' का संवेदन आवश्यक है। सवाल यह है कि प्रतिबिंब 'स्वच्छता' वश है या 'स्वातंत्र्य' वश। यदि स्वच्छता वश माना जाय—तो प्रश्न होगा वह स्वच्छता आई कहाँ से? अविद्या से? नहीं, अतः यह पारमेश्वरी शक्ति रूप 'स्वातंत्र्य' है जिससे प्रकाश विमर्शमयी संवित् शक्ति नाना जीव और नानात्मक जगत् के रूप में प्रकाशित करती रहती है। अतः तत्वतः आगमसम्मत यह 'स्वातंत्र्यवाद' ही परिनिष्ठितवाद है। सारांश यह कि कहने सुनने के लिए बौद्धिक धरातल पर संतों में जो भिन्न-भिन्न वादों के अनुरूप विश्वसृष्टि की बात पाई जाती है—वह सब कथंचित् संगत हो सकती है—पर तत्वतः स्वातंत्र्यवाद ही प्रतिष्ठित वाद है—कारण, संत जन भी परमेश की मौज को ही सब कुछ मानते हैं।

स्तर भेद से भिन्न-भिन्न वादों को आत्मसात् करने वाले इस आगम सम्मत 'स्वातंत्र्यवाद के आलोक में संतों की उन सारी उक्तियों का समाधान हो जाता है जिन्हें देखकर डा० बड़थ्वाल आदि विवेचकों को दर्शन की कई कोटियाँ-अद्वैतवाद, भेदाभेदवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद—माननी पड़ी हैं।

---

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, ३।२।१।

२. पृ० २६।३० तंत्रालोक।

सर्वप्रथम इस बात का निर्णय होना चाहिए कि सृष्टि सक्रम है या अक्रम ? अनेक दार्शनिकों ने सृष्टि का क्रम अपने अपने ढंग से निरूपित किया है । संतों में उपनिषदों की भांति भिन्न-भिन्न रूपों में सृष्टिप्रक्रिया का उल्लेख मिलता है । इन संतों में दादू ही एक ऐसे संत दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने यह स्पष्ट ही घोषित किया है कि रचना में—सृष्टि रचना में कोई क्रम नहीं है । उनका कहना है—

एक सबद सब कुछ किया ऐसा समरथ सोइ ।
आगे पीछे तौ करे जे बल हीणा होइ[1] ॥

अर्थात् वह परमात्मा समर्थ है—स्वतंत्र है, अन्यनिरपेक्ष है—फलतः एक शब्द (स्पंदनात्मा शक्ति या ज्ञानक्रिया मयी इच्छा) से ही सब कुछ कर दिया । उसकी इस सृष्टि में क्रम है ही नहीं—अक्रम से सहसा सारी सृष्टि उद्भ्रान्त हो पड़ी । दादू के इस कथन में न तो विवर्तवाद है, न परिणामवाद और न आरंभवाद—प्रत्युत शासन सार प्रतिबिंब या आभासवाद है अथवा उससे भी आगे बढ़ कर 'स्वातंत्र्यवाद' । आगम मानते ही हैं कि वह तत्व स्वयम् शक्ति रूप में अपने ही से अपना दर्पण बनता है और उस दर्पण में विश्व नगरी[2] के रूप में प्रतिफलित हो जाता है। दर्पण में प्रतिफलित दृश्य में देश ही नहीं, फिर देश सापेक्ष क्रम कहाँ होगा ?

फिर भी क्रम दिखाई पड़ता है—ऊँचा-नीचा आगा-पीछा दृष्टिगोचर तो होता ही है । अतः संतों ने जहाँ कहीं सक्रम भी कुछ कहने का प्रयत्न किया है— उसे भी देखना चाहिए ।

यह तो कहा ही जा चुका है कि आगम छत्तीस तत्व की बात करते हैं जिनमें अशुद्धाध्वा के अंतर्गत माया के साथ प्रकृति और पुरुष का भी उल्लेख मिलता है । जो लोग कबीर आदि द्वारा कही गई सृष्टि प्रक्रिया को शांकर वेदांत की दृष्टि से व्याख्यात करना चाहते हैं, उन्हें यह कहना पड़ता है कि कबीर एवम् सुंदरदास आदि संतों ने सांख्य-सम्मत सृष्टि प्रक्रिया को वेदांत की दृष्टि से देखा[3] है । संतों की बानियों में 'तीन' 'पाँच' एवम् 'पच्चीस' का उल्लेख बराबर मिलता है । ये तीन गुण, पाँच महाभूत तथा पच्चीस तत्व ही तो हैं । जगत् इनसे बना है । क्रम के विषय में सुंदरदास ने कहा है—

ब्रह्म ते पुरुष अस प्रकृति प्रकट भई
प्रकृति ते यह तत्व अहंकार है ।
ऐसे अनुक्रम से सिष्यन सों कहत
सुँदर यह सकल मिथ्या भ्रमजार है ।

---

१. बानी १ म, पृ० १६८, १० ।
२. दर्पणनगरवत् स्वभित्तावेव ... दर्शयन्ती स्पंद इत्यभिहिता—स्पंद निर्णय, पृष्ठ ३ ।
३. सुंदर विलास ।

सुंदरदास ने यहाँ स्पष्ट ही 'अनुक्रम' की बात कही है और ब्रह्म से सांख्य-सम्मत सृष्टि प्रक्रिया का निरूपण किया है। ब्रह्म से पुरुष और प्रकृति का होना, प्रकृति से क्रमशः महत् तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, एकादशेन्द्रिक एवम् पंच महाभूतों की उत्पत्ति की ओर संकेत है। अंततः इस समस्त प्रपंच को मिथ्या तथा भ्रमजाल कहा गया है। मिथ्या और भ्रमजाल की बात कहते ही 'माया' का संदर्भ आ जाता है। सुंदरदास मानते हैं कि—

मृत्रिका समाई रही भाजन के रूप माँहि
मृत्तिका को नाम मिटि भाजन ही गह्यो है।
सूँदर कहत यह यों ही करि जानौ
ब्रह्म ही जगत् होय ब्रह्म दुरि रह्यौ है।"

अर्थात् समस्त मृत्पात्रों में मृत्रिका अनुस्यूत[1] है—परंतु रूपान्तरण के कारण मृत्रिका नाम नहीं रह गया—भाजन नाम हो गया। सुंदरदास की धारणा है कि ब्रह्म ही (अपनी मायात्मिका शक्ति के द्वारा) जगत् है—वही विश्वात्मक है फिर भी विश्वोत्तीर्ण है। सुंदरदास ने यह स्पष्ट नहीं कहा कि ब्रह्म जगत् रूप में स्वातंत्र्य वश परिणत है, आभासित है, प्रतिविंवित है या क्या हैं? वस्तुतः संत तो आत्मानुभव की व्यंजना करते हैं उन्हें अपनी उक्तियों को परिनिष्ठित दार्शनिक वृत्त में नहीं बाँधना है।

संतों की मूल उक्तियों को देखने से सृष्टि के भिन्न-भिन्न क्रम मिलते हैं। कहीं तो दादू दयाल कहते हैं कि आप से ऊँकार हुआ और उससे पंच तत्व हुए[2]। कहीं सुंदरदास ने ब्रह्म से प्रकृति पुरुष आदि की उत्पत्ति बताई[3]। कहीं कबीर ने भी ऊँकार से जग की उत्पत्ति का संकेत देते हुए सत्वरजस्तमोमयी माया का उल्लेख किया[4] तथा स्वर्ण और आभूषण का दृष्टांत दिया[5]। कहीं गुलाल साहब ने इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति का निर्देश करते हुए पंच तत्वों की उत्पत्ति का युक्तिसंगत

---

१. सुंदर विलास, अंग ३४।४।
पहली कीया आप थैं उतपंत्ती ऊँकार।
२. ऊँकार थैं ऊपजै पंचतत्र आकार॥
पंचतत्र थैं घट भया, बहुविध सब विस्तार
दाद घट तैं ऊपजे, मैं तैं वरण विचार—सं० वा० सं० १ पृ० ७७—७८।
३. देखिये, पूर्ववर्ती पृष्ठ संख्या।
४. सतरजतम थैं कीन्हीं माया...कबीर ग्रंथावली, पृ० २२६।
५. गहना एक कनक तें गहना...वही।

क्रम बताया[1]। उन्होंने कहा कि परमात्मा ने सृष्टि की इच्छा की, परन्तु सूखी मिट्टी से क्या होता है, उसके लिए जल चाहिए। जल से मिट्टी गीली हो जायगी, अतः आग चाहिए। आग को प्रज्वलित होने के लिए वायु चाहिए। वायु को फैलने के लिए आकाश चाहिए। आकाश में सभी तत्व[2] हैं। पर सभी संतों ने इस जगत् का कहने-सुनने भर में अस्तित्ववान् माना है—वस्तुतः नहीं[3]। सुंदर, कबीर, दादू सभी जगत् को माया[4] का विस्तार मानते हैं—भ्रमजाल, मिथ्या और स्वप्नोपन्न समझते हैं। साथ ही उसे ब्रह्म की इच्छा से उत्पन्न और ब्रह्म ही मानते हैं—कहते हैं कि जगत् उससे भिन्न नहीं है[5]।

दूसरी ओर शिवदयाल जी ने कहा कि सबसे पहले आकाश हुआ। तदन्तर क्रमशः पवन, अग्नि, जल और पृथिवी। तैत्तिरीय उपनिषद् में ठीक यही क्रम निर्दिष्ट है। उन्होंने प्रलय का भी ठीक इसी उलटे क्रम से निरूपण किया[6] है। इस बात में ये लोग भी जगत् को मिथ्या मानने वाले संतों (उपर्युक्त) की तरह हैं कि विभु की लीलामयी इच्छा ही सृष्टि का कारण है और माया का सूक्ष्मतम रूप[7] है। इन सब बातों का कथन पहले भी हो चुका है। नानक भी मानते हैं कि उस मूल तत्व ने स्वयं से स्वयम् को द्वैत रूप दिया—अपनी ही कुदरत या शक्ति से इस जगत् का निर्माण कर आत्मप्रसार में आनंदमग्न हो गया[8]। माया के इस प्रसार को ये लोग नश्वर मानते हैं फिर भी कहते हैं—कि सब तत्वतः सत्य है।

"साँचे तेरे खंड, साँचे ब्रह्मंड, साँचे लोऊ साँचे आकार"।

ये अभिन्न निमित्तोपादान वादी हैं।

डा० बड़थ्वाल के मत से शिवदयाल आदि संत सृष्टि प्रक्रिया के विषय में एक भिन्न बात ही कहते हैं। उनकी दृष्टि से राधास्वामी वाले जगत् का उपादान माया परमात्मा तथा रूह की भांति नित्य हैं—उसका रूप बदल सकता है—पर वह नष्ट नहीं हो सकती। इनकी दृष्टि में माया के दो रूप हैं—एक शुद्ध और

---

१. करता सृष्टि करन जब लागी।
तब मारी बिन् काम न जागी।
माही झूरि िडि नहिं बनई...म० वा० पृ० १६२।

२. म० वा० पृ० १६०।

३. क० ग्रं० पृ० २२५ कहन सुनन को जिहि जग कीन्हा।

४. वही पृ० २२७।

५. सूंदर विलास, अंग ३४।४ 'ब्रह्म ही जगत् होय...'।

६. सारवचन, २ पृ० ३४।

७. प्रेमबानी, पृ० ५४।२।

८. ग्रंथ साहब, पृ० १२१।

दूसरा अशुद्ध । शुद्ध रूप में वह सत्य पुरुष से समरस उसकी अभिन्न शक्ति है और अशुद्ध रूप में निरंजन के साथ है । इसी अशुद्ध माया से सृष्टि होती है—भेदमय जगत् उत्पन्न होता है । डा० बड़थ्वाल ने बाबालाल को भी इसी मत का माना है । कहा है कि वे भी इस तथ्य से सहमत हैं कि यद्यपि बीज और वृक्ष अथवा जल और तरंग की तरह प्रकृति और सृष्ट पदार्थों का संबंध मानते हैं । वे मानते हैं कि जल (मूल तत्व) तरंग रूप में परिणत हो—एतदर्थ वायु की आवश्यकता है । इस दृष्टान्त से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि कर्ता, उपादान (जल) माया तथा प्रपंच (तरंग) भिन्न और नित्य हैं ।

इस प्रकार भेदमयी सृष्टि को कोई अक्रम मानता है और कोई सक्रम । सक्रम में भी कोई ब्रह्म को निमित्त तथा माया को उपादान, कोई ब्रह्म को ही निमित्त तथा उपादान तथा अन्य ब्रह्म और माया दोनों को सत्य मानते हैं । संसार-प्रक्रिया की इस त्रिविध स्थिति की दार्शनिक संगति डा० बड़थ्वाल ने कभी शांकर मत से, कभी भेदाभेदवादी मत से और कभी विशिष्टाद्वैतवादी मत से लगाई है । मेरा कहना यह है—प्रस्ताव यह है कि जिस प्रकार औपनिषद उक्तियों में सृष्टि प्रक्रिया का नाना क्रम होते हुए भी आचार्यों ने उसमें एक ही दार्शनिक संगति लगाई है—उसी प्रकार संतों की अनुभवाधृत अभिव्यक्तियों में संपिण्डित रूप से एक ही दार्शनिक संगति ढूंढ़नी चाहिए । मैं आगम सम्मत स्वातंत्र्यवाद की अखंड दृष्टि से प्रक्रिया की संगति बिठाना उचित समझता हूँ ।

डा० बड़थ्वाल जिन संतों में 'जगत् को भ्रमजाल मानने के कारण' शांकर विवर्त-वाद देखते हैं—वहाँ वे यह क्यों नहीं समझते कि विवर्तवादी दृष्टि में ब्रह्म या परतत्व 'कर्ता' नहीं है—इच्छा वाला नहीं है, सृष्टि उसकी लीला नहीं है—विपरीत इसके अनादि कर्म परम्परा के कारण अनादि माया द्वारा जीव शरीरी बनता है—भोग्य संसार की परिणति होती है । कबीर, दादू तथा सुंदरदास सृष्टि का सिरजनहार कहते हैं—उस तत्व को और उससे जगत् को जल और तरंग की भांति अभिन्न भी कहते हैं । स्वातंत्र्यवाद मानने से कार्य अड़चन नहीं है । वहाँ तो परतत्व पंच सक्र्याकारी भी है और 'माया' उसकी एक शक्ति भी है—जो बंध या आत्म-गोपनात्मिका मानी गई है । इसी प्रकार स्वातंत्र्यवाद के अनुरूप परतत्व का अभिन्न निमित्तोपादान वाद भी संगत ठहर जाता है । रही ब्रह्म तथा माया—दोनों को सत्य माने जाने के कारण राधास्वामियों की विशिष्टाद्वैती व्याख्या—उसकी भी आवश्यकता नहीं । स्वातंत्र्यवाद में कुछ भी तत्वतः असत् नहीं है—यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है । वहाँ शुद्ध माया महामाया है, बिंदु है, पराकुण्डलिनी और स्पंदात्मा है—माया उसी का अंधकारमय पक्ष है । पर असत् वह भी नहीं है ।

इस प्रकार यह आगम सम्मत स्वातंत्र्य वाद ही है जहाँ सृष्टि का अक्रम होना भी संगत हो जाता है और सक्रम होना भी । भिन्न निमित्तोपादान वाद भी और

अभिन्न निमित्तोपादानवाद भी—जगत् का सच होना भी और झूठ होना भी। कारण, इस मत में वह तत्व 'पूर्ण' है—जहाँ सब कुछ 'है'—भाव, अभाव, झूठ, सच, एक, अनेक—सभी द्वैत मात्र—फिर भी अंततः शक्तिमय हैं और शक्ति भी अंत में शक्तिमान् में विश्रान्त होकर समरस और अद्वय हो जाती है।

भेद स्तर पर सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख और भी संतों एवं पंथानुयायियों ने जो निर्गुणधारा में आते हैं—किया है। इस संदर्भ में डा० केदारनाथ द्विवेदी का उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अपने शोध प्रवंध में कहा है कि और कविराज गोपीनाथ तथा डा० शशिभूषण दास गुप्त ने भी माना है कि धर्मसम्प्रदाय की सृष्टि प्रक्रिया का प्रभाव कबीर पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा पर पड़ा है। इस प्रभाव के देखने से पूर्व धर्म सम्प्रदाय के ग्रंथों में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन क्या और कैसा है—संक्षेप में जान लेना आवश्यक है।

(क) वैष्णव भक्त महादेव दास जी ने 'धर्मगीता' में कहा है कि सृष्टि से पूर्व शून्य में अकेले स्थित महाप्रभु ने जब एक वार जमुहाई ली तब पवन प्रगट हुआ। तंत्र ग्रंथों (तंत्रालोक) में भी 'संवित्' की प्रथम-प्रथम 'प्राण' में परिणति बताई गई है और दोनों के मध्य 'शून्य' की अवस्था भी कल्पित की गई है। महाप्रभु ने क्रमशः पवन, युग, निरंजन और निर्गुण नाम के चार पुत्रों से सृष्टि करने को कहा, पर माया-मोह के भय से किसी ने भी सृष्टि न की। तब निर्गुण ने अपने पुत्र 'गुण' को और फिर 'गुण' ने अपने पुत्र 'धर्म' को सृष्टि का आदेश दिया। 'धर्म' को इस कार्य में घबराहट हुई—फलतः उसे पसीना आ गया। पसीने से माया उत्पन्न हुई जिसे देख धर्म कामातुर हो उठा। कामातुर धर्म के वीर्यपात से जो त्रिधा विभक्त हो गया—क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उत्पत्ति हुई। धर्म अंतर्हित हो गया। माया अपने पुत्रों के साथ रहने लगी।

इसी से मिलती जुलती वात 'कवीर मंसूर' में कही गई है। वहाँ कहा गया है कि सत्य पुरुष समस्त जगत् का उत्पादक और कर्ता है। सत्य पुरुष ने सृष्टि के लिए छह पुत्र उत्पन्न किए—इच्छा, सुहंग, अंकुर, अचिन्त, तथा अक्षर। उस समय सारा जगत् जलमग्न था। इसी में सत्यपुरुष ने अपनी सातवीं सन्तान एक अंडे को छोड़ दिया। यह अंडा अक्षर के पुरुष के पास जा फूटा और उसमें से एक दुर्दम्य पुरुष पैदा हुआ—जो 'निरंजन' नाम से जाना गया। निरंजन को सत्य पुरुष की आज्ञा थी सृष्टि करने की—पर मसाला था सृष्टि का कूर्म के पास। सो कूर्म से लड़कर उनके तीनों सिर चवाकर निरंजन ने मसाला प्राप्त कर लिया। सृष्टि के लिए निरंजन ने माया को उत्पन्न किया और उसके साहचर्य से सत्व प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण प्रधान विष्णु तथा तमोगुण प्रधान शिव की सृष्टि की। इसके बाद वह अंतर्हित हो गया और कहता गया कि तीनों पुत्रों को वह निरंजन का पता न बताये। कहा जाता है कि कबीर ने बीजक की पहली रमैनी में इस तथ्य की ओर संकेत किया है।

"तब बरम्हा पूछा महनारी । को तोर पुरुष कवनतें नारी ।

माया ने उत्तर दिया—

हम तुम तुम हम और न कोई । तुम हीं पुरुष हमहिं तुम जोई ।।

'शून्य पुराण' भी धर्मसम्प्रदाय का ही एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो रमाई पंडित का लिखा हुआ माना जाता है । उसमें भी कहा गया है कि सृष्टि पूर्व 'शून्य' में विराजमान रहने वाले अकेले महाप्रभु ने जब सृष्टि करनी चाही तब उसकी इच्छा मात्र से पानी का एक बुलबुला फूट गया और उससे निरंजन की उत्पत्ति हुई। इस निरंजन के माथे से, जो तपस्या रत था, पुनः पसीना आया। पसीने से आद्या शक्ति पैदा हुई । आद्या युवती होने पर कामार्त हुई। काम को उसने निरंजन के पास भेजा। निरंजन ने उसे एक मृत्पात्र में रख दिया। काम परिवर्तित होकर विप हो गया। आद्या ने कोई चारा न देखकर उस विप का पान कर लिया। विष पान से ब्रह्मा, विष्णु, महेश पैदा हुए । इन्होंने क्रमशः सृष्टि पालन और संहार द्वारा सृष्टि का आरंभ किया ।

मंगल साहित्य में भी सृष्टि का क्रम मिलता है—जिसमें और मंगल ग्रंथों में तो शून्य पुराण की सी ही कहानी है, पर एक बात विशेष उल्लेख्य है और वह 'धर्ममंगल' के अनुसार यह है कि धर्म स्वयम् कुमारी बनकर कुमारी के संपर्क में आते हैं जिससे ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति होती है। 'अनादिमंगल' के अनुसार धर्म के नाम पक्ष से समुत्पन्न महामाया स्वयम् उसकी धर्मपत्नी बनी और उससे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की उत्पत्ति हुई। डा० द्विवेदी, केदारनाथ तथा डा०शशिभूषण दास गुप्त ने इन कथाओं के मूल स्रोत की ओर भी अपने-अपने ग्रंथों[1] में प्रकाश डाला है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि वैदिक, पौराणिक एवं आगमिक तथा महायानी साहित्य में उपलब्ध सृष्टि प्रक्रिया का तुलना किया जाय (और किया भी गया है) तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन कथाओं में जो पौराणिक रूप दिया गया है वह आगम-निगम सम्मत दार्शनिक तथ्यों का ही पल्लवन है । समूची कथा में शून्य, परतत्व, जल तत्व, अंड, उसका विस्फोट फिर पुरुष-स्त्री के रूप में किसी न किसी का आना अर्थात् एक से द्वैत और द्वैत से त्रैत-ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की सृष्टि सर्वत्र किसी न किसी रूप में उपलब्ध है ।

आगम-निगम की सृष्टि प्रक्रिया महायानी रास्ते धर्म सम्प्रदाय तक गई और वहाँ से उसने कबीर पंथी छत्तीसगढ़ी शाखा की सृष्टि प्रक्रिया को प्रभावित किया। ये ही बातें कतिपय अन्य संतों के साहित्य में भी उपलब्ध होती हैं। दरिया पंथ में भी लगभग सृष्टि की यही प्रक्रिया है। उन्होंने अपने विभिन्न ग्रंथों में सृष्टि क्रम

---

१. कबीर और उनका पंथ, पृ० ३१६-३१७ ।

का निरूपण किया है। दरिया सागर, ज्ञानदीपक तथा ज्ञानरत्न में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं। इनके अनुसार भी आरंभ में परतत्व आनन्दमग्न हो अमरलोक अथवा छय लोक में विराजमान था। इसी स्थिति में सत्पुरुष के चित्त में चैतन्य का स्पन्दन हुआ और उन्होंने सृष्टि करनी चाही। इसी क्रम में उनसे जो पुरुष और नारी उत्पन्न हुए वे निरंजन या मन अथवा माया के नाम से प्रख्यात हुए। समस्त सुख दुःखमय विश्व इसी मन और माया के माध्यम से हुआ। जिन्हें हम त्रिदेव कहते हैं वे भी इन्हीं से हैं। माता की आज्ञा से समुद्र मंथन और मंथन से उत्पन्न वेद, तेज और हालाहल को क्रमशः बाँट कर आने वाले ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र को माता ने सावित्री, लक्ष्मी और देवी नाम की स्त्रियाँ प्रदान कीं। फिर इन्हीं जोड़ियों से सृष्टि प्रक्रिया का विस्तार हुआ। दरिया साहब ने कहा है—

> आदि ही एक औ अंत फिरि एक है मूल ते फूटि तिनि डाउ कीन्हा
> पाँच और तत्र पच्चीस प्रक्रीति है तीनि गुन बाँधि कल बूद दीन्हा[1]।

इस रूपक में एक वृक्ष से तीन शाखाओं का फूटना कहा गया है। इस समस्त वर्णन में यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि कर्ता या 'शक्तिमान्' के साथ 'शक्ति' की सर्वत्र कल्पना है। एक विन्दु से तीन विंदुओं का उद्भव भी कहा जा रहा है—ये सारी बातें आगमिक चिन्तन के अनुरूप पड़ती हैं।

अघोरपंथी कीनाराम ने भी अपनी कृतियों में सृष्टिप्रक्रिया की बात कही है। उनका भी विचार है कि आरंभ में जो परतत्व था, वह नाम-रूप हीन और केवल था। उसने स्वेच्छा से विस्फोट किया जिससे त्रिदेव और एक नारी उत्पन्न हुईं। परतः पंच तत्व और त्रिगुण की रचना हुई। नारी रूपी आदि शक्ति ने इच्छा, क्रिया तथा शक्ति का रूप धारण कर त्रिदेवों की संगति की सृष्टि, स्थिति और संहार की व्यवस्था की। अन्यत्र कीनाराम ने भी निरंजन से त्रिदेवों का संबंध बताया है। कीनाराम के इन विचारों में शक्तिमान के साथ शक्ति की कल्पना तो है ही, आद्या शक्ति का इच्छा, क्रिया तथा शक्ति (ज्ञान) रूप में परिणत होना स्पष्ट आगमिक प्रभाव है। सरभंग सम्प्रदाय में भी जो सृष्टि प्रक्रिया दी गई है—वहाँ भी छत्तीसगढ़ी की सृष्टि प्रक्रिया मे साम्य है, यद्यपि एकरूपता नहीं है।

इस प्रकार संत-साहित्य में भेद के स्तर पर जो सृष्टि प्रक्रिया निरूपित हुई है—उसमें निरंजन का सर्वाधिक उल्लेख मिलता है। सृष्टि में उसके साथ किसी न किसी प्रकार शक्ति का योग अवश्य है। भेदमयी सृष्टि में इन्हीं के संबंध से त्रिदेवों की स्थिति आती है और उनसे सारी सृष्टि निर्मित स्थित तथा संहृत होती है। इस सारी प्रक्रिया में शक्ति का आना ताँत्रिक प्रभाव का प्रमाण है।

---

१. शब्द ३ अ० ५६।

सृष्टि में भेदमय धरातल पर भोक्ता जीव और भोग्य जगत् का ही परिगणन नहीं होता, बल्कि इन दोनों के अतिरिक्त भोगायतन का भी विचार होता है। भोगायतन देह है। यह देह स्थूलतः भोग और कर्म के लिए है। भोग भी एक कर्म ही है—पर 'कर्म' भोग से और भी व्यापक है। विश्वास है कि केवल भोग के लिए भोग लोकों-स्वर्ग, (यदि पुण्य कर्म हैं—पुण्य भोग है), नरक (यदि पाप भोग है)—में जाना पड़ता है। यदि मिश्र कर्म है तो मिश्र देह है। कर्म से शरीर ग्रहण करना पड़ता है और शरीर से ही कर्म किया जाता है। प्रारब्ध कर्म के तीन परिणाम हैं—जाति, आयु और भोग। देह के साथ संबंध जाति है—जन्म है। योग के लिए ही देह का संबंध है—भोग समाप्त होते ही देहावसान हो जाता है। देह का संबंध त्याग ही मृत्यु है। दोनों के बीच का काल आयु है। मानव देह एक साथ भोग देह भी है और कर्म देह भी। इसी देह में संतों ने कुछ ऐसी क्षमता मानी है कि उससे भोग भी होता है और पौरुष भी। इस शरीर से प्रारब्ध का भोग भी होता है और पौरुष से आत्म-निर्माण भी। इस क्षेत्र में पौरुष भी है और प्रारब्ध भी। इसीलिए संतों ने इस मानुष देह की इतनी महिमा गाई है।

मानुष जनम उत्तम जो पावा, जानुं राम तो सयान कहावा

—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३३।

मानवदेह ऐसा यंत्र है—केंद्रीय यंत्र है जहाँ से सब ओर जाया जा सकता है। इसी में 'पूर्णता' के विकसित होने की संभावना है। संतों ने देह पिंड को ब्रह्माण्ड का लघु रूप माना है। ब्रह्माण्ड ही नहीं, संतों ने तो पाताल जैसे अधोवर्ती रूप से लेकर महाव्योम तक अवस्थान यहीं स्वीकार किया है। मन और प्राण की कृषि से इस देह-क्षेत्र में सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। देह मानवेतर प्राणियों के भी हैं—पर वहाँ 'अहंभाव' नहीं होता—न आभास रूपात्मक और न पारमार्थिक। यह मानव देह ही है जहाँ अहंभाव के अवयव रूप किरण पुंज क्रम विकास के अनुसार परिस्फुट होते हैं—अन्य देहों में नहीं। ये सब किरणें या वर्णमयी रश्मियाँ देहस्थित कमल के प्रत्येक दल में अपने स्वरूप को प्रकाशित करती हैं। इन बिखरी हुई शक्ति रश्मियों को अलग-अलग प्रकाशित करना और फिर एकत्र करने से ज्ञान ज्योति का विकास होता है। कविराज गोपीनाथ जी ने इसे ही षट्चक्र भेद कहा[1] है। इस देह द्वारा वे कर्म सम्पन्न होते हैं जिनसे आभास 'अहम्' 'पूर्णाहंता' में परिणत हो जाता है।

न्याय एवम् वैशेषिक दर्शन में केवल एक प्रकार के देह का उल्लेख मिलता है—जिसे 'स्थूल' देह कहते हैं। सांख्य, पातंजल और वेदान्त 'सूक्ष्म' या 'लिंग' देह का भी उल्लेख करते हैं। अद्वैत वेदांत में 'मायात्मक' कारण देह की भी चर्चा है। वैष्णवागमों में इनसे परे 'विशुद्ध सत्व' की कल्पना है—जिसका बना लोक, भोग्य और भोगा-

---

१. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १८७।

यतन भी होता है। इस विशुद्ध सत्व से निर्मित शरीर को 'वैंदव' शरीर कहते हैं। वैष्णवों का लीला लोक विशुद्ध सत्वमय होने से ही आनंदात्मक माना जाता है। इनसे परे एक और भी 'शरीर' है जो 'शाक्त देह' कहा जाता है। यह देह चिन्मय होता है। शाक्ताण्ड में विचरने वालों की देह इसी प्रकार की है।
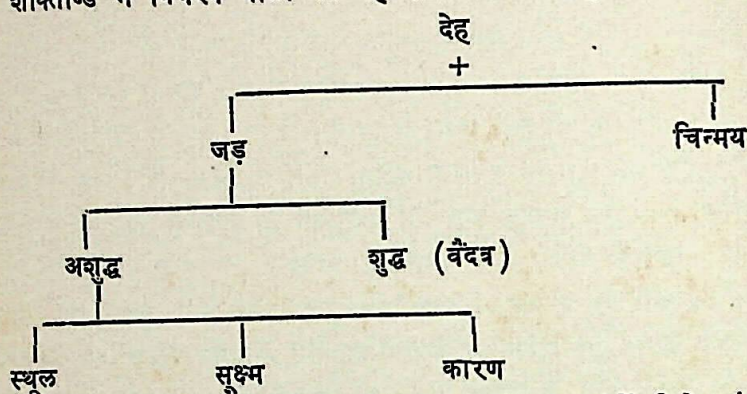
आगम सम्मत इस देह पर्यालोचन के प्रकाश में जब संतों की देह संबंधी परिकल्पना की बात आती है—तब वहाँ भी ऐसे देहों की चर्चा मिलती है। जिनकी संगति षट् वैदिक दर्शनों से नहीं, पूर्वोक्त आगम सम्मत विचारणा से ही लगती है। कबीर मंसूर में मानव शरीर के छह रूपों का उल्लेख मिलता है। कहा गया है—

"सन्तो षट् प्रकार की देही।
स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य, हंस की लेही[1]।"

इनकी धारणा है कि (१) स्थूल देह पच्चीस तत्व की होती है। यह दृश्य एवं नाम रूपात्मक है। इसके संघटक अवयवों में पंच महाभूत, पंचतन्मात्राएं, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार तथा प्राणादि की गणना की जाती है। (२) सूक्ष्म देह के संघटक अवयव हैं—सत्रह-बुद्धि, अहंकार, दस इंद्रियाँ, तथा पाँच प्राण। सांख्य और वेदान्त दर्शन में भी इस लिंग शरीर का उल्लेख है। संघटक अवयवों के विषय में थोड़ा मतभेद है। कबीर भी मानते हैं कि स्थूल शरीर नाश हो जाने पर सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ शरीरान्तर का आश्रय लेता है—

प्राण प्यंड का तजि चलैं, मूवा कहैं सब कोइ।
जीव छतां जामैं मरै, सूषिम लखै न कोय[2]॥

(३) कारण शरीर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है—तभी तो वह उसमें अनुस्यूत और व्याप्त है। वेदाँत दर्शन में माया को ही कारण शरीर कहा जाता है—पर संत दर्शन में अथवा मंसूर में तीन संघटक अवयव कहे गए हैं–चित्त, अहंकार तथा मनरूपी जीवात्मा।

---

१. परमानंद दास कृत 'कबीर मंसूर', पृष्ठ १११६।
२. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ, ३२।

(४) महाकारण शरीर—यहाँ पर महाकारण शरीर के भी संघटक अवयव दो कहे गए हैं—अहंकार और जीवात्मा (५) कैवल्य देह—यहाँ पर परमात्मा और जीवात्मा का द्वैत भाव लिए हुए जीवात्मा स्थित रहता है। (६) हंस देह—इस शरीर में द्वैत भाव भी विनष्ट हो जाता है। यहाँ वह नित्य शुद्ध एवं चिदानंदमय रूप में रहता है।

कबीर मंसूर में तो यह भी कहा गया है कि जीव पहले अपने 'सत्य' स्वरूप में था। वहाँ उसकी देह पांच पक्के तत्वों तथा तीन गुणों की बनी हुई थी। पाँच पक्के तत्व हैं—धैर्य, दया, शील, विचार और सत्य। तीन गुण हैं— विवेक-वैराग्य, गुरु भक्ति तथा साधुस्व भाव। यही देह 'हंस' देह है। यह प्रकाश स्वभाव, अलौकिक तथा अद्वितीय है।

यहाँ तत्व, गुण एवं प्रकृति का जो विवरण मिलता है—उससे भी आगम की उस अभेद तथा भेदमयी सृष्टि की विभिन्न भूमिकाओं की पुष्टि होती है।

हंस देह की अभेदमयी स्थिति में भी पाँच तत्व, तीन गुण तथा पच्चीस प्रकृति थीं—पर वह सृष्टि अव्यक्त अथवा अभेदमयी थी। आत्मविस्मृति अथवा आणवमल के कारण वही 'हंस' कच्ची देह में आ गया—बंध गया, जाल में पड़ गया। कबीर का कहना है—

> कबीर सूषिम सुरति का, जीवन जाणै जाल।
> कहै कबीर दूरि करि आतम अदिष्टि काल[1] ॥

सूक्ष्म या अव्यक्त-अभेद भूमिका से भेदमय भूमिका में उतर आने का जो जाल है—वह जब तक दूर न होगा तब तक निज देह की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अभेद अवस्था के जो विवेक, वैराग्य एवम् साधुभाव हैं—वे ही भेद दशा के सत् रज एवम् तम हैं। पाँच पक्के तत्व ही भेद दशा के पाँच महाभूत हैं। प्रत्येक तत्व की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं। कुल मिलाकर पच्चीस प्रवृतियाँ कही जाती[2] हैं। अव्यक्तावस्था में भी पच्चीस प्रकृतियाँ थी—विभिन्न रूप में और व्यक्त अवस्था में भी पर भिन्न रूप में।

इस विवेचन से न केवल यही सिद्ध होता है कि भोगायतन या देह-परिकल्पना के मूल में भी आगमिक दृष्टि है, प्रत्युत यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि की अभेद तथा भेदमयी दो अवस्थाएं हैं—शुद्धाध्वा और अशुद्धाध्वा की भी धारणाएं निहित हैं।

●

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३२।
२. विस्तार देखिए, कबीर मंसूर, पृ० १११६ से आगे।

आरोहण प्रक्रिया

तांत्रिक दृष्टि से समरसात्मक मूलतत्व के स्वरूप पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि वह पंचकृत्यकारी है—सृष्टि, स्थिति एवं संहरण-तो उसकी लीला है ही, निग्रह और अनुग्रह भी उसकी लीला के ही अंग हैं। आत्मनिग्रहवश अवरोहण होता है और अनुग्रहवश आरोहण। अवरोहण स्वरूप शक्ति की विस्मृति है और आरोहण स्वरूप शक्ति की स्मृति—सामान्यतः परिज्ञात का विशेष रूप से अपबोध। निग्रह और अनुग्रह में वह स्वतंत्र है, पर शेष तीन क्रियाओं में कार्यकारण संबंध है जो उसके स्वातंत्र्य से कल्पित है। सृष्टि, स्थिति तथा संहार में भी नियतिक्रम केवल ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा मायाण्ड में ही है, शाकाण्ड में नहीं। बंध निग्रह-प्रभव तथा मुक्ति अनुग्रह-प्रभव है। निग्रह या आत्मनिग्रह आत्मस्वरूप की अख्याति है—अज्ञान है अथवा अपने अपरिमित स्वरूप का परिमित ज्ञान है। यही अज्ञान या पारमित्यबोध आणव मल कहा जाता है। इसलिए कहीं-कहीं तो कहा गया है—"अज्ञानं किल बन्ध[१] हेतुः" और कहीं "ज्ञानं बन्धः"।[२] अभिप्राय वही है जो ऊपर स्पष्ट किया गया है। स्वरूपतिरोचित्सा ही आणव मल का कारण है। इसी के कारण अपरिमित भावापन्न आत्मा पारमित्यसम्पन्ना अणु बन जाता है। इस धारा में अणुभाव का यही पारिभाषिक अर्थ है। इस संकोच अथवा अख्याति वश संकुचित प्रमाता वैद्य रूपों में अहन्ताभिमान कर लेता है—फलतः परमार्थतः चिन्मय वैद्यों को भी अपने से भिन्न और अचिन्मय समझने लगता है। यही भिन्न वेद्य प्रथा मायीय मल है। इस भिन्न वेद्य प्रथा के कारण कर्मों में वह संकुचित प्रमाता शुभता तथा अशुभता का आरोप कर लेता है और इन्हीं विकल्पों से बद्ध होकर वह कर्म सम्पादन करता है। यही शुभाशुभ वासना कार्ममल है। आरोहण अथवा स्वरूप स्मृति के निमित्त इन मलों का क्षय आवश्यक है।

बंध का नाश ही मोक्ष है अथवा मोक्ष तो स्वयम् प्राप्त है ही, प्रतिबंधक बंध है। साधक का सारा प्रयत्न उसी के निवारणार्थ होता है। कहा ही गया है—

मोक्षो हि नाय नैवान्यः स्वरूप प्रथनं हिसः[३]

---

१. तंत्रसार, पृष्ठ ५।

२. शिवसूत्र, १।२।

३. तंत्रालोक १।१।१५६।

स्वरूप प्रत्याभिज्ञान ही मुक्ति है । इसी की प्राप्ति के निमित्त अथवा अभिव्यक्ति के निमित्त किया गया प्रयत्न आरोहण है । इसमें न कहीं जाना है और न कहीं आना है—केवल अज्ञान जैसे प्रतिबंध का अपवारण भर आवश्यक है। वस्तुतः जिस प्रकार सूर्य-प्रसूत मेघ सूर्य को ढंकता है—उसी प्रकार आत्म-स्वातंत्र्य प्रसूत शक्तियों से ही परतत्व अपने आपका गोपन करता है—फलतः जिस प्रकार बादल सूर्य का प्रकाश नहीं कर सकता, उसी प्रकार तमाम मायिक वृत्तियाँ भी उसका प्रकाश नहीं कर सकतीं—वह तो स्वयम् प्रकाश है। अतः तदर्थ सारा प्रयत्न आवरण के तिरोधान में है—स्वरूप तो स्वयम् प्रकाशित हो जाता है। स्वरूप प्रकाश जीवन काल में भी हो सकता है और प्रारब्धमूलक शरीर के पात के बाद भी। पहली जीवन्मुक्ति है और दूसरी विदेह मुक्ति ।

इस आरोहण प्रक्रिया में तीन बातें आवश्यक मानी गई हैं—पारमेश्वर अनुग्रह, गुरुदीक्षा तथा साधक कृत उपाय। पारमेश्वर अनुग्रह को ही दूसरे शब्दों में शक्तिपात कहा जाता है। वास्तव में परतत्व ही भूमिकान्तर में जीवात्मा है और वही बद्ध प्रमाता को 'स्वतंत्र' कराने के निमित्त 'गुरु' रूप में आकार ग्रहण करता है। गुरु परमात्मा और जीवात्मा का मध्यवर्ती है—सेतु है—जिसके सहारे बद्ध प्रमाता स्वतंत्र हो जाता है—आत्म स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा कर लेता है। अतः यह पारमेश्वर शक्तिपात ही है जो गुरु में 'दीक्षा' तथा साधक में 'उपाय' रूप से परिणत है। यदि शक्तिपात ही पूर्ण रूप से साधक पर हो जाय—तो 'दीक्षा' और 'उपाय' उसी में समाहित हो जाते हैं—उनकी पृथक् से कोई आवश्यकता ही नहीं है। वास्तव में ये तीनों एक दूसरे की कमी को तारतमिकता अथवा अपेक्षित अनुपात में पूरा करते हैं।

शक्तिपात अथवा पारमेश्वर अनुग्रह :

शक्तिपात अथवा पारमेश्वर अनुग्रह को साधक दार्शनिकों ने कई रूपों में स्पष्ट करना चाहा हैं। कुछ लोगों का विचार है कि शक्तिपात सकारण है और कुछ की धारणा है कि वह अकारण, निरपेक्ष तथा केवल परमात्मा की अपनी स्वातंत्र्यमयी इच्छा पर निर्भर है । सकारण मानने वालों में भी कई दल हैं—एक का मत ह कि ज्ञानोदय वश शक्तिपात है । दूसरा मानता है कि ज्ञानोदय से नहीं, प्रत्युत 'कर्म साम्य' (पुण्य-पाप समवल) वश ही वह संभव है। द्वैतवादी आचार्यों का मत है कि वह शक्तिपात 'मलपाक' वश हो सकता है । अद्वयवादी ताँत्रिक आचार्य शक्तिपात को निरपेक्ष तथा परमात्मा की स्वातंत्र्यमयी इच्छा की ही परिणति मानते हैं। उपनिषदों में भी यही कहा गया है—"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः"[1]—साधक के 'उपाय' से कुछ नहीं हो सकता, उसके पौरुष से पौरुषातीत का प्रकाश किस प्रकार संभव

१. कठोपनिषद । १।२।२२ ।

है वस्तुतः परमात्मा जिसका कृपा पूर्वक वरण करले—वही उसे पा सकता है। जिस भक्ति और लगन से यह सब कुछ संभव होता है, वह भी उसी की देन है। पुराणों में कहा गया है—"तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्" भक्ति या लगन भी उसी के प्रसाद से संभव है। कर्म; कर्मसाम्य, मलयाक या विरक्ति सभी तो माया के कार्य हैं—उससे मायातीत की उपलब्धि किस प्रकार संभव है? वह तो उसी से संभव है। एकमात्र उसी मूल तत्व की इच्छा हो तो अनुग्रह हो और अनुग्रह हो तो रुचि या लंगन पैदा हो और रुचि और लगन हो जाय—तो किसी स्तर पर यह लगन या भक्ति ही मोक्ष का पर्याय बन जाती है—

"भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते[1]"।

निष्कर्ष यह कि परमात्मा के अनुग्रह से ही मुक्ति या तदर्थ आरोहण में प्रवृत्ति संभव है।

संत साहित्य में भी यह स्वर स्पष्ट ही श्रुतिगोचर होता है। कबीर ने कहा ही है—

जब गोविंद किरपा करि तब गुरु मिलिया आइ[2]।

आदि ग्रंथ में कहा गया है—

"जिसु नदरि करे सो उबरै हरि सेती लिव लाई[3]"।

संतवर दादू को ज्ञात है कि ईश्वर की कृपा से ही गुरु प्राप्ति[4] होती है। संतवर रविदास अथवा रैदास के नाम पर निम्न पद प्रचलित है—जिससे उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है—

राम बिन संसय गाँठि न छूटै[5]।

---

१. 'तंत्रालोक' में उद्धृत, त्रयोदश आह्निक, पृ० १३७।
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० २।
३. आदि ग्रंथ।
४. दादू बानी, पृ० २ साखी १०।
५. संत रैदास—संगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद पृष्ठ ७४।
कबीर-बीजक की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी साक्षी हैं—
बैठा है घर भीतरे बैठा है सहचेत।
जब जैसी गति चाहै तब तैसी मति देत।
धर्मदास का विश्वास है—
मिहरबान है साहब मेरा। दिलभर दरसन पाऊँ तेरा।
तुम दाता मैं सदा भिखारी। देव दीदर जाऊँ बलिहारी।
—धरमदास की शब्दावली, पृ० २९।

ऐसी कितनी ही संत-वानियों को उद्धृत किया जा सकता है और उनसे इस आगमोक्त तथ्य की संपुष्टि होगी कि आरोहण में पारमेश्वर अनुग्रह संतों की दृष्टि से भी समादृत और स्वीकृत है ।

यह शक्तिपात अथवा पारमेश्वर अनुग्रह तंत्रों में अनेक स्तर का निरूपित हुआ है। एकत्र कहा गया है कि शक्तिपात दो प्रकार का होता है—पर तथा अपर अथवा पूर्ण तथा अपूर्ण। 'पर' या 'पूर्ण' शक्तिपात परमेश्वर ही कर सकता है। 'कृपा' की अभिधा इसी में है। इसका फल है—सावच्छिन्न का निरवच्छिन्न रूप में प्रकाश। ऊपर अथवा अपूर्ण शक्तिपात से आत्मा के सभी आवरण या अवच्छेद निवृत्त नहीं होते। वस्तुतः अपूर्ण कृपा मायान्तर्गत अधिकारियों (ब्रह्मादि देवगण) द्वारा होती है। यह भी दो प्रकार की होती है—मंद तथा तीव्र। मंद शक्तिपात से साधक 'प्रकृति' राज्य का और तीव्र शक्तिपात से 'माया' राज्य का अतिक्रमण हो जाता है।

तंत्रालोक में फिर विस्तार से शक्तिपात के भेद-उपभेद समझाए गए हैं। कहा गया है कि वह प्रथमतः तीन प्रकार का है—तीव्र, मध्य तथा मंद। इनमें से फिर प्रत्येक के तीन-तीन भेद कहे गए हैं—तीव्र, मध्य तथा मंद। चित्र इस प्रकार होगा—
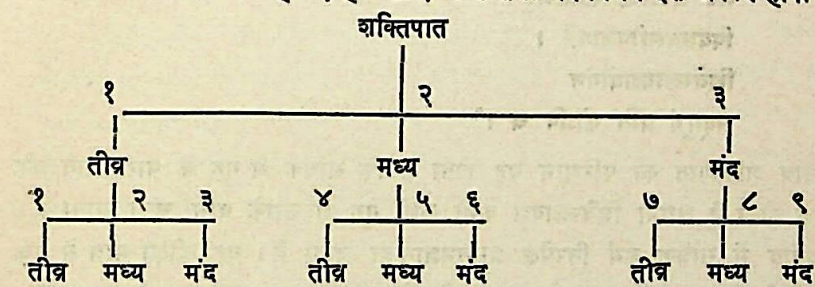
फल या परिणाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किस पर किस तरह का शक्तिपात हुआ है।

"सोचेतं जिसु आपिचेताए ।
गुरु कै सबदि बसै मन आए ।
आपे रवै आपे बूझै आपै आपु समाइहा" ।

—श्री गुरु ग्रंथ साहब, आसा, महला १, पृष्ठ ३५७ ।

गुरु की प्राप्ति में ईश्वरीय विधान ही सहायक है—

दुरै भागि सतिगुरु पाइये जे हरि प्रभु बरबस करेइ ॥

—वही, विलावलु की वार, महला ३ पृष्ठ ८५१ ।

नदरि करै ता गुरु मिलाए २।२।११ ।

—मारू सोल्हे, महला ३ पृष्ठ १०५४ ।

आपे दइया करे प्रभु दाता सतिगुरु पुरख मिलाए ।

—रागु सूही, महला ४ पृ० ७७२ ।

तीव्र-तीव्र शक्तिपात से प्रारब्ध सहित समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है जबकि तीव्र-मध्य तथा तीव्र मंद से प्रारब्ध के क्षय में यथाक्रम विलम्ब होता है। मध्यतीव्र शक्तिपात से प्रारब्ध का नहीं, प्रत्येक केवल अज्ञान का क्षय होता है। हाँ, यह अवश्य है कि इसकी निवृत्ति जिस ज्ञान से होती है—वह स्वयं ही हृदय में स्फुरित हो जाता है—तदर्थ किसी शास्त्र् या गुरु जैसे मध्यवर्ती की जरूरत नहीं पड़ती। इसे प्रातिभज्ञान कहा जाता है । तीव्रतीव्र शक्तिपात में दीक्षा की पृथक् से आवश्यकता नहीं है—वहाँ अनुग्रह ही इतना पूर्ण है कि उसी में दीक्षा समाहित है। इसी प्रकार यहाँ शाँभवज्ञान का ही निरतिशय अथवा उत्कर्ष 'अनुपाय' वन जाता है। मध्य तीव्र में स्वात्मा ही गुरु है जिसकी दीक्षा से स्वयम् प्रातिभज्ञान का उदय हो जाता है—शास्त्र अथवा गुरु की अपेक्षा नहीं होती । यहाँ 'शाँभव उपाय' काम करता है। मंद-तीव्र में न तो अनुत्तर ज्ञान है और न प्रातिभज्ञान ही। यहाँ शक्तिपात अथवा अनुग्रह में मंदता होने के कारण समझ उतनी साफ नहीं रहती। अतः शास्त्र अथवा गुरु की अपेक्षा रहती है । 'तंत्रालोक' में कहा गया है—

> मंद तीवाच्छक्तिवलाद्
> पियासास्योपजायते ।
> शिवेच्छावशयोगेन
> सद्गुरुं प्रति सोऽपि च ।[1]

मंदतीव्र शक्तिपात का परिणाम यह होता है कि साधक में गुरु के पास जाने की इच्छा होती है अथवा शिवेच्छावश कभी कभी गुरु ही उसके पास चला आता है। मध्यतीव्र में साधक कर्म निरपेक्ष प्रातिभज्ञान हो जाता है। यहाँ दीक्षा मात्र से सब कुछ नहीं हो जाता, साधक को भी अपनी ओर से कुछ करना पड़ता है। उदाहरण के लिए किसी को सीधे रुपया (नकद) देना और बात है और चेक देना और बात । चेक वाले को रुपया पाने के लिए स्वयम् भी कुछ करना पड़ेगा। मध्य तीव्र से मंद तीव्र का यही अंतर है। इतना अवश्य है कि दीक्षा से साक्षात् ज्ञान हो जाता है—आणव उपाय की आवश्यकता नहीं होती। शाक्त उपाय द्वारा शुद्ध विकल्प से अशुद्ध विकल्प का अपनय अवश्य हो जाता है। मंदतीव्र शक्तिपात में दीक्षा अधिकार भेद से अनेक प्रकार की होती है । यह दीक्षा सद्यः शिव प्रदा होती है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है। तीव्रसंज्ञक शक्तिपात का यह एक त्रिक रहा। सम्प्रति दूसरे त्रिक की विवृति भी द्रष्टव्य है ।

तीव्र मध्य शक्तिपात में 'मंद तीव्र' की भाँति अतिरिक्त गुरु की अपेक्षा तो रहती है, पर अंतर यह है कि यहाँ गुरु-प्राप्त दीक्षा सद्यः शिव प्रदा नहीं होती।

---

१. तंत्रालोक, त्रयोदश आह्निक, पृष्ठ १२७ ।

यहाँ गुरु बौद्ध ज्ञान तो प्रदान कर देता है—पर वह जिस दर्पण में प्रतिफलित होता है—वह मलिन रहता है। अतः विम्ब के रहने पर भी प्रतिबिंब का बोध नहीं हो पाता। फलतः साधक को 'आणव' उपाय करना पड़ता है। 'मंदतीव्र' की दीक्षा जितनी दृढ़ होती है—उतनी यहाँ की नहीं। वहाँ अविकल्प स्वभाव स्वात्मज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है—यहाँ नहीं। वहाँ शरीर रहने पर भी जीवन्मुक्त होती है—कारण है देहात्मबोध का विगलन यहाँ, —"विकल्प युक्तचित्तस्तु पिण्डपाताच्छिवं[1] व्रजेत्।" चित्त निर्विकल्प नहीं हो पाता, अतः पिण्डपात के अनन्तर ही शिवता मिलती है।

मध्यमध्य शक्तिपात में साधक को स्वरूप साक्षात्कार की उत्सुकता अवश्य रहती है, पर किसी तत्वादि के भोग की भी इच्छा रहती है। अतः योगाभ्यास से साधक उस भोगजाल का लाभ करता हुआ (इसी देह से) देहक्षय के बाद शिवता प्राप्त कर लेता है। मंद मध्य भी आत्मलाभोत्सुक रहता है—तत्व विशेषगत भोग की इच्छा भी रखता है—पर मध्य मध्य से इसका अंतर यही है कि जहाँ पहला इसी देह से अभीष्ट भोग लाभ करता है—वहाँ दूसरा देहान्तर से भोग लाभ करता हुआ स्वरूप प्रतिष्ठ होता है। तीव्र मध्य पुत्रक विषय और अवशिष्ट दोनों शिवधर्मि-साधक विषय हैं।

तृतीय त्रिक में लोक धर्मविषय शक्तिपात पहले आता है। 'मध्य' शक्तिपात में शिवता लाभ का और 'मंद' में भोग का औत्सुक्य अधिक रहता है। तीव्रमंद शक्ति-पात में साधक दीक्षा के बल से देहान्त होने पर किसी अभीष्ट भुवन को प्राप्त होता है। वहाँ यथाभिमत भोग भोगकर अंततः शिवता प्राप्त करता है। मध्य मंद शक्तिपात वाला साधक किसी भुवन आदि में कुछ समय तक भोग भोग कर फिर उसी लोक के ईश्वर से दीक्षित होता है और अंततः स्वरूप प्रतिष्ठ होता है। रहा मंदमंद शक्तिपात वाला साधक-सो वह अभीष्ट भुवनादि में सालोक्य, समीप्य, सायुज्य प्राप्त करता हुआ बहुत समय तक भोग करता रहता है—फिर दीक्षालाभ पूर्वक शिवता प्राप्त करता है।

इस प्रकार तंत्रालोक के तेरहवें आन्हिक में शक्तिपात का यह विवरण दिया गया है। जिन आत्माओं पर शक्तिपात होता है—वे तीन प्रकार की हैं—निरवच्छिन्न और सावच्छिन्न। निरवच्छिन्न आत्माएं हैं—विज्ञानाकल और प्रलयाकल तथा साव च्छिन्न हैं सकल। प्रथम दो पर पारमेश्वर अनुग्रह इच्छावश होता है। यहाँ दीक्षा-त्मक शक्तिपात होता है। दीक्षा और शक्तिपात—में कोई अंतर ही नहीं होता। पार-मेश्वर इच्छा में ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति का अंतर ही नहीं होता। वहाँ इच्छा ही क्रिया है। सकल आत्माओं पर पारमेश्वर अनुग्रह के फलस्वरूप होने वाली दीक्षा

---

१. तंत्रालोक।

क्रियासाध्य होती है। इस क्रिया के लिए परमेश्वर को स्वयं सावच्छिन्न होकर गुरु रूप में अवतीर्ण होना पड़ता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शैवाद्वैतवाद के अनुसार जीव स्वयम् शिव ही है पर जिस प्रकार अपने को संकुचित कर लेने में वह स्वतंत्र और अन्य निरपेक्ष है—वह स्थिति 'अपरिच्छिन्न' होने में नहीं है। दार्शनिकगण इसके लिए कोशकार कीट का उदाहरण लेते हैं। यह कीट अपने आपको उलझा लेने में तो स्वतंत्र है, पर छुड़ा लेने में नहीं। इस रीति से संकुचित और परिच्छिन्न प्रमाता को अपरिच्छिन्न शिवता लाभ स्वयम् संभव नहीं है, तदर्थ आवश्यक है—पारमेश्वर शक्तिपात अथवा अनुग्रह। इस अनुग्रह में कोई निमित्त नहीं है। अनुग्रह की चर्चा वैष्णवों की अध्यात्म यात्रा में भी है शुद्धाद्वैतवादी साधन-धारा तो पुष्टि या अनुग्रहमयी धारा कही ही जाती है। अन्यत्र भी अनुग्रह का नितांत महत्व वताया है। कुछ लोग आगमिक अनुग्रह अथवा शक्तिपातात्मक अनुग्रह से वैष्णव अनुग्रह का अंतर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पहले का लक्ष्य स्वरूप प्रथन है और दूसरे का लीला राज्य में प्रवेश। पहला अद्वैतवादी है और दूसरा द्वैतवादी। अतः दोनों की 'अनुग्रह' संबंधी धारणा मे पर्याप्त अंतर है। संतों में परिगणित होने वाले चरणदास, शिवनारायण प्रभृति 'अमरलोक अखंड धाम वर्णन' 'संतदेश'—में वैष्णवों के लोकों की ही तरह वर्णना प्रस्तुत की है—अतः इनके आलोक में ही अन्तर देखना न देखना संगत होगा। जो हो, इतना निश्चित है कि शक्तिपात मुक्ति या आरोहण के लिए आवश्यक है और एक बार इसके हो जाने पर देर-सवेर साधक पूर्णता लाभ कर ही लेता है।

जहाँ तक प्रकान्त निर्गुनिएं संतों का संवंध है—वे सावच्छिन्न होने से 'सकल' आत्माओं की ही श्रेणी में आते हैं और तदर्थ परमेश्वर को भी शक्तिपात के निमित्त सावच्छिन्न होकर अवतीर्ण होना पड़ता है। उपर्युक्त नवविध शक्तिपात में संतों पर अधिकाँश मंदतीव्र तथा तीव्रमध्य शक्तिपात घटित होता है। कारण, किसी न किसी प्रकार के—दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानबोध गुरु का उल्लेख सभी करते हैं। आगम ग्रंथों में गुरु उपर्युक्त ढंग के त्रिविध कहे गए हैं। सभी संत साधक के रूप में 'सुरत शब्द योग' का उल्लेख करते हैं—अतः तीव्रमध्य शक्तिपात का सर्वाधिक प्रयोग यहाँ मानना चाहिए। जिस प्रकार पारमेश्वर शक्तिपातवश सद्यः पिण्डपात अथवा प्रातिभज्ञान के उदय की घटनाएं अनुपलव्धप्राय हैं उसी प्रकार प्रधान अथवा अप्रधान रूप से भोगोत्सुकता की मात्रा भी इनमें अदृष्ट प्राय है। यही कारण है कि पारिशेष्यात् तीव्रमध्य शक्तिपात की स्थिति ही इनमें सर्वाधिक है। इस प्रकार के शक्तिपात के बाद जो दीक्षा मिलती है—उसकी शास्त्रीय संज्ञा है—पुत्रक दीक्षा।

शक्तिपातगत मांद्य को हटाने के लिए गुरु की अपेक्षा होती है। संतों के जीवनवृत्त और अध्यात्म साधन का अनुशीलन करने से इसकी पुष्टि होती है कि पारमेश्वर अनुग्रहवश उनमें विकलता पैदा होती है —उसके फलस्वरूप कभी तो ये संत

ही सद्‌गुरु की खोज में निकल पड़े हैं और कभी सद्‌गुरु इन्हें स्वयम् आकर कृतार्थ कर गए हैं। कभी-कभी तो 'दिव्य' अथवा 'सिद्ध' विभूतियां भी विग्रहवान् होकर इन्हें दीक्षित कर गई हैं। कई संतों के विषय में तो ऐसा भी मिला है कि स्वयम् परमात्मा ही शरीरी गुरु के रूप में उन्हें अनुगृहीत कर गए हैं।

मानवोध अथवा मानव गुरु-संस्कृत गुरु से दीक्षा की बात तो स्वतः सिद्ध है—उसके विषय में क्या कहना, पर इतर आगमोक्त ओघ से भी दीक्षा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। संत चरणदास के विषय में प्रसिद्ध है और स्वयम् भी उन्होंने अपने प्रसिद्धग्रंथ 'ज्ञानस्वरोदय' के अंत में कहा है कि वे एक बार जब दिल्ली गए हुए थे तो वहाँ घूमते समय शुकदेवजी[1] के दर्शन हो गए। उन्होंने ही इनका नाम चरणदास रख दिया। जंभोनाथ तथा जसनाथ के विषय में प्रसिद्धि है कि इनके दीक्षा गुरु थे—गोरख नाथ।

जांभो कहे जसनाथ ने, मम गुरु गोरखनाथ।
गुरु भाई हम जानके, ताहि मिलायो हाथ।[2]

सिद्ध जसनाथ से 'कतरियासर' में जब जंभनाथ से भेंट हुई थी—तब उन्होंने गुरुभाई कहकर ही इन्हें अपनाया था। इसी प्रकार धरमदास और कबीरदास का भी समय विभिन्न प्रमाणों से भिन्न-भिन्न पड़ता है—फिर धरमदास संत कबीर के शिष्य किस प्रकार हुए? 'अमर सुख निधान' में कहा गया है—"जिंद रूप जब धरे सरीरा धरमदास मिलि गए कबीरा।
धरमदास की बानी में भी मिलता है—

साहेब कबीर प्रभु मिले विदेही।
झीना दास दिखाइया। (पृ० ५२)

इन पंक्तियों से गुरु कबीर का जिंद 'विदेही' तथा 'झीना' रूप में मिलना सिद्ध होता है। यही स्थिति गरीबदास की भी है। उन्होंने भी कहा है—

दास गरीब कबीर का चेरा।
सततलोक अमरापुर डेरा॥—(बानी—पृ० १४८)।

संतवर दादू के विषय में भी प्रचलित है कि किसी बुड्ढन नामक सिद्ध ने इन्हें दीक्षित किया था। डा० वासुदेव शर्मा ने 'संत कवि दादू और उनका पंथ' में विभिन्न विद्वानों के मतों को प्रस्तुत करते हुए अंततः यही स्वीकार किया है वृद्धानन्द या बुड्ढन ही

---

१. व्यास पुत्र तुम मम गुरु देवा
करुं मानसी तुम्हरी सेवा—भक्तिसागर, पृ० ७८।
२. रामनाथ, यशोनाथप्राप्ति।

दादू के गुरु थे। इस बुड्ढन के विषय में अनेक विध धारणाएँ हैं। संत सुंदरदास ने लिखा है—

दादूजी के गुरु अब सुनिये। बहुत भाँति तिनके गुन गुनिये।
दादूजी को दरसना दीन्हों। अकस्मात् काहू नहिं चीन्हों।
वृद्धानन्द नाम है जाको। ठौर ठिकानो कहू न ताको।
सहज रूप विचरै भूमाहीं। इच्छा परे तहाँ से जाहीं।
वृद्धानन्द दया तब कीन्हीं। काहू पै गति जातिन चीन्हीं।
दादूजी जब निकट बुलायौ, मुदित होइ करि कंठ लगायो।
मस्तक हाथ धर्यो है जबही। दिव्य दृष्टि उघरी है तबही[1]।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर दादूपंथी भी उक्त धारणा पर ही आस्था रखते हैं —

तीजे पहर निकट ही संझा। खेलत डोले लड़कन मंझा।
जब बीते एकादश बरसू। बुड्ढे रूप दियो हरि दरसू॥[2]।

उक्त उद्धरणों के आलोक में यह स्पष्ट है कि पारमेश्वर शक्तिपात वश परमात्मा ही गुरु रूप में अवतीर्ण होकर 'सकल' आत्माओं पर अनुग्रह करता है—दीक्षा देता है। इन पंक्तियों के आलोक में, लगता है, दादू पर मंद तीव्र शक्तिपात था—इसीलिए उन्हें पृथक् गुरु का दर्शन मिला और उनकी दीक्षा से दिव्यदृष्टि मिल गई—साक्षात् ज्ञान हो गया। आणव उपाय की आवश्यकता नहीं हुई। शाक्त उपाय द्वारा शुद्ध विकल्प से अशुद्ध विकल्प का निराकरण हो गया। आगमों में कहा ही है कि मंदतीव्र शक्तिपातवश होने वाली दीक्षा सद्यः शिवता प्रदान करती है। लगता है कि गुरू के हाथ रखते ही—स्पर्श दीक्षा होते ही उन्हें अविकल्प स्वभावस्वात्म ज्ञान का साक्षात्कार हो गया।

इसी प्रकार संत शिवनारायण के विषय में भी कहा जाता है कि उन्हें भी साक्षात् परमात्मा ने ही गुरु रूप में विग्रह धारण कर दीक्षित किया था। इनका नाम 'गुरु अन्यास' नाम की कृति में दुःखहरन मिलता है। यह कृति स्वयम् संत शिवनारायण की है। उसमें उन्होंने कहा है कि इन्हें बाहरी गुरु से नहीं, भीतरी गुरु से ही प्रकाश मिल गया। इनके अनुयायियों की भी धारणा है कि इन्होंने किसी दुःखहरन नामक व्यक्ति को गुरु रूप में स्वीकार नहीं किया था, प्रत्युत इनके भीतर किसी ऐसे अलौकिक प्रकाश का आप से आप भान हो गया था जिसे इन्होंने दुःखहरन कह दिया। इन तथ्यों के साक्ष्य पर कहूं तो कह सकता हूँ कि इन पर मध्यतीव्र शक्तिपात

१. स्वामी दादूदयाल की बानी, भूमिका पृ० ११ चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी।
२. दादू जन्मलीला परची, पृ० ११।

था। मध्यतीव्र शक्तिपात में स्वयम् ही प्रतिभज्ञान हो जाता है—बाहरी गुरु की भी (या शास्त्र की) आवश्यकता नहीं होती । विज्ञान के इस युग में चाहे इन बातों की जो व्याख्या की जाय पर अध्यात्म राज्य में—सब कुछ संभव है और आगमों में जैसा पहले ही सब कुछ कह दिया गया है-संतों और उनके मर्मियों के जीवन-वृत्त तथा धारणाओं से उनकी पुष्टि भी हो जा रही है। जैसा आगमों में कहा गया है—वैसी घटनाएँ अनागमज्ञों में प्रसिद्ध हैं और जो अनागमज्ञों के बीच घटित है-उसकी चर्चा आगमों में पहले से ही दी है। अतः एक पक्ष यह भी है कि संतों की गुरु-परम्परा शक्तिपातमूलक प्रक्रिया से समर्थित होने के कारण उल्लेख्य तो है ही । इस प्रकार मध्य तीव्र, मंद तीव्र तथा तीव्र मध्य शक्तिपात के उदाहरण स्पष्ट हैं ।

सम्प्रति, दीक्षा और संत साहित्य—विषय पर विचार प्रसक्त है। दीक्षा का भार गुरु पर है । शैवआगमों की शब्दावली में कहा जाय तो कहा जा सकता है कि गुरु परमेश्वर का पार्थिव विग्रह है और उसके अनुग्रह का व्यावहारिक रूप ही दीक्षा है । दीक्षा में दो व्यापार निहित हैं—दान और क्षपण । कहा ही है—

> दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पशु वासना ।
> दान क्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता[1] ॥

दीक्षा प्रक्रिया में आत्मज्ञानी गुरु अनुग्रह के जिस व्यावहारिक रूप को अपनाता है उससे जहाँ एक ओर वह शिष्य की पाशव-वासना या आवरणों का क्षय करता है वहीं दूसरी ओर आत्मस्वरूप का विमर्शन भी होने लगता है। शक्तिपात का चिन्ह है—भक्ति का उदय । भक्ति या राग का परमार्थ के प्रति उदय होना तभी संभव है-जब संसार से विराग हो जाय-पाशविक वासना शांत हो जाय-आवरण हट जायं। इस स्थिति में अधोमुख चित्तवृत्तियाँ उर्द्धवमुखी और विक्षेपकर्मी वासना के क्षय वश एकतान हो जाती है-इस तरह से उद्भूत समाधि आत्मसाक्षात्कारपर्यवसायिनी बन जाती है । दीक्षा एक प्रकार का आत्म संस्कार है—आत्मा पर पड़े हुए मल या पाश का क्षपण है । यह मल त्रिविध है—आणव या अख्यति, मायीय तथा कार्म। दीक्षा से इन मलों का अपवारण हो जाता है। मलों का प्रच्छद हट जाय-तो स्वरूप प्रकाश हो जाय। अद्वैतवादी आगम के अनुसार म० म० गोपीनाथ कविराज ने दीक्षा से पूर्णता प्राप्ति पर्यन्त क्रम का उल्लेख इस प्रकार[2] किया है—

१. दीक्षा
२. पौरुष अज्ञान का ध्वंस

---

१. स्वच्छंद्र तंत्र टीका, भाग ३ पटल, ५ पृष्ठ ७६ ।
२. इहात्मसंस्कार एवं दीक्षा ।

३. अद्वय आगमशास्त्र के श्रवण में अधिकार और उनके श्रवणादि
४. बौद्ध ज्ञान का उदय
५. बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति
६. जीवन्मुक्ति
७. भोगादि के द्वारा प्रारब्ध नाश
८. देहत्याग के अनन्तर पौरुष ज्ञान का उदय
९. मोक्ष अथवा परमेश्वर की प्राप्ति

शक्तिपात की भाँति दीक्षा के भी विभिन्न रूप हैं। इस विभेद का कारण शक्ति-पात की तीव्रतादि और शिष्य के अधिकार वैचित्र्य हैं। शक्तिपात की तीव्रता की कमी से शांभवी शाक्त तथा आणवी दीक्षा होती है।

यहाँ तन्त्रोक्त दीक्षा के विस्तृत प्रकार निरूपण में न पैठकर संतों का प्रसंग होने से संक्षेप में निर्बीज तथा सबीज दीक्षा की बात करनी ही उपादेय होगी।[1] निर्बीज दीक्षा उन लोगों के लिए है जो शास्त्रीय चिन्तन में निष्णात नहीं हैं और सबीज दीक्षा उपादेय उनके लिए है जो विद्वान और कष्टसहिष्णु हैं। प्रथम प्रकार की दीक्षा-बाल, वृद्ध वनिता तथा आतुरों एवं अज्ञजनों के लिए है। इनके लिए समयाचार का पालन आवश्यक नहीं है। स्वच्छंद तंत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस दीक्षा के प्रभाव से केवल गुरु भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है कहा है—

> "दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद
> भक्तिमात्राद्‌ गुरोः सदा।"[2]

इस दीक्षा मार्ग में एक ही समय या शर्त है और वह यह है कि साधक गुरु-भक्ति करे।

तंत्र ग्रंथों में कुल ७४ प्रकार की तो दीक्षा मोटे तौर पर कही ही गई है—'तंत्रालोक' में अभिनवगुप्त में अंततः उसे अनन्त प्रकारवाली भी कह दी है। अंतर्मुखी संत साधकों की साधना के प्रसंग में इस विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं है। दीक्षा में आत्मसंस्कार रूपी आन्तर व्यापार प्रमुख और महत्व का है, यद्यपि वहाँ बाह्य क्रिया का भी कम विस्तार नहीं है। सबीज दीक्षा में तो अभिषेत्र विधि का भी विवरण उपलब्ध होता है। तंत्रों में ही नहीं, आगमानुयायी बौद्ध साधना में भी दीक्षा और अभिषेक का पर्याप्त प्रपंच है। जो लोग ताँत्रिक बौद्ध साधना की प्रक्रिया से परिचित हैं वे जानते हैं कि वहाँ किस प्रकार गुरु मण्डल के अन्तर्गत मुद्रा सहित साधक को दीक्षा प्रदान करता है। और पूर्वसेक, उत्तर सेक तथा अनुत्तर

---

१. विस्तार देखिए, स्वच्छंद तंत्र, तृतीय, चतुर्थ पटल।
२. स्वच्छंद तंत्र, ४ पटल, पृष्ठ ६३।

सेक की विधियाँ पूरा करता है। दीक्षा और अभिषेक की प्रक्रिया अपने ढंग से नाथ पंथ में भी है। वैदिक विधि से संन्यास ग्रहण करते हुए दीक्षार्थी सन्यासियों की दीक्षा-विधि या सन्यास विधि का विस्तार सर्वविदित है ही।

संतों के यहाँ भी दीक्षाविधि गुरु सम्पन्न करता है—पर वहाँ आत्मसंस्कार रूपी आन्तर क्रिया ही प्रमुख है—बाह्य व्यापार प्रायः नहीं है। काल क्रम से आगे चलकर कबीर पंथ या अन्यत्र बाह्य आचार का भी समावेश होता गया। चौंका विधि उसी बाह्याचार का एक व्यक्त रूप है। जो लोग संतों की साधना का साम्प्रदायिक परिचय रखते हैं—वे जानते हैं कि वहाँ दीक्षा मंत्रदान तक ही सीमित रह जाती है। यह अवश्य है कि दान और क्षपण जो दीक्षा के अंग हैं—किसी न किसी रूप में यहाँ भी चलते रहते हैं। जो गुरु जिस स्थान तक साधना के बल से पहुंचा रहता है—साधक शिष्य को भी वह उस स्थान तक ले जाता है। गुरु साधना के क्रम में शनैः शनैः अपनी बताई हुई युक्ति के कार्यान्वियन से न केवल शिष्यत्व योजभस्था-नीय आत्मस्वरूप के साक्षात्कार की ओर सीढ़ी दर सीढ़ी अनुभव कराता है, प्रत्युत अंतस् को निर्मल भी करता जाता है। इस क्रम का सविस्तार विवेचन यथास्थान किया जायगा, यहाँ दीक्षा का प्रसंग होने से बात वहीं तक सीमित रखी जायगी।

कबीर ने दीक्षाविधि में आत्म संस्कार रूपी आन्तर व्यापार को ही स्थान दिया था, पर बाद में चलकर कबीर पंथ तथा उससे प्रभावित अन्य धाराओं में दीक्षा-विधि के अंतर्गत बाह्याचार का भी पर्याप्त मात्रा में समावेश हो गया। कबीर पंथ की विभिन्न शाखाएँ हैं—इनमें से फतुहा, धनौती, बुरहानपुर तथा जौनपुर वाली शाखाओं में तो अब भी दीक्षा काल में बाह्याचार का समावेश नहीं है। केवल काशी वाली शाखा में दीक्षित करते समय साधक को कंठी, तिलक, मंत्र प्रदान, पूजा तथा छोटी आरती की विधि सम्पन्न की जाती है। छत्तीसगढ़ी शाखा में इसकी अपेक्षा और भी विस्तार मिलता है। डा० केदारनाथ द्विवेदी ने 'कबीर और कबीर पंथ' में इसका विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है—'कतिपय शाखाओं में किसी नए व्यक्ति को पंथ में दीक्षित करने के लिए प्रायः एक उत्सव का आयोजन हुआ करता है। उत्सव का आरंभ भजनगान से हुआ करता है। इसके पश्चात् गुरु नये सदस्य के कान में मंत्र का धीमे स्वर से उच्चारण करते हैं। फिर वे शिष्य के हाथ में दूब तथा पान की पत्तियाँ अर्पित करते हैं जिसे अन्य किसी स्थान पर गिरा देने के लिए वह एक वैरागी कबीर पंथी के साथ जाता है, उक्त पदार्थ के उस स्थान पर रख देने के अनन्तर वह वैरागी नए सदस्य के हाथ में दो बार जल देता है। पहली बार प्राप्त किया हुआ जल वह पी जाता है और दूसरी बार प्राप्त किए जल से वह अपना मुँह धो लेता है। अब कंठी अर्पण करने की क्रिया आरंभ होती है। गुरु एक कंठी अन्य कबीर पंथी महात्माओं के हाथ से स्पर्श कराकर उसे नए सदस्य के गले में डाल देता है और उसके कान में पुनः मंत्रों का धीमे स्वर में उच्चारण करता

है तथा उसके लिए आवश्यक उपदेश देता है। यह क्रिया सम्पादित होने के पश्चात् गुरु द्वारा दिए गए नारियल को शिष्य अपने दाहिने कंधे, छाती और मस्तक से स्पर्श कराकर कुछ द्रव्य के साथ उन्हें लौटा देता है। वह नारियल पान की पत्तियों के साथ पानी में भिगोया जाता है। तदनन्तर उसे पत्थर पर तोड़कर चाकू से छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाता है जो कबीर पंथियों में वितरित किया जाता है। शिष्य को पान परवाना और चरणामृत दिया जाता है। सबसे अंत में भोज करने की प्रथा है। यह विधि गृही और बैरागी-दोनों ही प्रकार के कबीर पंथियों के लिए की जाती[1] है।" इस प्रक्रिया के साथ साथ कबीर पंथ की कतिपय शाखाओं में चौका आरती भी मोक्ष के साधन रूप में स्वीकार किया गया है। यह विधि महंत और दीवान के द्वारा संपन्न होती है। इसे एक प्रकार का सात्विक यज्ञ माना जाता है। इस यज्ञ के चार प्रकार हैं—आनन्दी, जन्मौती, चलावा तथा एकोत्तरी। इनमें से आनन्दी चौका दीक्षित होने के समय कराया जाता है। इसके लिए अपेक्षित सामान्य और विशेष सामग्री की विस्तृत तालिका है। डा० द्विवेदी ने इसका भी विस्तार दिया है (देखिए, वही, पृ० १९८-२०१ तक) वहाँ चौका बनाने की विधि, आरती जलाने की क्रिया नारियल अर्पण की क्रिया, फूल एवम् अबीर अर्पण की क्रिया, आरती घुमाने और नारियल मोड़ने की क्रिया, तिनका मोड़ना, प्रसाद वितरण और अंत में आरती बुझाने की क्रिया वर्णित की गई है। डा० द्विवेदी ने इन स्थूल क्रियाओं की प्रतीकात्मक व्याख्या भी दी है। इस संदर्भ में राधास्वामी मत के संत हजूर महाराज बाबा सावण सिंह जी की प्रेरणा से संकलित 'संतबानी' का एक पद विशेष महत्व का है—जिसके उद्धरण का संवृत नहीं किया जा सकता। संत तुलसी साहब की बानी है—

सतगुरु भाग्य चीन्ह दीन दिल लाइ कै
बूझै अगम की राह पाइ पद जाइ कै। १।
हग पर चौका पान जानिजब पाइयै।
नारियर सीस संवारि सार साझाइये ॥२।
ततमत गुन है तीनि सी तिनुका तोरिया।
सुरत निरत निज नैन नारियर मोरिया ॥ ३।
सूरति चढ़ असमान पोढ़ि सुर्त डोरि है।
दीन्हा दीनदयाल काल सिर फोड़ि है ॥ ४।
इंद्री वासन पाँच वासना जाइया।
अठमेवा है बाठ तब पाइया ॥ ५।
काया मद्धे पूर कपूर जनाइया।

---

१. पृ० १९६।

पाँच तत्त तन अगिनि जोति दरसाइया ॥ ६ ।
होत होत उजियार पार सुत से लखो ।
सार शब्द सत द्वार लार सुत से पकौ ॥ ७ ।
मन बैठक है वास स्वांस सुन्न से भई ।
पान सुपारी सेत सोई चौका कही ॥ ८ ।
गगन चढ़ै असमान चदरवा तानिया ।
सेत माहि है स्याम पान सोई आनिया ॥ ९ ।
नौतम द्वार लिखाइ सोइ नौ द्वार है ।
अष्ट कंवल दल फूल मूल सोई सार है ॥ १० ।
येहि विधि चौका चार सार सोइ राखिया ।
और चौका जग रीति चित्त नहीं राखिया ॥ ११ ।
यहि विधि चौका चाह थाह जब पाइया ।
अगम चढ़े सोइ संत पंथ दरसाइया ॥ १२ ।
धरमदास धरि ध्यान सुरति समझाइया ।
सुरति फोड़ असमान शब्द जब पाइया ॥ १३ ।
अटल बयालिस बंस राज अस गाइया ।
या को भाखूं भेद भाव दरसाइया ॥ १४ ।
चालिस सेर मन फेर इकतालिस स्रुत भई ।
विधी बयालिस शब्द अटल ऐसे कही ॥ १५ ।
जो कोइ मिलि है संत भेद अस भाखिया ।
मन चढ़ि सुरति संवारि शब्द में राखिया ॥ १६ ।
सुरति शब्द मन मेल सेल समझाइया ।
अटल बयालिस बंसराज अस गाइया ॥ १७ ।
तुलसी भारवा भेद भाव दरसाया ।
चौका कीन्ह कबीर हंस मुकताइया[1] ॥ १८ ।

राधास्वामी मत के एक संत ने इसका संग्रह करवाया, अतः उसकी सहमति है ही, धरमदास स्थापित छत्तीसगढ़ी शाखा में स्वीकृत होने से उसे भी मान्य है। स्वयम् इस पद में धरमदास का उल्लेख है। तुलसीसाहब की बानी ही है। कबीर के सिर थोपा ही गया है—इस प्रकार चौका विधि में अनेक संतों की सहमति मिलती है। यह अवश्य है कि चौका विधि की रहस्यात्मक अथवा प्रतीकात्मक व्याख्या यहाँ भी संकेतित है।

---

१. संतबानी; पृष्ठ सं० ४०, ४१ तथा ४२।

इन बाह्य विधानों में अंतर्याग अथवा अनन्तर संस्कार की ही प्रतीकात्मक विवृति रहती है। स्वच्छंद तंत्र में स्पष्ट कहा गया है—"अन्तर्याग-प्रतिबिम्ब रूपं यजनमारमेत् बाह्यामित्यर्थः[1]" अर्थात् बाह्यजन में अन्तर्याग का प्रतिबिंब हुआ करता है। चौका विधि में कहा गया है कि उसके निर्माण के समय पहले मध्य चौका बनाया जाता है जहाँ सात पंखुरियों का कमल बनाया जाता है और उसके चारों ओर चौरासी दलों की सृष्टि की जाती है। स्पष्ट ही यह उस अन्तर्याग या ध्यान का प्रतीक है जिसमें सप्तदलकमल पर सत्यपुरुष की स्थिति मानी जाती है। साथ ही यह भी माना जाता है कि उसके चारों ओर चौरासी लाख योनियों के जीव सद्गुरु द्वारा सद्बोध पाकर इन द्वीपों में निवास करते हैं। इसी प्रकार नारियल की भी अनेकविध स्वकीय साम्प्रदायिक मान्यतानुसार व्याख्याएँ की गई हैं। उक्त पद में स्पष्ट कहा गया है कि तीन गुण ही जिनके हैं और दीक्षाविधि के अवसर पर किए गए चौक विधान में उसका आशय है—इन गुणों के बल को तोड़ देना। इसी प्रकार अवशिष्ट विधियों की भी प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है।

चौका विधि कबीर पंथ में ही नहीं है—दरिया पंथ में भी है— पर वह थोड़ी भिन्न है। वहाँ चौका बनाकर उसके चारों कोनों पर चार केले के खंभे गाड़ दिए जाते हैं। वहाँ प्रसाद एक लोटा स्वच्छ जल तथा ऊपर चंदोवा टाँग दिया जाता है। स्वच्छंद तंत्र में भी तथा हिंदु वैदिक धर्मानुयायियों के भी माँगलिक कृत्यों में मण्डप के कोनों पर केले के खम्भे गाड़ने का विधान है। डा० केदारनाथ द्विवेदी ने भी कबीर और कबीरपंथ[2] में इन बाह्याचारों में तांत्रिक प्रभाव का विश्लेषण किया है। तंत्र ग्रंथों में दीक्षा विधि के प्रसंग पर अभिषेक की क्रिया वर्णित है उस अवसर पर कलश-न्यास का विशेष विधान है। कविराज गोपीनाथ ने लिखा है 'शिवयोजन तक दीक्षा समाप्त हो जाने के बाद आचार्याभिषेक होता है। इस अवसर पर पाँच कलश रखे जाते हैं जिनमें पाँच पृथिव्यादि तत्व और उनमें व्यापक निवृत्यादि पाँच कलाओं का न्यास करके उनमें अनन्त से शिवपर्यन्त पाँच भुवनेश्वरों को स्थापित किया जाता है।" इत्यादि। आगे यह भी कहा है कि अंततः शिष्य पूर्व वस्त्र त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करे ...."इत्यादि। रूपक या प्रतीकात्मक ढंग पर व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि ये वस्त्र मायिक कन्चुकों के प्रतीक हैं। अभिषेक के बाद ये छूट जाते हैं। नवीन वस्त्र परमाशिव का प्रकाश है। इस प्रकार तंत्र ग्रंथों में इसका बहुत विस्तार मिलता है। इस सारे प्रपंच से प्रकृत प्रसंग में मुझे यही

---

१. स्वच्छंद तंत्र ४था पटल, पृष्ठ ८७।
२. कबीर और कबीर पंथ, पृष्ठ ३२२।
३. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १ 'दीक्षा-रहस्य'।

कहना है कि दीक्षा एक आत्मसंस्कारात्मक अन्तर्याग है, पर उसकी प्रतीकात्मक बाह्य विधियाँ भी अधिकारीभेद से प्रचलित हैं। यह अवश्य है कि ये बाह्यविधियाँ अपनी अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार विभिन्न रूपात्मक भी हो सकती हैं। मूलवृद्धि तांत्रिक आचारों या परम्परा से चली आई है। विद्वानों ने वैदिक यज्ञों की भी प्रतीकात्मक व्याख्या की है। इस प्रकार दीक्षाविधि की प्रक्रिया भी तंत्र प्रभावापन्न होकर संत साहित्य अथवा परम्परा में विद्यमान मिलती है। तंत्रों की मान्यता यह भी है कि बहिर्याग से अन्र्याग अधिक महत्वपूर्ण हैं।

उपाय[1] :

ऊपर कहा जा चुका है कि आरोहण आश्रय भेद से परमेश्वर शक्तिपात, गुरु-दीक्षा तथा साधक के उपाय-से संपन्न होता है। निरवच्छिन्न (विज्ञानाकल तथा प्रलयाकल) आत्मा पर होने वाला अनुग्रह दीक्षात्मक होता है। यह शक्तिपात जिस इच्छा से सम्पन्न होता है—वहाँ ज्ञान-क्रिया एक रूप है—अतः पृथक् से क्रिया शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। देहावच्छिन्न सकल आत्मा पर पारमेश्वर शक्तिपात अथवा अनुग्रह होने पर ही क्रियासाध्य दीक्षा होती है। इस क्रिया के लिए स्वयम् परमेश्वर ही सावच्छिन्न होकर अवतीर्ण होता है। अतः यही गुरु त्रयोदश प्रक्रिया (स्वच्छंद तंत्र में इसका सविस्तार विचार है) द्वारा परमशिवावस्थ होकर स्वयम् दीक्षा का कार्य करता है। ये वे त्रयोदश सोपान हैं जिनसे वह स्तर पर स्तर उत्प्लुति करता हुआ परमशिवव्यप्ति तक पहुंच जाता है और फिर अपने से ही शिष्य की योजना करता है। दीक्षा का पाशक्षपण 'ज्ञान' से तथा शिवत्वयोजन 'योग' से होता है। गुरु द्वारा जब इस प्रकार दीक्षा से पौरूषेय बोध व्यक्त कर देता है—तब उसका साक्षात्कार करने के लिए शिष्य को 'उपाय' करना पड़ता है। उपाय से बौद्धज्ञान होता है जो बौद्ध अज्ञान को शांत कर देता है। 'शिवो हम्' इत्याकारक बौद्ध ज्ञान से बौद्ध अज्ञान की 'उपाय' द्वारा निवृत्ति हो जाने पर गुरु द्वारा सम्पादित सारा कार्य बोध में आ जाता है। उदाहरणार्थ, जैसे बिम्ब और दर्पण दोनों पास पास हों पर दर्पणगत मल बिम्ब के साक्षात्कार में प्रतिबन्धक होता है ठीक उसी प्रकार बौद्ध अज्ञान मल भी गुरु सम्पादित पौरुष बोधात्मक बिम्ब के साक्षात्कार में व्यवधायक होता है। निष्कर्ष यह कि पारमेश्वर शक्तिपात और गुरु दीक्षा के अनन्तर शिष्यकृत 'उपाय' भी आवश्यक है। सम्प्रति उसी 'उपाय' के तांत्रिक विवेचना लोक में संत साधना का निरुपण प्रतिज्ञात है।

---

१. विस्तार देखिए, तंत्रालोक, प्रथमान्हिक, पृ० १८१।
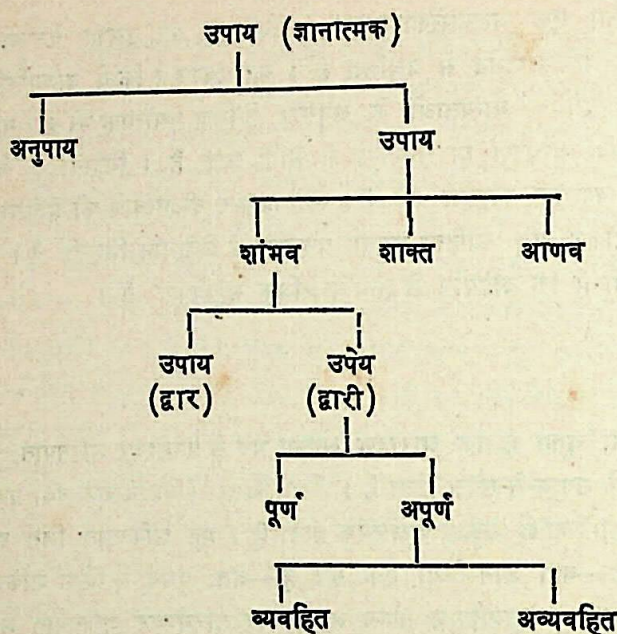
व्यवधान भी विभिन्न विजातीय माध्यमों से होता है
अतः भेदगत भूयस्त्व होता है ।

—तंत्रालोक, पृ० १८३

उपाय चार प्रकार के कहे गए हैं—अनुपाय, शांभव, शाक्त और आणव । आणव उपाय देह साध्य है—जहाँ क्रिया शक्ति काम करती है । क्रियात्मक उपाय में जप, ध्यान, भजन, आसन, प्राणायाम तथा मुद्रा आदि का समावेश किया जाता है । ये उपाय शरीर धारी साधक से ही साध्य हैं । क्रियात्मक आणव उपाय भिन्न-भिन्न स्तर के हैं । जिस साधक का चित्त जिस भूमि में निविष्ट रहता है, उसे उस स्तर का उपाय करना पड़ता है । उदाहरण के लिए जिस साधक का चित्त 'मन' में संनिविष्ट है उसे मुद्रा या आसन रूप क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है । जिसका चित्त 'बुद्धि' में अभिनिविष्ट है—उसे 'ध्यान' रूप क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है । कर्म तथा उपाधि भेद से यह आणव उपाय भिन्न-भिन्न हो जाता है । अणु संबंधी उपाय ही आणव उपाय है ।

शाक्त उपाय मंत्र-शक्ति द्वारा किया जाने वाला उपाय है । शक्ति को कार्यकारी बनाने के लिए देह संबंधी किसी भी उपाय का अवलम्ब नहीं लेना पड़ता । इस प्रकार इस शाक्त उपाय में 'शिवोऽहम्' इत्याकारक शुद्ध विकल्प से भेद-गर्भ अशुद्ध विकल्पों का अपनयन होता है । शांभव उपाय शंभु संबंधी उपाय है । इसमें शुद्ध विकल्प की भी स्थिति नहीं है । यह निर्विकल्पक स्थिति है । यहाँ तक आते-आते माया-प्रमाता पर प्रमाता की स्थिति में आ जाता है । वास्तव में विकल्प एक विशेष प्रकार का

बोध ही है। जहाँ भी विशेष प्रकार का बोध होगा वहाँ अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त विषय की अल्पता को भी सूचित करेगा। जहाँ केवल आनंद ही आनंद है वहाँ किसी विशेष प्रकार की नामतः उल्लेख्य वृत्ति या अभिव्यक्ति शब्द द्वारा नहीं की जा सकती। वास्तव में यह 'पूर्णाहंता' की स्थिति है। जहाँ अपूर्णाहंता का उन्मेष हुआ कि विकल्प का प्रादुर्भाव हो जाता है। यही शांभव उपाय काष्ठापन्न स्थिति में 'अनुपाय' हो जाता है। गीताकार ने शांभव उपाय की ही चर्चा इस श्लोक द्वारा की है—

"आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्"।

साधक की पूत यात्रा हृदय देश से आरंभ होती है। मन जाग्रत अवस्था में मनोवहा नाड़ी में विचरता रहता है जहां वायु वक्रगति है। सुषुप्ति में श्रान्त मन पुरीतन नाड़ी में या उससे घिरे हुए हृदय देश में जाता है और वहाँ जाकर अचिन्तक हो जाता है—शान्त निर्वृत्तिक स्थिति में पड़ा रहता है। यह शांति तमः प्राधान्य से भी आ सकती है और सत्वप्राधान्य से भी। सुषुप्ति में मन की शाँति तमः प्राधान्य वश रहती है—यह उसकी अज्ञानावस्था है। यहाँ का साक्षी सामान्य होता है। स्वप्न का साक्षी विशेष होता है। अचिंतकत्व सुषुप्ति में भी होता है—इसीलिए शांभव-दशा की ओर उन्मुख गीताकार ने 'आत्मसंस्थ' विशेषण 'मन' का दिया है। शांभव उपाय में मन की शांत-विकल्पहीन स्थिति रहती है—पर यह स्थिति 'आत्म-संस्थ' होने के कारण है—सुषुप्ति-गत होने के कारण नहीं। सुषुप्ति से इस जागर्ति-पूर्वक मन के हृदय प्रवेश में यही अंतर है कि वहाँ मन 'आत्मसंस्थ' नहीं रहता। जाग्रत अवस्था की भाँति यहाँ (मध्य प्रवेश) मन चिन्ताशील हो सकता है—पर है नहीं—अतएव उस प्रसक्त चिन्तन का निषेध करने के लिए ही यहाँ 'न चिन्तयेत्' की विधि है। निष्कर्ष यह कि चिन्तन (विकल्प) जाग्रत अवस्था की भांति यहाँ भी है—परन्तु यहाँ चिन्तन पर अंकुश है—वह चाहे तो कर सकता है। दूसरा अन्तर यह भी है कि जाग्रत का संकल्प विकल्प से प्रतिरुद्ध और मध्यविकास अथवा शाँभव दशा का संकल्प विकल्प से अतिप्रतिरुद्ध रहता है। यह संकल्प भले ही अप्रतिरुद्ध हो— फिर भी वर्जनीय ही है—अन्यथा निरोधावस्था नहीं आ सकती और तब चित्स्वरूपापत्ति भी नहीं हो सकती।

परप्रमाता अपने स्वातंत्र्य से जब संकोच या अपूर्णाहंता को प्राप्त होता है— तब उसे चित्त अथवा माया प्रमाता कहते हैं। उस समय सर्वप्रथम इसके समक्ष 'शून्य' आता है—यह शून्य संकुचित 'अहम्' का प्रतियोगी 'इदम्' है। बाद में इसी शून्य से अनन्तानन्त विषय प्रसूत होते रहते हैं। यह परावाक् का कार्य है। बाद में यही परावाक् घनीभूत होकर अष्टवर्गीया शक्ति का रूप धारण करती है और यह अध्यास-अनात्म में आत्मबोध तथा आत्मा में अनात्मबोध पैदा करती है। लौटते समय इन सबका भेद करने पर जब माया प्रमाता के समक्ष 'शून्य' मात्र रह जाता

है और उसका भी भेद हो जाता है तब वही माया प्रमाता पर प्रमाता हो जाता है—आत्मसंस्थ हो जाता है। इस तरह की चर्चा 'प्रत्यभिज्ञा' हृदय में भी 'अकिंचिचत् चिन्तकस्य. . .' इत्यादि द्वारा की गई है। सृष्टि प्रक्रिया के अवसर पर राधास्वामी मत से जो क्रम प्रस्तुत किया गया है—उसकी उक्त क्रिया से तुलना बहुत ही महत्व-पूर्ण है। इन उपायों का तंत्रालोक, स्वच्छंद तंत्र, पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा आदि अनेक ग्रंथों में विस्तार से विवेचन किया गया है।

संतों ने भी अपनी रचनाओं में 'जोग-जुगति' का उल्लेख किया है। 'जोग' या 'योग' से जीवात्मा परमात्मा का संजोग, प्राण-अपान का संयोग, चंद्र और सूर्य का संयोग, शिव और शक्ति का सामरस्य, चित्तवृत्ति का निरोध अथवा अन्य विध अर्थ समझे जाते हैं—जबकि 'जुगति' उपाय के ही अर्थ में प्रयुक्त है।

संतों द्वारा गृहीत साधना या उपाय पर अब तक जो विचार किया गया है—उसके अवलोकन, संत साहित्य के मनन तथा सांप्रदायिक मान्यता—इन सबके आधार पर विभिन्न प्रकार की धारणाएं मिलती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल नाथ, वैष्णव और सूफी प्रभाव देखते हैं। वे मानते हैं कि संतों में हठयोग नाथों से, अहिंसा और प्रपत्ति वैष्णवों से तथा प्रेम या राग तत्व सूफियों से लिया गया है। रामानंद से कबीर का गुरु शिष्य भाव संबंध मानते हुए भी शुक्लजी[1] ने यह मानने से जहाँ एक ओर इनकार कर दिया है कि रामानंद योग के साधक और उपदेशक थे—वहीं दूसरी ओर डा० बड़थ्वाल[2] ने राघवानंद और रामानंद दोनों को योग का साधक और उपदेशक माना है। साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि इसी राघवानंद और रामानंद की योग भक्ति समन्वित धारा में कबीर दीक्षित थे। अर्थात् इस तथ्य में शुक्लजी और डा० बड़थ्वाल —दोनों ही सहमत हैं कि कबीर में योग की धारा साक्षात् या परम्पया नाथों से ही आई थी। ये ही नहीं, परवर्ती चिन्तकों ने भी संत साहित्य में उपलब्ध 'हठयोग' की पारिभाषिक शब्दावलियों के आधार पर संतों को योग के लिए नाथों का ऋणी माना है। डा० हजारीप्रसाद[3] द्विवेदी, पं० परशुराम[4] चतुर्वेदी, पं० विनयमोहन[5] शर्मा, डा० रामखेलावन[6] पाण्डेय आदि नए-पुराने

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६६ व ६७।
२. हि० का० नि० सा० (सं० २००७) पृ० ३०६।
३. कबीर, देखिए–'हठयोग की साधना' पृ० ४४–५१ तथा 'हिंदी साहित्य' पृ० १०८।
४. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० ८७।
५. हिंदी को मराठी संतों की देन, तथा नाथ और संत साहित्य, पृ० ४४१—
"हठं विना राज योगो...न 'सिद्ध्यति।"
६. म० का संत साहित्य।

सभी चिन्तकों और शोधकों ने उक्त तथ्य की पुष्टि की है । डा० द्विवेदी ने कबीर में दक्षिण के वेदान्त भावित वैष्णव धर्म, सूफियों के मतवाद तथा उत्तर पूर्व के नाथ पंथ और सहजयान के मिश्रित रूप-तीनों का प्रभाव देखा है। कुल मिलाकर यह स्थिर हुआ है कि कबीर या तत्प्रवर्तित समस्य संत साहित्य से साधना की दृष्टि से 'भक्ति' का स्वर मुखर है और 'योग' उसका सहायक है । शुक्लजी ने भी संतों का सामान्य साधन 'भक्ति' ही माना है—अवान्तर व्यावर्तक धर्म के रूप में 'योग' लभ्य-ज्ञान' की बात कही है । अभिप्राय यह कि संतों की साधना के संदर्भ में दो ही उपाय हैं—'भक्ति और 'योग'। वैसे 'भक्ति' भी एक 'योग' ही है—पर जब 'योग' को 'भक्ति' से पृथक् रखकर विचार करते हैं—तब उसका संकेत—स्वकीय पौरुष साध्य क्रियाओं की ओर होता है । 'भक्ति' में 'जप' और 'ध्यान' ही मुख्य हैं—इनमें अशक्त होने पर ही कतिपय अन्य बाहरी क्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है । उपाय करण-साध्य हैं—करण बाह्य भी हो सकते हैं और आन्तर भी । सामान्यतः यह माना जाता है कि बाह्यकरण अथवा शरीर साध्य उपाय 'हठयोग' है और आन्तर अथवा मनः साध्य उपाय 'राजयोग' है । अंततः 'हठयोग' भी 'राजयोग' का साधक ही है—ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं । नाथपंथी[1] तथा बौद्ध[2] सिद्ध—दोनों ही स्वीकार करते हैं कि 'हठयोग' अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में माध्यम नहीं है—वह वज्रयोग, ज्ञानयोग अथवा राजयोग में सहायक ही है । साथ ही यह भी कहा गया है कि हठ-योग भी कोई आवश्यक नहीं है कि अपनी समग्रता में स्वीकार्य ही हो। जितने अंश में उसकी उपादेयता आवश्यक जान पड़े-उतने ही अंश में ग्राह्य हो—यही ठीक है।

विचारों की इस परम्परा में मेरा प्रस्ताव यह है कि किसी की भी साधना पद्धति अपने-आप में एकान्वित होती है यहाँ-वहाँ से लेकर भानुमती का कुनबा नहीं। कबीर के इर्द-गिर्द साधकों का एक परिवेश था—एक परम्परा थी—भाषा उसी के माध्यम से अर्जित थी । अतः उसमें प्रयुक्त शब्दावली पूर्व प्रयुक्त होगी ही—पर यह आवश्यक नहीं है कि उनकी अर्थविषयक धारणा भी एक ही हो । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति मर्मी समीक्षकों ने इस तथ्य को सप्रमाण लक्षित भी किया है । उन्होंने शब्दावली अथवा अभिव्यक्ति के बाह्य ढांचे की एकरूपता सिद्धों और नाथों से स्वीकार करते हुए भी अर्थविषयक धारणा में अंतर भी प्रदर्शित किया है—और यह होना भी चाहिए । होना इसलिए चाहिए कि जो संत 'पोथी' की उपेक्षा कर 'आँखों देखी' 'अनभै' या अनुभव को सर्वातिशायी महत्व देते हैं—वे भाषा भले परिवेश से लें —पर धारणा अपनी ही रखेंगे । जब धारणा अपनी होगी तब उस धारणा या अनुभव को व्यक्त करने वाले उपाय पढ़कर यहाँ वहाँ से नहीं लिए गए

---

१. भा० सं० और साधना, पृ० २७७ 'सहजयान और सिद्ध मार्ग' ।

२. श्री गुह्यसमाजतंत्र, पृ० १६३, १६५ ।

होंगे। साथ ही यह भी आशा करनी कि संत साधक परस्पर विभिन्न विचारधारा वाले गुरुओं से दीक्षा लेते रहे होंगे और उसे अपनी साधना बनाते रहे होंगे—उनमें ही अन्तर्विरोध पैदा करना होगा। इस प्रकार दीक्षा अथवा साधना-ग्रहण के संदर्भ में तीन विकल्प संभावित हैं—एक तो यह कि क्रमागत वाङ्मय से अधीति पूर्वक उन्हें कार्यान्वित किया हो, दूसरे यह कि परस्पर विभिन्न विचारधारा वाले सिद्ध गुरुओं से दीक्षाएं ली हों और तीसरे यह कि अविरोधी गुरुओं के सम्पर्क में आए हों—चौथी यह भी हो सकती है, कि मध्यतीव्र शक्तिपात वश स्वयंम समुद्भूत प्रातिभ ज्ञान से 'पराप्रमाता' के पद पर प्रतिष्ठित हो गए हों। इन विकल्पों में से पहला तो संभव ही नहीं है क्योंकि 'पोथी' उनके लिए निरर्थक थीं या हैं। दूसरा विकल्प इसलिए असंभव है कि परस्पर विभिन्न या विरोधी माध्यम या स्रोत को अपनाकर एकनिष्ठता की ओर बढ़ने वाला साधक अनेकनिष्ठता का मार्ग क्यों पकड़ेगा? तीसरा विकल्प भी संभव नहीं है—कारण परस्पर अविरोधी ही विचार होंगे–तो अनेक के पास जाकर दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है? अतः युक्ति सिद्ध तथा अनुभव ग्राह्य पक्ष यही हो सकता है कि अपने संस्कार के अनुरूप किसी एक ही पहुंचे हुए गुरु से वे दीक्षा ग्रहण करते होंगे। रही शक्तिपातवश स्वयम् प्रातिभ ज्ञान के उदित होने की बात वहाँ कोई मतभेद ही नहीं है और न उसके स्वीकार करने से जो कुछ मैं कहने जा रहा हूँ—उसमें कोई खलल ही पड़ने वाला है। कहना यह है कि संत साधक दिव्य, सिद्ध, मानव–जिस गुरु से भी दीक्षा लेगा उसके द्वारा निर्दिष्ट 'उपाय' एकान्वित होगा—जो साध्य तक पहुंचाने में अविच्छिन्न रूप से कारगर होगा। संतों के साहित्य परिशीलन से हमें चाहे जिसका प्रभाव परिलक्षित हो; पर उक्त प्रक्रिया से सोचने पर यही अनुभव सिद्ध ठहरता है कि उनके द्वारा गृहीत उपाय एकान्वित तथा अखण्ड होगा और उसका पोथी से चेतन गुरु से संबंध है। परमात्मा अंततः आत्मा ही है – आगन्तुक 'मल' ही 'आत्मा' 'परमात्मा' का भेद स्थापित करता है—अतः 'स्वरूप-स्थिति' जैसे साध्य में 'मल' को दूर करने वाले 'उपाय' का निर्देशक 'गुरु' ही सर्वाधिक महत्व का पात्र है। तत्वतः 'गुरु' भी 'आत्मा' से भिन्न नहीं है—पर साधना के धरातल पर भेद है और भेद है तो गुरु और शिष्य साधना के निमित्त भिन्न हैं। इस दृष्टि से भी 'आत्मैवात्मनो बंधुः' की उक्ति संगत है। गुरु भी 'आत्मा' ही है—दोनो में बिम्ब प्रतिबिंब संबंध पारमेश्वर अनुग्रह से स्थापित हो जाते हैं और दोनों अनायास एक दूसरे के नजदीक आ जाते हैं। साधना से वह व्यवधान भी लुप्त हो जाता है—दोनों का भेद समाप्त हो जाता है अस्तु–इस पक्ष पर 'भक्ति' वाले अध्याय में सविस्तार विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना है कि यदि संतों की अभिव्यक्तियों के साक्ष्य पर 'योग' से अभिप्राय 'हठयोग' है और 'भक्ति' से वेदान्त भावित दक्षिण से समागत वैष्णव भक्ति अथवा सूफियों की राग साधना—तो वह सर्वथा असंगत है। और यह मानना ही है तो एक ही रास्ता है गुरु द्वारा संत साधकों

में संक्रान्त होने का। निर्देशक अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंचने के लिए औरों के अनुभवों से प्रभावित हो सकता है—उनमें विद्यमान उपयोगी और अविरुद्ध तत्व ग्रहण कर सकता है। संतों की परवर्ती परम्परा या वाङ्मय को देखने से यह प्रमाणित भी होता है। प्राणनाथ में स्पष्ट ही विभिन्न धाराएं उनकी असाधारण शब्दावलियों के माध्यम से प्रतिफलित हैं—इसके विस्तार की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

यदि साधक में मानस-विक्षेपकारिणी सामग्री अधिक है—तो गुरु उसे शरीर-साध्य क्रियाओं का उपदेश दे सकता है। जिसे मन मान जाय—वह स्वाभाविक और सहज साध्य है और जिसे मन-मत्तगज न माने वह हठात् साध्य है। हठात् साध्य योग ही हठयोग है और सहज साध्य–सहज या राजयोग। आध्यात्मिक यात्रा मनः केंद्रण के विना संभव नहीं है–यदि विक्षेपक सामग्री मनः केंद्रण नहीं होने देती-तो शरीर साध्य ऐसी क्रियाएं करनी पड़ती हैं जिससे मन केंद्रित और एकाग्र होने लगे। इसलिए मनःसाध्य 'उपाय' की पीठिका रूप में काय साध्य 'उपाय' का विधान है। इस प्रकार व्यापक रूप में योग की दो ही विधाएं मानी जा सकती हैं—बाह्यकरण साध्य तथा अंतःकरण साध्य। पहला हठात् साध्य होने से 'हठयोग' और दूसरा स्वभाव साध्य होने से 'सहज' या 'राजयोग'।

साधक कुछ तो ऐसे होते हैं जो रूक्ष प्रकृति के होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो द्रवशील प्रकृति के होते हैं। अंतःकरण साध्य 'उपाय' दोनों को ही करना होता है–पर रूक्ष प्रकृति वाला साधक ज्ञान-मार्ग अपनाता है और द्रवशील प्रकृति वाला राग मार्ग। पहला राग का शमन करता है और दूसरा परिष्करण अथवा चिन्मयीकरण। आगमिक अथवा तांत्रिक मार्ग 'शक्ति' का मार्ग है—जो राग के परिष्करण अथवा चिन्मयीकरण में आस्था रखता है। संतगण इसी परम्परा के साधक हैं—अतः वे 'सहज मार्ग' अथवा 'राग मार्ग' के ही साधक हैं—वे 'भक्त' हैं। 'भक्ति' ही उनकी मुख्य साधना है—जो मनः साध्य है–स्वभाव साध्य है–राज मार्ग है–राजयोग है। साधक की क्षमता वश वे हठात् साध्य योग का भी समर्थन करते हैं—बाह्याचार, शरीर साध्य आचार की भी चर्चा करते हैं–पर अन्तर्याग, अन्तःकरण साध्य राग मार्ग को ही प्रमुख, उत्कृष्टतर तथा ग्राह्य स्वीकार करते हैं।

संप्रति, बाह्यकरण-साध्य, शरीर-साध्य अथवा हठात् साध्य क्रमागत 'उपाय' या 'उपायों' के विषय में कुछ कहा सुना जाय संत वाङ्मय के साक्ष्य पर कुछ विचार किया जाय—यह देख लिया जाय कि 'योग' से जिस 'हठयोग' को समझा–जाता है और उसका संबंध 'नाथ' से जोड़ा जाता है—वह है क्या ? जो भी है–क्या वही संतों में है ?

'हठयोग' का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ तो ऊपर दिया जा चुका है—पर 'प्रयोग'

लभ्य प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ पर विचार किया जाना शेष है। डा० हजारीप्रसाद[1] द्विवेदी की धारणा है कि हठयोग शब्द का शायद सबसे पुराना प्रयोग 'गुह्य समाज में आता है। जो हो, नाथों का हठयोग एक तरफ मार्कण्डेय प्रवर्तित 'हठयोग' से भिन्न है तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों के हठयोग से भी। यहाँ केवल 'नाथ'-सम्मत 'हठयोग' का स्वरूप विचारणीय है। नाथपंथ में 'हठयोग' षडंग[2] भी मिलता है और अष्टाँग[3] भी। शास्त्रों में हठयोग की अन्वर्थता अनेक रूपों में बताई गई है। हकार अर्थात् सूर्य और ठकार अर्थात् चंद्र का योग ही हठयोग है। सूर्य से प्राण-वायु और चंद्र से अपान वायु समझी जाती है—दोनों के योग का एक अभिप्राय वायु-निरोध का और दूसरा इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राण वायु के संचारित[4] करने का है। 'योगस्वरोदय' के अनुस्वार आसन, प्राणा-याम तथा षट्कर्म के द्वारा नाड़ी शोधन, शोधित नाड़ी में वायु का आपूरण तथा आपूरित और स्थिर वायु से मन का स्थैर्यापादन, फलतः आनंदावाप्ति तो हठात् साध्य होने से हठयोग है ही—हठयोग नासिका में दृष्टि स्थैर्य पूर्वक ध्यान करने से हठात् ज्योतिर्मय शिवतावाप्ति भी है। हठयोग की एक पाँचवीं व्याख्या भी की गई है जिसमें यह बताया गया है कि हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इसे हठयोग कहा गया है। कुण्डलिनी उद्बोध की कई विधियाँ हैं। बिंदु, प्राण तथा मन तीनों एक दूसरे से संबद्ध हैं। एक के स्थिरीकरण से दूसरे का स्थैर्या-पादन स्वतः हो जाता है। इनमें से किसी के भी स्थिरता से कुण्डलिनी का उद्बोध संभव है। तमाम विचार करने के बाद डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का निष्कर्ष है "हठयोग असल में प्राणवायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मनोनिरोध[5] को।" नाथ मत में हठयोग किस प्रकार उनकी लक्ष्य सिद्धि में परम्परया कारण है—यह देख लें।

नाथ सिद्धों का लक्ष्य नाथ पद की उपलब्धि है। नाथ पद की उपलब्धि पिण्ड-पदसमरसीकरण है। नाथ दृष्टि से देखने पर स्पष्ट जान पड़ता है कि जो लोग जड़ तथा चेतन का आत्यंतिक विरोध मानते हैं—वे भ्रान्त हैं। ब्रह्माण्ड की भति पिण्ड में भी चेतन और पिण्ड का आत्यंतिक भेद जब तक नहीं मिटता तब तक

---

१. नाथ संप्रदाय, पृ० १२३।
२. गोरक्ष शतक, १।७।
३. सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, २।४६।
४. नाथ संप्रदाय, पृ० १२३।
५. वही, पृष्ठ १२६।

पिण्डपदसमरसीकरण की संभावना नहीं है। पिण्ड का भी नाथ योगी 'योग' द्वारा चिन्मयीकरण करते हैं और चिन्मय परमपद से उनका सामरस्य हो जाता है।

तत्वबोध से मुक्ति होती है—नाथयोगी इसे अविकल रूप में स्वीकार नहीं करते। वे ज्ञान को खडग स्थानीय मानते हैं और योग को युद्ध तथा वीर्यस्थानीय। यदि वीर्य या बल न हो और उसके साथ युद्ध न किया जाय तो केवल खड्ग से विजय लाभ नहीं किया जा सकता। इसीलिए ये लोग ज्ञान युक्तयोग अथवा योगयुक्त ज्ञान को ही ग्राह्य मानते हैं। वह स्वसंवेद्य परतत्व गुरुभक्ति से ही लभ्य है। 'सिद्ध सिद्धान्त' पद्धति में कहा गया है कि इस मार्ग में गुरु ही सन्मार्ग दर्शनशील होता है और सन्मार्ग योग मार्ग हैं तदितर मार्ग पाखण्ड मार्ग है। गुरुपदिष्ट योग मार्ग से तत्क्षण स्वसंवेद्य परतत्व का साक्षात्कार हो जाता है। तत्व की स्वसंवेद्यता तथा गुरु कृपा—दोनों से होने वाली निरुत्थान दशा (निजावेश) के अनुभव का परिणाम यह होता है कि महासिद्ध योगी स्वकीय पिण्ड को समरस कर लेता है। निरुत्थान दशा समाधिदार्ढ्यातिशय का ही नामान्तर है। समाधि की दशा में महासिद्ध योगी अनुभव करता है कि वह परमनाथ ही है। धीरे-धीरे 'अहम्' वृत्ति दबती जाती है और परमनाथमयी अंतर्वृत्ति उदग्र होती जाती है। इसी उदग्रता या उद्रेक को निजावेश कहा जाता है। इस निजावेश से समाधि दशा उदित होती है—महाप्रकाश होता है। इस महाप्रकाशमय समाधि दशा वश सच्चिदानंद चमत्कार का प्रबोध होता है। तब लगता है जैसे निद्रा के बाद विशिष्ट प्रजागर हो गया हो। इस प्रकार के प्रबोधानुभव से लगता है कि यह दृश्यमान समस्त जगत् परमपद ही है। यही स्थिति समरसीकरण की स्थिति है। धीरे-धीरे अहम् वृत्ति परमवृत्ति से वैसे ही एकरस हो जाती है। जैसे नमक की डली जल से एकाकार हो जाती है। बौद्ध सिद्ध भी महासुख दशा का निरूपण इसी दृष्टान्त से करते हैं और संतजन भी।

पिण्ड का पद से समरसीकरण तभी संभव है—जब पिण्ड की शुद्धि या चिन्मयीकरण हो जाय। आधार शुद्धि पर इन योगियों का बहुत बल है। कायशुद्धि का अर्थ है—षड्विध विकारों—जन्म, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय जरा एवं मरण से शून्य हो जाना। जरामरण तब तक है जब तक शरीर काल के प्रवाह में है। जब तक शरीर काल प्रवाह में है तब तक प्रारब्ध का प्रभाव मानना चाहिए। प्रारब्ध का प्रभाव जिस काय-घट पर पड़ता हो वह कच्चा है। योगियों नाथ योगियों की धारणा है कि जिसका घट कच्चा है उसका ज्ञान भी कच्चा है। इसीलिए महाराष्ट्र के नामदेव की नाथों ने परीक्षा ली थी और उनके घट को कच्चा बताया था। इसकी परिपक्वता के निमित्त बिसोवाखेचर ने उन्हें दीक्षित किया। मतलब यह कि अपरिपक्व देह या काय से चरम लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। काय इसीलिए अस्थिर और जराजीर्ण है कि उसका मूल 'विंदु' अस्थिर और चंचल है। अतः काय या शरीर के स्थिरीकरण के लिए विंदु का स्थिरीकरण आवश्यक है। कहा गया है—

मनःस्थैर्ये स्थिरे वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत्
बिंदूस्थैर्यात् सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ।[1] ।

अर्थात् मन के स्थिर होने से वायु और वायु के स्थिर होने से बिंदु का स्थैर्य होता है। बिंदु स्थैर्यवश स्थिर पिण्ड काल प्रवाहातीत हो जाता है—उस पर प्रारब्ध का कोई प्रभाव नहीं होता।

वज्रयानी बौद्ध भी बिंदु सिद्धि और सिद्ध देह की बात करते हैं—पर उनका वज्र-योग बिंदु-सिद्धि को केंद्र करके चलता है। नाथसिद्धों की साधन प्रणाली का नाम हठयोग है जिसका प्रधान लक्ष्य हैं कायसिद्धि, अव्यवहित प्रयोजन है काय शोधन। शरीर का मूल बिंदु है और शरीर में अनेकानेक शिराएं प्रतिष्ठित हैं। वह बिंदु पाण्डुर तथा लोहित—दो प्रकार का है। पाण्डुर बिंदु को शुक्र और लोहित को महारज कहते हैं। बिंदु को ही शिव और रज को ही शक्ति कहते हैं। बिंदु को चंद्र और रज को सूर्य भी कहा जाता है। इन्हीं दोनों के संयोग से परमपद की उपलब्धि होती है। चंद्र संयुत्तल शुक्र तथा सूर्यसंगत रज—दोनों का सामरस्य बोध करने वाला ही योगी कहा जाता है। हठयोग में 'ह' का अर्थ देहस्थित 'सूर्य' तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र है—दोनों का ऐक्य सम्पादन ही हठयोग है—यह ऊपर कहा जा चुका है।

कहीं-कहीं नाथ-सिद्धों द्वारा प्रवर्तित योग को 'महायोग' कहा गया है। यही परमार्थिक महायोग ही साधना के विभिन्न प्रकारों से संवलित होकर मंत्रयोग, लय योग, हठयोग तथा राजयोग के नाम से भी जाना जाता है। मंत्र योग वह है—जिसमें श्वास-प्रश्वास के माध्यम से निरन्तर उच्चरित होता हुआ 'हं' तथा 'सः' उलटकर सुषुम्णा में निरायास 'सो हम्' के रूप में चलने लगता है। इसे अजपाजाप भी कहते हैं। लय योग चित का लय है—जो अनेक माध्यमों मे हो सकता है। इनमें से नाथ पंथ में हठयोग तथा राजयोग महत्व के हैं। हठयोग के विना राजयोग और राजयोग के विना हठयोग पूर्ण नहीं है। कहा भी गया है—

हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः ।
न सिद्धयति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥

अर्थात् हठयोग से काय या पिण्डसिद्धि और पिण्ड सिद्धि होने पर राजयोग से समाधि सिद्धि होती है। पिण्ड सिद्धि के संदर्भ में नाथ योगियों ने पिण्डोत्पत्ति, पिण्ड विचार पिण्डसंवित्ति तथा पिण्डाधार का विस्तार से विचार किया है और बताया है कि यह ज्ञान पिण्डसिद्धि में सहायक है। पिण्डोत्पत्ति ब्रह्माण्डोत्पत्ति का प्रतिरूप है। इस क्रम का निरूपण करते हुए बताया गया है कि मूलतत्व अनामा है—उसकी इच्छा मात्र धर्मा 'निजा' शक्ति के उन्मेष' से 'परा', 'परा' के स्पंदन से 'अपरा', 'अपरा' के अहन्तार्थमात्र से—अहंकार रूप से उत्पन्न होती है। फिर उस 'अपरा' से वेदनशीला

---

१. हठयोग प्रदीपिका, ४।२८।

कुण्डलिनी शक्ति उद्धत होती है । दृष्टान्तपूर्वक इन्हें स्पष्ट करते हुए क्रमशः वीज, अंकुर, काण्ड, शाखा, पत्र फल की वात कही गई है। इन शक्तियों के पाँच पाँच गुण हैं । पिण्डविचार के अंतर्गत षटचक्र, षोडेशाधार, त्रिलक्ष्य तथा व्योम पञ्चक के साथ-साथ अष्टाँग योग का भी उल्लेख किया गया है । पिण्ड संविति के अंतर्गत चराचर जगत् का ब्यौरा पिण्ड में ही वताया गया है । परापर विमर्शरूपिणी संवित् ही अनेकविध रूप से सकल पिण्डों का आधार होकर वर्तमान है—पिण्डाधार रूप में उसी का विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

ऊपर यह वताया गया है कि स्वरूप वोध या समरसीकरण के लिए कायशुद्धि अपेक्षा है और कायशुद्धि के लिए विंदुस्थैर्य । विंदुस्थैर्य के लिए हठयोग का विधान है हठयोग के द्वारा मन-पवन निरोध की वात वार वार कही गई है । जिस प्रकार वज्रयानी वौद्ध अपनी साधना निर्माण चक्र से आरंभ करते हैं उसी प्रकार नाथ योगी अपनी हठयोग साधना नाभि से आरंभ करते हैं ।

यद्यपि यह ठीक है कि विंदु, प्राण तथा मन तीनों ही इस प्रकार संवद्ध हैं कि एक के स्थिरीकरण से दूसरे का स्थिरीकरण हो जाता है—तथापि उनके स्थिरीकरण के लिए पृथक्-पृथक् प्रयत्न और अभ्यास होता है । इस पृथक-पृथक् प्रयत्न से थोड़ी सुविधा मिलती है । मान लिया कि कोई विंदु के स्थिरीकरण का प्रयत्न कर रहा हो—तो उसमें सौंकर्य और सम्यकत्व लाने के लिए आवश्यक है कि प्राण एवं मन के शोधन या स्थिरीकरण के जो साधन निर्दिष्ट किए गए हों—यथासंभव उनको भी करता रहे । योगियों की धारणा है कि विंदु शोधन से अन्नमय कोश, प्राण शोधन से प्राणमय कोश, मानसिक क्रिया के वल से मनोमय कोश, विचार एवम् विवेक द्वारा विज्ञानमय कोश तथा अहेतुक भक्ति योग द्वारा आनंदमय कोश का मल शोधित होता है । इस प्रकार पूर्व-पूर्व के शोधन से निवृत्त आवरण द्वारा उत्तरोत्तर शोधन की क्रिया सरलता से चलती है । इस प्रकार तीनों देहों का शोधन हो जाता है ।

असिद्ध विंदु वाले साधक को प्राणायाम का अभ्यास काफी कठिन होता है। देह की अशुद्धि का ही परिणाम है कि वाय का प्राण इड़ा और पिंगला के वीच वक्राभाव से घूमता रहता है । यदि बिंदु साधना से देह मल हट जाय, तो सात्विक तेज का उदय होता है जिसके परिणाम स्वरूप वायु हलकी हो जाती है और मध्ययथ या सुषुम्णा में नीचे ऊपर संचरण करने लगती है कभी कभी स्थिर भी होने लगती है । यही अंतः प्राणायाम है, अजपाजाप की प्रत्रिया है । स्थूल देह में इड़ा और पिंगला के वीच स्थूल वायु की जो श्वास प्रश्वासात्मिका क्रिया है—वही सुषुम्णा में सूक्ष्म प्राण की ऊर्ध्वाधः संचारात्मक त्रिया है वही 'वज्रा' में सूक्ष्म मन की संकल्प विकल्पात्मक क्रिया है । स्वभाव की प्रेरणा से संकल्प की वृत्ति तिरोहित होने लगती है—फलतः 'चित्रा' के विकास के साथ विज्ञानमय कोश खुल जाता है—तव संकल्प शुद्धि होने से मनस्थैर्य हो जाता है और सत्यसंकल्प का उदय होता है । अंततः उसका भी

क्षय हो जाता है—तब वृत्यात्मक ज्ञानेच्छा की निवृत्ति हो जाती है और परमानन्द की उपलब्धि होती है। यह स्थिति ब्रह्मनाल के बीच मिलती है। इसके बाद की अवस्था अवस्था नहीं, 'स्वभाव' या सहज' की उपलब्धि है।

जो भी हो, नाथ सिद्धों की साधना में आपेक्षिक प्राधान्य प्राण साधना को ही है इसलिए नाथ साधना के संदर्भ में हठयोग प्राण साधना ही है। डा० हजारी प्रसाद का विचार संगत है। यह शरीर नाड़ियों के जाल से व्याप्त है जिनमें पित्त, कफ आदि आवरक तत्व विद्यमान हैं। प्राणायाम के लिए इनका शोधन आवश्यक है। नाड़ियाँ प्राण वाहिनी हैं और नाभि केंद्र से निकलकर चारों ओर फैली हुई हैं। नाड़ी शोधन से प्राण के संचार या प्रणायाम में सहायता मिलती है और प्राणायाम से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। नाड़ियाँ वायु से बनी हैं—वायु ही शक्ति है उसी के स्पंदन से इंद्रिय, मन, बुद्धि, बिन्दु-सब संस्पद हैं। अतः उसके निरोध से सबका निरोध हो जाता है। आत्म स्वरूप में स्थित होने से फिर इस निरोध का भी निरोध हो जाता है—तब व्युत्थान और निरोध में कोई अंतर नहीं रह जाता तभी साम्य का उदय होता है।

प्राण ही शक्ति है और नाड़ियाँ उस शक्ति के संचार का मार्ग। साधनावश इसी प्राण या शक्ति के आवरण को हटाया जाता है – उसका जागरण या चिन्मयीकरण किया जाता है। यही वायु जब सरल और शुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रवेश करती है—तब उसी को कुण्डलिनी चैतन्य या मंत्र चैतन्य कहा जाता है।

प्राण शोधन में यम, नियम, आसन, बंध तथा षट् कर्म—नेती; धौती, वस्ती, त्राटक, नौली, कपाल-भाती का उपयोग बताया गया है। बंधों में मूलबन्ध, जालंधर बंध तथा उड्डीयानबंध की महिमा पर्याप्त गाई गई है।

इस प्रकार प्राण शोधन को केंद्र में रखकर चलने वाली हठयोगियों—नाथ सिद्धों की साधना से पिण्ड की शुद्धि हो जाने पर समाधिपर्यवसायी प्रत्याहार, धारणा और ध्यान में सौंदर्य आ जाता है। समाधि जिसे राजयोग कहा जाता है—दृढ़ होने लगती है। समाधि के अतिशय दाढ्‌र्य से—जैसा कि पहले कहा गया है—पिण्डपद समरसीकरण की स्थिति आ जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथगण किस प्रकार चरमलक्ष्य की सिद्धि में हठयोग द्वारा वायु निरोध करते हैं। इस साधना का आरंभ वे नाभि से करते हैं। नाथ का 'हठयोग' क्या है—यह स्पष्ट हो गया और यह भी स्पष्ट हो गया कि वह उनके चरम लक्ष्य का किस प्रकार अंग है। जिस रूप में नाथों का 'हठयोग हठयोग' है—पवन निरोध और काय शुद्धि का साधक है क्या उसी रूप में संतों ने निर्गुनिएं साधकों ने उसे अपनाया है ?

संप्रति, संत साहित्य के साक्ष्य पर यह देखना चाहिए कि वे 'योग' का कौन सा रूप अपनाते हैं—'भक्ति' को कैसे उससे अविरुद्ध करते हैं—और दोनों के अविच्छेद्य सोपानों द्वारा चरम लक्ष्य किस प्रकार उपलब्ध करते हैं।

संत साहित्य के मर्मज्ञ कविराज गोपीनाथ की धारणा है—"भारतीय अध्यात्म साधन की रहस्यमयी प्रगति की समीक्षा के प्रसंग में मध्ययुग का इतिहास सर्वथा महत्वपूर्ण है। मध्ययुग में भी नाथ सम्प्रदाय की योग साधना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्राचीन होने पर भी उस समय में जो शैव तथा वैष्णव आगम मूलक साधनाएं देश में प्रचलित होकर विस्तार को प्राप्त हुई थीं, वे सुदीर्घ काल तक अपने अपने गुरुत्व का संरक्षण कर सकी थीं। दोनों ही साधनाएं यद्यपि 'योग साधना' के अंतर्गत थीं—तथापि नाथ सम्प्रदाय के योगी विशेष रूप से ज्ञानपथ के पथिक थे तथा संतों के साधन में भक्ति मार्ग का ही प्राधान्य था[1] "सर्वत्र अन्वेषण करने से यही पता चलता है कि किसी न किसी प्रकार से उनका मुख्य साधन वाग्योग का ही एक रूप है। इसे नाम साधन भी कहा जाता है। सुरत शब्दयोग इसका दूसरा नाम[2] है। "संतों में सुरत शब्दयोग के भी विभिन्न प्रकार के प्रस्थान हैं। सर्वत्र ही दीख पड़ता है कि लक्ष्य तो है–अनामी अथवा उस प्रकार की स्थिति जो संतों के अंगीकृत सत्यलोक के ऊर्ध्व में है। संतलोग भक्त रहे, इसीलिए नाथ योगियों के लक्ष्य से उनके लक्ष्य में कुछ भेद रहना स्वाभाविक[3] है। "लक्ष्यगत भेद साधन में भी भेद पैदा करेगा। इन उद्धरणों से भी पुष्ट होता है कि नाथों का हठयोग संतो की साधना का अंग नहीं है। इधर संतवाङ्मय पर आधृत जो काम हो रहे हैं उनसे भी 'हठयोग' की अंगता समर्थित नहीं हो रही है। बाबू श्यामसुंदर दास का विचार है—"योग की क्रियाओं के विषय में भी उनकी जानकारी थी। इंगला, पिंगला, सुषम्णा, षट्चक्र आदि का उल्लेख कबीर ने किया है, परन्तु वे योगी नहीं थे। उन्होंने योग को भी माया में सम्मिलित किया[4] है। डा० हजारीप्रसाद[5] द्विवेदी की भी धारणा है कि वे योगियों की रूपान्तरित जाति में ही बड़े हुए थे, फिर भी वे योग को वह स्थान न दे सके जो उसे नाथ पंथियों में प्राप्त था। वे योग प्रक्रिया के विरोधी नहीं थे, परंतु हठयोगियों की सभी क्लिष्ट साधनाओं को आवश्यक नहीं समझते थे। अंतः साधना पर बल देने वाले कबीर यौगिक क्रियाओं को भी बाह्याचार ही मानते थे। कुछ लोग हठयोग की पारिभाषिक शब्दावलियों और तज्जन्य अनुभूतियों का विवरण देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि आरंभ में कबीर दास हठयोग की पद्धति की ओर आकृष्ट रहे होंगे—पर धीरे-धीरे उसकी ओर से अपरक्त होते गए और अंततः

---

१. नाथ और संत साहित्य, पृ० ३।
२. वही, पृ० ७।
३. वही, पृ० ६।
४. कबीर ग्रंथावली की भूमिका, पृ० ५६।
५. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ३१, ३७, ७८, ६०।

भक्ति मार्ग के पथिक[1] बने। दूसरे लोगों की धारणा है कि उनके साहित्य में कहीं तो नाथ अवधूतों के प्रति आस्था है और हठयोग का निष्ठा-गर्भ विवरण और कहीं उनकी निन्दा तथा उपेक्षा—इस परस्पर विरोधी पद्धति से संभवत: उनका आशय यह रहा हो कि विशुद्ध काय साधना और सिद्धिज चमत्कार पर्यवसायी हठयोग तथा उसके साधकों के प्रति जो उनको अनास्था थी, पर मनःशोधन में यदि वह उपादेय है—तो उसके प्रति आस्था। इसीलिए उनकी धारणा है कि मनःशोधन से काय शोधन हो ही जायगा, पर काय साधन कभी बाह्याडम्बर की ओर साधक को मोड़ सकता है। संभव है उनके समय में कायसिद्धि—पर्यवसायी नाथ-हठयोग अधिक प्रचलित रहा हो—फलत: साधक वर्ग की प्रकृति से परिचित कबीर ने रूक्ष हठयोग की निंदा भी की हो—साथ ही मनःस्थैर्य से अनायास पवन-स्थैर्य और बिंदु स्थैर्य हो जाने से उनकी परिणतियों का आत्मविश्वास के साथ प्रशंसात्मक स्वर में अभिव्यक्ति भी की हो। मेरा विचार तो इसी अंतिम संभावना के पक्ष में है।

संत साहित्य में जोग-जुगति के नाम पर अनेकविध जोगों का उल्लेख मिलता है—भक्तियोग, ज्ञान योग, कर्म योग, ध्यान योग, नाद योग, लय योग, राज योग, तथा हठ योग आदि। इसी प्रकार अनेक विध मार्गों का भी उल्लेख मिलता है—पिपीलिका मार्ग, विहंगम मार्ग, मीन मार्ग तथा मर्कट मार्ग। संत साहित्य में 'उपाय' पर सोचते-विचारते हुए अनेक विधि जिन उपयुक्त जुगुतियों तथा मार्गों का उल्लेख मिलता है उनकी चर्चा के प्रति मौन रह जाना संभव और युक्तिसंगत नहीं है। यह अवश्य विचारणीय है कि ये समस्त योग और मार्ग-परस्पर एकान्वित हैं—"अंगांगिभाव से संबद्ध है—चरमलक्ष्य की उपलब्ध की दृष्टि से अथवा परस्पर विरुद्ध या स्वतंत्र हैं—यदि संबद्ध हैं—तब तो कोई सवाल ही नहीं है—पर यदि परस्पर विरुद्ध तथा स्वतंत्र हैं तो उनकी चर्चा का आशय क्या है ? क्या वे निषेध्य और पूर्वपक्ष के रूप में कहे गए हैं अथवा और कोई आशय है ?

संतों में दो प्रकार के लोग दिखाई पड़ते हैं—कुछ तो ऐसे हैं जो शास्त्र निष्णात और संतुलित हैं—अत: सैद्धांतिक धरातल पर वे सभी साधनाओं के अधिकार-भेद से भिन्न तात्विक पक्ष से अभिज्ञ हैं—फलत: वे पद्धति विशेष में आस्था रखते हुए भी अन्य पद्धतियों का भी निःसंग भाव से उपस्थापन कर देते हैं। कुछ ऐसे हैं जिन्हें शास्त्र से परिचय नहीं है—फलत: उनके समक्ष साधनाओं और मार्गों का तात्विक पक्ष नहीं, व्यवहार में दृष्टिगोचर अतात्विक पक्ष सामने है—जो काल प्रवाह वश उसमें संक्रान्त हो गया है—ऐसे संत जन उसी अतात्विक पक्ष को सामने रखकर आक्रोश व्यक्त करते हैं—खण्डन करते हैं और उसमें लिपटे रहने वालों को भरपेट

१. निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका।

पानी पी-पी कर कोसते हैं। एक अध्यात्म मार्ग का पथिक जब दूसरे अध्यात्म मार्ग की निंदा करे—तब यही समझना चाहिए।

शास्त्र निष्णात संतों में सुंदरदास तथा अक्षर अनन्य प्रभृति का नाम लिया जा सकता है इन दोनों ने भिन्न-भिन्न शास्त्रों में चर्चित, भिन्न-भिन्न साधकों द्वारा स्वीकृत साधना प्रणालियों का प्रामाणिक उपस्थापन किया है—यद्यपि अपनी साधनारुचि का भी उल्लेख किया है।

(क) ज्ञान योग :

पहले कहा जा चुका है कि साधक दो प्रकार के होते हैं—रूक्ष तथा द्रवशील—ज्ञान सभी के लिए काम्य है—पर कोई तदर्थ योग की सहायता लेता है—आत्म पौरुष की अपेक्षा करता है और कोई आत्मसमर्पण का। आगमों में अद्वयवादियों का एक ऐसा भी मार्ग है—जो भक्ति और ज्ञान में कोई भेद ही नहीं मानता। सामान्यतः 'ज्ञान योग' का संबंध शाँकर अद्वैत वेदान्त से जोड़ा जाता है—कारण, इसमें भक्ति की अपेक्षा 'ज्ञान' का विशेषतः उल्लेख है। शांकर वेदान्त मानता है कि शमदमादि साधन चतुष्टम सम्पति लाभ के अनंतर मुमुक्षु साधक में गुरु द्वारा 'श्रवण' की पात्रता आती है 'श्रवण' के अनन्तर उसके प्रति आस्थावान् होने के निमित्त प्रतिकूल तर्क का खण्डन तथा अनुकूल तर्क का आश्रयण अर्थात् 'मनन' करना पड़ता है। मनन के पश्चात निदिध्यासन की स्थिति आती है। निदिध्यासन मंतव्य विषय विषयक वृत्ति की एकतानता ही है—यही समाधि है—इसकी स्थिरता का प्रभाव होता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अखण्ड विद्यात्मिकावृत्ति उदित होती है। चाहे यह वृत्ति जितनी सात्विक हो—अंततः माया की ही परिणति है—अतः इस वृत्ति का भी विनाश आवश्यक है। इस वृत्ति से भेद-गर्भ विरोधी आवरणात्मिका वृत्ति विनष्ट हो जाती है। कतक रजो न्याय से अखण्डाकार सात्विक वृत्ति विरोधी वृत्ति का शमन करती हुई स्वयम् भी शांत हो जाती है—'आवरण' जिससे आत्मस्वरूप की विस्मृति थी—नष्ट हो जाता है—फलतः भ्रम-सर्जक विक्षेप भी शांत हो जाता है—स्वरूप के साक्षात्कार से असाक्षात्कार जन्य अंधकार-अज्ञान नष्ट हो जाता है। अविद्या या अज्ञान का विरोधी 'ज्ञान' जिस मार्ग से मिलता है—वह ज्ञान मार्ग है। अज्ञान स्वरूप विस्मृति का और ज्ञान स्वरूप साक्षात्कार में निमित्त है।

संत सुंदरदास ने 'सुंदर विलास' में इस ज्ञान मार्ग का निम्नलिखित रूप में स्पष्ट ही उल्लेख किया है :

> श्रवण करत जब सबसूं उदास होइ
> चित्त एकाग्र आनि, गुरु मुख सुनिए।
> बैठि के एकाँत ठौर, अंतःकरण माँहि
> मनन करत जोर, सबै ज्ञान गनिए॥

ब्रह्म अपरोक्ष जानि, कहन है 'अहं ब्रह्म'
सोहं सोहं होइ सदा निदिध्यास धुनिए
संदर साक्षात्कार कीट ही ते होइ भृंग
यह अनुभव यह स्व स्वरूप मानिए[१]।।२६

इस प्रकार अनेक बोध-सुलभ दृष्टान्तों से 'ज्ञान मार्ग' का स्पष्टीकरण किया गया है। अक्षर अनन्य ने तो 'ज्ञान योग' नाम से एक रचना ही स्वतंत्र प्रस्तुत करदी है। पर इसमें 'ज्ञान योग' का वह स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है जो सुंदरदास द्वारा शांकर वेदान्त के अनुरूप कहा गया है ! अक्षर अनन्य ने इतना तो स्पष्ट कहा है—

"ग्यान कहावै जानिबो"
"ग्यान जोग ग्यानीन कहं"
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग सरवग्य बोध
साधैं यहि विद्या के अविद्या को विनास है[२]।"
"छूटै न अविद्या विद्यमान ब्रह्मभाखै नहीं
तौ लौं ब्रह्म सान काठ अगिनि कौ भाव[३] है।"

इस प्रकार इन कतिपय पंक्तियों को जोड़कर उक्त आशय का ज्ञायोग स्पष्ट किया जा सकता है। परंतु इसी वृत्ति में कहीं-कहीं 'ज्ञानयोग' के स्पष्टीकरण के संदर्भ में ऐसी बातें भी कही हैं जिनसे विहंगम मार्ग, सहज योग और ज्ञान योग पर्याय से लगते हैं ; देखिए—

ज्ञान जोग मारग विहंगम सुगम पथ[४]

संभवतः सुंदरदास को छोड़कर इन संतों ने 'ज्ञानयोग' का स्वरूप अपनी साधना के अनुरूप ही निरूपित किया है। ज्ञान को महत्व सभी देते हैं—पर शांकर पद्धति से नहीं—अपनी पद्धति से। अपनी पद्धति का तात्पर्य यह है कि ज्ञान से अभय होता है—पर यही अंतिम लक्ष्य नहीं है—अविद्या के विनाश से ज्योति का प्रकाश होता है—पर सच्ची भक्ति का आरंभ तभी से होता है। यही कारण है कि निर्गुण भक्ति को ज्ञानाश्रयी कहा जाता है। कबीर के नाम पर है—

मरन जीवन की शंका नासी। आपन रंगि सहज परगासी
प्रगटी जोति मिटिआ अंधियारा। रामरतनु पाइआ करत बीचारा
जर अनन्दु दुखु दूर पइआना। मनु मानक सिव ततुलुकाना[५]।

---

१. सुंदरविलास-आत्म अनुभव का अंग, पृष्ठ १६५।
२. अक्षर अनन्य ग्रंथावली, पृ० ८७।
३. वही, पृ० ८८।
४. अक्षर अनन्य ग्रंथावली, पृ० ६०।
५. संत कबीर, [illegible] प्रभाती—१।

अर्थात् मरण और जन्म की शंका नष्ट हो गई । सहज आत्मस्वरुप अपने रंग में आवरण के विघटित होने से प्रकाशित हो गया आत्म स्वरूप की अपरोक्षानुभूति हो गई । ज्योति के प्राकट्य से अविद्यांधकार तिरोहित हो गया और विचार के फलस्वरूप राम रूपी रत्न उपलब्ध हो गया । अंतस् में आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा—दुःख का विलय हो गया । मन माणिक्य लव था भक्ति तत्व में लीन हो गया ।

वस्तुतः संतगण ज्ञानोत्तरा भक्ति के उपासक हैं—अतः शांकरमतानुरूप आत्मा की अपरोक्षानुभूति होने के बाद भक्ति की शुद्ध वासना को चरितार्थ करने के निमित्त इनकी भक्ति चलती रहती है । इस तथ्य की पुष्टि और तरह से भी होती है । अतः ज्ञान योग शांकरमतानुरूप रहे भी—तब भी वे 'ज्ञान' को ही अंतिम स्थिति नहीं मानते । उनके यहाँ 'ज्ञान' भक्ति साध्य भक्ति का अंग है । अन्यत्र भी कबीर पंथी ग्रंथों में भी कहा गया है—

बिना ज्ञान घर में अंधियारा । ज्ञान बिना नहिं होय[1] उजारा

यहाँ तक कि ज्ञान को भक्ति का साधन भी कहा है—

"ज्ञान गहे बिन मुक्ति न होई । कोटिक लिखे पढ़े जो[2] कोई"

इन सबके बावजूद कबीर एवं कबीर पंथी—सभी ज्ञान को भक्ति का अंग ही मानते हैं—भक्ति में सहायक ही समझते हैं—

"भक्ति के भाग ज्ञान कहलावें । भक्ति में सकल ज्ञान गुन[3] पावें"

कहा तो यह भी जाता है कि निम्नलिखित श्लोक-शंकर का है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक प्राप्ते बोधे मनीषया।
भत्यर्थं कल्पितं द्वैतंमद्वैतादपि सुंदरम् (बोधसार) ॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंग [4] ।

अर्थात अद्वैत साक्षात्कार से पूर्व भी एक तरह का द्वैत होता है और उसके बाद भी कल्पित किया जा सकता है । पर बोध पूर्ववर्ती द्वैत मोहकारी होता है जबकि बोध परवर्ती द्वैत भक्ति के निमित्त कल्पित होता है अतः वह अद्वैत से भी सुंदर है । कारण, वहाँ भेद है अतः अभाव बोध भी है और अभेद है अतः पूर्णताबोध भी

---

१. अमरमूल, पृ० २०७।
२. हनुमानबोध, पृ० १२६।
३. जीवधर्मबोध, पृ० ४६।
४. बोधसार ।

है। पूर्णतावोध का छक कर आस्वाद अपूर्णता की पीठिका पर ही होता है। इसलिए भक्तों में भी एक धारा वियोग-गर्भ संभोग पसंद करती है और तदनुरूप साधना चलाती है। ज्ञानी भक्त को गीताकार ने भी सर्वोत्तम माना है। इन भक्तों की धारणा है कि यद्यपि विद्या द्वारा आविधिक व्यवधान तिरोहित हो गया और भेद का सर्वथा अपगम हो गया—तथापि यदि उपास्य और उपासक में संबंध-निरूपण का प्रसंग हो तो प्राधान्य उपास्य का ही होगा—उपासक नहीं। जैसे, तरंग और समुद्र एक रस हो जायं तो भी कौन किसकाँ यह प्रश्न उठे—तो उत्तर में 'समुद्र की तरंग' ही कहा जायगा न कि 'तरंग का समुद्र'। यही स्थिति ज्ञानाश्रयी भक्ति की भी है।

'ज्ञान बिना नहिं दीठि दिखाई[1]' कहने वाले दरिया,
-अंजन देय न ज्ञान का अंधा भया बनाय'[2] की धारणा वाले पलटूदास,
"दादू एकै रह गया तब जानी जागा"[3] का उद्‌घोष करने वाले..

दादू आदि आदि सभी संतों ने ज्ञान की महिमा स्वीकार की है—पर भक्ति को सर्वातिशय वताकर।

सिक्ख गुरुओं ने ज्ञान दो प्रकार के कहे हैं—वाचक ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान। वाचक ज्ञान पोथी का ज्ञान है—जिसकी प्रायः सभी संतों ने उपेक्षा की है। ब्रह्म ज्ञान की महत्ता इन गुरुओं ने सर्वत्र स्वीकार की है।

सममह ऊंच बिसेस गियानु[4]—नानक का उद्‌घोष ही है। अद्वैतवादी स्वर इन गुरुओं की वाणी में मुखर है।

'एको कहिए नानक दुजा काहेक्[5]'

डा० जयराम मिश्र ने शेरसिंह की पुस्तक में प्रतिपादित अद्वैतवाद विरोधी स्वर का खण्डन किया है।[6] इतना ही नहीं डा० मिश्र ने विस्तारपूर्वक शांकर अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के साधनों का भी विस्तार से विचार किया है। साथ ही यह भी ये गुरु स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मज्ञानी के हृदय में अकाल पुरुष परमात्मा मात्र से प्रेम रहता है। अर्थात् अद्वैत वोध का भक्ति में उपयोग ये भी स्वीकार करते हैं। संत पलटूदास की भी ज्ञान में आस्था है और भक्ति में वे उसका उपयोग मानते हैं—

---

१. दरिया साहब, पृ० २५।
२. पलटू साहब की बानी, भाग ३।
३. दादू साहब की बानी, भाग १ पृ० १४४।
४. श्री गुरु ग्रंथ साहब, मारूसोल है, महला १, पृष्ठ १०३४।
५. श्री गुरुग्रंथ साहब, मलार की बार, महला १, पृ० १२६१।
६. गुरु ग्रंथ दर्शन हरि प्राप्ति पथ, ज्ञानमार्ग।

'ऐसे उपजै ज्ञान भक्ति को पाइके'[1]

संत रज्जब की भी पंक्तियाँ हैं—

सूरा ह्वै संग्राम चढ़ि अदि इन्द्री अहि मारि
जन रज्जब जुध जीतिए ज्ञान खंग कर धारि[2]।।

इन्होंने साधक को एक योद्धा कहा है और कहा है कि ज्ञान के कृपाण से वे युद्ध जीत सकते हैं। संत दरिया के ही शब्द हैं—

"ज्ञानी जन कहं दूःख नहिं भाई"[3]

अर्थात दुःख का आत्यंतिक उच्छेद उनके लिए भी संभव है—जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है। संतों का ज्ञान योग भक्ति का अंग है—इसीलिए धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की यह धारणा है कि यह शंकर या कपिल का 'ज्ञान' नहीं है। यह तो सहज ज्ञान या अनुभूति है जिसे भक्त अथवा उपासक आत्मशुद्धित तथा योग क्रियाओं द्वारा मन की एकाग्रता सम्पन्न करके धीरे धीरे प्राप्त करता[4] है।

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने दरिया का अभिमत तांत्रिक मतानुरूप बड़ा ही उत्तम दिया है—"भक्ति नारी है और ज्ञान पुरुष। जिस प्रकार पत्नी अपने पति को मन और शरीर दोनों दे डालती है—उससे मिलकर एक हो जाती है—उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान अन्त में मिलकर एक हो जाते[5] हैं।" तंत्र साधना की भी मान्यता है कि एक स्वर वह आता है जहाँ ज्ञान और भक्ति एकरस हो जाते हैं।

इस प्रकार संत परम्परा ज्ञान योग का उल्लेख करती है—पर ठीक उसी प्रकार जैसे हठयोग के अंगों का। यह सब कुछ भक्ति के अनुरूप होकर ही ग्राह्य हैं—अपने आप में नहीं।

(ख) कर्मयोग :

'कर्मयोग' और 'संन्यास'—में संत जन 'कर्मयोग की ओर ही उन्मुख हैं। जीवन्मुक्ति के पहले नहीं, बाद में सवाल उठता है कि कर्म करना चाहिए अथवा नहीं? जीवन्मुक्ति के पूर्व तो अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त कर्म करना ही है—अनासक्तिपूर्वक व्यवहार सम्पादन अपेक्षित ही है। जहाँ जीना मरना, साँस लेना और छोड़ना भी कर्म है—वहाँ कर्म का आत्यंतिक त्याग संभव ही नहीं है। गीता०

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग २ पृष्ठ ७९ पद ९२।
२. रज्जब बानी सुरातन का अंग, साखी-४६।
३. ज्ञानस्वरोदय, पृ० ३४५।
४. सन्त कवि दरिया, एक अनुशीलन।
५. वही, पृ० १२७।

कार ने 'कर्म' का स्वरूप बताते हुए कहा है—"भूतभावोदवकरः विसर्गः कर्म संज्ञितः" ब्रह्म से भूतभाव के उद्भव के निमित्त जो हलचल पहले पहल हुई होगी—वही कर्म है—अविद्या भी कर्म ही है। समस्त सृष्टि उस कर्म या व्यापार की ही परिणति है—जिससे नामरूप जात का निर्माण हुआ है। कर्म की इतनी व्यापक धारणा जहाँ है—वहाँ कर्म त्याग का कोई अर्थ ही नहीं है। पर समस्या यह है कि कर्म यदि बंद न हो—तो आवागमन भी बंद न हो। कहा भी गया है—'कर्मणावध्यते जंतुः" कर्म से मनुष्य बँधता है। बात यह है कि वस्तुतः कर्म नहीं, कर्म के मूल में रहने वाली आसक्ति मनुष्य को बाँधती है। अतः कर्म नहीं, आसक्ति का त्याग होना चाहिए। यही कारण है कि जो कर्म आसक्तिपूर्वक सम्पन्न होकर बंधन का कारण बनता है वही अनासक्तिपूर्वक सम्पन्न होकर मुक्ति का निमित्त बन जाती है—"कर्मणेव विमुच्यते" का आशय यही है। जीवन्मुक्ति से पूर्व 'कर्म' अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म किया जाता है और जीवन्मुक्ति के अनन्तर लोक संग्रह के लिए।

संत साहित्य में इस कर्मयोग की भी चर्चा मिलती है। अक्षर अनन्य ने 'संन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग' की महत्ता गीता के अनुरूप ही स्वीकार की है। उनका कहना है—"सुकर्मआग की यह हकीकति, जुकर्म तो सब करै पै परमात्मा को अर्पित कै करै, फल न बाँछें। जु कछू दान व्रत, होम पूजा जप करै तेई अर्पित करै अरु खाय पियै लेइ देइ, जु कर्म करने होइ ते परमात्मा ही कौ अर्पि करै, तातें कर्मउ करे अरु निवर्तउ होइ। यह राज योग को मत[1] है।" अक्षर अनन्य की दृष्टि में संन्यासजोग अपने पौरुष से समुद्र में तैरता है और कर्मयोग जहाज द्वारा—कारण इसमें ईश्वरार्पण का सहारा है—उपास्य का सहारा है। इस निरूपण से स्पष्ट है कि 'कर्मयोग' का भी झुकाव भक्ति के ही अनुरूप है।

यद्यति संतों ने यह स्वीकार किया है कि ईश्वरानुभूति के बाद चाहे गृहस्थ बने या विरक्त—उसके लिए सभी शोभनीय है—"नानक नामु वसिआ जिसु अंतरि परवाणु गिरसत उदासा जीउ[2]—तथापि व्यवहार में इन लोगों ने गृह त्याग पर कभी बल नहीं दिया। उनकी रहनी और करनी गृहस्थ धर्म की स्वीकृति में प्रेरक है। कितना स्पष्ट अनासक्त कर्म का उपदेश है—

विचे गृह सदा रहे उदासी
जिउ कमल रहे विचि पाणी[3] हे ॥१०१२

---

१. अक्षर अनन्य, पृ० ४६३।
२. ग्र० ग्रं० ४१४०।४१।
३. गुरु ग्रंथ साहिब मारू सोल है, महला ४, पृ० १०१६।

कबीर ने तो कहा ही है कि पनिहारिन की तरह समस्त कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को कार्यरत रखते हुए मन को उपास्य में केन्द्रित रखे। यद्यपि अनेक संतों ने लोक-वेद-विधियों तथा कर्मों से विरति दिखाई है—कर्मों को घोर बंधन का हेतु माना है और है भी—तब भी वे यह तो कहते ही हैं—

जोग तपस्या कीजिये सकल कामना त्याग[1]

क्या योग-तपस्या कर्म नहीं है। अवश्य हैं—अतः उनके फल में अनासक्त रहकर कर्म करने में क्या आपत्ति है? इतना ही नहीं, उनका झुकाव 'जो कीजिए हरि हेत ही'—की ओर भी है। इन संतों ने तो कर्म का ऐसा सहजीकरण कर दिया था कि जो भी कर्म है—सब उपास्य की पूजा ही है—"निद्रा समाधि स्थितिः' की स्थिति तक कबीरादि[2] संतों ने कर्म को पहुँचा दिया था।

(ग) लययोग :

योगतत्वोष निषद में कहा गया है—

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन ध्यायेनिष्कलमीश्वरम्॥

अर्थात लय योग चित्त का लय है। इस लय योग का स्वरूप विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में हैं। हठ योग प्रदीपिका में (४।९४) मन को नाद में लीन करना ही लय योग है। लय की स्थिति उन्मनी दशा अथवा मनोन्मनी दशा के नाम से भी कही जाती है। इस दशा की प्राप्ति त्रिकुटी में ध्यान लगाने से भी होती है—अतः लययोग का एक प्रकार वह भी है। शून्य ब्रह्म का ध्यान करते-करते उसी में मन का विलय कर देना भी लययोग का एक प्रकार है।

हिंदू तांत्रिकों के अनुसार 'गारलैंड आव लेटर्स' में कहा गया[3] है कि बिंदु का स्थान सहस्रार है। नाद स्वरूप कुंडलिनी का उसमें लय करना ही लययोग का प्रमुख लक्ष्य होता है। संत साहित्य में नाद और नादानुसंधान की चर्चा अनेकशः आई है। कबीर ने उन्मनी और मनोन्मनी अवस्थाओं का भी उल्लेख किया है।

(घ) मंत्रयोग :

मंत्र के माध्यम से किया गया योग मंत्रयोग है। मंत्र के चेतन होने से जीव की ऊर्द्धवगति होती है। संत साहित्य तथा नाथ साहित्य में प्रायः इस बात की चर्चा आई है कि दिन रात में मनुष्य की नासिका से २१६०० बार श्वास प्रश्वास की क्रिया होती है। योगशिखोपनिषद् में इसका स्वरूप करते हुए कहा गया है—

१. चरनदास की बानी, पृ० ७२।
२. श्लोक २३।
३. पृ० २०४।

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
हंस हंसेति मंत्रोऽयं सर्वं जीवैश्च जप्यये ।
गुरु वाक्यात्सुषुम्णायां नियरी तो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहंमितियः मूलात् मंत्रयोगः स उच्यते ।

बाहर आती हुई प्रश्वास से 'हकार' तथा भीतर की ओर जाती हुई वायु से 'सकार' उच्चरित होता रहता है । अनजान में जीवमात्र हंसःहंस जपता रहता है—पर गुरु की कृपा हो जाय—उससे दीक्षा मिल जाय—तो यह स्थिति उलट जाय । प्राणायाम का वक्रमार्ग बंद हो जाय—सुषुम्णा खुल जाय—जप उलटा होने लगे—हंसः का सो हम्—वन जाय—द्वंद्व मिट जाय—साधक निर्द्वंद्व हो जाय, इसे हंस योग तथा जपयोग भी कहते हैं ।

इस सो हं जाप अथवा अजपाजाप का उल्लेख भी संत साहित्य में पर्याप्त मिलता है । उद्धरणों से ग्रंथ को वर्तुल करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रकार किसी भी क्रिया के आगे 'योग' लगा कर योग का विचार किया जाय—तो उनकी संख्या काफी बढ़ाई जा सकती है । ध्यानयोग क्या है—ध्यानात्मक क्रिया का प्रामुख्य बताने वाला योग है—साधन है । संत साहित्य में इष्ट के ध्यान का भी शतशः ,उल्लेख है ।

(च) राजयोग :

वैसे तो राजयोग की बात पहले की जा चुकी है—योग के क्षेत्र या संदर्भ में इसका सर्वातिशायी महत्व माना गया है हठयोग, लययोग, मंत्रयोग—सभी राजयोग के सहायक हैं । राजयोग का स्वरूप साधकों ने अपने अपने चरम प्राप्य की दृष्टि से स्थिर किया है । वस्तुतः मनः साधना या समाधि ही राजयोग है । संतों ने 'हठ' की अपेक्षा 'सहज' पर बल दिया है—वही उनका राजयोग है । वही सहज योग है—जिस प्रक्रिया से सहज ही साधक विषयातीत हो जाता है। विषयों में रहते हुए भी निरायास उनसे असंपृक्त हो जाता है और इन सबका कारण है—मन का इष्ट की ओर ढल जाना । वृद्धावस्था में इन विषयों के माध्यम से आत्म तृप्ति होती थी—अब वह स्वयम् आत्माराम है—आत्म रमणकारी है । राजयोग यही मानस साधना है । हठयोग की पूर्ण परिणति का ही नामान्तर राजयोग है । पातन्जल दर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से इसी का वर्णन है । समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरता, लय, तत्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरन्जन, जीवमक्ति, सहज, तुरीय कविराज जी के[1] शब्दों में ये सभी राजयोग के नामान्तर हैं ।

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, पृ० ३६५ ।

योगशिरयोपनिषद् में कहा गया है कि वस्तुतः योग एक ही है—अन्य योग उसी के अवस्था भेद हैं। एक ही स्वाभाविक योग है–महायोग और उसके अवस्था भेद हैं—हठयोग, मंत्रयोग, लय-योग तथा राजयोग।

(छ) शब्दयोग :

संत साहित्य में जिस योग का सर्वाधिक मुखर स्वर है—वह है—सुरति शब्द-योग। संतों की यह असाधारण साधना है—अतः इसका विशेष रूप से बाद में विचार किया जायगा।

(ज) भक्तियोग :

सुरतिशब्द योग के साथ-साथ संतगण 'भक्ति' का भी सहारा लेते हैं अथवा कहें तो यह कह सकते हैं कि भक्ति के सहारे ही ये संत 'सुरत्' का 'शब्द' से 'शक्ति' का 'शिव' से 'मौज' का 'मालिक' से 'कुण्डलिनी' का 'शिव' से 'जीवात्मा' का 'परमात्मा' से सामरस्य लाभ करा देते हैं। 'भक्ति' के सहारे 'सुरत' का 'शब्द' से योग कराने में ये संतगण जिस मार्ग का अवलम्बन करते हैं—वह पिपीलिका मार्ग नहीं, अपितु 'विहंगम' मार्ग है। अक्षर अनन्य भी सहमत है[1]।

कहीं-कहीं जप-प्रक्रिया के भेद से मार्ग-भेद का निरूपण परम्परागत दोहों में मिलता है—एक दोहा यों है—

> कंठ की जाप पिपीलिका स्वाँसा की है मीन।
> सूरत जाप विहंग है जानत परम प्रवीन ॥

पिपीलिका और विहंगम मार्ग की चर्चा ऊपर की ही जा चुकी है—मीन मार्ग और भी एक मार्ग है। पिपीलिका मार्ग काल साध्य और श्रम साध्य सावलम्ब मार्ग है। जिस प्रकार पिपीलिका निरवलम्ब आगे नहीं बढ़ सकती, उसी प्रकार जो साधक एक चक्र से दूसरे चक्र का भेदन करता हुआ क्रमशः ऊपर बढ़ता है—वह पिपीलिका मार्गी कहा जाता है। यों बेरवरीजयहीकंठजप है—वह पर्याप्त काल साध्य है। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से जप मीनमार्गी जप है—सुरत अथवा मानस वृत्ति से जप विहंग जप है। संतों का जप या मार्ग विहंगम मार्ग है–इन सबकी विस्तृत चर्चा अगले अध्यायों में की जायगी।

इस अध्याय में तंत्र सम्मत साधना से आरोहण प्रक्रिया के तीन हेतुओं-पारमेश्वर अनुग्रह अथवा शक्तिपात, गुरु दीक्षा तथा साधक कृत उपाय की ही बात की गई

---

१. अक्षर अनन्य जैसे मारग पिपीलिका को क्रम सो चढ़ाउ पौन विघन तों ठेल है।
ग्यान जोग मारग विहंगम सुगम पंथ
ग्यान ही के बल ध्यान ही में मन मेल है।

—अक्षर अनन्य ग्रंथावली, पृ० ८० ।

है । उपाय के अंतर्गत तमाम प्रकार की योग-युक्ति की चर्चा की गई । शुद्ध विकल्प शांकर मार्ग की अद्वैतपरक अखण्डाकार वृत्ति ही है—जो शाक्त उपाय है । तदितर समस्त अपेक्षाकृत स्थूल उपाय 'उपाय' के ही अंतर्गत समाविष्ट किए जा सकते हैं । दूसरी बात इस संदर्भ में महत्व की यह है कि प्रायः जितनी साधनाएँ हैं—ज्ञान, कर्म, नाद, प्राणापानयोग, बिंदु स्थैर्य, ध्यान, हठयोग षटचक्र भेद, कुण्डलिनी उत्थापन, सहस्रार का अमृतपान—विभिन्न आध्यात्मिक लोकों का दर्शन सवकी चर्चा संत साहित्य में मिलती है—इन यौगिक प्रक्रियाओं में प्रयुक्त पारिभाषिक पदावलियाँ ही साक्षी हैं । यहाँ तक की कई संत-अक्षर अनन्य प्रभृति ने प्रतिमापूजन तथा अन्य वाह्या चारों का भी समावेश कर लिया है । संतों में मुसलमानी संस्कार के साधकों को एक तरफ कर दिया जाय—कवीर, दादू, रज्जब आदि तो अनेक संत ऐसे भी हैं जो अवतारवाद का खंडन नहीं करते, प्रत्युत निर्गुण का ही उन्हें व्यक्त रूप कहते हैं और अधिकार मांधवश उनकी आराधना की भी अनुमति देते हैं । तव सवाल यह है कि जैसी शुक्लजी पृभ्रति समीक्षकों की धारणा है कि इन संतों ने बेतरतीब इधर-उधर के संतों-साधकों से सुनसुनाकर पारिभाषिक पदावलियों का एक जमघट तैयार कर दिया है—उनसे न-किसी व्यवस्थित दर्शन की स्थिति है और न साधना की—कही ठीक है अथवा उसके विरुद्ध ? जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि—कहावत के अनुसार आपाततः उक्त पारिभाषिक शव्दावलियों के दर्शन से शुक्लजी का आक्षेप आधार शून्य नहीं है, परन्तु सावधानी से देखा जाय—तो सभी निर्गुनिएँ संत पोथी निर्दिष्ट मार्ग की अपेक्षा गुरु-निर्दिष्ट मार्ग को महत्व देते हैं। यहाँ तक कि जो अक्षर अनन्य वेद या निगम-आगम पर आक्षेप करने वालों पर वेहद् नाराज होते हैं—और निगमा गम का समर्थन करते हैं—उस पर गहरी आस्था रखते हैं—वे कहते हैं—

"वेद विरोधी पंथ अधम जीवनि के हैं"[१]
"वेद बिना जे धर्म हैं ते अधर्म बकवाद"[२]
"वेद बिना जे पंथ हैं ते कुपंथ सब लेख।
जारगर्भ जिमि सूंदरी, पति पावै न बिसेख ॥[३]

तथापि अंततः उन्हें भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि—

ग्यान नाम जानिबौ जुगति नाम जोग को है
काठ में अगिन ज्यों जुगति सों निकार है
वेद हू पुरान सास्त्र सुभ्रतें बखान जेतें

---

१. पृ० ४६० ।
२. पृ० ११० ।
३. वही ।

जानिबे के पंथ ग्रंथ कथा विस्तार है
प्रापति कौ मारग गुँपित कह्यौ इन ही में
अक्षर अनन्य पूरे गुरु को विचार है—
ग्यान भेद जानि कें जुगति साधि सिद्ध करै
यह ज्ञान जोग ब्रह्मग्याननि को सार ।[1]

अर्थात आगम-निगम, श्रुति-स्मृति हैं—श्रद्धेय पर लक्ष्य प्राप्ति का उपाय गुह्य है—साधक की शक्ति के परे है यह जानना कि शास्त्र किस मार्ग का उपदेश करता है और किसके लिए । तुलसीदास जी ने ठीक कहा है—

वेद पुरान उदधि, घन साधू[2] ।

वेद पुरान समुद्र हैं—जिसका जल पिपासु के लिए साक्षात् निरर्थक है । ये मेघा हैं जो उनसे जल लेकर पिपासु का प्यास शान्त करते हैं । अनन्यजी भी वेद पुरान में आस्था रखते हुए भी मानते हैं कि साधक के लिए गुरु के ही विचार उपादेय हैं । उन्होंने आगे यह भी कहा है—

एक भक्ति जोग भक्ति भाव नव अंग जामें
पाँच अंग पद्धति सौं विधि सौं अराधिबौ ।
दूजौ हठओग आग अंग है विधान जाको
कठिन कलेस पौन आसन को बाँधिबौ ॥
तीजौ ग्यान जोग सिद्ध मारग सहज रीति
नहिं हठ धर्म कर्म करनी को बाँधिबौ ।
अक्षर अनन्य गुरु अक्षर आधार धरि
सारासार सोधन सुरति होकौं साधिमौ[3] ॥

अर्थात् एक भक्ति योग भी है—जहाँ नवधा आराधान है—पंचांग पद्धति से विधि पूर्वक उपासन है । दूसरा हठयोग है जहाँ अष्टांग साधना है । यहाँ आसन बाँधकर पवन की वक्रागति का रोध करना है । तीसरा ज्ञानयोग है—यह सिद्धों का माग है—इसकी रीति सहज है । यहाँ न कोई अतिक्रमण है और न हठधर्मिता । वस्तुतः अक्षर अनन्य के मन से गुरु के अक्षर को आधार बनाकर सास्वान् वस्तु है—सुरति साधना सुरत शब्द योग ।

इसके साथ अक्षर अनन्य यह भी कहते हैं—

---

१. अक्षर अनन्य ग्रंथावली ।
२. मानस रामचरित, पृ० ४० दोहा ३६ चौ० २ ।
३. अक्षर अनन्य, पृ० ८८-८९ ।

"भक्ति करत-करत अंतःकरन सुद्ध होता है । तब ग्यान होत
है, सु ग्यान कौ कारंन भक्ति है और ग्यान हो कौ कारन जोग है ।
कैं जोग ते ग्यान होत है कैं भक्ति तें ग्यान होति है ।
सो जोग अब कलिजुग में सिद्ध नाहीं होत, भक्ति सिद्ध होति है ।
तहाँ भक्ति दो भांति की है – एक तो सामान्नि भक्ति है – एक
विशेष भक्ति है तहाँ विशेष भक्ति कौं उपदेस पूरे गुरु तें
होत है तातें यह विशेष भक्ति को मारग गोप्प है अरु
सामान्नि मारगि प्रसिद्ध[1] है ।

अर्थात् साधन भक्ति वैधी भक्ति है । वैधी भक्ति लोक-वेद-सम्मत भक्ति है—सो इस भक्ति से अंतःकरण की शुद्धि होती है । अंतःकरण की शुद्धि हो जाने जर श्रवण मनन एवं निदिध्यासन द्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है । यही ज्ञान लाभ है । इस प्रकार भक्ति ज्ञान में साधन है । दूसरे योग मार्ग से भी प्राणापान का विक्षेप या अविद्यामूलक वैषम्य शांत हो जाता है—साधक द्वंद्वातीत ज्ञान दशा में पहुँच जाता है । पर आज योगमार्ग कठिन है—अतः भक्तिमार्ग ही पकड़ा जाता है । यह भक्ति भी एक तो सामान्य है—जो जग में प्रसिद्ध और खुली हुई है । दूसरी है—गोप्य । यह गुरु दीक्षा लभ्य है । यही भक्ति संतों में ग्राह्य है । कबीर ने कहा है—

संतों भक्ति सतोगुरु आनी

निष्कर्ष यह कि संतों की साधना गुरु निर्दिष्ट भक्ति पथ के साथ सुरति शब्द योग है । रहा प्रश्न यह कि फिर योग मार्ग की पदावलियाँ क्यों प्रचलित और प्रयुक्त हैं यह स्पष्ट है कि संत मात्र अंतः साधना पर बल देते हैं—मनः साधना पर जोर देते हैं । उनकी सारी साधना घर के भीतर ही चलती है । उनका चरम लक्ष्य मौज (सुरति) और मालिक (शब्द) का सामरस्य है । यह मौज तंत्रों की शक्ति-ज्ञानक्रियात्मा स्वातंत्र्यमयी इच्छा ही है । यही इच्छा शक्ति विभिन्न द्वंद्वों की सृष्टि करती हुई शिवात्मा बन गई है । यह शक्ति बिंदु शिव से निर्गत नादात्मा है । नाद ही वर्णमयी शक्तियों के रूप चक्र हैं अधोमुखी आवरण हैं—विकल्प प्रसवी हैं—सो इन शक्तिमयी सुरति के ऊर्ध्वमुख होने पर समस्त द्वंद्व प्रतीक प्राण अपान, अरध-उरध, चंद्र सूर्य, इड़ा पिंगला—समरस हो जाते हैं । वर्णमय चक्र भी गल गल कर नादात्मा शक्ति से एकरस होने लगते हैं । बौद्ध सिद्धों की चाहे बिंदु साधना हो, नाथों की प्राण साधना हो या संतों की मनः साधना हो—परिणति एक ही है—साम्य या सामरस्य सर्वत्र है—अंतर सूक्ष्म हो भी सकता है । पर बौद्ध सिद्धों में यदि प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्यता और करुणा का सामरस्य है तो नाथों में 'पिण्ड'

१. अक्षर अनन्य, पृ० ४८७, ४८८ ।

और 'पद' का सामरस्य है—संतों में 'मौज' और 'मालिक' का सामरस्य । पथ अलग अलग है—पर धारणा या मूल ढांचा तांत्रिक या तंत्र सम्मत होने के कारण बहुत ही साम्य है इन तीनों में । कुण्डलिनी साधना शक्ति साधना है और शक्ति साधना तंत्र साधना । इसका नाम बौद्ध सिद्धों की अपेक्षा नाथों में कहीं अधिक और स्पष्ट उजागर हुआ है । इसीलिए नाथों की पदावली और परिणतियों का संतों में अधिक उल्लेख मिल जाता है । फिर सुरत शब्द योग के भी विभिन्न प्रस्थान हैं—जो नितान्त गुह्य हैं—उन सभी प्रस्थानों का विवरण देना कठिन है । इसलिए यदि योगमार्ग की या नाथ साधना की छाया इन पदावलियों के माध्यम से संत-साहित्य में मिलती है तो बहुत विस्मय की बात नहीं है । फिर देह शुद्ध हो नाड़ी साफ हो—आसन, बंध और—मुद्रा का अभ्यास यदि कोई कर सके—तो प्रकृति के अनुसार ये सहायक ही होंगे—बाधक नहीं । 'हठयोग' की प्रासंगक छाया मिलने पर भी केवल 'हठयोग' की संत साहित्य में निंदा स्पष्ट कहती है कि संतों ने अपने लक्ष्य और मार्ग के अनुरुप जितना चाहा लिया और उसका उल्लेख तथा प्रशंसा भी की । रहे मंत्र, ध्यान, लय आदि—ये सब तो सुरत शब्द योग में अनिवार्य हैं । जप और ध्यान तो उसके अनिवार्य अंग ही हैं । जप ही जब अजपाजाप बन जाता है—तब प्राणापान की वक्रगति समाप्त हो जाती है—सुषुम्णा खुल जाती है—मंत्र चैतन्य या कुण्डलिनी जागरण हो जाता है । कुण्डलिनी जागरण अनाहत्नाद से संबद्ध है । नाद की अभिव्यक्ति से चक्रभेद है—वर्णो का नादमय होना है । इस प्रकार शक्ति या सुरति सार शब्द की ओर आरोहण करती है—विश्वात्मक या द्वंद्वात्मक व्यंवधान का तिरोधान करती हुई वह 'समरस' दशा में प्रतिष्ठित हो जाती है । जप में ध्यान और ध्यान में जप उपयोगी है और दोनों में इष्ट के प्रति रागात्मक भाव । संतों का यही पथ है—जो व्यवस्थित है—उसे सुनी सुनाई बातों का संग्रह और भानुमती का कुनबा कहना उनसे कहने वाले को बहुत महान् सिद्ध करना है । संत मत में 'आरोहण' के ये तीन—पारमेश्वर शक्तिपात, गुरु दीक्षा तथा उपाय तीन मूल उपकरण हैं ।

●

सुरत शब्द योग

पूर्ववर्ती अध्याय में इस बात का उपक्षेय किया जा चुका है कि संतों की साधना 'सुरत शब्द योग' तथा 'भक्तियोग' है। 'सुरत' का 'शब्द' से 'योग' होने में 'भक्ति' सहायक है। परतत्व का निरूपण करते हुए पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि इन संतों का भी चरमतत्व ताँत्रिक मतानुसार अद्वयात्मा है। वहाँ दो का सामरस्य है—पर संज्ञा अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार अलग-अलग है। शव तंत्रों में शिव-शक्ति, वैष्णव तंत्रों में राधा-कृष्ण या सीताराम बौद्ध तंत्रों में प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्यता और करुणा तथा नाथ धारा में पिण्ड और परमपद अथवा नाथ पद के रूप में एक ही मूलवर्तिनी धारा प्रख्यात है। संत-धारा में वही धारणा 'मौज' और मौजी या 'मालिक' के नाम[1] से प्रसिद्ध है। राधास्वामी मत में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि आदि सुरत 'राधा' तथा सार शब्द 'स्वामी' है—अवरोहण बेला में यही 'राधा' उलट कर अथवा अधोमुखी होकर 'धारा' बन जाती है फलत: पार्थिव जीवन विपरीत प्रवाह में आँदोलित रहता है। गुरु निर्दिष्ट पद्धति से अधोमुखी आत्म-शक्ति जब ऊर्ध्वमुखी हो जाती है तब जीव या सुरत स्वस्वरूप में प्रतिष्टित हो जाता है। संत मात्र 'नाम' का यशोगान करते हैं—'शब्द' को ही मूल तत्व कहते हैं—कबीर ने कहा हैं—

> शब्द शब्द सब कोई कहे वो तो शब्द विदेह।
> जिह्वा पर आवै नहीं निरख परख कर लेह[2]।

अर्थात् 'शब्द' शब्द से सारा संसार बैखरी वाणी को ही जानता है। परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा को न तो सब लोग शब्द कहते हैं और न तो जानते हैं। अनाहत शब्द भी ऐसा ही है। कारण, वह 'शब्द' विदेह है—आत्मस्वरूप ही है—अनाहत अथवा अनहद शब्द भी एक भी प्रकार से आत्मा का ही सूचक है। इसी शब्द से आत्मा की परख होती है। गुरु प्राप्त 'शब्द' से सार शब्द से जिसने मेल किया वह शब्दात्मा ही हो गया। जो विक्षिप्त संसारी जन इसे नहीं जानते वे अतात्विक विकल्प प्रसवी शब्द के साथ अहेर खेलत हैं और काल ऐसे लोगों से अहेर खेलता है।

---

१. कह भीखा सब मौज साहब की,
मौजी आपु कहावत ॥५॥ —भीखा साहब की बानी, पृ० ११।

२. मुक्तिप्रकाश, प० ३६ (उद्धृत) अथवा बीजक ग्रंथ, पृ० १०५।

शब्द स्वरूपी तें भये किया शब्द सो मेल ।
शब्द न चीन्हे बावरा फिरि फिरि खेलु अहेर[1] ॥१५८॥ बीजक

प्राणियों की मनोवृत्ति आत्मानुरूप तृप्ति चाहती है—तदर्थ वहिर्मुख रहकर सदा अनात्म वस्तुओं के माध्यम मे संतुष्ट होने का आभास पाती है। इस अंधी वृत्ति की सच्ची आँख 'शब्द' ही है—यदि उसका संधान हो जाय—वह पकड़ में आ जाय—उसके नेतृत्व में यह चलने लगे—तब अपने 'निजरूप' को पाले-आत्माराम हो जाय—अनात्मा का आकर्षण समाप्त हो जाय ।

शब्द बिना श्रुति आँधरी, कहु हु कहाँ को जाय ।
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिरि भटका खाय[2]॥८॥

यहाँ श्रुति या सुरति मनोवृत्ति के ही अर्थ में है—'चित्त' के अर्थ में है—जिसका स्वरूप 'अनुसंधानमय' कहा गया है । अद्वयवादी तंत्र के अनुसार 'चित्त' परमार्थतः 'चित्' ही है। कहा ही गया है—'चिदेव चित्तम्" । यही कारण है कि राधास्वामी मत की पुस्तकों में 'सुरति' को सर्वदा 'रूह' या 'आत्मा' कहा गया है। निष्कर्श यह कि सद् गुरु प्रदत्त शब्द ही आदि का परतत्व का बोधक है—अतः वह पल पल में स्मरणीय है अन्य शब्दों के द्वारा केवल विषमयी संसृतिलता ही फूले-फलेगी । अतः कबीर अर्द्ध-बाहु होकर कह रहे हैं—

सार शब्द ते बाँचि हो, मानहु इतवारा [3]हो —

विश्वास करो, यदि कालातीत होना चाहते हो तो सार शब्द को पहचानो। लेकिन यह सब अपने बूते का नहीं है—

आपेहि गुरु कृपा कछु कीन्हा निर्गुण अलखलखाई ।
सहज समाधि उन्मुनि जागे रूहज [4] मिले रघुराई ।

यदि पारमेश्वर शक्तिपातवश गुरु मिल जाय और उनकी कृपामयी दीक्षा हो जाय तो वह स्वयं कृपापात्र के सामने अपने को प्रकट कर देता है । अतः गुरु भक्ति ही इसमें मुख्य है—यह भक्ति भी उनके अनुग्रह का ही प्रतिबिम्ब है । कहा ही है—

भरम क बाँधल ई जगत, कोइ न करै विचार ।
हरि की भक्ति जाने बिना, बूड़ि मुआ संसार[5] ।७४॥

---

१. बीजक ग्रंथ, पृ० ८५७ ।
२. वही, पृ० ७५२ ।
३. मुक्ति प्रकाश, पृ० ६४ ।
४. बीजक ग्रंथ, पृ० २८५ ।
५. वही, पृ० ३३६ ।

भ्रम की पीठिका पर उमड़ता हुआ यह संसार सभी को परेशान कर रहा है–पर इसका विचार कोई नहीं कर पाता। हरि की भक्ति न जानने का परिणाम है कि यह सारा संसार आत्मविस्मृति पूर्वक आवागमन के कुचक्र में फँसा हुआ है। इसी कारण संतों ने कहा है–

सुरति फंसी संसार में तासे परिओ दूर।
सुरति बाँधे इस्थिर करो आठो पहर हजूर॥
एक शब्द जो अगम अपारा मर्म न जाने कोइ हो।
रहै ऊर्ध्व, अरध में आवै तव जग जाहिर होई[1] हो।

राधास्वामी मत की पुस्तक "सारवचन, वार्तिक भाग एक में ठीक इसी के अनुरूप कहा गया है–पहिला यानी धुर स्थान सबसे ऊँचा और बड़ा कि जिसका नाम स्थान भी नहीं कहा जाता है, उसको राधास्वामी अनामी और अकह कहते हैं। यह आदि और अंत सबका है और कुल्ल का मुहीत यानी सब उसके घेरे में हैं और हर जगह इसी स्थान की दया और शक्ति अंश रूप से काम दे रही है और आदि में इसी स्थान से मौज उठी और शब्द रूप होकर नीचे उतरी।[2] इसी सामान्य स्पंदात्मा शब्द से सारी सृष्टि हुई है। यही सबका मूल है। यही शब्द ऊर्ध्व में है जो अधोमुखी होकर पिंड में उतर आया है—वैखरी रूप में जग जाहिर हो गया है। "सारवचन छंद बंद पहिला भाग"—में तो यह भी कहा गया है–"आदि शब्द कुल का कर्ता और 'स्वामी' है और आदि सुरत याने उसके अव्वल ज़हूर का नाम 'राधा' है इन्हीं का नाम 'सुरत' और 'शब्द' है और जब इनकी धार नीचे आई तब इसी आदि शब्द से और शब्द और सुरत से और सुरत, और शब्द से सुरत और सुरत से शब्द बराबर प्रकट होते आए और अपने अपने मुकाम पर कायम हुए।"[3] इस प्रकार आदि सुरत ही उतरते-उतरते-शक्ति ही अधोमुखी होकर शक्तिमान् से इतनी व्यवहित हो गई कि अपने मूल रूप को ही भूल गई। भूल जाना तो अपने इच्छा से संभव है पर याद कराने के लिए किसी सचेत की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस 'सुरति' को उस 'शब्द' की डोर में बाँध दिया जाय–तो आत्मस्मृति हो जायगी।

सुरत और शब्द की इस धारणा की परम्परा में भी स्थिति है। नानक के नाम पर प्रचलित 'प्राणसंगली' की भूमिका में संत सम्पूरण सिंह ने कहा है—'प्राणसंगली'[4] का विशेष विषय शब्द विषे सुरति को जोड़कर इसे बाह्य से उलटाकर अन्तर्मुखी भाव में शब्दमार्गी बनाकर जिस ठिकाने पर से धुर शब्द प्रकट हुआ है–तहाँ पर

१. मुक्ति प्रकाश प्राक्कथन, पृ० क पर उद्धृत।
२. सार बचन वार्तिक, पृष्ठ १९।
३. वहीं, पृष्ठ ८।
४. भूमिका, पृ० १६।

सुरति को प्राप्त कराना है।" आगे चलकर 'सुरति' का स्वरूप और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'विदित रहे कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मनरूप समुदाय संधान को एक ही काल में अपनी चेतना में चलाने वाली और इन सबकी क्रिया की अनुभाविक प्रकाशक निजरूपिणी शक्ति जो हमारे भीतर है–सुरति कहा जाता[1] है।" यहाँ स्पष्ट ही सुरति को निजरूपिणी शक्ति कहा गया है। ऊपर का सारा विवरण सुरति और शब्द को मूल में एक और समरस अद्वयवादी तंत्र सम्मत शक्ति-शक्तिमान् की भांति सिद्ध करता है।

इस शब्दातीत शब्द के पाँच गुप्त रूपों का इजहार संतों की विभिन्न परम्पराओं में अनेकश, हुआ है। हुजूर साहब जी महाराज ने कहा है—

"पाँच धुन भेद बतलावें सुरत को राह दिखावें।"

संत नानक की उक्ति है—

पंच सबद धुनिकार धुनि तहं सबद निसाणु।

संत कबीर (विभास परभाती, पृ० १३५०) का कथन है—

पंचे सबद अनाहद बाजे संगे सारिंगपानिं।

शम्सतबरेज भी कहता है—

खामोश पंज नौबत बशनौत आस्माने।
का आसमा बेरूंजा हफ्तो श शई आमद॥

भक्त वेणी का अभिधान है—(रामकली, वेणी पृ० ९७४ २०)

पंच शब्द निरमाइल बाजे।
ढलके चंवर संख धन गाजे॥

नामदेव की भणिति है—

पंच सहाई जनकी सोभा भलोभलोन कहा उगो।
नामा कहे चितु हरि सिउ राता सुन समाधि समाउगो॥
९७३ ५ वाणी नामदेवजी की

इनसंतों की धारणा है कि सातवें आसमान से पहला नाम आरंभ होता है। छह चक्रों में केवल वर्ण ही हैं—धुन या नाम नहीं। सत खंड में जाकर पाँचों धुनें पूर्ण हो जाती हैं। शब्द पाँच हैं अतः नाम भी पाँच हैं। (संतमत प्रकाश, भाग २ पृ० २४) कहा गया है—

धुनी धुन एक कर जानो। सुरत से शब्द पहचानो।
शब्द और सुरत भए एका। नाम धुनआत्मक देखा।

---

१. सारवचन वार्तिक पृ० ८२।

सो, इस मूल शब्द के पाँच रूपों का विवरण इस प्रकार मिलता है—

(क) "कुल का आदि राधास्वामी याने कुल मालिक यहाँ शब्द निहायत गुप्त है और उसका उपमान याने नमूना इस रचना में कहीं नहीं है। इसी शब्द से सत्त-पुरुष प्रकट हुए हैं।

शब्द पहिला :

सत्तपुरुष का शब्द जिसको सत्तनाम और सत्त शब्द भी कहते हैं और जिसकी सत्त कुदरत से सोहं पुरुष और पारब्रह्म और ब्रह्म और माया प्रगट हुए।

दूसरा (शब्द) :

पारब्रह्म का शब्द—जिसकी मदद से तीन लोक की रचना ठहरी हुई है।

चौथा (शब्द):

ब्रह्म शब्द जो कि प्रणव है और जिससे सूक्ष्म यानी ब्रह्मांडी वेद और ईश्वरी माया प्रगट हुई।

पाँचवाँ :

माया और ब्रह्म का शब्द, जिससे तिरलोकी की रचना का मसाला प्रगट हुआ और आकाशी वेद जाहिर हुए।

माया शब्द के नीचे वैराट पुरुष का शब्द और जीव और मन का शब्द प्रगट हुआ।[1]

संतों की परम्परा में 'शब्द' का स्तरभेद से अनेकधा निरूपण मिलता है। 'मुक्ति प्रकाश' की भूमिका में किसी मखागत परम्परा के आधार पर कहा गया है—(अखंड) शब्द वावन वर्णों के आधार पर बनता है जिनमें क वर्ग च वर्ग आदि आते हैं। किन्तु समस्त वावन वर्णों का मूल है—अकार। यह अकार तीन प्रकार का है—(१) कह अकार, (२) अकह अकार, (३) और निःअक्षर अकार। लिखित पठित अकार कह अकार है अकह अकार चेतन आत्मा है और निःअक्षर अकार सार शब्द परमात्मा है। कह अकार दृश्य जगत् अर्थात् प्रकृति का द्योतक है, अकह अकार द्रष्टा या चेतन आत्मा का प्रतीक है और निःअक्षर अकार इन दोनों से परे सार शब्द परमात्मा का द्योतक है। सुरति-शब्द योग में चेतन आत्मा स्वतः अपनी शक्तियों का जागरण करती है जिससे द्रष्टा और दृश्य का सम्मिलन होता है—और सबके मूल अखण्ड निःअक्षर सार शब्द में उनका विलयन हो जाता है। कबीर साहब कहते हैं—

"जहाँ बोल तहं अक्षर आवा।
जहं अक्षर तह मनहिं दृढ़ावा।
बोल अबोल एक है सोई।
जिन यह लखा सो बिरला होई।[2]

---

१. सारवचन छंद बंद पहिला भाग, पृ० ८,१०।
२. 'मुक्ति प्रकाश' की भूमिका, पृ० ङ, च।

उन्हीं धारणाओं के अनुरूप तांत्रिक परम्परा की भी सहमति है—

"शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"[1]

जप यज्ञ से शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अंततः परब्रह्म पद में प्रतिष्ठा होती है। क्षर से अक्षर और फिर क्षराक्षरातीत परतत्व का साक्षात्कार होता है।

संतों की इन धारणाओं की संगत व्याख्या एकमात्र तांत्रिक विचारों के ही आलोक में संभव हो पाता है।

अथवा राधास्वामी मत पर प्रवचन–में सृष्टि प्रक्रिया का शुभारंभ करते हुए लेखक ने कहा है कि सृष्टिलय सापेक्ष है अतः लय के ही संदर्भ में सृष्टि की बात की जा सकती है। लय में असंख्य विंदुओं का बना हुआ एक क्षेत्र होता है–इन विंदुओं पर शक्तियों की असंख्य केंद्राभिमुखी धारें काम करती रहती हैं। इसके फलस्वरूप एक रिक्त स्थान होता है। विंदुओं (सुरत जीव) के इन अंतिम विशिष्ट रूप में शक्ति ही है—पर वह यहाँ उन्हीं विंदुओं में लीन होकर अव्यक्त हो गई है। यह एक बात अलग है कि इन्हीं विंदुओं के द्वारा शक्ति ने स्वयं अपने में एक केंद्राभिमुखी होने की क्रिया की। यह शक्ति जहाँ अव्यक्त, गुप्त या विरल रहती है—वैज्ञानिक भाषा में इसे ऋणात्मक आध्यात्मिक ध्रुव तथा जहाँ व्यक्त, प्रकट तथा सघन रहती है उसे घनात्मक आध्यात्मिक ध्रुव कहते हैं। यही रिक्त या शून्य ध्रुव रचना का आदिम स्थान है। रचना से पूर्व केवल अद्वयात्मा एक ही कुल मालिक मौजूद था जहाँ सूक्ष्म आकर्षण द्वारा उल्लिखित खिंचाव होने के कारण ऋणात्मक अथवा शून्य स्थान का अस्तित्व शाश्वत धुंधकार की अवस्था में था। ये ही अचेत विंदु गण सुरतें थीं। चैतन्य शक्ति के एकीकरण सामर्थ्य को चैतन्य शब्द की धार और उसी शक्ति के केंद्रीकरण सामर्थ्य को सुरत की धार कहते हैं। दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं। शब्द और सुरत एक ही शक्ति के दो रूप हैं। इन्हीं दोनों धाराओं की विशिष्टताओं से प्राणि रचना के अंतर्गत स्त्री और पुरुष की सृष्टि हुई। इस प्रक्रिया में निर्मल चिन्मय प्रदेश के छह केंद्र बने–छह स्तर व्यक्त हुए–शब्द की धार के ध्रुवीकरण के फलस्वरूप राधास्वामी, अलख तथा अगम और सुरत की धार के ध्रुवीकरण के फलस्वरूप तीन-अनामी, सत्तलोक तथा भंवर गुफा। शब्द की धार ऊपर है और सुरत की नीचे। ये कालातीत खण्ड हैं।

शैव तंत्रों में कहा ही गया है कि सिसृक्षा के साथ ही 'पूर्ण' तत्व आणवाख्य संकोच ग्रहण करता है—इस संकोच के साथ ही दो अंश हो जाते हैं—'अहं' तथा 'इदं' सघन और विरल, पूर्ण और शून्य। यही शून्य ; रिक्त तथा धुंधकार का वह स्थान था–जहाँ सामान्यस्पंद था–इसी से स्पंदविशेषात्मक सृष्टि का आरंभ हुआ। निःस्पंद पक्ष शिव है तथा सस्पंद शक्ति जागतिक स्त्री और पुरुष इन्हीं दोनों मूल पक्षों के

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, उद्धत पृ० ४३०।

प्रतिरूप हैं सामान्य स्पंद अक्षर ब्रह्म है–शब्द है और निःस्पंद परब्रह्म । इसी की चेतन शक्ति जो अपूर्ण जीव या सुरत के रूप में अवरूढ़ हुई है—आरोहण द्वारा मूल से समरस हो जाती है । इस विचारधारा के आलोक में स्पष्ट है कि तांत्रिक धारा ही बौद्ध, सिद्ध एवम् वारकरी की भांति संतों में भी सक्रिय है । उपर्युक्त निर्मल निन्मय प्रदेश तंत्रों के शुद्धाध्वा के विभिन्न केन्द्र हैं । इस विवेचन के आलोक में अव अधिक तर्क और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है इस वात की स्थापना में कि संतों का योग-सुरत शब्द योग है ।

सुरत शब्द योग 'वाग्योग' का ही एक प्रकार है । प्राचीन आगम शास्त्रों में वाग्योग अथवा शब्द योग का उल्लेख मिलता है । व्याकरण आगम के अनुयायी वाक्यपदीय तथा उसकी प्राचीन साम्प्रदायिक व्याख्याओं में भी इस पद्धति का उल्लेख किया गया है । इस योग के माध्यम से पश्यन्ती भूमि में प्रवेश करना लक्ष्य होता है—परा में तो स्वयम् प्रतिष्ठा हो जाती है । गुरु निर्देश से मिश्र प्रकृति के शब्द का शोधन हो जाता है—अपनी मूल प्रकृति में शब्द का साक्षात्कार होने से इडा-पिंगला का स्तम्भन हो जाता है – सुषुम्णा का पथ अनावृत हो जाता है । यही शोधित शब्द शक्ति प्राणशक्ति की सहायता से ऊर्ध्वाचारिणी हो जाती है–यही शब्द की मध्यमा दशा है । अनाहत नाद इसी दशा में प्रकट होता है । यह शब्द चेतनामय हो जाता है—यही मंत्र चैतन्य का उन्मेष है । इसके वाद पश्यन्ती भूमि आती है । यहाँ शब्द ब्रह्मरूपी आदित्य का इष्ट देव के रूप में साक्षात्कार होता है । परा की स्थिति इसके वाद आती है ।

कतिपय चिन्तकों ने सुरत शब्द योग तथा कमल कुलिश योग—को एक समझा है—उनके निराकरणार्थ संक्षेप में यहाँ दोनों का अंतर स्पष्ट कर दिया जाता है । वैसे अन्यत्र विस्तार होगा ही—

कमलकुलिशयोग तथा सुरतशब्दयोग :

आध्यात्मिक साधनाओं को बौद्धिक स्तर पर कुछ दूर तक ही कहा जा सकता है, उसका धाराभेद से व्यावृत्त रूप अपनी समग्र प्रामाणिकता में सम्बद्ध धारा का पारंगत मर्मी ही स्पष्ट कर सकता है । कारण, एक तो साधनाओं की कोई सीमा नहीं है । दूसरे, भावनामय होने के कारण वैयक्तिक और रहस्यमय भी है । प्रस्तुत सन्दर्भ में तान्त्रिक वौद्धों ने 'कमलकुलिशयोग' तथा सन्तों के 'सुरतशब्दयोग' की तुलनात्मक विवेचना प्रतिज्ञात है । सवसे पहली वात दोनों साधन धाराओं के विषय में यही ध्यान देने की है कि जिस प्रकार कमल एवं कुलिश के योग में अपेक्षित पद्धतियाँ अनेक हैं, उसी प्रकार वाग्योग के अनेक प्रकारों में उल्लेख्य सुरतशब्दयोग भी भिन्न-भिन्न सरणियों से सम्पाद्य है । दूसरे, दोनों ही साधनाएं तान्त्रिक अथवा आगम-सम्मत हैं ।

दोनों ही साधनाओं का साध्य सहज है और वह अपनी मूल प्रकृति में द्वयात्मक अद्वय है। पहले का सहज यदि प्रज्ञा और उपाय अथवा कमल और कुलिश का समरस रूप है, तो दूसरे का सहज, मालिक और मौज अथवा सुरति और शब्द का। पहले के लिए—शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तं तदुच्यते की घोषणा करता है। विशेष उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है, उसकी धारणा स्पष्ट है। दूसरे की धारणा का स्पष्टीकरण राधास्वामी-मत में प्रचलित निम्नांकित दोहे से स्पष्ट हो जाता है—

कबीर धारा अगम की सद्गुरु दई लखाय।
उलट तर्माह सुमिरन करो स्वामी संग लखाय ॥[1]

मालिक की मौज ही अधोमुखी होकर विश्वात्मक प्रसार पा चुकी है, यदि उसे उलट दिया जाय, तो वह मौज की धारा राधा बन जायगा और स्वामी से एकरस हो जायगी।

उक्त दोनों धाराओं में प्रचलित साधना-परक संज्ञाओं के भी तुलनात्मक स्वरूप पर्यालोचन से इसी तथ्य की सिद्धि होती है। तान्त्रिक बौद्ध साधना के लिए कमल-कुलिशयोग तथा संतों की साधना के लिए सुरतशब्दयोग जैसी संज्ञाएँ प्रचलित हैं। कमल और कुलिश क्रमशः मूल तत्व के ही पक्षों—स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व का बोध कराते हैं। धर्मपाद ने कहा है : कमल कुलिश माँझेमइअ मिअली। मध्यमार्ग के विकास से पूर्व दोनों विरुद्ध दिशाओं में प्रवाहित हैं; पर मध्य विकास होने पर अवधूती में उनका समरस एवं एकोन्मुख प्रवाह हो जाता है। इसी प्रकार, उपर्युक्त दोहे में भी मालिक की मौज या धारा का उलटकर स्वामी से एकरस होने की बात कही गई है। प्राण-संगली के भूमिका-लेखक श्रीसन्त सम्पूर्ण सिंह ने भी कहा है—'विदित रहे कि... सबकी क्रिया की अनुभाविक प्रकाशक निजरूपिणी शक्ति जो हमारे भीतर है, उसे सुरति कहा जाता है।" इसी सुरतिरूपणी शक्ति का शब्द से योग कराया जाता है। सारवचन और वार्तिक भाग दो में कहा गया है—सब पसारा शब्द का है और सुरत शब्द का अंश है। उन लोगों की धारणा है—"हकीकत में शब्द सारे हैं, पर जब से सुरत पिण्ड में उतरी है, तबसे बाहर मुख हो गई है।" वैदिक धर्मानुयायी भी इस तथ्य से सहमत हैं—वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे। स्वामी श्रीप्रत्यगात्मानन्द ने द्रव्यमात्र को शक्तिव्यूह कहा है। यह शक्तिव्यूह जिस स्पन्दन से संवलित रहता है, वह किसी भी निरतिशय श्रवणसामर्थ्य द्वारा शब्दरूप में गृहीत हो, तो वही शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक नाम अथवा बीजमन्त्र है। इस बीजमन्त्र में अपने द्रव्य अथवा अर्थ को गढ़ लेने की क्षमता होती है। इसीलिए, द्रव्यमात्र के मूल रूप शक्ति को ध्वन्यात्मक कहा गया है। सन्तों ने बहुत ही सीधे सादे ढंग से कह दिया है—

---

१. राधास्वामी मत में प्रचलित।

शब्द सुरति अरु निरति मिलि कहिबे को है तीन ।
निरति उलटि सुरतहिं मिलै सुरति शब्द लवलीन ।[१]

इन सबसे इतना तो स्पष्ट ही है कि सुरति एवं शब्द अन्ततः एक ही है ।

पाँचवीं समानता यह भी है कि जिस मानस-एकाग्र अथवा चित्त-स्थैर्य के विना कोई आध्यात्मसाधना हो नहीं सकती, उसके लिए दोनों ही विराग नहीं, राग, कृच्छ नहीं, सहज मार्ग अपनाने की बात करते हैं । यदि कमलकुलिशयोगी तान्त्रिक बौद्ध 'रागेण बद्ध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते'[२] कहता है, तो सुरतशब्दयोगी सन्तजन काम मिलावे राम को जो कोई जानै भेव की घोषणा करता है । अभिप्राय यह कि दोनों ही राममार्गी अथवा सहजमार्गी है ।

तुलना में समानता के साथ असमानता की बात भी उठ सकती है; अतः दोनों साधनाओं में जहाँ तक कमलकुलिशयोग की बात है, वह बिन्दु-साधना को महत्व देती है । वास्तव में, बद्ध जीवात्माओं के मन, प्राण एवं शुक्र तीनों ही चंचल होते हैं और तीनों इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं कि इनमें से किसी एक के स्थिर होने से शेष दो—लगभग निष्प्रयास ही स्थिर हो जाते हैं । मन को स्थिर करने में श्वास अपने-आप रुक जाती है । प्राण को मन का पलना तक इसी आशय से कहा गया है । साधकगण इन्हीं तीनों में से किसी एक पर बल देते हैं और प्रधानतया उसी की साधना करते हैं । तान्त्रिक बौद्ध मानते हैं कि चित्त ही एक तत्व है, जो शून्यता-स्वभाव है । वही संवृत दशा में शुक्र है और पारमार्थिक दशा में बोधिचित्त ।

चित्त या संवृतचित्त को ही बोधिचित्त के रूप में परिणत करना, महाराग, महासुख, निरावरण प्रकाश, अनुत्तरबोध या बुद्धत्व की उपलब्धि है । बोधिचित ही निम्नगामी होकर अन्नमय देह में शुक्र बन गया है और यही जब और अधःस्खलित होता है, तब भौतिक देह की सृष्टि होती है । साधक इसी शुक्र का ऊर्ध्वगामी संचार करता है । अधोगामी रूप में यह चंचल तथा संवृत रहता है और ऊर्ध्वगामी होकर स्थिर तथा विवृत । पहले प्रज्ञा तथा उपाय के योग से बिन्दु का उद्भव होता है, यही बिन्दु क्षेम है—बोधिचित का उद्भव है । इसे ही कुण्डलिनी का जागरण कहा जाता है । उद्वुद्ध बिन्दु कहीं वज्रमणि में स्खलित न हो जाय, फलतः उसे निर्माण-चक्र में धारण करना पड़ता है, किन्तु यह निरोध, कृत्रिम निरोध है । इस चक्र में स्थित शुक्र क्षिति, जल, पावक, समीर एवं गगन पंचभूतात्मक होता है । ऊर्ध्व संचार के क्रम में उत्तरोत्तर क्षिति का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में और अन्ततः वायु का गगन में विलय हो जाता है । फलतः गगनोपम बिन्दु स्थिर हो जाता है । उष्णीष-चक्र में इसका स्थिर होना ही महासुखदशा की उपलब्धि है ।

---

१. ज्ञानस्थित बोध, पृ० १४५ ।
२. भा० सं० और साधना, भाग २ पृ० २६१ ।

इस रहस्यमय साधना के आरम्भ करने के लिए साधक उपयुक्त गुरु एवं प्रज्ञा की तलाश में रहता है । गुरु का महत्व दोनों ही धाराओं में परमात्मा से भी अधिक माना गया है, पर प्रज्ञा या नारी की अपेक्षा इस धारा की अपनी विशेषता है । बिना दीक्षा के सत्यज्ञान का उदय नहीं होता और बिना अभिषेक उस ज्ञान का संचार नहीं होता । यह अभिषेक पारमार्थिक और संवृत दो रूप का होता है। संवृत भी दो प्रकार का है— पूर्व एवं उत्तर। पारमार्थिक अभिषेक ही अनुत्तर अभिषेक कहा गया है । कलश, गुप्त, प्रज्ञा एवं अनुत्तर सेक का प्रयोग विन्दु के आरोह एवं अवरोहपूर्वक समाप्य आवर्त्तन में होता है । कुण्डलिनी का भी आरोहावरोहपूर्वक आवर्त्तन होना है । जैसे ब्राह्मण तंत्रों में जड-त्यागपूर्वक चिद्रूपलब्धि या आरोह के बाद पुनः अवरोहन में त्यक्त का चिन्मयीकरण होता है, फलतः यात्रा पूरी होती है। ठीक यही स्थिति यहाँ भी है ।

उपाय का अत्यधिक विस्तार गुह्यसमाजतन्त्र में उपलब्ध होता है । उपाय है— सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन । सेवा भी दो प्रकार की है—सामान्य और उत्तम । उत्तम सेवा में ही षडंग का स्थान है, जिसका प्रयोग विंदु के ऊर्ध्वसंचार में विशेष रूप से होता है ।

अभिषेक के अनन्तर साधक, गुरु के निर्देशन में मण्डल के भीतर प्रज्ञा के साथ प्रवेश करता है और योग का रहस्यात्मक अंश आरम्भ हो जाता है । आसन, बन्ध मुद्रा आदि के द्वारा गुह्याँगों के बीच नसें और नाड़ियाँ अपेक्षित संकोच और प्रसार प्राप्त करती हैं, ताकि उनके द्वारा विन्दु का ऊर्ध्वसंचार किया जा सके । उपयोग में सर्वाधिक महत्व प्राणायाम का इसलिए स्पष्ट है कि उसी के द्वारा प्राण एवं अपान की विरोधी धाराओं को एकोन्मुख कर मध्यमार्ग में संचरित होता है । उत्तर सेक तथा खनुत्तर सेक से उसे जब नीचे उतारा जाता है, तब उसमें इतनी स्थिरता आ जाती है कि निर्माण-चक्र में उतरकर भी वज्रमणि में स्खलित नहीं होता । इस बिंदु से जिस दिव्य देह की उपलब्धि होती है, उसी से सहजानन्द धारण किया जाता है ।

षडंग के अन्तर्गत अन्य अंगों के अतिरिक्त चार चक्र, चार मुद्रा, चार क्षण, चार आनन्द एवं चार कार्यों की भी विशिष्ट चर्चा इस संदर्भ में विचारणीय है ।

सुरतशब्दयोग का वैशिष्ट्य यह है कि यह मार्ग उक्त मार्ग की अपेक्षा सरल है, यद्यपि उक्त मार्ग भी हीनयान, महायान एवं वज्रयान की अपेक्षा सरल है। यहाँ प्रज्ञा (नारी) की आवश्यकता नहीं है । तान्त्रिक बौद्ध साधना का आरम्भ नाभिचक्र से करते हैं । सन्तों ने सहस्रदल कंवल या त्रिकुटी से किया है। इन लोगों की यह धारणा है कि सबसे ऊंचा स्थान है—अनामी अथवा अकह । इसी स्थान से मालिक की मौज उठी और शब्दरूप होकर नीचे उतरी । वहीं से चलकर सुरत भी भिन्न-भिन्न स्थानों से होती हुई ब्रह्माण्ड में फैली और पिण्ड में उतरी । अनामी सत्तलोक सुन्न त्रिकुटी सहस्रदल कंवल । सत्त लोक से नीचे स्थान छोड़कर सुन्न य दशम

द्वार है। इस प्रकार, सत्तलोक से सहस्रदल कंवल तक पाँच प्रकार के शब्द हैं। पांचवां शब्द सत्तलोक में है और उससे परे जो शब्द की धार है, वह अनिर्वाच्य है। इन्हीं शब्दों की धुन पकड़कर सुरत या रूह ऊपर चढ़ती है।

सत्तलोक से सहसदल कंवल तक ये स्थान आसमानी हैं और इन्हीं की प्रतिच्छाया के रूप में पिण्ड के अन्तर्गत भी छह स्थान हैं। इन्हीं को चक्र कहा जाता है। पहला चक्र दोनों आँखों के पीछे है और यही सुरत, अर्थात् रूह का वास माना जाता है। सुरत-शब्द-योग में इसीलिए इसी स्थान से साधना का आरम्भ होता है। माना गया है कि मानव-मात्र के दोनों नेत्रों में आठ अवयव हैं। प्रत्येक में चार-चार अहं हैं: उज्ज्वल तारिका; काली पुतली, छोटी पुतली तथा उसके भीतर स्थिर सुई के छेद के समान चमकीला सूक्ष्म बिन्दु। इसी को अग्रदृष्टि या अग्रनख कहा जाता है। सुरति इसी रूप में परिणत होकर अष्टदल कमल का भेदन करती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती है। सुरति जितनी ही अग्रनख के भीतर की ओर अग्रसर होती है, मन उतना ही स्थिर होता है। सुरति अपनी मात्रा में वंकनाल से होती हुई धुंधले मण्डल को पार करती है और फिर महाशून्य के छोर पर स्थित भ्रमरगुहा, जो सत्यराज का प्रवेश द्वार है, में प्रवेश करती है। योगी यहाँ से विशुद्ध शब्द सुन पाते हैं। इस मार्ग को विहंगम-मार्ग कहा जाता है। फलतः इसकी तुलना में उसे पिपीलिका-मार्ग कहा जा सकता है।

इस प्रकार, कमलबुलिशयोग तथा सुरतशब्दयोग की असाधारण विशेषताओं के साथ सामान्य विशेषताओं का अध्ययन हमें कई रोचक निष्कर्षों पर पहुँचाता है।

संत साहित्य में 'आरोहण' के विभिन्न मार्ग :

संत साहित्य में आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त अपनाए गए विभिन्न मार्गों का उल्लेख मिलता है। इन मार्गों के आधार भी भिन्न-भिन्न रूप से माने गए हैं। कहीं तो जप-माध्यम के भेद से तीन मार्गों का उल्लेख परम्परा में गुनगुनाता हुआ मिलता है—

> कंठ की जाप पिपीलिका स्वाँसा की है मीन।
> सूरत जाप विहंग है जानत परम प्रवीन ॥[1]

उक्त दोहे में तीन माध्यमों—कंठ, स्वांस तथा सुरत—के आधार पर साधना के तीन मार्गों का निर्देश है पिपीलिका मार्ग—मीन मार्ग तथा विहंगम मार्ग। कहीं-कहीं पिपीलिका मार्ग के पर्याय रूप में 'मर्कट मार्ग[2]' शब्द का भी प्रयोग मिलता है—पर ये पर्याय भिन्न आधार पर हैं। आधार है यात्रा की सावलम्बता तथा निरवल-

१. संत मत में साधना का स्वरूप, पृ० १४।
२. मुक्ति प्रकाश, भूमिका, पृ० ४।

लम्वता । यात्रा के साधार और निराधार होने पर विशेषतः पिपीलिका मार्ग तथा विहंगम मार्ग।[1] राधास्वामी मत के 'संतमत प्रकाश-भाग २' में ऊर्द्धवयात्रा की चार चालें वताई गई हैं—चींटी मार्ग, मकड़ी मार्ग, मीन मार्ग तथा विहंगम मार्ग[2] । 'योगवीज' में सिद्धि के एक ही देह अथवा देहान्तर में उपलब्ध होने से दो क्रमों का उल्लेख मिलता है—कर्कट क्रम तथा काकक्रम१ । एक ही देह में क्रमशः दीर्घकालीन आयास के फलस्वरूप लाभ कराने वाला क्रम कर्कट तथा वासनावशात् कतिपय प्रतिवंध वश एक ही देह में सिद्धि न मिलने पर देहान्तर में सिद्धि लाभ कराने वाला क्रमकाकक्रम कहा जाता है । इस प्रकार साधकों के साहित्या-नुसंधान से अनेकविध मार्गों तथा क्रमों की ओर भी उपलब्धि हो सकती है । इन मार्गों में से कर्कट तथा काकक्रम का इस प्रसंग में कोई विशेष उपयोग नहीं है । शेष कुल मिलाकर पाँच नाम हैं—पिपीलिका, मर्कट, मकड़ी, मीन तथा विहंगम । इन्हें भी सावलम्व तथा निरवलम्ब की दृष्टि से द्विधा विभाजित किया जा सकता है—सावलम्व में पहले चार तथा निरवलम्व में अंतिम है—विहंगम मार्ग ।

(क) पिपीलिका अथवा चींटी मार्ग :

साधना परक साहित्य में पिपीलिका मार्ग अथवा चींटी मार्ग का स्पष्टीकरण भिन्न-भिन्न आधारों पर किया है । कंठ की जाप 'पिपीलिका' का आशय डा० प्रताप सिंह चौहान ने कुछ और ही लगाया है । अपने स्पष्टीकरण में उन्होंने 'कंठ' तथा "चींटी' या 'पिपीलिका'—दोनों ही शब्दों का स्वारस्य प्रदर्शित किया है । 'कंठ' से उन्होंने दो तथ्यों की ओर संकेत किया है—एक तो यह कि जप द्वारा साधना की जितनी स्थूल-सूक्ष्म प्रक्रियाएँ हैं वे शरीर के स्थानों में कंठ तक आकर समाप्त हो जाती हैं और दूसरा यह कि कंठ अर्थात् कंठ-स्थित विशुद्ध चक्र द्वारा जप । डा० चौहान ने अपने इस नव्य व्याख्यान के समर्थन में न तो कोई 'साखी' ही दी है और न तर्क ही । जप की सभी प्रक्रियाएँ कंठ तक आकर समाप्त हो जाती है—का आशय स्पष्ट नहीं है । वस्तुतः जप प्रयत्न साध्य भी होता है और स्वाभाविक भी । जप चाहे वैखरी का हो, उपांशु अथवा मानस प्रयत्न साध्य होने से सभी एक प्रकार के वैखरी जप ही हैं । वैखरी जप से 'मध्यमा' तक आने में अनेक विध प्रयत्न करने पड़ते हैं । 'मध्यमा' नाद के खुल जाने से अजपाजाप अथवा स्वा-भाविक जप होने लगता है । इसी का खुलना मंत्र का चिन्मयीकरण होना है—शक्ति का जागरण होना है—कुण्डलिनी का उत्थान है । जप की यह प्रक्रिया कहाँ कंठ पर्यवसायिनी है ? कितना भी सोचें जप की सभी प्रक्रियाओं का कंठ पर्यवसान

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग २, पृ० ४२ ।

२. पृ० २६

समझ में नहीं आता। दूसरे 'कंठ की जाप' का आशय 'विशुद्ध चक्र'द्वारा जप है—यह भी तर्क और प्रमाण के अभाव में अमान्य ही है। चक्र तो एक प्रकार के शक्ति केंद्र हैं। डा० चौहान का यह कहना कि चक्रों पर मन एकाग्र किया जाता है—परम्परा और शास्त्रों से प्रमाणित है—चक्रों का सायास चालन या स्पंदन खतरनाक है—उनका यह भी कहना संगत लगता है। रहा 'पिपीलिका' की गति अत्यन्त मंद होती है और दूसरे यह कि पिपीलिका जैसे (शकर आदि) आकर्षणों में फंसकर—आगे नहीं जा पाती—वैसे ही इस मार्ग के उपासक सिद्धियों के प्रलोभन में कभी कभी गन्तव्य खो बैठते हैं। हठयोग पिपीलिका मार्ग का ही एक भेद है—स्मरणीय यह है कि दोनों पर्याय नहीं हैं। 'पिपीलिका' के ये दोनों संकेत बुद्धि-ग्राह्‌य हैं और साधक परम्परा में ग्राह्‌य भी। पिपीलिका की गति मंद है—दीर्घ-काल साध्य है। दीर्घकाल साध्य प्रक्रियाएँ अपने व्यापक रूप में इसी मार्ग की कही जा सकती हैं। डा० चौहान का यह कहना "कीर्तन, यज्ञ तथा कर्मकाण्ड की अन्य प्रक्रियाओं का समावेश पिपीलिका मार्ग के अंतर्गत ही समझना चाहिए[1]।" 'प्राण-संगली' के भूमिका लेखक श्री संपूर्ण सिंह के वक्तव्य से भी मेल खाता है। उन्होंने कहा है—"कर्म, धर्म, व्रत, पूजा आदि चींटि मार्ग रूप तुच्छ आचार को कैसे ग्रहण करूँ[2] ?"।

सामान्यतः पिपीलिका मार्ग को अपेक्षाकृत निम्न स्तर का मार्ग माना जाता है। किसी दृष्टि से यह ठीक भी है—पर इसके अधिकारी की दृष्टि से यही सर्वोत्तम है। साधारणतः इसे हठयोग से एकरूप करके भी समझा जाता है—पर हठयोग उसका एक भेद है। इस हठयोग में आसन, प्राणायाम, मुद्रा षट् कर्म, बंध आदि की सहायता से कुण्डलिनी जागरण किया जाता है। जागरित शक्ति से षट चक्र भेद करते हुए सप्रयास सहस्रार में स्थिति करनी पड़ती है। सामान्यतः इसका लक्ष्य पिण्ड से ब्रह्माण्ड में प्रवेश करना ही है। एतदर्थ मेरुदण्डस्थ सुषुम्णा में प्रवेश करना पड़ता है—तदर्थ प्राण तथा मन को एकरस करना पड़ता है—तदर्थ और सब आयास साध्य क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। प्राणायाम के साम्य से कुण्डलिनी जागरण और तदनन्तर चक्रवेद आरंभ होता है। प्रत्येक चक्र वेध में उसके केंद्रीय बिंदु का भी भेद करना पड़ता है—इस क्रम से आज्ञा चक्र का भी भेद कर चुकने पर सर्व तो उर्द्धव स्थित विशुद्धतम 'बिंदु' में प्रवेश कर बाहर आना पड़ता है—तभी साधक पिण्ड की सीमा लांघकर ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो जाता है। छह चक्रों तक ही वर्णों या शब्दों की स्थिति है—इसी सीमा में रहने वाले जीव के अंतर में शब्द विकल्पकारी हो सकते हैं—आज्ञा चक्र से ऊपर वाले विशुद्धतम बिंदु

---

१. पृष्ठ १६।

२. पृष्ठ ६३।

का भेद कर लेने पर फिर जीव को विकल्पकारी शब्द नहीं बाँध सकते। वह कालातीत हो जाता है। सहस्रार चक्र भी इसी ब्रह्माण्ड अथवा समष्टिदेह में ही है।

हठयोग बौद्ध सिद्ध तथा नाथ सिद्धों से तो अपनाया गया ही है—किसी-किसी धारा के संतों ने भी अपनाया[1] है। यह अवश्य है कि बौद्ध सिद्धों में यह हठयोग षडंग है और उसका ग्रहण तव किया जाता है जव 'वज्रयोग' से सिद्धि नहीं मिलती। इसी प्रकार नाथ पंथ का भी हठयोग कहीं अष्टांग तथा कहीं षडंग कहा गया है और इसे भी 'राजयोग' के अंग रूप में ही उपादेय कहा गया है। यहाँ हठयोग का अव्यवहित लक्ष्य कामसिद्धि है—काय का आयतीकरण है। संतगण हठयोग से बिंदु भेद करते हुए पिंड से ब्रह्मांड प्रवेश करना लक्ष्य बताते हैं। बौद्धों तथा नाथ सिद्धों की भांति कहीं-कहीं संतों के यहाँ भी हठयोगात्मक पिपीलिका का मार्ग का अंग रूप में आश्रयण किया जाता है। जिनमें मानस एकाग्रय् की मात्रा अधिक है—उन्हें इस समन्वय की अथवा अंग की आवश्यकता नहीं है। मूलाधार से लेकर आज्ञा चक्र तक की दिशा 'पूरव' दिशा संतों में प्रसिद्ध है। इसे ही अरविंद का Inward movement कहा जाता है। प्राचीन संतों में इस दिशा की यात्रा का भी समावेश मिलता है। संभव है इसीलिए सारवचन छंद बंद, प्रथम भाग की भूमिका[2] में हुंजूर महाराज ने कहा हो—"राधास्वामी मत को संतमत भी कहते हैं पिछले वक्तों में यह मत निहायत गुप्त रहा और जो कि इसका अभ्यास शुरू में प्राणायाम के साथ किया जाता था—इस सबब से बहुत कम लोग इससे वाकिफ थे और न किसी से अभ्यास बन सकता था क्योंकि प्राणायाम करने में संजम और परहेज सख्त दरकार है और खतरे भी बहुत हैं। और इस सबब से यह काम इस कदर मुश्किल था कि कोई इसमें कदम नहीं रख सकता था। अब हुजूर राधा-स्वामी साहब ने ऐसी सहज जुंगत और आसान तरीका सुरत शब्द जोग का अपनी दया से प्रगट किया है कि जो कोई सच्चा शौक रखता होवे तो वह आसानी से उसका अभ्यास कर सकता है"। हठयोग की उपलब्धियों का संतों में विस्तृत विवरण देखकर उक्त संभावना की पुष्टि भी होती है। जैसा कि कविराज गोपीनाथ ने अपने 'भा० सं०[3] और साक्त भाग २' में कहा है कि प्राचीन संत सम्प्रदाय में योग साधना की अनुसारी चार दिशाओं को स्वायत्त कर परम धाम में पहुँचने

---

१. गुह्यसमाज तंत्र, पृ० १६५।

"संतों की यह (गुह्य) साधना योगाभ्यास की साधारण प्रणाली से कई बातों में मिलती हुई भी उससे बहुत कुछ भिन्न है।

—हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय (भूमिका-परशुराम चतुर्वेदी) पृ० ३३

२. पृ०, ४।

३. पृ० ४६

की व्यवस्था रही है—तदनुरूप उक्ति प्राणसंगली कार के भूमिकाकार की भी है। उन्होंने कहा है—"इस[1] चढ़ाई का क्रम पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण भावी परिक्रमा क्रम-अनुसार आरंभ होती है।" मूलग्रंथ की टीका में भी चढ़ाई का वर्णन करते हुए टीकाकार ने भी कहा है—"हठयोग का सहजयोग अर्थात् सुरति शव्द योग में इतना उपयोग नहीं भी है और है भी। है तो केवल इतना कि योग के साधन सर्वत्र दशाओं में जिज्ञासुओं के भीतर होने जरूरी हैं। उन यम, नियम आदि साधनों में संपूर्ण शुभ साधन आ जाते हैं। प्राणायाम को प्रसिद्ध रूप में सहजयोग विषे समीचीन (प्रमाणित) नहीं रखा गया, परन्तु इसी की सूरति सुखसाध्य हालत में मीनमार्गी दशा में पलट ली गई। चक्रों का ज्ञान मात्र केवल ब्रह्माण्ड मण्डल में सुरति को ले जाने के लिए होता है, ना कि कुछ उनमें धारणा, ध्यान आदि के निमित्ते से।"

सुरति शब्द योग :

चतुर्वेदी जी भी कुछ ऐसा ही सोचते हैं। "संतों की साधना में शारीरिक साधनाओं की वैसी प्रधानता नहीं जो हठयोगियों में दीख पड़ती है। यह उनकी अनेक वातों को ग्रहण करती हुई भी उसके आसन एवं मुद्रा आदि का वैसा उपयोग नहीं करती। संतों ने पिण्ड के भीतर विद्यमान समझे जाने वाले षटचक्र, त्रिकुटी, ब्रह्मरंध्र आदि को प्रायः योगियों की ही भाँति स्वीकार किया है। और कुण्डलिनी योग का भी वर्णन लगभग उन्हीं की शब्दावली में किया है, परन्तु जिस प्रक्रिया की ओर उन्होंने सवसे अधिक ध्यान दिया है—वह 'सुरतिशव्दयोग' है। संत लोग उद्देश्य की सिद्धि सुरति के द्वारा प्राप्त करते हैं जो हमारे भीतर वहाँ की 'स्मृति' के रूप में विद्यमान है और जो जीव का अन्यतम स्वरूप ही कही जा सकती है। यही सुरति अनाहतनाद को अपना लक्ष्य वनाकर उसकी ओर क्रमशः अग्रसर होती है और अन्त में इस ब्रह्म परमतत्व को प्रत्यक्ष वा आत्मसात् कर लेती है। सहज समाधि की दशा शब्द व सुरति के संयोग का ही परिणाम[2] है।

निष्कर्ष यह कि हठयोग बौद्धों, नाथों तथा संतों में उनके चरमलक्ष्य के अनुरूप परिवर्तित होकर प्रयुक्त हुआ है। तांत्रिक हठयोग, मार्कण्डेय प्रवर्तित हठयोग, मत्स्येन्द्र नाथ तथा गोरक्ष नाथ का हठयोग अपने-अपने स्वरूप में परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। संतों ने हठयोग के आँठों अंगों की व्याख्या अपने अनुरूप कर ली है। प्राणसंगली के टीका कार, अक्षर अनन्य तथा अन्य संतों के वचनों के प्रकाश में इसे समझा जा सकता है। प्राणसंगली के टीकाकार संत सम्पूर्ण सिंह ने अष्टांग हठयोग के उन्हीं नामों की अन्यथा व्याख्या की है। वस्तुतः ग्रंथ का मूल अंश है—

१. पृष्ठ ८०।

२. हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, भूमिका, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३४।

सोइ अउधूती अदध मिटाई ।
अष्टाँग जोग रहै लिव लाई ॥

इस रेखांकित अंश की व्याख्या करते हुए संत संपूर्ण सिंह ने कहा है—"हठयोग के अंग यहाँ नहीं कहे समझते, किंतु नानक प्रकाश नामक ग्रंथ में शिवनाम ताई भगति योग के विषय में अैसे अष्ट अंग का व्यौरा कहा है—

(१) मन नीचा रखना (नम्र) अर्थात् अपने गुनों ते सदैव निर्मानता—यह यम है । (२) कथा कीरतन सत्संग का नियम पालना नियम है अथवा गुरुवाणी पढ़ने सुनने का नेम । (३) एकान्त देश सर्वविषे एक करतार की जोति जानना, दूसरा ना देखना, सब घट में एक ही पूर्ण को पहचानना आसन । (४) प्राणायाम-पूरक-गुरों के वचन सुनकर उनके सार को भीतर कर्ष लेना । कुंभक-श्रवण करे उपदेशों को समझबूझ कर अंतर में दृढ़ कर रखना (अभ्यास के प्रभाव से उनसे सुरति डोलनी ना पावे) रेचक--जो कुछ सतगुरों ने तजना कहा हो उसे त्याग देना (५) जो कदाचित मन निकस जावे तो फिर गुर शब्द विषे मोड़कर ला ठहिराना-प्रत्याहार । (६) प्रभू विषे सुरति संकोच करके स्थिर कर रखणा धारणा । (७) ध्यान-गुरुदेव की वानी पढ़ने सुनने तथा वचनों विषे एक मात्र तात्पर्य अर्थ पर ध्यान रखना और कोई अन्यत्र संकल्प फुरने ना देना । (८) समाधी—जब इस प्रकार मन दो चार घड़ी प्रयंत एक रस अडोल रहे और वचन रस में व्यवहारादि को भी भूल जावे—तो यही समाधी है—इसी को वढ़ावे । जब आठ पहर शब्द में अडोल रहे तो यह समाधि पूर्ण हो जाती है[१] ।"

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि जहाँ नाथ प्राण साधना करते थे--काज साधन करते थे—वहाँ संतजन प्राण-श्वास तथा प्रश्वास—के द्वारा साधना करते थे और करते हैं । हठयोग जिस अर्थ में और जिस लक्ष्य से नाथ करते थे—उससे भिन्न अर्थ और भिन्न लक्ष्य से संतों ने उसका उपयोग किया । संतों ने हठ्योग से सुरत शब्दयोग को—पिपीलिका मार्ग से विहंगम मार्ग को—पृथक् भी रखा और कुछ एक ने समन्वित भी किया । जिसने पृथक् रखा उसने उसे भिन्न अर्थ ही दे दिया और जिसने समन्वित किया—उसने इस समन्वय के निमित्त चौदह तत्वों षट्चक्र तथा अष्टदलकमल अथवा नवद्वार और पंचतत्व—को उपयोगी और अपेक्षित माना । इस प्रकार पिपीलिका तथा विहंगम का सर्वथा पार्थक्य भी है और समन्वय भी । पर एक बात सर्वत्र समान दिखाई देती है और वह पारिभाषिक पदावलियों तथा उपलब्धियों की समानताएँ अथवा एकरूपता । इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि चाहे बौद्ध सिद्ध हों; नाथ हों या संतजन—'शक्ति' की साधना—(तंत्र सम्मत) सबकी साधना है । बौद्धों का 'वोधिचित्तोत्पाद', नाथों का प्राणापान समीकरण पूर्वक

१. प्राण संगली, पृ० ६५१ ।

चिदाग्नि का जागरण और संतों का जप द्वारा शब्द-चैतन्यीकरण शक्ति जागरण के ही विभिन्न रूप है। पथ अवश्य तीनों के भिन्न हैं। पहला शुक्रात्मा 'विंदु' शोधन पर बल देता है, दूसरा प्राणशोधन पर और—तीसरा सीधे रागाश्रित मनःशोधन पर। शुक्ल, प्राण तथा मन परस्पर संबद्ध हैं—अतः एक के साधन से दूसरे की सिद्धि स्वयं संभावित है—हो सकता है इसलिए उनकी उपलब्धियाँ कहीं न कहीं एकरूप हो जाती हों। उपलब्धियों के क्वचित्क साम्यवश पदावलियाँ भी कहीं-कहीं समान हो सकती हैं। और कुछ हो या न हो,पर वैषम्य मिटाकर साम्य की स्थिति सभी को मान्य है—अधोवर्ती को ऊर्ध्वमुखी सभी करते हैं—ऊर्ध्वरेता भी हो जाते हैं। इसीलिए उलटी साधना को समान रूप से तीनों महत्व देते हैं—अधोमुखी शुक्र, प्राणापान तथा मन को ऊर्ध्वमुखी करना सभी का लक्ष्य है। अधोमुखी शक्ति केंद्र बाधक हैं—प्रतिकूल हैं और वे ही शक्ति केंद्र ऊर्ध्वमुखी होकर अनुकूल हो जाते हैं—अतः तदर्थ सभी प्रयत्नशील होते हैं। चक्र और हैं क्या शक्ति केंद्र ही तो हैं चक्रों के उलटने में शोधित प्राण का और प्राण शोधन में यम, नियम, आसन, मुद्रा तथा बंध की अपेक्षा होती है। हठयोग द्वारा ये चक्र सायास भी ऊर्ध्वमुख होते हैं और सहजयोग द्वारा अनायास भी—अतः कहीं न कहीं इनकी धारा मिलती है—फलतः समानता दिखाई पड़े—तो सहज संभव है। पर इस साम्य को देखकर यह कल्पना कर लेना कि सभी संतों ने हठयोग (अपने रूढ़ अर्थ में) अथवा पिपीलिका योग का सहारा लिया ही है—ठीक नहीं है।

अंततः इस मार्ग के विषय में अपने वक्तव्य का उपसंहार करते हुए इतना ही कहना है—कि 'कंठ की जाप पिपीलिका' में 'कंठ' से जो संभावनाएँ डा० चौहान ने की हैं—वे तर्क और प्रमाण के अभाव में विश्वसनीय नहीं बन सकी हैं। अतः मेरा तो प्रस्ताव यही है—"बैखरी कंठ देशगा" के साक्ष्य पर कंटजाप बैखरी जप का ही उपलक्षण है। वाचिक, उपांशु तथा मानस—ये तीनों ही प्रकार के जप प्रयत्न साध्य होने के कारण बैखरी जप ही हैं और बैखरी जप होने से दीर्घकाल साध्य लक्ष्य के स्रोत हैं—फलतः पिपीलिका मार्ग के अंतर्गत हैं। शास्त्रों में कहा भी गया है कि श्रेष्ठ अधिकारी को प्रातिभज्ञानात्मक उपदेश होता है। मध्यम अधिकारी को चेतन शब्द से उपदेश होता है और अधम अधिकारी को अचेतन शब्द के द्वारा ही उपदेश दिया जाता है। अचेतन शब्द के जप से अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उसे चेतन किया जा सकता है। अतः मेंरे मत से कंठ की जाप पिपीलिका का आशय बैखरी जप से ही होना चाहिए। साथ ही, यदि अधिकोरी अधम है—तो निरवलम्ब साधना उससे संभव भी नहीं है—अतः सावलम्ब ही उसके लिए अनुकूल है।

राधास्वामी मत के एक ग्रंथ (संतमत[1] प्रकाश) में इस मार्ग का स्वरूप स्पष्ट

---

१. पृष्ठ २६।

करते समय कहा गय है—"यहाँ तक (दो आँखों के मध्य में) आत्मा को नौ द्वारों से सिमरण द्वारा निकालना है—इससे बड़ा समय लगता है—यह है चींटी मार्ग ।" सिमरण नामजप ही है और बैखरी जप ही होगा—तभी कालाधिक्य की बात संगत होगी । यह कहने की पुनः पुनः आवश्यकता नहीं है कि हठयोग का लक्ष्य पिण्ड से निकलकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करना है । दो आँखों का मध्य ब्रह्माण्ड की देहरी है—अतः वहाँ पहुँचना उस हठयोग से ही संभव है—जो पिपीलिका मार्ग का एक भेद है । संत अक्षर अनन्य का विचार[1] है—"कर्मजोग तौ पिपीलिका मारग है अरु राजजोग विहंगम मारग है ।"

मर्कट मार्ग का प्रयोग इसी मार्ग के पर्याय रूप में सावलम्ब यात्रा के कारण किया जाता है—अतः उस पर स्वतंत्र विचार करने की आवश्यकता नहीं है ।

(ख) मकड़ी मार्ग :

इस मार्ग का आशय स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"जैसे मकड़ी अपने मुँह से तार निकालकर छत से उतरी, धरती पर आई, अपना शिकार किया और फिर उसी मार्ग से छत पर चली गई—यह है मकड़ी मार्ग" । पिपीलिका मार्ग से इसे ऊँचा कहा गया है । यह मार्ग भी सावलम्ब मार्ग ही है—इतना अवश्य है कि मकड़ी अवरोहण तथा आरोहण का मार्ग स्वयम् निर्मित करती है जबकि चींटी तथा मर्कट में यह संभव नहीं है ।

'प्राणसंगली' में भी एक अर्द्धाली चढ़ाई के प्रसंग में आई है—

> "वह मगु नाना क्यों करि गढ़ चढ़ीअै ।
> डाबर तार पलमि तहं बड़ीअै ।[2]

अर्थात् वह मार्ग अत्यन्त नन्हा अथवा सूक्ष्म है । जिस प्रकार डमरू के तार उलट पलट कर अपनी चोट के निशान पर ही पड़ते हैं—उसी तरह सुरति के तार भी अपने घर का लक्ष्य बाँधकर बारंबार उधर को लटक कर अर्थात् टकटकी बाँधकर—अपने घर में प्रवेश पा सकती है । डाबर अर्थात् ऊर्णनाभ या मकड़ी—सो जिस प्रकार वह अपने भीतर से उत्पन्न की हुई ऊर्णा से नीचे नीचे उतर आती है और फिर उसी के सहारे ऊपर चढ़ती हुई अपने मूल आवास को पहुँच जाती है—वैसे ही सुरत श्वास-प्रश्वासात्मक ऊर्णा से अवरोहण-आरोहण करती हुई शब्दाभ्यास के प्रभाववश अपने परमधाम में पहुँच जाती है ।

---

१. पृष्ठ ५१५ ।

२. प्राणसंगली, पृ० ५३ ।

(ग) मीन मार्ग :

'स्वाँसा की है मीन' ।

मीनमार्ग मकड़ी मार्ग से अधिक प्रशस्त माना गया है । मीन का वैशिष्ट्य है कि वह 'प्रवाह' के विपरीत निरायास और सहज चढ़ती चली जाती है । प्राण-संगली के टीकाकार संत संपूर्ण सिंह ने अनेक अवसरों पर इसका आशय स्पष्ट किया है। यात्रा सावलम्ब मीन की भी है। यदि जलन हो, तो मीन में गति ही नहीं आ सकती। अध्यात्म मार्ग में श्वास-प्रश्वास के माध्यम से किए जाने वाले जप को मीन-मार्ग समझा जाता है । यहाँ मीन की तरह मन द्वारा किए जाने वाले जयात्मक प्रचरण का अवलम्ब श्वास प्रश्वासात्मक प्रवाह है । संत संपूर्ण सिह की धारणा है कि गुरुमत में मीनमार्ग पूर्वक विहंगम मार्ग स्वीकृत है । अर्थात् विहंगम मार्ग के पहले मीन मार्ग का आश्रयण संत जन करते हैं। क्रमागत प्राण साधना की पद्धति को आयास साध्य समझकर और आज के जीवों अक्षमता देखकर इन संतों ने प्राणायान गति के साथ शब्दानुसंधान कराकर स्वकीय लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त इस मीनमार्ग का प्रवर्त्तन किया। इसके माध्यम से सुरति मानसरोवर वासी हो जाती है।

मीन की गति की विशेषता इतनी ही नहीं है कि वह प्रवाह में उलटे सहज ही चढ़ती जाती है, प्रत्युत संतों में प्रसिद्धि इस बात की भी है कि मछली अल्पजलाशय को त्यागकर-बरसते पानी की धार पकड़कर आकाश की ओर चढ़ती चली जाती है और—अंततः आकाश में आने वाले मेघ मार्ग से समुद्र जैसे अगाधजल में प्रवेश कर जाती है । ठीक इसी प्रकार सुरति शब्द की धार के सहारे पिडवर्ती गगन मंडल की ओर बढ़ती हुई चली जाती है और अंततः अपने निजी घर गुह्य प्रदेश में समा जाती है । इस प्रसंग में प्राणसंगली की टीका से एक लम्बा उद्धरण देने का लोभ संवृत नहीं कर सकता । अंश इस प्रकार है—"सचु स्वरूप विषयक ब्रह्म भावमई आचार को धारण करता हुआ, गुरु शब्द के अधार (सहारे) पर पवन से आरंभ करे—इस प्रकार कि शब्द के आश्रित पवन नाभि से उत्पन्न होकर हिरदे में से उल्लंघन करती हुई सुषुम्णा के स्थान पर जाय स्थित होवे—इस भाँति शब्दाभ्यास करते करते त्रिवेणी धार का लखाव आता है । यहाँ प्रयंत मीनमार्ग रूप शब्दाभ्यास की पूर्णता के अनन्तर मन में उलटी कला नट बाजी रूप विहंगम शब्दाभ्यास की सुरत (ज्ञात) आनस्फुर्ण होती है। बस, यही जोग ध्यान ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, तात्पर्य यह कि शब्दाभ्यास मात्र से ही यथार्थ ब्रह्मज्ञान होकर पूर्णब्रह्म की प्राप्ति इसे हो जाती[१] है ।" इस उद्धरण से नितान्त स्पष्ट है कि विहंगम मार्ग मीनमार्ग पूर्वक है। मीनमार्ग से साधक त्रिवेणी घाट तक पहुँच जाता है । उसके बाद सावलम्ब यात्रा समाप्त हो जाती है, निरवलम्ब विहंगम यात्रा का आरंभ होता है ।

---

१. पृष्ठ ११०

(घ) विहंगम मार्ग :

"सूरतजाप विहंग है।"

विहंगम मार्ग को प्रायः पिपीलिका के विपक्ष में प्रस्तुत किया जाता है—यद्यपि ऊपर इन दोनों के समन्वय की भी संभावना की गई है। पिपीलिका सावलम्ब है विहंगम निरवलंव। प्रथम में यात्रा शनैः शनैः फलतः दीर्घकाल साध्य होती है और साधक एक अवलम्ब छोड़कर दूसरा पकड़ता हुआ आगे वढ़ता है जवकि द्वितीय में विना क्रम के स्वेच्छानुसार वह विश्रामहीन चढ़ाई करता है। आरोहण की पद्धति और प्रक्रिया ही नहीं, लक्ष्य भी भिन्न है। विहंगम मार्ग अक्रम, निरवलम्ब तथा विश्राम-हीन इसलिए है कि उसका यात्रा प्रदेश शून्य है। पिपीलिका मार्ग—जो हठयोग से प्रायः एकरूप समझा जाता है—क्लेश साध्य है जवकि विहंगम इतना सरल और सुगम है कि वहुतों ने तो उसे सहजयोग नामान्तर ही दे दिया है। प्रथम द्वारा साधक कार्यसिद्ध तो कर सकता है—पर आत्मा का आपत्तीकरण संभव नहीं है—विहंगम योग से आत्मा का भी आपत्तीकरण हो जाता है। वात यह कि आत्मा के आपत्ती-करण के निमित्त अष्टदल कमल की गुत्थी खुलनी आवश्यक है—उसका भेद अपेक्षित है और यह हठयोग साध्य षट्चक्र भेद से नहीं होने का। इसीलिए विहंगम योग जिससे अष्टदलकमल भेद होता है—हठयोग से श्रेष्ठ माना जाता है। हठयोग अथवा पिपीलिका से विहंगम के भेद और भी हैं। हठयोग द्वारा होने वाला षट्चक्र भेद अथवा विशुद्धतम विंदुभेद तक की यात्रा पूर्व मार्ग की यात्रा मानी जाती है। इसके वाद पिंड भेद से ब्रह्मांड प्रवेश होता है। ब्रह्मांड प्रवेश के वाद की यात्रा पश्चिम मार्ग की यात्रा है। पूर्व मार्ग के अंत में यदि विशुद्धतम विंदु की स्थिति है तो पश्चिम मार्ग के अंत में महाशून्य की। हठयोग से पूर्व दिशा की यात्रा होती है जवकि विहंगम योग से पश्चिम दिशा की। इसीलिए पहले से दूसरा उत्कृष्ट है। पूर्व दिशा में दृश्य रहता है—प्रज्ञोदय पर्यवसायी अंतर्वर्ती यात्रा होती है जवकि पश्चिम की शून्य एवं अंधकारमय दिशा में दृश्य लुप्त हो जाता है—सुरत अमृतपान करती हुई इस शून्यात्मक गगन प्रदेश में निरवलम्ब चढ़ती चली जाती है। इस प्रकार दोनों मार्गों में अनेकविघ भेदक तत्वों की स्थिति है।

विहंगम मार्ग :

सुरत शब्द योगी अपनी यात्रा का आरंभ भिन्न-भिन्न स्थानों से करते हैं। प्राण संगली के टीकाकार संत संपूर्ण सिंह का कहना है कि उनके यहाँ का प्रस्थान विंदु 'नाभि' है। ये लोग अपनी साधना यात्रा का आरंभ नाभि केंद्र से करते हैं—और कारण निर्देश करते हुए वताते हैं कि यह यात्रा जिस प्राणशक्ति के सहारे आरंभ होती है उसका केंद्र नाभि ही है—उद्गम स्थल नाभि ही है। श्वास प्रश्वासात्मक

प्राण संचार का आश्रय नाभि ही है । गुरु निर्देश से जब इस श्वास प्रश्वास के माध्यम से शब्दाभ्यास आरंभ होता है—तो उसी केंद्र में शक्ति अभिव्यक्ति हो जाती है—यही कुण्डलिनी जागरण है । हठयोगियों की भाँति ये लोग सायास चक्र-चालन तो नहीं करते, परन्तु पिण्ड से ब्रह्माण्ड मंडल में सुरति को ले जाने में चक्र का ज्ञान मात्र (न कि उनमें धारण, ध्यान) उपयोगी होता है—अतः उसकी चर्चा करते हैं । जैसा कि आगे कहा जायगा कतिपय लोग (चरणदास) नाभि से और (राधास्वामी मत का प्रेम पत्र) कुछ एक हृदय देश से अभ्यास आरंभ करने की बात करते हैं ।

अद्यतन जीव अधोमुखी और कामुक वृत्ति के अधिक हैं, अतः साधना का आरंभ मूलाधार से न कराकर नाभिचक्र से कराते हैं । नाभिचक्र का कमल षट्दल है । इसका स्थान लिंग से ऊपर वाले मांसखण्ड—जो दवाने से दव जाता है— के ठीक पीछे है । सुरति को पहले पहल वहीं स्थिर करना चाहिए । वहाँ से चतुर्दलकमल गुदाचक्र की ओर सुरति को पलटे । हठयोगियों के योगारंभ की यही भूमि है । तदन्तर नाभि के पीछे वाले चक्र में सुरति को वापस ले जाय। इस चक्र में आठ पंखुड़ियाँ हैं । यहाँ दायें तथा वायें किंचित् भेद से स्थित दो चक्र हैं—पहले में आठ पर दूसरे में दस दल हैं । वहाँ सुरति के टिकने से दो प्रकार का प्रकाश होता है । यह स्थान जब धारणासे खुल जाय-तव सुरति को हृदयकमल की ओर ले जाय। इस कमल में बारह पंखुड़ियाँ हैं । हृदय में भी तीन चक्र हैं—एक मध्यवर्ती है और – दो दाएं वायें। संतों ने अगल-वगल के चक्रों की वात नहीं की—अथवा उसे प्रकाशित नहीं किया। हृत्कमल बेध के अनन्तर सुरति को कंठ में ले जाया जाता है। तदनन्तर त्रिवेणी घाट पर । इस त्रिवेणी में इड़ा, पिंगला का सुषुम्णा के साथ मेल या संगम होता है। त्रिवेणी पार करती हुई सुरत सुन्न में जा समाती है। यहाँ से बंकनाल द्वारा घूंघूकार मंडल पार करती हुई सुरत भवंरगुहा में जा समाती है । घूंघूकार का आशय स्पष्ट करते हुए साधकों ने कहा है कि जिस प्रकार इंजनगाड़ी की छोटी नली द्वारा स्वच्छ धूम निकलता है इस प्रकार की धूमाकार मंद मंद नितान्त सूक्ष्म हिलोर का भान ही वह है। सुरति को इस प्रकार की अपनी झलक दिखाकर फिर वह उसकोमें अपने लपेटमें लिया करती है । धुंधूकार इसी स्थिति का नाम है सम्पूर्णसूक्ष्म रचना का वास्तविक बीज यही है । सुन्न मंडल में तत्वज्ञान की उपलब्धि होती है किंतु भवंर गुफा में पहुँचकर विज्ञान की उपलब्धि होती है । सन्न या शून्य पर्यन्त आरोहण पश्चिम दिशा का आरोहण है । पश्चिम दिशा की इस सीधी यात्रा के पश्चात् थोड़ा सा वाईं ओर पीछे हटकर धुंधूकार मंडल की सैर करनी पड़ती है फिर दाईं ओर भवंरगुहा का द्वार है। यही प्रदक्षिणा क्रम है—चार धाम की यात्रा है । इस प्रकार इस महापथ में पिण्डी मण्डलों का उत्क्रमण करते हुए ब्रह्माण्डी मण्डलों की यात्रा करते हुए अगमलोक तक पहुँचना ही सुरति का अभीष्ट है ।

इस शब्द योग में शब्द की वहिर्मुखी प्रवृत्ति को गुरुपदिष्ट पद्धति से अंतर्मुखी कर दिया जाता है। शब्दाभ्यास की प्रगाढ़ता से यह शब्द अपने शब्दाभाव में साधक की सुरति को लपेटकर अन्तर्यामी परमात्मा से उसका अभेद करा देता है।

चरणदासजी ने भी नाभि से आरंभ करने की बात कही है—

नाग उठाकर नाभि से गगन माँहि ले जाय।
वहाँ होय पर कास हीं सुकदेव दिया बताइ[1]॥

राधास्वामी मत में हृदयचक्र से भी इस नाम की धुन उठाने को सिर्फ उन लोगों के लिए कहा गया है जिनका माया प्रवाह की ओर अधिक औन्मुख है। इन लोगों की सुरति तीसरे तिल पर नहीं जम पाती। फलतः 'प्रेमपत्र' नामक कृति में हृदय चक्र की बात देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि राधास्वामी मत का यही प्रतिपाद्य है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि यदि हृदयचक्र में धुनि उठाने की बात कहीं भी गई तब भी यह माना गया कि उस शब्द को त्रिकुटी अथवा सहस्रार चक्र में प्रलीन करना चाहिए—अर्थात् पिंड से उठी धुनि यदि पिंड तक ही रह गई तो संतमत का गंतव्य नहीं मिल सकता—फलतः उसे ब्रह्मांड तक पहुंचाना ही चाहिए।[2]

नाभि से अभ्यास आरंभ करने का रहस्य अन्यथा भी स्पष्ट किया गया है। नाभि-कमल से श्वास निकलता रहता है और इसी श्वास के प्रभाव से नाम का प्राकट्य होता रहता है। अभिप्राय यह कि नाम का उच्चार प्राणोच्चार के साथ सहज और स्वाभाविक रूप में होता रहता है। मर्मियों की धारणा है कि जब श्वास नाभि से उठता है तब नासिका मूल पर्यन्त ऊपर चढ़ता है—इस आवेग में 'हं' ध्वनि होती है। पर जब नासिका मूल पर पहुँच कर श्वास टकराती है तब 'सः' ध्वनि करता हुआ श्वास वाहर निकल जाता है। जब अंतर्यामिनी शक्ति इसे फिर खींचती है तब 'सः' 'सो' होकर लौटता है और पुनः जब नासामूल से टकराता है तब स्थान के प्रभाव से 'सो' फिर 'हं' के रूप में परिवर्तित होकर नाभि तक पहुँचता है। इस प्रक्रिया से जीव दिन रात में २१६०० बार 'हंसः' 'सोहं' जपता रहता है। स्वाभाविक चलती हुई इस जप प्रक्रिया पर सुरत लगाना है—अन्यथा अचेत हालत में सब व्यर्थ चला जाता है। दूसरी जगहों पर इस जप का क्रम अन्यथा भी है—'ह' कार के साथ श्वास बाहर जाता है और 'स' कार के साथ भीतर आता है। प्राण का इसीलिए इतना महत्व है कि वह 'शब्द' का मूल है। 'तंत्रालोक' में समष्टि दृष्टि से इसीलिए कहा है—"संवित् प्राक् प्राणे परिणता"—संवित् की प्रथम परिणति 'प्राण' ही है। इसी उच्चारात्मक प्राण की 'हं' तथा 'सः' के ध्रुवों के बीच यात्रा होती रहती है। व्यष्टि में भी यही स्थिति है।

---

१. चरणदास जी की बानी, पृ० ३२।
२. वचन बाबूजी महाराज, दूसरा भाग, पृ० ११।

इस अजपाजाप का स्पष्टीकरण[1] करते हुए यह भी कहा गया है कि नाभि के वामभाग में माँस हृदय से लेकर मध्यभाग छाती के वीच में से थोड़ी सी वक्र होती हुई जो एक मिश्रित सी नाड़ी है–श्वास उसी से आता जाता है। इसे वंकनाड़ी कहा जाता है। उसके वीच में से गुप्त रूप से झंकृतिपूर्वक स्वयम् नामकी ध्वनि उठती रहती है—इसे अजपाजाप कहते हैं। संत गुरुओं ने विशेषकर 'प्राणसंगली' में इस ओर संकेत है—

बंक नालि पहली का नाउं ।
बंक नाड़ि रतक गुन गाउं[1] ॥

अथवा रीढ़ की हड्डी से लेकर कंठमूल तक मेरुदंड है—उसमें से सुषुम्णा नाड़ी नीचे से ऊपर तक गई है। इसके वाम दक्षिण भागों में इड़ा पिंगला नाड़ियाँ धनुषाकार हो षटचक्रों को ही अपने में लपेटती हुई लिपटी पड़ी हैं। इस प्रकार ये तीनों ही नाड़ियाँ एकमेक होकर स्थित हैं। कहीं-कहीं इस एकीभाव को भी संतों ने वंकनाल कहा है। जो भी हो, अभ्यासियों के ध्यान में एक इस प्रकार की वक्रनाड़ी का अनुभव हुआ करता है—जिसमें से प्राणों का साक्षात् संचार होता रहता है। पाणों के ऊर्ध्वाधः सन्चार से समुद्भूत टक्कर वश शब्द का प्राकट्य एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। नामस्मरण अथवा ध्यान को इसी बंक नाड़ी में सुदृढ़ किया जाता है।

नाभि स्थित षट्दल के चक्र में पहले सुरत को स्थित करें फिर उसके नीचे वाले चतुर्दल का शोधन करें। इसके फलस्वरूप इडा-पिंगला सुषुम्णा के घर में समा जाती है। इस प्रकार छहों चक्रों में सुरत श्वास के सहारे घुसती हुई सबका वेध कर जाती है। इन पिंडी चक्रों तथा ब्रह्माण्डस्थित सहस्रार चक्र-दोनों के भी आगे द्वादश दल-चक्र है—सुरत उसमें प्रविष्ट हो जाती है। यहाँ सुरत कालातीत दशा में आ जाती है।

बौद्ध सिद्ध मूलाधार से अपनी साधना का आरंभ करते थे—पर इन संतों ने लोगों की कामुक वृत्ति लक्षित कर नाभिचक्र से आरंभ की बात कही। आरंभ से दृढ़ता आ जाने के बाद मूलाधार की साधना यहाँ समुद्दिष्ट है। कारण यह है कि मूलाधार चक्र में कामदेव का आवास है—अतः वहीं से साधना का आरंभ करनेंवाला संभव है पतित हो जाय।

ऊपर वंक नाड़ी में जिस नाम स्मरण की बात कही गई है—वह नाम सत्तनाम है। सत्ता ही मूलभूत वस्तु है। उसका स्वयं कोई आकार नहीं है—पर समस्त आकार उसी के हैं। सत्ता का नाम कुछ नहीं—इसी लिए वह 'अनामा' और 'अनामी' कही जाती है—बावजूद इसके वह सबका नामस्वरूप स्वयं नामी (रूप) है। रूप की

१. प्राणसंगली, पृष्ठ ४६।

उपयोगिता नामहीन होने पर नहीं होती—इसीलिए रूप-रूप के नाम रख दिए गए हैं। तत्वतः सभी दृश्य नाम और रूप आभास मात्र हैं—सत्य नाम और रूप 'सत्ता' ही है—अतः तात्विक 'नाम' को 'सत्तनाम' कहते हैं। इस 'नाम' के स्वरूप बोध से द्वैत निवृत्ति हो जाती है। इस अंतर्मुखी दशा के प्राप्त हो जाने पर 'सत्तनाम' रूप शब्द का ध्यान किया जाता है। यही सत्तनाम का स्मरण है। इसी को सुरति का अभ्यास भी कहा जाता है। इस प्रकार जव सत्तनाम का अनुसंधान किया जाय—तव स्मरण है और विना किए स्वयं अथवा निर्मल पूर्वक उसका भान होने लगे—तव उसे 'भजन' कहा जाता है। भजन में 'सुरति' का 'सत्तनाम' में खिचाव सहज ही हो जाता है। इसी-लिए नानक ने कहा है—

कहु नानक कोट न भें कोऊ भजन राम को पावै[1]"

उपाधि भेद से यह सत्तनाम या शब्द कई प्रकार के हैं—उनमें से पाँच की महिमा बहुत अधिक गाई गई है—सहस्रार त्रिकुटी सुन्न भवंरगुहा सचखण्ड अथवा सत्य राज्य। संतों की धारणा है कि धुनि मूल है और शब्द उसका स्थूल रूप। सत्य राज्य में धुनि है—उसी का साक्षात्कार गुरु का साक्षात्कार है। वहीं से ध्वनि भवंर गुहा में आकर शब्द रूप में गूंजती रहती हैं। सत्यराज्य या सच खण्ड के ऊपर शब्द भी अशब्दात्मा होने लगता है—वह निर्विशेष अशेष हो जाता है। शब्दाभ्यास द्वारा पिंडी परिधि का अतिक्रमण हो जाता है—फिर ब्रह्मांड एवं पार ब्रह्माण्ड के शब्दों में सुरति निरत हो जाती है—पूर्व पूर्व के शब्द उत्तरोत्तर लीन होते-होते अंततः सत्यराज्य में आवण्ड शब्द का साक्षात्कार होता है। इन पाँचों शब्दों के साथ सुरति की जो कीडा चलती है—उसे संतों ने पंजाब में प्रसिद्ध एक 'लुकनमीची' नाम के खेल के माध्यम से समझाया है। उस खेल में होता यह है कि एक लड़का दाई बनता है और एक की आँख यही दाई वंद करती है। शेष लड़के छिप जाते हैं। वाद में वह लड़का अपनी आँख छुड़ाकर सवको छूने का प्रयत्न करता है। छिपे हुए लड़कों में से जो अपने को इससे वचाकर दाई का स्पर्श कर लेता है—उसको फिर वह नहीं पकड़ सकता। जो वालक दाई का स्पर्श किए विना पकड़ में आ जाता है—उसकी वाजी हारी हुई मानी जाती है। यहाँ पर दाई मूल पुरुष है—सत्पु-रुष है। पाँच शब्द और सुरति आपस में खेल-खेलने वाले हैं। सुरति की ज्ञान विवेक की आँखें वंद हैं—फलतः वह वहिर्मुख होकर संसारलीन है। जब इसे किसी प्रारब्ध परिपाक वश छोड़ा जाता है और श्रद्धा भक्ति की दृष्टि मिलती है—तव सत्पुरुष रूप सद्‌गुरु से सारा रहस्य जानकर त्रिकुटी के मैदान में सुरति इन शब्दों को खोजती है—फलतः ऊंकार शब्द को सुरति पकड लेती है और पिंड की बाजी जीतकर मतलब पिंड पार होकर आगे के लिए दाई को छूने की योग्यता पा लेती है। कहा गया है—

१. प्राणसंगली, पृ० ३२५।

एक जीता पंच हरि भाई
जब चउगान हुगाई दाई[1]—

यहाँ 'पाँच' का आशय आकाशगत पंचविध शब्दों से ही है। सचखंड चिद्गगन है—चिन्मय आकाश है—इसमें चिन्मयी धुन बजती रहती है—वही भवंरगुहा में गूंजती है। सद्गुरू से रहस्य समझकर जब सुरति आगे बढ़ती है तब जिस जिस अर्द्ध मंडल का अतिक्रमण करती है वहाँ-वहाँ के मंडल का शब्द वहीं पर पराजित होकर रह जाता—सुरति वाजी मारती हुई आगे वढ़ती चली जाती है। इस प्रकार जब क्रमशः वह सत्यखंड या सचुखंड में पहुंचती है तब वहां उत्तरोत्तर लीन होते हुए पाँचों शब्द एकत्रित हो जाते हैं। पर जब उस पद के अधिष्ठाता से सुरत एकरूप हो जाती है तब उस अशब्द रूप अवाग्गोचर घुरधाम में इस एक सुरत की जीत हो जाती है और पाँच शब्दों की हार। कारण, उस 'अगम' देश में 'शब्द' की गम नहीं है।

जब सुरत सचखंड से ऊपर अगमलोक की ओर चलती है तब एक प्रकार का तात्कालिक शब्द—जो अनुपम है—उसे अपना सहारा देता है। यह अत्यंत आनंद-दायक शब्द है।

सहस्रदल कमल से वाईं ओर को आरूढ़ होती हुई सुरत सुन्न पर्यंत सीधी चढ़ती जाती है। पर आगे मार्ग विषम हो जाता है। मार्ग इस प्रकार का है—सुन्न सरोवर (मानसरोवर) में सुरति की स्थिति ही स्नान है। इस स्थिति से सुरति का नैर्मल्य हो जाता है सहस्रदल तथा त्रिकुटी में माया मल है पर सुन्न देश विमल है। अथवा एकाग्रय और भी बढ़ जाता है। सुरति सुन्न-स्थिति के वाद दाईं ओर पीछे के भाग में मुड़ती है। इस चक्र में सुरति सुन्न सरोवर के दाईं ओर दक्षिण पश्चिम की मध्यवर्तिनी दिशा में विद्यमान भंवरगुहा में आ जाती है। यहाँ से वह फिर सीधे ऊपर की ओर चढ़ती है और चढ़ती-चढ़ती सचखंड की सीध में आ जाती है। यहाँ से वह पुनः आगे की ओर चलती हुई अपनी यात्रा पूर्ण करती है।

आरोहण की दृष्टि से 'प्राणसंगली' के अनुयायी साधक शारीरिक मानसिक रचना को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—अधः, मध्य, ऊर्ध्व तथा पार अर्द्धव। अधोमंडल के अंतर्गत जीवात्मा तमःप्रधान केंद्रों में सक्रिय आसुरीवृत्तियों से परिचालित रहता है। मध्यदेश को कायादेश अथवा पिंडी देश या पिंडी मण्डल कहा जाता है। यहाँ मानव जीवन की निर्वाहक शक्तियाँ अपने अधिष्ठातृभूत देवताओं के साथ सक्रिय रहती हैं—ये शक्तिकेंद्र ही षट्चक्र हैं। इसी प्रकार कल्याणकारी उच्चकोटिक दैवी प्रभाव का स्रोतोभूत प्रकाश जिस ऊर्द्धव देश में सक्रिय रहता है—वहाँ समष्टि अथवा ब्रह्मांडी शक्तियाँ संचरित होती रहती हैं—इसीलिए इसे ब्रह्मांडी मंडल कहते हैं। आसुर, मानव तथा दैव-शक्तियों से भी ऊपर जहाँ पारमार्थिक लाभ की जिज्ञासा

---

१. प्राणसंगली, पृ० ८८।

जगती है—सुरति भीतर ही भीतर आरोहण करती हुई जिस प्रदेश में जाती है उसे ब्रह्माण्ड पार, ऊर्द्धवपार या परमलोक आदि नामों से जाना जाता है। इसे साम्प्रदायिक निरंकारी देश कहते हैं। यहाँ आकर सुरति निरंकात्यदवासी हो जाती है। आगे आरोहण क्रमानुसार तीन और परम उत्कृष्ट अवस्थाएं आती हैं—(१) निरंकार पदावलम्वी, (२) निरंकार पदारूढ़ तथा (३) निरंकार पदालीन। साँप्रदायिक गुरुओं ने इन्हें ही अलख, अमन और अकथ-संज्ञाएं दी हैं और कहा है—

"अलख अगोचर अगम अपारा"[1]

पिण्डीमण्डल वर्तिनी सुरत का संबंध स्थूल शरीर से, ब्रह्मांडी मण्डल वर्तिनी सुरति का सूक्ष्म शरीर से, पारब्रह्माण्डवर्तिनी सुरति का कारण शरीर से है। इससे आगे के लोकों में चढ़ने पर उसका संवंध तुरीय तथा तुरीयातीत पदों से हो जाया करता है। संतों ने तुरीयातीत के आगे की दशाएं भी कल्पित कर रखी हैं।

इस प्रकार प्राणसंगली तथा उसकी टीका के आधार पर विहंगम मार्ग अथवा सुरतिशव्दयोग के स्वरूप तथा प्रक्रिया का निर्देश किया गया। इस संदर्भ में हठयोग की शव्दावलियाँ आई हैं—पर हठयोग के संदर्भ में नहीं। टीकाकार ने इस ओर बार-बार सचेत किया है।

प्राणसंगली के टिप्पणीकार का आशय इस विस्तार से प्राप्त है—अतः उतना स्थान ही इसके लिए दिया गया है। कवीर से लेकर और भी परवर्ती संतों ने इस विहंगमयोग की प्रक्रिया का संक्षिप्त तथा सांकेतिक उल्लेख किया है—आगे उन्हीं की पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं। इन पंक्तियों में इतना विस्तार न संभव है और न वे कहना ही चाहते हैं।

संत प्रवर कवीर ने इस यात्रा का संकेत अनेकत्र अनेक रूपों में दिया है। उनके नाम पर प्राप्त विभिन्न रचनाओं में विभिन्न ढंग से इस यात्रा का विवरण उपलब्ध होता है। उन्होंने साधुओं को संवोधित करते हुए कहा है कि शब्द-साधना ही मुख्य है—वही करणीय है। जिस शब्द की धार से विच्छिन्न होकर सुरति अधोमुखी हो गई, उसे ही पुनः पकड़ना[2] है। तदर्थ 'सुरति-निरति' की प्रक्रिया अपेक्षित है। सुरति निरति की इस प्रक्रिया से स्वयम्भू द्वार खुलता है और आगे की रूहानी यात्रा तय की जाती है। इस 'सुरति-शव्द' योग में मुख की कोई आवश्यकता नहीं है—जीव को ही भजन करना पड़ता है—कवीर ने कहा ही है—

"सहजे ही धुनि होत है हरदम घट के माँहि।
सुरति शव्द मेला भया, मुख की हाजत नाँहि।

---

१. प्राणसंगली, पृ० ८२।
२. 'कवीर' डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, परिशिष्ट, कवीरवाणी पद ५७, पृ० २८६।

इस जप के द्वारा एक ऐसी अद्वयावस्था आती है–जहाँ जप, अजपा तथा अनाहत सभी भेद दशा के आरोपित नाम रूपों से मुक्त हो जाते हैं। उन्मनी दशा में यही दशा है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में स्पष्ट कबीर की उक्ति है–

> इहु मन सकती इहु मन सीउ। इहु मन पंच तत्व को जीउ।
> इहु मन ले जउ उनमनि रहै। तउ तीनि लोक की बात[1] कहै।

इस आध्यात्मिक यात्रा का विवरण देखें–

> षटदल कंवल निवासिया चहुं कौ फेरि मिलाइ रे।
> चहुं के बीच समाधियाँ तहाँ काल न पासै आइ रे।
> अष्टकंवलदल भीतरा तहाँ श्री रंग केलि कराइ रे।
> सत गुरु मिलै तौ पाइयै नहीं तौ जन्म अकारथ जाइ रे।
> कदली कुसुम दल भीतराँ तहाँ दस अंगुल का बीच रे।
> तहाँ दुवादश खोजि ले जनम होत नहिं मींच रे।
> बंक नालि के अंतरै पछिम दिसा की बाट
> नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भवंर गुफा के घाट रे।
> त्रिवेणी मनाइ न्हवाइए सुरति मिलै जो हाथिरे।
> तहाँ न फिरि मघ जोइसे सनकादिक मिलिहैं साथि रे।
> बिजुरि चमकि घन बरसि है तराँ भीजत है सब संतरे
> षोडश कवंल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री बनवारि[2] रे।

इस प्रकार के विवरणों का कबीर साहित्य में अनेकत्र उल्लेख मिलता है।

गुरु नानक के मत का यत्र-तत्र 'प्राणसंगली' कार तथा उसके टीकाकार का मत प्रस्तुत करते हुए प्रसंगात् उल्लेख हो चुका है–तथापि इस क्रम में स्वतंत्र रूप से उनकी बात कहनी अपेक्षित है। उन्होंने शब्द की महिमा बताते हुए कहा है––

> सबदे धरती शबदे अकास। सबदे सबद भइअ परगास।
> सगली सृष्टि सबद के पाछे। नानक सबद घटे घट आछे[3] ॥

शब्द ही आरंभ में था–सृष्टि का सारा प्रसार उसी से हुआ। उनकी यह भी धारणा है कि सद्गुरु का स्वरूप धुन है। वह अनहद धुन मनुष्य के भीतर है। नव द्वारों को पार कर जब आत्मा तुरीय पद में पहुंचती है–तब उस अनहद का साक्षात्कार होता है। उनके शब्द हैं–

---

१. राग गउड़ी, बावन आखरी ७५।
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८। पद ४॥
३. जन्मसाखी, (गुरुनानक साहिब) पृ० १६ (संत मत प्रकाश भाग १ में उद्धृत)

धुनि अनंद अनाहदु वाजै
गुर सबदि निरंजनु पाइआ[1] ।

वह शब्द आँखों से नहीं देखा जा सकता–

"अवखी बाझड वेखणा[2]"

यही शब्द की धुन नाम है और नानक भी इसी नाम साधना की बात करते हैं । उन्होंने कहा है कि जो गुरु के शब्द में मरता है वह ऐसा मरता है कि फिर नहीं मरता। यह गुरु के शब्द की अनुपलब्धि ही है जिससे व्यक्ति आवागमन के चक्र में रहता है–

सबदि मरै सो मरि रहै फिरि मरै न दूजी बार
सबदै ही ते पाइए हरिनामै लगै पियारु
बिनुस बदैजगु भूला फिरि मरि जन में बारी[3] बार।

इनकी दृष्टि में भी गुरु और मुरारि में कोई भेद नहीं है। गुरु की भक्ति परमात्मा की ही भक्ति है । गुरु मिलता भी है वड़े भाग्य से। कहा ही है–

बड़े भाग गुरु सेवहि अपुना । भेदु नाहिं गुरुदेव मुरार[4]।।

दादू :

सुरति सदा सन्मुख रहै जहाँ जहाँ लै लीन ।
सहज रूप सुमिरन करै, निहकर्मी होइ दीन ।
राम सबद मुख तै रटै पीछे लागा जाइ ।
मनसावाचा कर्मणा तेहि तत सहज समाइ ।।
अन्तर गति हरिहरि करै, तब मुख का हाजत नाहि ।
सहजै धुनि लागी रहे, दादू मन हीं माँहि।।
सहजै सुमिरण होत है रोम रोम रमि राम ।
चित्त चहूंधा चित्त सौं यौं लीजै हरिनाम[5] ।।७।।२७

सुरति शब्द योग की ही नहीं, वल्कि वह शब्द कौन सा है–इसका भी उल्लेख है— पलटूदास :

सूरत शब्द के मिलन में मुझको भया आनंद ।
मुझको भया अनंद मिलापानी में पानी[6] ।।

---

१. वही – उधृत पृ० ११ ।
२. जन्म स.खी, (गुरु नानक साहिब) पृ० १५५ ।
३. नानक वाणी, सिरी रागु, अष्टपदी ८ ।
४. नानक वाणी, गूजरी, असटपदी १ ।
५. दादु दयाल ग्रंथावली, पृ० ६४ ।
६. पलटू साहिब की बानी, पृ० ३७ ।

सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सब्द में जाय।
मिली सब्द में जाप कन्त को बस में कीन्हा।
चलै न सिबकै जोर जाप जब सक्ती लीन्हा ।
फिर सक्ती भी ना रहै, सक्ति से सीव कहाई ।
अपने मन कै फेर और ना दुजा कोई॥
सक्ती शिव है एक नाम कहने को दोई।
पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय ।
सुरति सुहभगिन उलटि कै मिली सवद में जाय[1]॥

पलटू की इन पंक्तियों से मेरी क्रमागत स्थापना की नितान्त सुदृढ़ स्थिति है। इन पंक्तियों द्वारा 'राधास्वामी' तथा 'प्राणसंगली' से ऊपर दिए गए उद्धरणों की अपेक्षा कहीं स्पष्ट ताँत्रिक अद्वयवाद की पुष्टि होती है। साथ ही यह भी कि सुरति और शब्द शक्ति और शिव के ही स्थानापन्न हैं।

तुलसी साहब : (हाथरस वाले) की शब्दावली, भाग पहिला :

सूरत चीन्हा भेम भरम तजि भागिया ।
अरे हाँरे तुलसी सब्द सुरति भया मेल खेल खुलिल्यागिया[2]॥

सब्द सब्द सब कहैं सब्द का सुनो ठिकाना ।
सार शब्द है न्यार पार निर सब्द कहाना ।
सुन्न सहर से सब्द आदि नित उठै अवाजा ।
अरे हाँरे तुलसी निरसब्दी धुन सुन्नि सुन्नि से न्यारा गाजा।[3]

(६)

निरसब्दी बिन सब्द लिखन पढ़न में नाहीं।
लिखन पढ़न में भया सब्द में आपा भाई।
अच्छर जहाँ लगि सब्द बोल में सभी कहाया।
अरे हारे तुलसी निःअच्छर है न्यार संत ने सैन बुझाया[4] । पृ० ३० ।

इन पंक्तियों में तुलसी साहव ने न केवल सुरतशब्द के योग की ही बात कही है प्रत्युत यह भी वताया है कि वह शब्द सार शब्द है जिसमें सुरत समा जाती है। सार शब्द वस्तुतः शब्दातीत है—जो लिखने-पढ़ने का विषय नहीं है। लिखने-पढ़ने का विषय वना कि वह शब्द की सीमा में आ गया। जहाँ तक शब्द बोलचाल में है—वहाँ तक अक्षर है—उसके वाद अक्षरातीत है ।

---

१. पलटू साहव की बानी, पद २२६, पृ० ६३ ।
२. पृष्ठ २५ ।
३. पृष्ठ ३० ।
४. पृष्ठ ३२ ।

चरनदास : जी की वानी,

सुरत माँहि जो जप करै तन सूँ न्यारा जौन।
मिलै सच्चिदानंद में गहै रहै जो मौन ॥
अनहद शब्द अपार दूर से दूर है।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है ॥१॥
निः अच्छर है ताहि और निःकर्म है
परमातम तेहि मानि वही परब्रह्म है।[1]

इन पंक्तियों द्वारा चरनदास भी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि वह शब्द सच्चिदानंदात्मा परब्रह्म ही है—वस्तुतः वह शब्दातीत है। सुरत के माध्यम से जप करने से सुरत का उस शब्द से अभीष्ट योग हो जाता है।

दरिया साहब (बिहार वाले):

सब्द एक में कहाँ बुझाई। जो तुम पंडित बूझहु आई।
मूल विहंगम डोरी भाई। रवि ससि पवन जो सन्न समाई।
सतगुरु सब्द जबहिं लखि आवै। मूल फूल अमृत मुख पावै।
होय निरति तब सुरति देखावै। सार सब्द तब परगट पावै।
गगन मंडल बिच सुरति संवारी। इंगला पिंगला सुखमन नारी।

—दरिया सागर पृ० ३७

दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की वानी :

मन बुध चित हंकार यह, रहें सुरत के माँहि।
सुरत मिली जाय ब्रह्म में, जहं कोइ दुजा नाँहि।—पृ० १६

दूलनदास : की वानी और जीवन चरित्र :

मन सत्य नाम रट लाउ रे।
रति माति रहु नाम रसायन अवर सबहिं बिसराउ रे।
त्रिकुटी तिरथ प्रेम जल पूरन, तहाँ सुरत अन्हवाउ रे ॥
करि असनान होहु तुम निर्मल, दुरमति दूर वहाउ रे।
दूलनदास सनेह डोरि गहि, सुरति चरन लपटाउ रे ॥ पृ० १

सबद सरूपी स्वामी आप बिराजें सीस चरन में धरिया

—पृ० ६

दूलनदास ने भी रामनाम की महिमा कही है और कहा है कि श्वास-प्रश्वास के माध्यम से जप करते रहना चाहिए।

---

१. चरनदास जी की बानी, पृष्ठ ३५।

स्वास पलक माँ जातु है पलकहिं माँ फिरि आउ।
दूलन ऐसी स्वास से, सुमिरि सुमिरि रट लाउ ॥

—पृष्ठ २८

गुलाल साहेब : की वानी

मन तुम कपट दूर लुटाव
भटक को तुम पंथ छोड़ो सुरत सब्द समाव

—पृ० २१

जगजीवन साहब : की शब्दावली :

सत गुरु मूरति निरखि रहौं तहं सूरति सुरति मिलाव।
जगजीवन सतगुरु की मूरति सूरति रहे मिलाइ ॥

—पृष्ठ २०

इन पंक्तियों में जगजीवन दासजी ने सुर्रति की शब्द से साक्षात् न कहकर गुरु की मूर्ति के माध्यम से एकमेक करने की वात कही है।

धनी धरमदास जी : की शब्दावली :

सब्द सुरत से गाँठ जुरावो
माँड़ो राखो छाई हो।
पाँच भंवरिया घुमाओ मोरे बाबा
गाँठिया देवो निबुकाई हो। —पृष्ठ ४७

इन्होंने राम नाम की जगह 'सो हं' शब्द का विशेष उल्लेख किया है। कहा है—

नाम सोहंग जपो स्वासा —५३

धरनीदास जी की वानी :

कहि जात नहि मुख ताहि मूरति, सुर्रति जहं ठहराइया।
सुनि विमल वारह मास को गुन दास धरनी गाइया ॥ पृ० ५१
सब्द सकल घट ऊचरै, धरनी बहुत प्रकार।
जो जाने निज सब्द को, तासु सब्द टकसार ॥७०॥ —पृ० ६०

संत तुरसीदास (निरंजनी संप्रदाय) :

सुमिरन सुरति लगाइके, मुखतें कछू न बोल।
बाहर के पट देइ के, अंतर के पट खोल ॥ —पृ० ६५ भूमिका

निरति सुरति लागै नहीं, प्रीति बिना हरिनाम —पृ० ८१

सुरति संवाहि सहज धरि धारै निरमल नेह निवासा।
जन हरीदास ऐसा जन कोई, देस अगम तमासा ॥ —पृ० १२५
—निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी—

बुल्ला साहिब का शब्दसार :

सुरति निरति लै घंट बजाओ, जगमग जोति परमपद पावै ॥४॥

—पृ० १७

झोत अगाध अकास शब्द धुनि, सुनत रहे सुख चाह सो

साहिब सुरति मुरति हिय लागी, केल करन हर माल से[1]।—पृ० १९

औघड़ पंथी अथवा सरभंगियों की भी साधना पद्धति में मूलतः इसी योग का उल्लेख मिलता है। कतिपय उद्धरण उन्हीं की रचनाओं से प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

सुरति निरति गहि ठाम चीन्हो अनूप अलच्छन मानहूं[2]—

सुरत अरु निरत के लगन में मगन होय रामकिना सोइ रंग काँचा[3]

तथा सुरति निरति के देखु नयन के कोर से।

सरवन सुने अनहद बाजे जोरसे[4] ॥

स्पष्ट ही कीनाराम तथा उस परम्परा के अन्य अनुयायियों ने इसी साधन धारा की ओर संकेत किया है।

अक्षर अनन्य ने भी इस साधना की ओर इंगित किया है। अनेक स्थलों पर उनके ऐसे कथन हैं—जिससे यह निसंदेह सिद्ध होता है कि उनकी साधना सुरत शब्दयोग की ही है। देखें—

सारासार सोधन सुरति ही को साधिवो[5]।

जो उपदेस गुरु दियौ, लघु दीरघ जनि लेख।

सो करतव्य अनन्य भनि, यह गुरु धर्म बिसेख[6] ॥

ज्ञान अवस्था बुद्धि थिर मन साधन सिद्धान्त।

सुरति लीन गुरु शब्द महं, तब सरवग्य महाना[7]॥

इन्होंने और भी कहा है—"एक सहज जोग है, सो सुगम है। जैसे मन आवे तैसे रहे। अकेलो सुमिरन मन में कीवो करे। बैठत, उठत, खात, कमात, चलत, फिरत सुमिरन न छांड़े। तहाँ सुमिरन तीन भांति है—नाम, रूप, गुन, सु सहज में नाम लीवौ करे।

---

१. बुल्ला साहब का शब्दसार।
२. बोध सागर, चतुर्थ खंड, पृ० ४०९।
३. गीतावली, पृ० ९ पद २१।
४. आत्मनिर्गुण ककहरा—पृ० १ (संतमत का सरभंग सम्प्रदाय) पृ० ८२-८३।
५. अक्षर अनन्य (ग्रंथावली) पृ० ८९।
६. वही, पृ० १०२।
७. वही, पृ० १०९।

अरुसुचित होइ बैठे, सब रूप को ध्यान करै। अरु सतसंग में बैठे तब गुनकथा कहै सुनै। इन तीन धारना में रहे सु सहज जोगी कहा वै। मारग यह सहज को है अरु सबतें बड़ो है।[1]"

उन्होंने यह भी कहा है—

श्री गुरु अक्षर इष्ट स्वरूप अधार धरैं यह भक्ति सुलच्छन।
देख वहै सब में परिपूरन ग्यान यहै ममता मन रच्छन[2]॥

जोति न सुन्न न निर्गुन सर्गुन, देविन देव कहौं किहि लच्छिन।
चेतन शब्दमयी धुन सूरति जानत जाहि न वामन दच्छिन॥
जाग्रत और सुषोपति की निज संधि विषै मन बंधि ततच्छन॥
अक्षर बानी अनाहद की धुनि जोवत सो सरवग्य विचच्छन[3]॥

बैठे उठे उगरै ही परै सपरै ही बिना स परैं धुनि ध्यानैं।
खात कमात जितै नित जात ति ति चित्त वहेरट ल्यावै॥
जोग पिपीलिका पंथ तजै यह ग्यान विहंगम जोग जगावै।
अक्षर श्री गुरु अक्षर सों लव साधन चित्त समाधि लगावै[4]।

सदा गुरु शब्द में सुरति अटोकिवो[5]।

श्री गुरु सबद उपास्य है जासों सकल प्रकास[6]

गुरु के सबद आपु सुरति सों जोग जुरै।[7]

इन पंक्तियों में अक्षर अनन्य ने सुरतशब्दयोग, विहंगम मार्ग, गुरु की उपास्यता, गुरु का शब्द रूप होना तथा सहज योग—आदि सभी ऊपर प्रतिपादित तथ्यों का हवाला प्रस्तुत कर दिया है।

मीखा साहब की वानी :

शब्द परकास के सुनत अरु देखते
छूटि गइ विषै बुधि वास काँची।

---

१. अक्षर अनन्य ग्रंथावली, पृ० ४६१।
२. वही, पृ० १५०।
३. वही, पृ० ६८।
४. वही, पृ० ६८।
५. वही, पृ० ८६।
६. वही, पृ० ५६।
७. वही, पृ० ३५।

सुरति गै निरति घर रुप अयो दृष्टि पर
प्रेम की रेख परतीत खांची ।
आत्माराम भरि पूर परगट रह्यो
खुलि गई ग्रंथि निजनाम वाँची ।
भीखा यों पारी गयो जीव सोइ ब्रह्म में
सीव अरु सक्ति को मिलन साँची [1]॥

केशवदास जी की अभीघूटें :

सुरति समानी ब्रह्म में, दुविधा रह्यो न कोय ।
केशव सम्मलि खेत में, परै सो सम्मलि होय ॥
सात दीप नव खण्ड के ऊपर अगम अवास ।
सब्द गुरु केशव भजै सो जन पावै वास ॥
ऐसा सन्त कोई जानि है सत्त शब्द सुनि लेह ।
केशव हरि सों मिलि रहो न्योछावर करि देह ॥[2]

कहाँ तक विवरण विस्तार दिया जाय—सभी संतमत के अनुयायियों ने इस सुरति-शब्द-योग की प्रक्रिया का उल्लेख किया है । इतना अवश्य है कि इन संतों में भी इस प्रक्रिया का अधिकार भेद तथा संस्कार भेद से कुछ-कुछ अंतर मिलता है। जिस प्रकार नानकमतानुसारी 'प्राणसंगली' तथा उसके टिप्पणीकार ने इस योग का विशेष विवरण दिया है—उसी प्रकार राधा स्वामी मत के ग्रंथों में भी इस योग का सविस्तार विवरण मिलता है । यहाँ उस विवरण से भी साधनात्मक रहस्य को समझने में सुविधा होगी—अतः उनकी बात कुछ विस्तार से कही जा रही है ।

राधास्वामी मत में विहंगम पथ : सुरतशब्द योग

सुरतशब्दयोग का अभिप्राय है—सुरत को शब्द में जोड़ना और शब्द कुछ मालिक से निकली हुई चैतन्य धार[3] है। इन लोगों की धारणा है कि मूल तत्व जिसे अनामी अथवा अकह कहा जाता है—जिसकी परिधि में सब कुछ है—पर जो स्वयम् परिधि में नहीं है—आदि में उसी स्थान से मौज उठी और शब्द रूप में नीचे उतरी। सूर्य की किरणों की भांति आदि सुरति या सुरत भी इसी स्थान से उतरी और माया मलिन चक्र में आकर इस कदर आत्म विस्मरण कर गई कि वह उसी को सब कुछ समझ रखी है । मूल स्रोत को महानाद और सार शब्द[4] भी कहते हैं । सहस्रदल कमल, त्रिकुटी,

---

१. पृष्ठ ५३ ।
२. पृष्ठ ११ साखी ।
३. सारवचन वार्तिक, भाग १, पृ० २० ।
४. राधास्वामी मत प्रकाश, पृ० १६ ।

सुन्न, भवंर गुहा तथा सत्यराज्य—इन पाँच स्थानों में पाँच शब्द हैं—इन्हीं की धुन पकड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्तर दर स्तर सुरत ऊपर चढ़ती हुई धुर स्थान को पहुंच जाती है। मूलस्थान अशब्द-अरूप-अनाम है । इनकी धारणा है कि शरीर रचना के आरोहण की दृष्टि से तीन खंड हैं—

१. निर्मल चैतन्य देश

२. निर्मल चैतन्य और शुद्ध माया देश [छह स्तर हैं]

३. निर्मल चैतन्य और मलिन माया देश

प्रथम स्तर केवल चिदानंदमय है । दूसरे स्तर पर सुरत चैतन्य तथा माया-दोनों ही निर्मल हैं । यहाँ सुरत माया पर हावी है । इसमें छह स्तर हैं—सहस्रदल त्रिकुटी सुन्न महासुन्न भंवर गुहा तथा सत्य राज्य । ये स्तर आसमानी तथा ब्रह्माण्डी अथवा पारब्रह्माण्डी कहे जाते हैं । इनमें गूंजता हुआ शब्द आसमानी है । तृतीय स्तर मलिन माया का देश है—यहाँ सुरत पर माया हावी रहती है । आसमानी छह स्थानों की मलिन माया देश में पड़े हुए प्रतिबिंब ही छह चक्र हैं ।

सुरत है शब्द का ही अंश—पर वह स्वयं बहिर्मुखी है और बहिर्मुखी शब्द के दुर्ग में बंद पड़ी है । शब्दभेदी गुरु ही इस बंधन से उसकी मुक्ति करा सकता है । नव खुले द्वारों में सुरत की धार बहिर्मुख होकर प्रवाहित हो रही है—दसम द्वार बंद है। इस द्वार को एकमात्र ये संत 'शब्द' द्वारा ही खोलना मानते हैं । इस 'शब्द' (साधना के रूप में) की उपलब्धि सद्गुरु से ही संभव है । शब्द या नाम पर्याय ही है। नाम दो प्रकार का है—वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक । ध्वन्यात्मक नाम ही सद्गुरु देता है और इसी से साधक का कल्याण संभव है । यहाँ साधन के निमित्त तीन चीजें हैं—गुरु, नाम तथा सत्संग । सत्संग दो तरह का है—एक बाहरी तथा दूसरा भीतरी। इसी प्रकार गुरु तथा नाम भी दो प्रकार के हैं—एक ध्वनि रूप गुरु दूसरा देही गुरु। नाम के भेद ऊपर कहे ही जा चुके हैं । सुरत को शब्द से भीतर जोड़ने का अभ्यास भीतरी सत्संग है और सद्गुरु की बाहरी सेवा, वाणी श्रवण-बाहरी सतसंग । इसी ध्वन्यात्मक नाम के सहारे सुरत पिंड से ब्रह्मांड को चढ़कर अपने निजस्थान को पहुंचती है । वर्णात्मक नाम से सफाई या अंतः शुद्धि हो सकती है। पर सुरत द्वारा आरोहण संभव नहीं है । निष्कर्ष यह कि (राधा स्वामी मत में बतलाए हुए सुरत शब्दयोग के अतिरिक्त और दूसरा रास्ता ही नहीं है जिससे सुरत या रूह को सारशब्द तक पहुंचाया जा सके । सुरत शब्दयोग का अभ्यास यह है कि धीरे-धीरे सुरत को आँख की पुतली में उसकी बैठक की जगह से उसी तरह फेरा या उलटा जाय जिस तरह के मृत्यु के समय उसका सिमटाव और खिचाव होता है । फिर शब्द अथवा ज्ञान की धार को पकड़ कर मूल रूप तक पहुंच जाया जाय ।[१] इस अभ्यास के उपदेश के समय जब दीक्षित व्यक्ति को प्रत्येक छोटे दरजे या उपविभाग के शब्द का भेद दिया

१. संतमत प्रकाश, पृ० ५५ ।

जाता है—जिसके द्वारा साधक अपनी सुरत को ऊपर चढ़ाता है। यह ध्वन्यात्मक नाम है। यह वर्णात्मिक नाम नहीं है जो जिह्वा के माध्यम से समुच्चरित होता है। इस प्रकार सुरत को उसके मूलस्रोत तक पहुंचाने का सुगम साधन यही है कि पहले तो सुरत और मन को, जो संपूर्ण शरीर में फैले हुए हैं और वासना वशीभूत होकर बाह्य रचना में लिपटे पड़े हैं—दोनों आँखों के केंद्र पर समेट कर और खींचकर लाना चाहिए। तदनन्तर आंतरिक शब्द में सुरत को लगाकर आरोहण का प्रयत्न करे।

इन लोगों का भी विश्वास है कि पहले के साधक मूलाधार अथवा गुह्य चक्र से अभ्यास का आरंभ किया करते थे—फलतः नितान्त श्रम के साथ दीर्घकाल में छठें चक्र, सहस्रारकमल अथवा त्रिकुटी तक पहुंच पाते थे। संतों ने इसका आरंभ सहस्र-दल कमल से कराया और अष्टांग योग तथा प्राणायाम के वदले सुरत शब्द योग का प्रचार संचार[1] किया। प्राणसंगलीकार तथा उनके अनुयायी सुरतशब्दयोग का शुभारंभ नाभि से करते थे—जबकि राधास्वामी मत पिंड ब्रह्मांड की सांधे से।

इन संतों का मत है कि रूह यानी सुरत का निवास दोनों नेत्रों के पीछे है। प्रमाण में अंधों को उपस्थित करते हुए कहा जाता है कि जब उन्हें आवाज दी जाती है तो नेत्रों पर ही बल देता हुआ वह कहता है—'कौन है भाई ?" आँखों वाले भी सोचने के समय आँख बंद कर वहीं जोर लगाते हैं—तभी केंद्रण होता है और विवेक शक्ति तीव्र हो जाती है। अतः इनकी धारणा है कि यदि साधक को ऊपर जाना है तो मकड़ी की तरह नीचे उतरकर फिर ऊपर जाने से अच्छा है—जहाँ है वहीं से ऊपर चढ़ना आरंभ करे। इस मार्ग को ही वे विहंगम मार्ग कहते हैं। अन्य मार्ग वाले नीचे उतर कर ऊपर चढ़ते हैं ये जहाँ हैं वहीं से ऊपर चढ़ना आरंभ करते हैं नीचे के स्तरों का भेद अपने मार्ग में इन्हें अनायास हासिल हो जाता है। अतः इस धारा में आरोहण का आरम्भ पिंड-ब्रह्मांड का संधिस्थल है। इन संतों की विचारणा है कि कबीर का भी अपन प्रस्थान बिंदु आँखों के ऊपर से ही है। इन लोगों की धारणा है कि दोनों आँखों की बनावट △ इस आकृति की है और इनमें ज्योति तीसरे नेत्र से आती है। आँख उलटते ही प्रकाश सामने आता है। जब तीसरी आँख खुलती है—तब आगे तारा मण्डल आता है। सूर्य चन्द्रमा पार करने पर एक सूक्ष्म मार्ग है वहाँ से अति सूक्ष्म नाड़ी द्वारा सुरत और ऊपर चढ़ती है।

सुरति : निरति – प्रक्रिया का 'सुरतशब्दयोग' में उपयोग :

विहंगम योग तथा सुरति शब्दयोग के संदर्भ में दो तीन शब्द और महत्व के हैं जिन पर विचार किए बिना वह प्रसंग असमाप्त ही रह जायगा। सुरति-निरति, अष्टदल कमल तथा बंकनाल-ऐसे ही शब्द हैं।

---

१. संतमत प्रकाश, भाग १ पृ० ३३।

सुरति-निरति में सर्वप्रथम 'सुरति' शब्द के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। संत साहित्य में यों तो 'सुरति' या 'सुरत' शब्द प्रसंग अथवा संदर्भ भेद से विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हैं—अतः जिन अनुसंधायकों और विद्वानों ने इसे एक ही अर्थ में नियंत्रित करना चाहा है—मैं उनसे असहमत हूं। मैं ही नहीं, अन्य अनुसंधायक भी अब वैमत्य प्रकट करने लगे हैं। 'सुरति' या 'सुरत' शब्द भारतीय आर्य भाषा की परम्परा का तो है ही, विदेशियों के सम्पर्क से वह अरबी भाषा के (सुरत या) सूरत से भी अभिन्नार्थ हो गया है। अर्थात् अर्थ की दृष्टि से वह भारतीय आर्यभाषा की परम्परा का भी है और आर्येतर भाषा की परम्परा का भी। आर्यभाषा की दृष्टि से वह तत्सम भी बतलाया गया है और तद्भव भी। वस्तुतः जहाँ उसमें तत्सम होने का भास है–वहाँ वह तद्भव से इस प्रकार संश्लिष्ट है–कि उसका अपना रूप निहित सा हो गया है। प्रयुक्त तो संतों ने तद्भव रूप में ही किया होगा। विद्वानों ने इसीलिए उसे तद्भव मानकर विभिन्न व्युत्पत्तियाँ संभावित की हैं। इन व्युत्पत्तियों के माध्यम से जिन-जिन अर्थों का समावेश किया गया है—वे न केवल बौद्ध, ब्राह्मण तथा नाथ परम्परा के ही अर्थ हैं अपितु संतों ने वहाँ अपना निजी अर्थ भी जोड़ा है। इस प्रकार इस शब्द ने अपना अर्थ विकास नितान्त रोचक ढंग से किया है।

यहाँ अपनी बात की सोदाहरण पुष्टि करना अत्यावश्यक है। औरों को छोड़ें, केवल एक कबीर को ही लें–तो 'सुरति' शब्द के उनमें नानार्थक प्रयोग मिलेंगे।

स्मृति के अर्थ में—

विषिया अजहूं सुरति सुख आसा।
हूंन न देइ हरि के चरन निवासा॥

अर्थात् आज भी विषयों की सुरति में जो सुख की आशा बनी हुई है, वह हरि के चरणों में निवास नहीं होने देती।[1] यह स्पष्ट ही सुरति शब्द 'स्मृति' के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से इसे 'स्मृति' से जोड़ा जा सकता है। डा० बड़थ्वाल ने जोड़ा भी है।[2] और कहा है कि स्मृति भी चित्तवृत्तियों का प्रवाह ही है, यद्यपि यह उलटी दिशा की ओर चलता है। उनके मतानुसार उलटी चाल स्मृति के द्वारा ही संभव है। अपने पक्ष की पुष्टि में छांदोग्य उपनिषद् का एक वाक्य भी दिया है–

"स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनाँ विप्रमोक्षः" १७।२७।२

इसी प्रसंग में उन्होंने बाबू संपूर्णानन्द के उस मत[3] का जिसमें 'स्रोत' से 'सुरति' का व्युत्पत्तिमूलक संबंध जोड़ा गया है—खण्डन भी किया है। ऐसा सोचते समय संभव

१. योगप्रवाह, पृ० २४।१०६।
२. हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४१८।
३. विद्यापीठ पत्रिका, त्रैमासिक भाग २, पृष्ठ १३५।

है उनका ध्यान पातंजल दर्शन तथा बौद्ध दर्शन की साधन परम्परा से रहा हो। दोनों धाराओं में अनेकत्र समान पदावलियों का प्रयोग मिलता है। पातंजल दर्शन के व्यास भाष्य में स्पष्ट ही कहा गया है कि यह चित्त नामक नदी उभयतो वाहिनी है—पाप की दिशा में भी और पुण्य की दिशा में भी। पुण्यमय चित्त प्रवाह आरोहण की ओर और पापमय आवरोहण की ओर ले जाता है। बौद्धों की विज्ञानवादी धारा में चित्तसंतति ही सब कुछ है। अतांत्रिक बौद्ध धारा में ऊर्ध्वमुखी प्रवाह में पड़ा हुआ साधक 'स्रोतआपन्न' कहा ही जाता है। उस 'स्रोत' ऊर्ध्वमुखी चित्तधारा में पड़ा साधक 'अनागामी' हो जाता है। डा० बड़थ्वाल का यह कहना ठीक ही है कि यदि 'सुरति' को 'स्रोत' से जोड़ा भी जाय, तो अंततः वह स्रोत या प्रवाह चित्त का ही ठहरेगा। यह अवश्य है कि चित्त संतति का विषय यदि विद्यमान है—तब वह 'स्मृति' नहीं है। 'स्मृति' का विषय 'अतीत' रहता है। चित्त प्रवाह सर्वदा स्मरणात्मक स्मृत्यात्मक ही हो—यह आवश्यक नहीं है—प्रत्यक्ष भी हो सकता है। शास्त्रकारों ने अज्ञान के ज्ञान को 'अनुभव' तथा 'ज्ञात' के 'ज्ञान' को 'स्मृति' कहा है। 'स्मृति' और 'यथार्थ' प्रत्यक्ष अनुभव' के सांकर्य को प्रत्यभिज्ञान कहा गया है। इस प्रकार शास्त्रीय सूक्ष्मेक्षिका की जाय तो 'स्रोत' या 'चित्त प्रवाह—उसका व्याप्य है। उपर्युक्त कबीर के उद्धरण में जिस स्मृति के अर्थ में 'सुरति' शब्द का प्रयोग किया गया है—वह व्यापक नहीं—संपूर्णानंद के अभीष्ट अर्थ में नहीं, प्रत्युत डा० बड़थ्वाल के ही अर्थ में है। पर डा० बड़थ्वाल ने छांदोग्य की जिस 'स्मृति' से अपनी 'सुरति' या 'स्मृति' की एकरूपता स्थापित करनी चाही है—वह 'स्मृति' आध्यात्मिक प्रवाह में प्रचलित 'आत्मविस्मृति स्वरूप विस्मृति' का विपरीतार्थक है। वह 'स्मृति' प्रत्यभिज्ञान है—सामान्यतः ज्ञात का विशेष अपरोक्षानुभव। 'निरति' के साथ प्रयुक्त 'सुरति' का अर्थात् संदर्भ विशेष में प्रयुक्त 'सुरति' का संबंध 'स्मृति' से ही है—ऐसा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी मत है। उनका कहना है—"सुरति शब्द पुराने स्मृति शब्द का अपभ्रंश है। स्मृति-अर्थात् पुरानी बातों का याद करना। लेकिन इस स्मृति शब्द से जिस सुरति शब्द का विकास हुआ है—वह केवल स्मृति रूप नहीं है—उसमें प्रेम का भाव भी है। सुरति (सु+रति) केवल याद करने की बात नहीं है। सुरति में इस प्रीति के भाव पर जोर दिया गया[1] है। यहाँ द्विवेदी जी तद्भव 'सुरति' में तत्सम 'सु+रति' का भी सन्निधान स्वीकार करते हैं। इसे वे संतों की देन भी मानते हैं। 'सुरति' या 'सुरत' का प्रयोग तो बौद्धों और नाथों ने भी किया था—पर उनकी अर्थ-परिधि में संतों का यह आत्मसमर्पण तथा छटपटाहट एवं प्रेम की पीर नहीं थी। उक्त उद्धरण में 'सुरति' विषयों की है—अतः वहाँ जिस प्रकार की स्मृति के अर्थ में वह है—वह निश्चित ही अधोमुखी और संकुचित है।

---

१. सहज साधना, पृ० ७३।

अधोमुखी और संकुचित अर्थ में ही नहीं, सुरति का प्रयोग 'मन' के पर्याय रूप में भी मिलता है। संत गुलाल ने भीखा को बतलाया था—

भीखा ! यही सुरति मन जानो।
सत्य एक दूसरि मत मानो।[1]

संतवर दादू 'सुरति' को मन एवम् चित्त से दूसरी ओर भिन्न भी कह रहे हैं—

"सबद सुरति लै सानि चि तन मन मनसा माँहि[2]।"

अन्यत्र भी वे उसे मन से भिन्न कहते हैं—

जब लागि सुति सिमटै नहीं, मन निहचल नहिं होइ
तब लागि पिव परसै नहीं, बड़ी विपति यह माँहि ॥[3]

लगता है कि सुति के सिमटने से और मन के निश्चल होने से कुछ संबंध है। अतः दोनों का भेद स्पष्ट है।

संत कबीर ने स्नुति के अर्थ में भी सुरति का प्रयोग किया है और आतम के अर्थ में भी। राधा स्वामी मत में तो स्पष्ट ही 'सुरत' को 'रूह' अथवा 'आत्मा' कहा गया है। कबीर साहित्य में ही सुरत वासना सुख के भी अर्थ में प्रयुक्त है। जहाँ एक ओर आत्मा और सुरति को एक किया गया है। वहीं दूसरी ओर उससे विपरीत भी है—कहीं कहीं तो निषेध भी—। दादू ने कहा है—

विरह जगावै दरद को दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को सुरति जगावै पीव[4]।

स्पष्ट ही यहाँ सुरति और जीव को भिन्न कहा गया है। इस प्रकार इन विभिन्न उद्धरणों के साक्ष्य पर यह स्पष्ट है कि 'सुरति' शब्द संदर्भ-भेद से भिन्नार्थक है और भारतीय आर्य भाषा की परम्परा में ब्राह्मण, बौद्ध तथा नाथ परम्परा के ही अर्थों का वहन नहीं करता, अपितु निम्नलिखित उद्धरण से उसका अरबी भाषा के सूरत से भी एकरूपता है—

या करीम बलि हिकमत तेरी।
खाक एक सूरति बहु तेरी[5]॥

---

१. म० वा०, पृ० १६६।
२. संत कवि दादू और उनका पंथ।
३. दादूदयाल की बानी, भाग १, विरह की अंग २६।
४. दादूवाणी, मंगलदास, विरह का अंग ३ साखी २५ पृ० ७६।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८३। माताप्रसाद गुप्त, १९६९।

अथवा

सुंदरि सुरति सिंगार करि[1]

इस प्रकार भिन्न-भिन्न संतों को तो छोड़ दें–एक कबीर अथवा दादू को ही ले लें–तो स्पष्ट प्रमाणित होगा कि 'सुरति' शब्द का प्रसंगभेद से कितने अर्थों में प्रयोग हुआ है–अतः इस बात को अस्वीकार कर कि संत साहित्य में सुरति शब्द निश्चित तथा एक ही अर्थ में प्रयुक्त है–'सुरति-निरति' तथा 'सुरति शब्द योग'–के संदर्भ में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द का अर्थ क्या है–इसका विचार करें।

इस विचार को दिशा क्या दी जाय–यह निश्चित है– । अर्थात् सुरति और निरति की ऐसी व्याख्या और प्रक्रिया होनी चाहिए जिससे 'सुरति' का 'शब्द' से योग अर्थात् सामरस्य हो जाय– दोनों को अद्वयात्मक स्थिति में ला दिया जाय–अथवा दोनों अद्वयात्मक स्थिति में आ जायं ।

इसी विशिष्ट संदर्भ में अनेक विद्वानों ने सुरति का अर्थ निर्धारित किया है–डा० सम्पूर्णानन्द ने इसका संबंध स्रोत से–चित्त स्रोत या चित्त प्रवाह से जोड़ा है। यह चिन्मुख चित्त प्रवाह ही सुरति है । अपने योग दर्शन में उन्होंने 'सुरति शब्द योग'–के संदर्भ में सुरति को 'स्वरति' से संबद्ध किया है और उसे एकाग्रता की ओर झुकी हुई वृत्ति कहा है । अस्तु–यह व्याख्या निरति के संदर्भ में सुरति की नहीं है । पहला अर्थ ही (स्रोत) उन्हें अभिमत है–इस संदर्भ में । वैसे एकाग्रवृत्ति और एकोन्मुख चित्त प्रवाह में कोई अंतर नहीं है । डा० बड़थ्वाल ने 'स्रोत' की जगह 'स्मृति' से उसे संबद्ध किया है–जिसका व्याख्यान पहले किया जा चुका है । निरति शब्द का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है–परमात्मा के साक्षात्कार का आनंद (नृत्य) पूर्ण तन्मयता । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने डा० बड़थ्वाल की ही बात को आगे बढ़ाते हुए माना है कि सुरति स्मृति का अपभ्रंश है–पर वह केवल स्मृति नहीं है – उसमें सु+रति=चिन्मुख प्रेम का भाव भी है। डा० द्विवेदी ने इसी संदर्भ में सुरति को आन्तर विषयों की ओर आसक्ति और निरति को बाह्य विषयों के प्रति अनास्था अथवा वैराग्य कहा है । दोनों ही एक दूसरे की सहायिका हैं । सुरति के संत साहित्य के साक्ष्य पर उन्होंने दो स्तर माने हैं–

पहली सुरति=स्मृति

दूसरी सुरति=परमा प्रीति

इन दोनों के बीच 'निरति' की स्थिति है । पहली सुरति–आंतर विषयों की ओर खिचाव 'निरति' को उदग्र करती है और 'निरति' 'पुरानी याद' को निर्विघ्न, तीव्र तथा एक तान बनाकर 'परमा प्रीति' के रूप में परिणत कर देती है। इस प्रकार

---

१. दादू की अनभै वाणी, पृ० ५४२ ।

सुरति-निरति का परिचय स्वयम्भू द्वार खोलता है—परम प्रेमास्पद तक पहुंचाता[1] है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'सुरति शब्द योग' में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द का अर्थ जीव का वह निर्मल रूप कहा है जिसमें मूल सत्य का रूप बराबर झलका करता है। सुरति 'सति' के एक सूक्ष्म किन्तु उससे भिन्न दशा में अवशिष्ट अंशवत् वर्तमान है। प्रसंग 'सुरति' 'निरति' का है—और उसके द्वारा चरम लक्ष्य की उपलब्धि का है। चतुर्वेदी जी के अनुसार 'सुरति' आत्म स्मृति (आत्म रति) है। इसी वृत्ति की स्थायी परिणति को 'निरति' कहा गया मिलता है। अर्थात् 'सुरति' वस्तुतः मन की सूक्ष्मतम दशा को प्रकट करती है और निरति वह स्थिति है जब वह आत्म केंद्रित अथवा आत्मलीन हो जाने के कारण अन्य ओर से नितान्त निरवलंब हो जाती[2] है। डा० द्विवेदी की दूसरी 'सुरति' चतुर्वेदी जी की 'निरति' है।

डा० धर्मवीर भारती ने संतों की सुरति-निरति को बौद्ध सिद्धों द्वारा प्रयुक्त 'सुरअ' के अर्थ से भिन्न नाथ परम्परा में प्रयुक्त 'सुरति-निरति' की अर्थ परम्परा में देखा है। उनका विचार है गोरख ने सुरति शब्द के मैथुन परक अर्थ का बहिष्कार किया होगा और इसके नाद परक अर्थ प्रचलित किए होंगें। इस प्रकार उनका निष्कर्ष है कि सुरति शब्द नाद की एक वह अवस्था है जब वह चित्त में स्थित रहता है और साधना की अवस्था में रहता है। शब्द अनाहत नाद है जो 'विशुद्ध' और 'आज्ञा' चक्र में रहता है। निरति इसके भी ऊपर की अवस्था है—इसमें निरालंब स्थिति आती है। वही सहज है। इसे उन्होंने शब्दान्तर से यों भी कहा है—'शब्द अनाहत नाद है, सुरति वह शब्द है जो साधना में चित्त को प्रवर्तित करता है और निरति वह निरालंब अवस्था है जो चित्त के शब्द या नाद में लीन हो जाने पर आती है। 'निरति' उस दशा का संकेत है जहाँ 'शब्द' भी 'अशब्द' हो जाता है—पार्यन्तिक अपरोक्षानुभव[3]।

डा० गोविंद त्रिगुणायत ने 'सुरति' को पिण्डस्था व्यष्टिशक्ति और 'निरति' को पिण्डस्था समष्टिशक्ति कहा है। इन्होंने इन्हें उन दो का प्रतीक माना है जो अंततः अद्वय हो जाती हैं। सुरति शब्दात्मक जीव शक्ति तथा निरति शब्द ब्रह्म है। साधना वश सुरति-पिण्डस्थ शब्दात्मा शक्ति निरति—समष्टि शब्दात्मा शक्ति में समा जाती[4] है। डा० केशनीप्रसाद चौरसिया[5] का अर्थ है—सुरति-प्राप्ता आत्मा साधना करके निरति-प्राप्तव्य आत्मा में लीन हो जाती है। 'निरति शुद्ध बुद्ध नित्य ब्रह्मरूप होने के

---

१. सहज साधना, पृ० ७३-७४।
२. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० २०२।
३. सिद्ध साहित्य, पृ० ४०८ से ४११ तक देखें।
४. हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि, पृ० ५३३-५३७।
५. मध्यकालीन हिंदी संत-विचार और साधना, पृष्ठ [illegible]।

कारण निराधार है। इस प्रकार जब सुरति का निरति से तादात्म्य हो जाता है– तब स्वयम्भू द्वार खुलते हैं। डा० प्रतापसिंह चौहान ने अपना आशय व्यक्त यों किया है –

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार
सुरति निरति परचा भया खुला स्वंभु दूआर ॥

—कबीर ग्रंथावली १४

अर्थात् सुरति (मनोवृत्ति) शब्द के साथ निरन्तरता प्राप्त कर लेती है और 'निरति' निराधार हो जाती है। अर्थात् शब्द के साथ तल्लीनता प्राप्त करने के लिए जब सुरति की आवश्यकता नहीं रहती–तभी स्वयंम्भू दुआर (दशम द्वार–सहस्रार) खुलता है। निरति के निराधार होने के फलस्वरूप बिना आभास के स्वयमेव साधना चला करती[1] है।

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का अभिमत है–'सुरति योगी की उस असाधारण दृष्टि क्षमता को कहते हैं जिसके द्वारा वह अपार्थिव जगत् के आश्चर्यमय दृश्यों और शब्दों की साक्षात् अनुभूति प्राप्त करता है। निरति-सुरति से भिन्न उस निर्विकल्प ध्यान की अवस्था है जिसमें दृश्यावली नहीं प्रकट होती। दरिया साहब निरति की अवहेलना नहीं करते, अपितु निरति और सुरति के समन्वय को श्रेयस्कर मानते हैं। बहुधा वे इन दोनों को एक ही मन्थन रज्जु के दो छोर मानते हैं जिनके सहारे शरीर रूपी मटुकी दयारूपी दाघे मथकर स्थिरता रूपी घृत निकाला जाता[2] है।"

इसी से मिलती जुलती बात कविराज गोपीनाथ ने भी कही है–'सुरति और निरति इन दोनों का समन्वय कर सकने पर ही योग साधना सिद्ध होती है। सुरति से असाधारण दृष्टि कही गई है। इस दृष्टि के खुलने पर भांति-भांति के सुंदर दृश्य और शब्दों का अनुभव होता है। 'निरति' से निर्विकल्पक ध्यान का बोध होता है। इसमें दृश्य का भान बिलकुल ही नहीं रहता। योग क्रिया लौकिक मन्थन क्रिया के ही तुल्य है। जैसे एक ही मंथन क्रिया में दो जोड़ आवश्यक होते हैं–जिसके द्वारा बरतन में दही का मन्थन कर घृत निकाला जाता है वैसे ही इस शरीर रूपी बरतन में यदि योग क्रिया रूप मन्थन कार्य करना हो–तो सुरति और निरति इन दो क्रियाओं का अनुष्ठान आवश्यक है। सुरति और निरति क्रियाओं का अनुष्ठान होने पर स्थिरता रूप घृत की प्राप्ति अवश्य ही होती है। इसलिए निरतिहीन, अर्थात् निर्विकल्प ध्यान रहित शुद्ध सुरति जैसे सिद्ध-रूप में उपयोगी नहीं होती, वैसे ही असाधारण दृष्टि रूप सुरति रहित शुद्ध निरति–अर्थात् निर्विकल्पक ध्यान भी उपयोगी नहीं

---

१. संतमत में साधना का स्वरूप, पृ० ६२।
२. दरिया ग्रंथावली, प्रथम ग्रंथ, पृ० १०८।

होता। दोनों का सामंजस्य होने से ही योगी इष्ट साधन में सफलता प्राप्त करते हैं।[१] उन्होंने अपनी बात स्पष्ट करते हुए यह भी कहा है—

'सुरति है—'तीव्र दर्शन की प्रगति', जिससे क्रमशः एकाग्र भाव की वृद्धि होती है और निरति है—निर्विकल्प ध्यान। इन दो प्रक्रियाओं के परस्पर सहयोग से अष्ट-दल कमल का भेद भी होना चाहिए — तभी परमतत्व की प्राप्ति होती है। उन्मनी मुद्रा द्वारा सुरति की प्रक्रिया (एकाग्रता) सिद्ध हो जाने पर प्रत्येक नेत्र के अंतिम अवयव अग्र दृष्टि —में अग्रगति प्राप्त की जा सकती है। अग्रगति प्राप्त होने पर अष्टदल का भेद हो जाता है। फलतः साकार तथा निराकार का, सविकल्पक तथा निर्विकल्पक का भेद तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार महाशून्य तथा भ्रमरगुहा का भेद करके सत्यराज्य में प्रवेश हो जाता है। यह सत्यराज्य पर ब्रह्म के केन्द्र में स्थित है। बंकनाल का यहाँ विशेष उपयोग है। यह नाड़ी यों तो मूलाधार से चलती है और घूमती हुई आज्ञाचक्रस्थ 'विंदु' का स्पर्श करती हुई ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करती है और वहाँ से नीचे लाकर फिर ऊर्ध्वमुखी होती है। वहाँ वंकनाल समाप्त होती है। वहाँ परम शुद्ध विंदु की स्थिति दीखती है। इस साधना में भी शब्द के धुनिरूप का साक्षात्कार होता है। यही धुनि सद्‌गुरु है। सत्य लोक के भी ऊपर 'अनामी' है—जहाँ किसी के अनुसार धुनि है और किसी के मत से होने पर भी अननुसंधेय है।[२]

टिप्पणीकार का मत है—सहस्रदल कमल रूप आसमान में सुरति निरति रूप दो तारों का साक्षात्कार हुआ करता है। सुरति का प्रकाश उजला होता है—निरति का श्याम। इसीलिए सहस्रदल कमल को कहीं-कहीं श्यामश्वेत (श्यामसेत) भी कहा जाता है। इसी की छाया आँख में है, आँख की ज्योति उजली है—परंतु धीरी श्याम सरूप है। इसीलिए सुरति निरति-दोनों का वास आँख में माना गया[३] है।

सन्तों ने कहीं-कहीं सहस्रदल को अष्टदल भी कहा है। राधा स्वामी मत के ग्रंथों में प्रायः ऐसा मिलता है। उसका कारण आठ घारों का एकत्र होना तो है ही, और भी है।

स्थायीभाव वस्तुतः भावदेह का रूपान्तर है। भाव के विकास के साथ हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरंग हृदय कमल अष्ट दलों से विभूषित है। इसी-लिए स्थायी भाव भी मूल अष्टभाव में विवर्तित होकर प्रकाशित होता है। इस अष्टदल कमल का एक एक दल एक एक भाव का स्वरूप है। भाव में प्रविष्ट होकर उसे महाभाव में परिणत होना पड़ता है। यही भाव साधना का रहस्य है।

१. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग २, पृष्ठ ४३,४४।
२. देखिए, नाथ और संत साहित्य (तुलनात्मक अध्ययन) भूमिका।
३. देखिए, प्राणसंगली, भाग २, पृ० २४६ पाद टिप्पणी।

यह गुप्त कमल है। षट्चक्र के अंतर्गत जो द्वादशदल रूपी हृदय कमल है—उससे यह पृथक् है। क्योंकि द्वादश दल का भेद करने के बहुत पीछे आज्ञाचक्र का भेद करने पर अन्तर्लक्ष्य की प्राप्ति होती है। परंतु जब तक लक्ष्योन्मेष नहीं होता अष्टदल में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्य युग के बहुतेरे संत अष्टदल को सहस्रदल कमल कहते हैं—अर्थात् कोई कोई इसको सहस्रदल के अंतर्गत मानते हैं। यदि यह अष्टदल भाव राज्य है तो हृदय का द्वादशदल भावाभास हो इससे एक समस्या और सुलझ जाती है—वह यह कि ज्ञान के बाद भक्ति होती है या भक्ति के बाद ज्ञान होता है। द्वादशदल के बाद लक्ष्य का उन्मेष होता है—इस मत से भक्ति के बाद ज्ञान होता है, परंतु वस्तुतः लक्ष्योन्मेष के बाद जिस भाग्यवान् भक्त को अष्टदल की प्राप्ति होती है—उसकी दृष्टि में ज्ञान के बाद भक्ति होती है। भक्ति दो है ही—परा-अपरा, साधन-साध्वा इसमें इस विरोध का भी निराकरण हो जायगा।

संभवतः इन उपर्युक्त विद्वानों ने दरिया की जिन पंक्तियों को आधार बनाया है—वे हैं—

'सुरति निरति का नेता बँचो दधि मथनी तुम पासा।
अग्नि प्रकास ताव यह तव धृत होत सुवासा"[1]—इत्यादि

ऊपर अब तक के चिन्तकों के प्रायः प्रतिनिधि मत प्रस्तुत किए गए हैं। किसी के मत से चित्तगत नाद अथवा नादोन्मुख चित्त ही सुरति और नादलीन चित्त निरति है। डा० सम्पूर्णानंद नादोन्मुख चित्त प्रवाह को सुरति और उसकी पार्यन्तिक चरम उल्लासमयी परिणति (नृत्य) को निरति, डा० बडथ्वाल बंध मोचनकारिणी स्मृति को सुरति पर्यवसित आत्मसाक्षात्कार को निरति, पं० परशुराम चतुर्वेदी परमार्थ सत्यप्रतिबिंबग्राही जीव को निर्मल रूप सुरति और निरति निरवलंब आत्मलीन स्थिति को निरति, डा० त्रिगुणायत पिण्डस्थ शब्दात्मिका आत्मशक्ति को सुरति तथा ब्रह्मास्थ शब्द ब्रह्म को निरति, डा० केशनीप्रसाद चौरसिया प्राप्त आत्मा को सुरति तथा प्राप्तव्य को निरति तथा डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और म० म० कविराज गोपीनाथ आध्यात्मिक दृश्य दर्शन रत असाधारण दृष्टि को सुरति तथा निर्विकल्पक ध्यान को निरति मानते हैं। इन सबसे भिन्न डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी सुरति को साधन-साध्य रूपा रति और निरति को निरति मानते हैं। डा० चौहान सुरति को चित्त या मन का पर्याय मानते हैं और उसकी शब्दलीन स्थिति को निरति।

सुरत चैतन्य से शब्द गुरु की धारणापूर्वक आरती करने की आवश्यकता है। सुरत में जो रस लेने वाला अंग है—वह प्रत्येक स्थान पर रत होने लगता है और जो

---

१. संत कवि दरिया, प्रथम ग्रंथशब्द, पृ० १२४।

अंग रत नहीं होता वह निरत है। निरत सुरत की आस्वाद दशा में दीपक के प्रकाश का काम करता है। सुरत इसी प्रकाश में आगे बढ़ती है। इस निरत रूपी थाल के ले लेने पर सुरत अपने इन अंगों के बल से रूहानी चढ़ाई करती[1] है। इसी प्रकार कबीरपंथी छत्तीसगढ़ी शाखा की धारणा यह है कि श्वास की गति सहस्रदल कमल तक ही है। आगे जाने के लिए सुरति की डोर पकड़नी पड़ती है। अतः मन के आगे चलने वाली चेतन धारा ही इस पंथ में 'सुरति' है और स्वरूप की ओर ले जाने वाली धारा 'निरति'[2] है।

वेदांत जिसे आत्मा कहता है, शब्दयोग के आचार्य उसे ही सुरति कहते हैं। कारण, व्यापार मात्र (क्रिया प्रतिक्रियात्मक) की अनुभवाकार मति या सूझ इसी चिन्मयी शक्ति से हुआ करती है। सूझ के भी प्रकाशक होने के कारण इसे 'सुरति' कहा गया है। सुरति, संवित्, संवेदन, चित्कला, चेतन तथा जीवकला आदि परस्पर पर्याय हैं। भेद है—तो उपाधिगत तारतम्य के कारण। शब्द मार्गियों का सिद्धांत है कि जो धारा प्रकट होकर भूमि पर आई है उसे उलटकर फिर वहीं ले जाना[3] है।

ठीक इसी से मिलती जुलती धारणा 'राधास्वामी' मत पर प्रवचन' में भी दिया हुआ है। "सोच विचार करने का औजार मन है और उसको अपनी कार्रवाई के लिए सुरत की धार की उतनी ही मोहताजी है जितनी कि इंद्रियों को अपने अपने काम करने के लिए है—क्योंकि गहरी नींद या बेहोशी में जब सुरत की धारें अंतःकरण के घाट से ऊपर को खिच जाती हैं, तब मन भी इंद्रियों की तरह बेकार हो जाता है। इसलिए सुरत और मन को एक नहीं समझना चाहिए।" सुरत चैतन्य जीवन शक्ति का केंद्र है जहाँ से धारें निकल कर मन और माया के घाट पर आती हैं।" और सब सक्रिय करती हैं। 'चेतना' और 'चेतना' दो हैं—एक माध्यम और दूसरा मूल।

सुरत ज्ञानवाह धार है—चेतन प्रवाह है—परत्तत्वात्मक सूर्य की किरण है—वह जितना ही अपने केंद्र की ओर उन्मुख और संपृक्त तथा घनीभूत होती जाती है। उस पर पड़े हुए जितने आवरणों से वह मुक्त होती जायगी—उसकी आंतरिक क्षमता उतनी ही बढ़ती जायगी। प्रायः चेतना की क्षमता में लोकोत्तर वृद्धि करने के निमित्त प्रयोक्ता गण उसे बेहोश हालत में ले जाते हैं। अथवा स्वयं समागत बेहोशी में भी किसी-किसी को लोकोत्तर अनुभूतियाँ होती हैं। निष्कर्ष यह कि

१. वचन बाबूजी महाराज, तीसरा भाग, पृ० १७७ वचन ७१।
२. ब्रह्मनिरूपणम्, पृ० १३।
३. प्राणसंगली, पृ० १४४।

सुरत चैतन्य की विकसित करने के लिए—उसकी शक्ति में वृद्धि करने के निमित्त व्यायाम की आवश्यकता है। यही व्यायाम सुरतशब्दयोग है।

उपनिषदों में भी सृष्टि प्रक्रिया के प्रसंग में कहा गया है—आकाशाद्वायुः—आकाश से वायु पैदा हुई। आकाश का बीज शब्द (तन्मात्र) है और पवन का बीज स्पंद। इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों प्राण ऊर्द्धवगामी होगा और सूक्ष्म सूक्ष्मतर होता हुआ अप्राणभाव में परिणत हो जायगा वहीं नादरूप से उसकी प्रतीति होने लगती है। प्राचीन योगियों ने प्राणायाम की पद्धति केवल इसी निमित्त से प्रवर्तित की थी। संत गुरुओं ने आज के अशक्त जीवों को ध्यान में रखकर सुगमता के निमित्त प्राणायाम गति के साथ शब्दानुसंधान कराकर निर्मल ही उक्त प्रयोजन को बहुत शीघ्र सिद्ध कर लेने के निमित्त मौन मार्ग प्रचलित कर दिया। इस प्रकार शब्दाभ्यास करते-करते नाद प्रकट होता है और नाद भी सूक्ष्म होते होते 'विंदु' दशापन्न हो जाता है—ज्यों ज्यों यह दशा प्राप्त होती है त्यों ही शब्द ब्रह्म से भी ऊर्ध्व अशब्दमयी ब्राह्मी स्थिति थिर होने लगती है—साधक उस अकथ्य, अवाच्य तथा अनामी से एकरूप होने लगता है। नाद शब्द ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्म एकरस सर्वव्यापी—इसीलिए इसे 'अनहद' या परिच्छेद रहित भी कहा जाता है। आघात निरपेक्ष रोम-रोम में गूंजता हुआ यह शब्द 'अनाहत' कहा जाता है। साथ अभ्यास की परिपक्वास्था में स्वयं निरन्तर समुच्चरित होने के कारण अनहद ध्वनि रूप भी कहा जाता है। यही ध्वनि अभ्यास के [तारतम्य तथा स्थानभेद से अनेक रूप कही जाती है। कोई इसे दस प्रकार की, कोई सात प्रकार की और कोई पाँच प्रकार की कहते हैं। गुरु घराने में केवल पाँच प्रकार की हीं ध्वनि को महत्ता दी गई है—घंटा, शंख, वेणु, मृदंग तथा मेघ। परा, पश्यन्ती आदि का भी बीज यही ध्वनि है। प्राणिक शब्दाभ्यास के माध्यम से इसे प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन हठयोगी प्राणायाम द्वारा इसे प्राप्त करते थे—पर संत प्राणिक तार के सहारे शब्दाभ्यास द्वारा इसे प्राप्त करा देते हैं और आयास साध्य हठयोग की प्रक्रिया का परित्याग करा देते हैं। नाम ही शब्द है—जो गुरु से मिलता है। नाम के बिना रूप कुछ नहीं कर सकता। हीरा का रूप-बोध नाम-बोध के अभाव में व्यर्थ है। पाँच शब्द के कई अर्थ किए गए हैं—राम, ॐ, सो हम्, वहि गुरु तथा अशब्द रूप शब्द—ये भी हैं पाँच शब्द। पाँच अधोवर्ती स्तरों के पाँचों शब्द सचखंड में एक ही ठौर पर एक रूप हो जाते हैं—सो वहाँ के ध्यान के अनन्तर—एक में मग्न होती हुई सुरत जल में जलतरंगवत् सत पुरुष से अभिन्न हो जाती है।

इस रूहानी चढ़ाई अथवा आध्यात्मिक-आरोहण के निमित्त सर्वप्रथम सुरत चैतन्य की अंतर्निहित शक्तियों को उन्नत करना है। सुरत की वहिर्मुख दशा में ब्रह्मांडी एवम् पिंडी माध्यमों के माध्यम से उसकी वहिर्मुख शक्ति में विकास और पुष्टि आ गई है—पर अंतर्मुखी शक्तियाँ प्रसुप्त प्राय हैं। इन्हें जाग्रत अवस्था में लाने के

लिए इसके अंतर्मुख अंग पर यदि अनुरूप संस्कार अंकित किए जायें—तो इससे दो कार्य होंगे—एक तो उसकी सुप्त शक्तियाँ जाग्रत स्थिति में आ जायँगी और दूसरे उसे आरोहण के लिए आवश्यक प्रोत्साहन और शक्ति प्राप्त हो जायगी। संत परम्परा में दीक्षा के समय इन विधियों का उपदेश दिया जाता है। पर सामान्यतः साधन रूप में तीन बातों का उल्लेख मिलता है—(१) गुरु (२) नाम तथा (३) संग या सत्संग। सत्संग के भीतरी और बाहरी दो रूप हैं—भीतरी रूप में भी तीन हैं—(१) सुरत चैतन्य द्वारा नाम का सुमिरन (२) चैतन्य स्वरूप का ध्यान (३) एकाग्रचित्त हो चैतन्य शब्द का श्रवण।
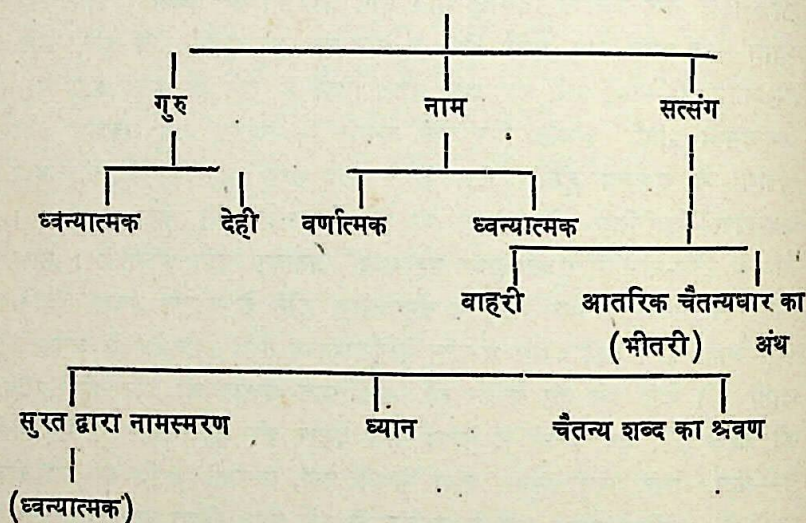
वस्तुतः शब्द दो प्रकार के होते हैं—(१) आध्यात्मिक चिन्मय शब्द, जिसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख है और जो भीतर की ओर आकर्षण करता है। (२) मन और माया का शब्द जिसका रुख पहले से भिन्न है। रचना के समय चिन्मयी धाराओं के निकलने से पूर्व चिन्मय भाण्डागार में जो हलचल हुई वह और स्वयम् वे धारें—दोनों आद्य शक्ति के दो पृथक् क्रियाशील रूपों में प्रकाशन थे। इन दोनों के साथ शब्द भी थे और वे दोनों परस्पर भिन्न भी थे—भंडार या मूलस्रोत में उद्भूत हलचल का शब्द भिन्न था और धार का शब्द भिन्न। इस मत वालों (राधास्वामी) के अनुसार ब्रह्माण्डी मत की क्रिया शक्तियों के साथ होने वाले शब्द का वर्ण में अनुकरण है—ऊँकार। ब्रह्माण्डी अथवा पिण्डी माध्यमों से मूल चिन्मय धार जब अपने को व्यक्त करती है तो माध्यमों में उद्भूत क्रिया शक्ति के साथ उद्भूत होने वाला शब्द बहिर्मुखी और मायिक कहा जाता है और मूलधार के साथ का शब्द आध्यात्मिक।

चूंकि चिन्मयी शक्ति की क्रिया अंतर्मुखी है और उसमें आकर्षण है--अतः उसके साथ संलग्न शब्द में भी वे गुण आ गए। जिस मानसिक अवस्था का प्रकाशक जो शब्द होता है—उसमें भी वह शक्ति आ जाती है—वह शब्द भी उतना ही प्रभावशाली हो जाता है। यही कारण है कि इस शब्द को सुनने वालों की सुरत बड़े जोर से अंतर की तरफ खिंचती है। इस प्रकार शब्दाभ्यास सुरत को ऊपर चढ़ाने की निश्चित प्रक्रिया है।

सम्प्रति, प्रश्न यह है कि निर्मल चैतन्य देश के इन सूक्ष्म और झीने शब्दों का श्रवण किस प्रकार किया जाय? आरंभ के अभ्यासी की शक्ति-श्रवर्ण शक्ति--इतनी तीव्र कहाँ होती है। इस शक्ति के विकास के लिए दो क्रियाएँ अपनाई जाती हैं—(१) आध्यात्मिक नाम का सुमिरन तथा (२) ध्यान। जहाँ तक सुमिरन का संबंध है—वर्णात्मक नहीं, ध्वन्यात्मक नाम का सुमिरन गुरुपदिष्ट प्रक्रिया से किया जाता है। रहा, ध्यान सो, सामान्यतः वह मानव रूप की ही भावना का पर्याय माना जाता है। वस्तुतः सीमित ज्ञान और बुद्धि वाले मानव के रूप के ध्यान से कुछ नहीं हो पाता-- इसके लिए तो निरमल चैतन्य रूप का ध्यान आवश्यक है। निरमल चैतन्य रूप के ध्यान से अभिप्राय गगनवत् व्याप्त नीरूप के ध्यान से भी आशय नहीं है, बल्कि उस रूप के ध्यान से आशय है—जिसमें निरमल चैतन्य रूप के साक्षात्कार जन्य प्रभाव का अस्तित्व हो। रूप आंतरिक वृत्तियों का प्रकाशक होता है—प्रकाशक दोनों ओर से। जिसका रूप होता है उसकी आन्तरिक शक्तियों का प्रकाशक तो होता ही है जो दर्शक अथवा भावक होता है--उसके भीतर भी वह वैसा भी भाव या प्रभाव उत्पन्न करता है। निर्मल चैतन्य साक्षात्कारी 'परम संत' के मस्तक तथा आँखों में कुछ अद्भुत विशेषताएँ उभर आती हैं। ऐसे परमसंतों के रूप ध्यान से पारमार्थिक भाव और उत्साह उमड़ता है—यही ध्यान चैतन्य का अर्थात् आध्यात्मिक ध्यान है। साधक भी कई कोटि के होते हैं—योगी, योगेश्वर, साध अथवा महात्मा, संत तथा परम-संत। पहला सहस्रार तक, दूसरा त्रिकुटी तक, तीसरा सुन्न तक पहुँच रहता है। निर्मल चैतन्य देश में समविष्ट संत तथा चरम भूमि तक पहुँचा हुआ परमसंत माना जाता है। ऐसे संत के ध्यान तथा नाम सुमिरन से सुरत जितनी ही भीतर खिंचती जाती है—व्याकुलता की मात्रा उतनी ही बढ़ती जाती है। आंतरिक अभ्यासों के करने में मृत्युगामी विभीषिकाओं और कष्टों से गुजरना पड़ता है—फिर तो वह इतना पक्का हो जाता है कि मृत्यु द्वार से गुजरने में कोई कष्ट नहीं होता। वस्तुतः यहाँ जीते जी मरना है। इस ध्यान के अभ्यास में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता मिलती है--उन साधकों को तो इसका अनुभव भी होने लगता है—जिसने कुछ अनुभव प्राप्त कर लिया है। उसे इस सहायता की परख सुरत की बैठक में उसके सिमटाव से होने लगती है। गुरु श्रद्धा, विश्वास,

प्रीति और प्रतीति बढ़ाने के निमित्त कभी-कभी अपने सूक्ष्म और ज्योतिर्मय रूप की झलक भी देता रहता है इस आतरिक संग को बढ़ाने में बाहरी सतसंग भी पर्याप्त मदद प्रदान करता है।

निर्मल चैतन्य देश के चिन्मय शब्द का श्रवण करने के निमित्त जिन दो साधनों का आरंभ में अभ्यास किया जाता है—उनमें से एक—निर्मल चैतन्य का ध्यान का निरूपण तो किया जा चुका, सम्प्रति दूसरे साधन नाम निरूपण का आरंभ किया जा रहा है। इसे नाम का अंतरी सुमिरन भी कहा जाता है।

पिंडी मण्डल में ऐसे केंद्र हैं जो ब्रह्मांडी मंडल तथा निर्मल चैतन्य देश से संबंध स्थापन करते हैं। जिस मंडल से संबंध रखने वाला जो नाड़ी केंद्र हमारे शरीर में है उसमें उसी प्रकार की चैतन्य धारें रहती हैं—अंतर इतना ही है कि वे उतना क्रियाशील नहीं रहती। रह भी नहीं सकती—कारण—उसके वैद्युतिक वेग को सम्हालने लायक आश्रय कहाँ है ? इसे प्रबुद्ध किया जा सकता है। वास्तव में जिस मंडल की अधिष्ठात्री शक्ति के पीछे जैसा ध्वन्यात्मक शब्द हो रहा है उसका अनुकरण जिन वर्णों से होता है—वे ही 'मंत्र' कहे जाते हैं। इन्हें 'नाम' भी कहा जाता है। जिस मंडल की अधिष्ठात्री शक्ति के अनुधावी ध्वन्यात्मक शब्द के अनुकृत नाम का जप काम-गत संबद्ध नाड़ी मण्डल अथवा चक्र पर सुमिरन किया जाय—तो इसके फलस्वरूप स्पंदन या कंप पैदा होगा। बढ़ते बढ़ते ये कंप संबद्ध मंडल के ध्वन्यात्मक शब्द के स्पंदन से एकरस हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि साधक में संबद्ध ऊर्ध्ववर्ती मंडल के संचालक की सारी क्षमताएँ उद्रिक्त हो जाती हैं और यदि वह चाहे तो उन शक्तियों का वह परिचालन भी कर सकता है। यही है—मंत्र सिद्धि। इससे निष्कर्ष यह निकला कि ऊर्ध्ववर्ती मंडलों के संचालकों में शक्तियाँ या ज्ञानधाराएँ सक्रिय हैं—उनका अनुधावी शब्द है। इन शब्दों की अनुकृति जिन वर्णों में है—वे ही 'नाम' हैं। उन्हीं के सुमिरन से—संवद्ध चक्र पर आंतरिक जप से साधक साध्यमय हो जाता है। इसीलिए साधकों और सिद्धों ने माना है कि नामी और नाम में कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार सुरत चैतन्य की शक्ति के प्रबोधन, प्रवर्द्धन तथा आरोहण के निमित्त ये तीन साधन हैं। सुरत की बैठक (दोनों आँखों के पीछे) के स्थान पर जप, तथा सत सद्गुरु के ध्यान से सुरत में वह शक्ति आ जाती है जिससे वह उत्तरोत्तर सूक्ष्म शब्द चैतन्य का श्रवण करने लगती है और उसी के सहारे आरोहण सम्पन्न करती है। यद्यपि सुरत चैतन्य की माध्यम-निरपेक्ष श्रवण, दर्शन, तथा वाङ्मयी शक्ति का प्रबोध करने के निमित्त आरंभ में सुमिरन तथा ध्यान का विधान है, पर इसका मतलब यह नहीं है कि बाद में इन दोनों का परित्याग हो जाता है। विपरीत इसके सुरत केंद्र से ऊपर के केंद्रों पर सुमिरन और ध्यान की प्रक्रिया चलने लगती है। अंततः जप्य, ध्येय और

श्रव्य-तीनों का एकीकरण हो जाता है—'पूर्णता' की उपलब्धि हो जाती है—आरोहण प्रक्रिया परिसमाप्त हो जाती है ।

सुरत शब्दयोग के संदर्भ में—विहंगम मार्ग के संदर्भ में, संतों की रूहानी यात्रा के प्रसंग में 'सुरति' और 'निरति' केवल दो पारिभाषिक शब्द हैं—जो भिन्न भिन्न स्थितियों अथवा तत्वों या अर्थों के द्योतक हैं अथवा सुरति निरति के समन्वय से गंतव्य तक पहुँचाने वाली प्रक्रिया विशेष के बोधक हैं—प्रश्न यह है । यदि निरति को नृत्य से जोड़ा जाय और उसे ससीम से असीम स्थिति में पहुँचने की उल्लासमयी पार्यन्तिक गन्तव्य का प्रतीक माना जाय—जैसा कि अधिकांश लोगों ने माना है—तो 'निरति' एक प्रकार से चित्त या व्यष्टि आत्मा की आत्मलीन अथवा स्वरूप प्रतिष्ठ स्थिति का ही नामान्तर होगा । आत्ममात्र पर्यवसायी इस चरम स्थिति को संतों के कथन के लक्ष्य पर निराधार भी कहना संगत हो जाता है । सुरति का 'निरति' में समा जाना भी संभव हो जाता है । परन्तु इस विचार प्रक्रिया में—

'सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार ।
सुरति निरति परचा भया तब खुला स्यंभ द्वार ॥

प्रथमार्ध की संगति तो लग जाती है, पर उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध की संगति किस प्रकार होगी ? क्या इसका यही आशय है कि सुरति के माध्यम से 'निरति' रूप 'परचा'—परिचय-साक्षात्कार-गंतव्य पद मिल गया ? सुरति ही 'निरति रूप परचा' हो जाती है ? ऊपर की विचारधारा में जिन लोगों की सहमति है उनके अनुसार तो यही व्याख्या होनी चाहिए। कठिनाई इसमें यह है कि जब सुरति चरम गन्तव्य निरति में लीन हो गई और पार्यन्तिक पद मिल गया—तब 'स्यंभ द्वार' खुलना शेष ही रह गया ? उत्तरार्द्ध में स्पष्ट ही कहा जा रहा है—'तब'—अर्थात् 'सुरति निरति परचा' होने के बाद । स्पष्ट ही यह पंक्ति स्यंभद्वार खुलने में अपेक्षित पूर्वकालिक प्रक्रिया सूचित करती है । अतः 'सुरति निरति परचा भया' की विश्व-सनीय व्याख्या कुछ इस प्रकार ही मानी जा सकती है—"सुरति निरति का पार-स्परिक परिचय जब हुआ तब स्यंभ द्वार खुला"—और इस व्याख्या में सुरति और निरति का पारस्परिक परिचय साधनावस्था की एक प्रक्रिया है—न कि साध्यावस्था का स्वरूप प्रतिष्ठ रूप । इसकी पुष्टि संत भीखा की इन पंक्तियों से भी होता है—

'सुरति निरति मेला होय नाद बिंदु एक समसोय
—भीखा साहब की बानी, पृ० ३४

संत चरनदास की भी सहमति है—

"सुरति निरति का काम राह चल गगन अगाधै"
—चरनदास की बानी, पृ० ३६

इस स्थिति में मेरा उन सबसे मतभेद है जो 'निरति' को चरम स्थिति का पर्याय बताते हैं। ऐसा मानने में कई और भी अड़चनें हैं—जहाँ सुरति को निरति में लीन करने की बात कही गई है—वहाँ तो ठीक है—पर जहाँ निरति को सुरति में समा जाने का कथन है—वहाँ का क्या होगा[1] ? फिर सुरति को प्रथम और द्वितीय भी कहा गया है—प्रथम और द्वितीय ही क्यों सात-आठ-नव प्रकार तक सुरति परवर्ती पंथों में कही गई है। अस्तु, परवर्ती पंथ के पौराणिक प्रपंच को छोड़ भी दें—तब भी मूल और पूर्ववर्ती संतों की उक्तियों में प्रयुक्त सुरति और निरति के संबंधों का गन्तव्यानुरूप संगत व्याख्यान करना होगा।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अवश्य 'सुरति'—दोनों को 'गन्तव्य' में साधक मानते हैं—'सुरति' को वे किसी अंतरतर में निहित परमप्रेमास्पद की अबोध पूर्विका 'स्मृति' मानते हैं और निरति को विरति (उक्त स्मृति को प्रगाढ़ बनाने में बहिर्मुखी प्रवृत्ति बाधक है—सो बाहर खींचने वाले विषयों से यदि साधक निरत या विरत होकर अंतर्मुख हो जाय—तो सामान्य अथवा प्रथम स्तर की सुरति (स्मृति) प्रगाढ़ प्रीति में परिणत हो जायगी। प्रीति की यह प्रगाढ़ता सिंह द्वार अथवा स्वंभू द्वार का अनावरण करा सकती है। पर इस व्याख्या में भी कई आपत्तियाँ हैं—पहली बात तो यह समझ में नहीं आती कि डा० द्विवेदी 'निरति' को 'विरति'[2] या 'वैराग्य' कहना चाहते हैं अथवा अंतर्मुखी प्रवृत्ति'[3]। अथवा उनके और विवेचन में प्रविष्ट होने पर लगता है कि विरति, मन के बहिर्मुख न होने से संबद्ध है—अतः विरत मन अंतर्मुख होता है इस प्रकार विरति या निरति अथवा मन की अंतर्मुखी वृत्ति। अस्तु—इस प्रकार उनकी उक्तियों का विरोधाभास निराकृत भी हो जाय और विषयहीन मन 'निराधार निरति' बन भी जाय—तो संतों को इस अभावात्मक, स्थिति से लेना देना क्या ? इसे तो परमप्रेमास्पद के प्रति प्रगाढ़ प्रीति सुरति के उत्पादन में नियोजित करना है। द्विवेदीजी प्रथमा सुरति से विरति और विरति से द्वितीया सुरति का उपजना सिंह द्वार के खुलने में साधन बताते हैं—इस प्रकार संभावित आपत्तियों का उनकी ओर से निराकरण कर भी दिया जाय—तब भी कुछ असंगतियाँ रह जाती हैं।

इस वैचारिक आलोक में 'सुरति निरति परचा भया'—का अर्थ होगा—"सुरति से निरति का परचा हुआ—परिचय हुआ—तब (फलतः) स्वयम्भू द्वार खुला"—

---

१. शब्द सुरति औ निरति है कहिवे को है तीन ॥
   निरति लौटि सुरतहि मिली सुरति शब्द लखे लीन ॥
   —ज्ञानस्थितिबोध, पृष्ठ १४५।

२. सहजसाधना, पृ० ७५।

३. वही, पृ० ७६।

अर्थात् बौद्धिक तत्वबोध रूप स्मृति (सुरति) से 'निरति' का परचा होना—पहले का दूसरे में समा जाना है—साधन बन जाना है। फिर यदि कहीं निरति का सुरति में समाना कहा गया है तो अंतर्मुखी वृत्ति का-निराधार-विषय-विमुक्त वृत्ति का प्रगाढ़ प्रेम में रंग जाना है। इस पंक्ति के माध्यम से यद्यपि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'सुरति के निरति' में समा जाने के फलस्वरूप अव्यवहितोत्तर पिधान हट जाता है—अथवा निरति में सुरति के समा जाने के बाद सिंह द्वार खुलने में कुछ और भी प्रक्रिया शेष रहती है ? प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कोई और प्रक्रिया शेष रहती है तो उसका संकेत यहाँ कहाँ है और संकेत नहीं है तो द्विवेदी जी के अनुसार विषयापरक्त अंतर्मुखी उदासीन वृत्ति से अतरतर के परमप्रेमास्पद का लाभ कैसे हो सकेगा ? वह तो प्रवृत्ति और 'सुरति' से ही संभव हो सकता है—परमाप्रीति से ही संभाव्य है। कहा भी है—

निरति लौटि सुतंहि मिली सुरति शब्द लखिलीन

द्विवेदी जी की ओर से इस शंका का समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि समस्त संगत साधन प्रक्रिया का संकेतक ही ऐसे वक्तव्य हो सकते हैं—अतः अपनी सांकेतिकता और अन्यत्र उक्त अविरोधी साधना की दृष्टि से ऐसे वक्तव्यों की संगत व्याख्या हो सकती है—अर्थात 'सुरति निरति परचा भया'—का शब्दशः अर्थ न लेकर—समस्त वाङ्मय में छिटपुट कहे साधनों को ध्यान में रखकर संगति लगाई जानी चाहिए। औपनिषद् सृष्टि-प्रक्रिया-परम खंड-खंड अक्रम, निरक्रम ववतव्यों की संगत व्याख्या आचार्यों ने इसी पद्धति से की भी है। मृत्यु के अनन्तर-पितृयान और देवयान परक औपनिषद् उक्तियों की भी संगति आचार्य शंकर ने इसी ढंग से लगाई है।

इतना सब कुछ कहने पर भी द्विवेदी जी की व्याख्या 'सुरतशब्दयोग' अथवा 'विहंगम मार्ग' के अनुरूप नहीं है—उनकी दृष्टि 'भक्ति' की ओर ही नियंत्रित हो गई है। संतों का कहना है—चरनदास का संकेत है—

'सुरति निरति का काम राह चल गगन अराधै"

अर्थात् 'सुरति-निरति' की पारस्परिक परिचयात्मक प्रक्रिया की उपयोगिता चिद्गगन की राह तय करने में है। 'सुरति-निरति' व्याख्या की दिशा बदल जाने से द्विवेदी जी की व्याख्या से 'सुरति-निरति' का पारस्परिक परिचय के निमित्त सहाव स्थान भी संभव नहीं है कारण सुरति और निरति अर्थात् एक के रहने पर दूसरे का रहना संभव नहीं है और तब विहंगम योगी दरिया की इस उक्ति का क्या होगा—

"सुरति निरति का नेता घँचों दधि मथनी तुम पासा।
अगिन प्रकास ताव यह तब घृत होत सुवासा[1]॥" ?

---

1. दरिया ग्रंथावली, प्रथम ग्रंथ, पृ० १२४।

अर्थात् इस शरीर रूप पात्र में यदि योग क्रिया रूप मंथन कार्य करना हो तो उक्त दोनों क्रियाओं का एक ही रज्जु के दो छोरों की भाँति आकर्षण विकर्षण करना आवश्यक है। इन्हीं से स्थैर्य रूप धृत की उपलब्धि होगी। मर्मज्ञों की धारणा है कि इस प्रक्रिया में 'सुरति' असाधारण दृष्टि है और निरति निर्विकल्पक ध्यान। पहले के समक्ष दृश्यावली रहती है और दूसरे के समक्ष नहीं। पर सुरति रहित निरति इस यात्रा में अनुपयोगी है उसी प्रकार निरति सुरति भी—दोनों का सामंजस्य ही उपयोगी है। अतः सुरति और निरति—इस संदर्भ में पूर्ववर्ती परवर्ती होने के कारण पहली और दूसरी हो सकती हैं—कुछ स्वरूपभेद के कारण नहीं—जैसा कि द्विवेदी जी मानते हैं। सिंह द्वार का खुलना तब माना जायगा—जब निर्विकल्पक ध्यान में भी असाधारण दृष्टि बनी रहे और असाधारण दृष्टि में भी निर्विकल्पक स्थिति बनी रहे—अर्थात् सब भेदों में एकरस रहे—किसी भी स्थिति में उसकी एकरसता भंग न हो—जो सब से सब है—वे मान में आ जायँ।

इस बात को और भी स्पष्ट करने के निमित्त कुछ और भी ब्यौरे अपेक्षित हैं। विहंगम मार्ग का विवरण देते हुए कहा गया है कि पिपीलिका मार्ग की यात्रा मूलाधार से सहस्रार तक होती है—पिंड पारकर साधक ब्रह्मांड में चला जाता है—विहंगम यात्रा इसके बाद आरंभ होती है। पिपीलिका मार्ग में चींटी की भाँति साधक वृक्ष पर चढ़कर मधुर फल का आस्वादन तो कर सकता है—पर चींटी की भाँति यहाँ पुनः अवतरण की भी आशंका है और फलतः आस्वाद वंचित होने की की संभावना है। विपरीत इसके पक्षी या विहंगम तो वृक्ष पर ही रहता है और गगन में निराधार उड़ सकता है—

> विहंगम चढ़ि गयउ अकासा
> बैठि गगन चढ़ि देखु तमासा।[1]

इस यात्रा में साधक की सुरति जिसका वास स्थान नेत्रों के पीछे माना जाता है—अष्टदल कमल के सूची द्वार से होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है। पिपीलिका योग में जो महत्व षट् चक्र को है वही महत्व विहंगम मार्ग में अष्टचक्र या अष्टदल कमल को है। मानव के प्रत्येक क्षेत्र में चार अवयव हैं—कुल मिलाकर दोनों नेत्रों में आठ अवयव हैं। प्रत्येक अवयव कमल के एक-एक दल है। ये चार-चार इस प्रकार हैं—(१) नेत्र की उज्ज्वल तारिका (२) उसके भीतर नाचने वाली अपेक्षाकृत कम काली पुतली (३) केन्द्रस्थ तारिका सदृश छोटी पुतली (४) तारिकावत् अन्तः सूचीरंध्र की भाँति चमकीला सूक्ष्म बिंदु। इसे अग्रनख या सुई भी कहा जाता है। यह अग्रनख ही अग्र-दृष्टि है। सुरति इसी रूप में परिणत होकर इसका भेदन करती है। एकाग्रता अथवा समाधि के माध्यम से इसे भीतर

१. दरियासागर, १०७, १-२।

की ओर प्रेरित करना पड़ता है। इस साधन क्रिया को उन्मुनी कहते हैं। सुरति जितनी धँसती जाती है—मनः स्थैर्य उतना ही होता है—चरनदास ने इसी प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए कहा है—

मन पवना बस कीजिए ज्ञान जुक्ति सुँ रोक।
सुरति बाँधि भीतर धँसै सूझै काया लोक।
चरनदास यहि विधि कही चढ़िवे कुँ आकास।
सोधि साधि साधन अगम, पूरन ब्रह्म विलास[1]॥

यही सुरति को बाँध कर भीतर धँसना है—जिसके फलस्वरूप कायालोक की दृश्यावली सामने आती है। अस्तु। अग्रनख के रूप में परिणत होकर सुरति जब भीतर धँसती है तब वह वहाँ पहुँचती है जहाँ इडा, पिंगला और सुषुम्णा—तीनों मिलती हैं। इसे त्रिवेणी कहते हैं। यहाँ स्थिति लाभ करती हुई सुरत आगे बढ़ती है। साधना की इस प्रक्रिया का संकेत संतों में प्रायः सर्वत्र मिलता है—प्रत्येक संत इस साधना में नेत्रों की उपयोगिता मानता है। आँख की कनीनिका 'तिल' है—वही आत्मा या जीवात्मा का स्थान है। इस 'तिल' की चर्चा प्रायः अभ्यास के संदर्भ में संतों के यहाँ मिलती है। राधास्वामी मत की पुस्तकों में तो बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

"नैन उलटि स्रसत मोड़कर चढ़े पुकारे संत[2]"

साथ ही—

ऊंची नीची घाटी उतरी, तिल की उलटी फेरी पुतली[3]।

दादू की भी उक्ति है—

जहाँ जगत् गुरु रहत हैं तहाँ जे सुरति समाय।
तो दोनों नैना उलटि कर, कौतुक देखे जाय[4]॥

गरीबदास का कथन है—

उलट नैन वे सुन्न विस्तर जहाँ तहाँ दीदार[5] है।

यही बात जगजीवनदास द्वितीय ने भी कही है—

नैननितै उलटि निरखि सत समाय लौटैं[6]—

---

१. चरनदास की बानी, पृष्ठ ८।
२. सारवचन भाग २ पृ० १०२।
३. वही, भाग २, पृ० १६१।
४. 'बानी' ज्ञान सागर, पृ० ७०-७१।
५. बानी, पृ० १०६।
६. बानी, पृ० ६१।

जिस प्रकार ध्यान के लिए इन संतों ने नेत्रों को महत्व दिया है उसी प्रकार जप के लिए श्वास प्रश्वास की भी ।

स्वासोस्वास होस कर बोरै पल पल नाम सुमिरना[१] ।

श्वास-प्रश्वास की ओर से अचेत नहीं रहना चाहिए—

साँसै साँस संभालताँ इक दिन मिलि है आइ ।
सुमिरन पैंड़ा सहज का सतगुरु दिया बताइ[२] ।।

दादू इन शब्दों में स्पष्ट ही कह रहे हैं कि सद्गुरु ने सुमिरन का सहज रास्ता यह बता दिया है कि यदि साधक ने श्वास प्रश्वास को सम्हाले रखा—तो एक दिन उसका गंतव्य उसे मिल जायगा । संत दया बाई का भी अनुभव है—

श्वास उसास विचार कर राखै सुरति लगाय ।
दया ध्यान त्रिकुटी धरे, परमातम दरसाय[३] ।।

इस प्रकार जप और ध्यान के माध्यम से गगन का आरोहण आरंभ होता है । संतमत के सरभंग सम्प्रदाय अथवा अघोरपंथ के साधकों में भी इस पद्धति के संकेत मिलते हैं—

त्रिकुटि में ध्यान स्थिर करि राखै विचले न पावहिं तारी[४] ।।

इन्हीं संतों ने 'तिल' को खिड़की कहा है और कहा है कि सुरति इसमें समाकर पार चली जाती है—

खिरकी तिल भरि सुरति समाई–[५]

तथा—

त्रिकुटी मध्य दोउ नेत्र लगा के उलटि पवन के फेरो ।
यहि विधि आतम रूप तुम्हारो सुन्दर परम उजेरो[६] ।।

अधिक उद्धरण केवल इस धारणा की पुष्टि के लिए दिए जा रहे हैं कि संतों के विहंगम मार्ग में ऊँचे चढ़ने में अष्टदल कमल अथवा आँखों के तिल का बड़ा महत्व है । यहीं से सुरतिपक्षी सीधे उड़ता है । यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि

---

१. सारवचन, पृ० १७१ ।
२. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ७८ ।
३. वही, भाग १, पृ० १६६ ।
४. निरपक्ष वेदाँत, राग सागर, पृ० १०४ ।
५. आनंद पाठ, पृ० ४ ।
६. स्वरूप प्रकाश, पृ० १८ ।

सुरति अर्थात् जीवात्मा अष्टदल कमल के सूची द्वार से होकर पिण्डपार ब्रह्माण्ड में पहुँच जाता है। त्रिवेणी इसी प्रदेश में है—सुरति वहाँ स्नान करती है। तदनन्तर सहस्रदल कमल में पर्यटन करती है और तब वंकनाल अथवा वंकनाड़ी से होकर ऊपर की ओर चढ़ती है।

पिपीलिका मार्ग में जो स्थान मेरुदण्ड का है—विहंगम मार्ग में वही स्थान वंकनाल का है। वैसे इस नाड़ी का उद्‌गम स्थान मूलाधार ही है। वहाँ से चलकर नाभि के वाम भाग से होती हुई हृदय और छाती का स्पर्श करती आज्ञाचक्र स्थित रुद्रग्रंथि में मिल जाती है। यहाँ से और आगे बढ़ती हुई ब्रह्मरंध्र में पहुँचकर सिर के पीछे की ओर मुड़ जाती है और पुनः ऊपर की ओर जाती है। यहाँ इसका आकार एक अर्द्धवृत्ताकार कमलनाल (वंकनाल) के समान बन जाता है। फिर धुंधकार मंडल होती हुई भँवर गुहा में प्रविष्ट होती है। यह गुहा सत्यराज्य की देहली है।

वंकनाल की चर्चा संतों में अनेक विध मिलती है। 'प्राणसंगली' के आधार पर अथवा उसकी टीका के आधार पर वंकनाल का स्वरूप पिछले पत्रों में स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ पिण्ड में भी इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा के उस मोड़ को जहाँ सब मिलकर एकमेक हो जाती हैं—वंकनाल कहा गया है। अंततः इस पर बहुत अधिक बल न देते हुए यह भी कहा गया है कि वंकनाल पिंडी ही नहीं, ब्रह्मांडी भी है। जो भी हो—संतों का अनुभव इससे साक्षी है कि आरोहण में कहीं न कहीं ऐसी नाड़ी का प्रत्यय होता है।

इस वंकनाल से होती हुई धुंधुकार मंडल के बीच से सुरत ऊपर चढ़ती है और भँवर गुहा में प्रवेश करती है। यहाँ शब्द गूंजता रहता है। यही शब्द समस्त सृष्टि का मूल है। सुरति, निरति, मन और प्राण की एकाग्रता से ही साधक इस शून्यमण्डल में शब्द सुन पाता है। यह 'शब्द' भी अपना उद्गम 'धुनि' या 'ध्वनि' को मानता है। इसी ध्वनि से वह उपजता है और उसी में विलीन हो जाता है। ध्वनि ही सद्‌गुरु का साकार रूप तथा शब्द गुरु का साकार रूप है।

उपर्युक्त साधना—जप तथा ध्यान—के फलस्वरूप साधक असाधारण दृष्टि, लोकोत्तर क्षमता अथवा दिव्यदृष्टि लाभ करता है। साधक की सुरति जितनी ही ऊपर रूहानी मंजिलों की ओर बढ़ती जाती है—उसकी बोध शक्ति स्वेतर माध्यमों की अपेक्षा छोड़ती जाती है। दूसरी बात यह है कि दृश्य जिस स्तर और जिन परमाणुओं के साकार पुंज होते हैं—दृष्टि भी समान प्रकृति की होनी चाहिए। ऊपर के लोकों के संघटक परमाणु अधिक सात्विक ही नहीं—कहीं पर तो चिन्मय हो जाते हैं अतः उनको ग्रहण करने की क्षमता भी वैसी ही होनी चाहिए। ग्राहक साधक या सुरति की यह ग्रहण-क्षमता ही उसकी दिव्य दृष्टि है—असाधारण दृष्टि है। रूहानी मंजिलों के लोकों में अवर्णनीय दृश्यावलियाँ हैं—जिन्हें आरोहण वेला

में 'सुरति' अपनी असाधारण क्षमता या दिव्य दृष्टि से देखती है। इस संदर्भ में यही असाधारण क्षमता या दृष्टि—ग्रहण शक्ति 'सुरति' है—सुरति (जीव) की सुरति है। सुरतिशब्दयोग के संदर्भ 'सुरति' को तो 'जीव' ही कहता हूँ—जो तत्वतः एक ज्ञानधार ही है—'शक्ति' ही है। अवरोहण में तमाम आवरणों या माध्यमों के विकासवश उसकी क्षमता सीमित हो जाती है—वह स्वयं परमुखापेक्षी हो जाती है—पर 'आरोहण' के क्रम में ये माध्यम हटते जाते हैं—फलतः परमुखापेक्षिता समाप्त होती जाती है—आंतरिक क्षमता अप्रतिबद्ध होती जाती है—फलतः लोकोत्तर दृश्यावली के ग्रहण में वह समर्थ होती जाती है। इस प्रकार जो सुरति-जीवात्मा-शक्ति है वह शब्दरूपी शिव से अंततः समरस होती है—पर इसके पूर्व उसकी विविध विध क्षमताएँ विकसित होती रहती हैं—यही क्षमता दृश्यावली ग्रहण वेला में 'सुरति' है—'सुरति' (जीव) की क्षमता भी 'सुरति' ही है—कारण, वह भी आत्मशक्ति होने के कारण आत्मस्वरूप ही है। 'निरति' भी उसी की क्षमता विशेष है—दृश्य रहने पर तल्लीन और न रहने पर आत्मलीन। ज्ञानमयी होने पर भी सुरति कभी नामरूपमय दृश्यावली पर टिकी है—सविकल्पक है और महाशून्य धुंधकारमय प्रदेश में ग्राह्य का अभाव होने से—नामरूप शून्यता होने से आत्मलीन फलतः निर्विकल्पक स्थिति में है। उसकी पहली क्षमता 'सुरति' और दूसरी क्षमता 'निरति' है। एकाग्रता उभयत्र है—एकत्र एकाग्रता सावलम्ब है—अपरत्र निरवलम्ब।

प्रायः विवेचकों ने 'सुरति' और 'निरति' का स्पष्टीकरण देते हुए नाथ परम्परा में निर्धारित अर्थ का सहारा लिया है और नहीं भी लिया है तो उसका विरोध नहीं किया है—अर्थात् मौन स्वीकृति दी है। नाथ साहित्य में प्रयुक्त इस ऐतिहासिक अर्थपरम्परा के साक्ष्य पर भी विचार करें—तो उक्त अर्थ ही पुष्ट होता है। नाथ परम्परा में द्विवेदी जी संतों की वह विरह-दग्ध-भक्ति का स्वर नहीं सुनते और वे ही क्या कोई भी नहीं सुनता। सुरति, निरति और शब्द—का साथ-साथ प्रयोग गोरखवानी में मिलता है—जो नाथ परम्परा का है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि नाथ सम्प्रदाय का एक बहुत पुराना नाम ही शब्द सुरतियोग था। अमरौघ शासन में भी इसे सहज समाधि का मार्ग कहा गया है। 'अछिद्र गोरखबोध' की तरह संतों ने भी सुरति को चेला और शब्द को गुरु कहा है। अतः जब नाथों की परम्परा में प्रयुक्त इस या इन सुरति-निरति-शब्दों को संतजन लेते हैं—और उसी अर्थ में लेते हैं—तो मूल रूप से उसे सर्वथा पृथक कर व्याख्या करना संगत भी नहीं है। फिर 'सुरति' का अर्थ 'असाधारण दृष्टि क्षमता' के साथ 'सु+रति' करें तो कर भी सकते हैं—क्रम प्राप्त विहंगमयोग अथवा सुरतिशब्दयोग के संदर्भ से हटा दें—यह क्यों ? यदि क्रम प्राप्त अर्थ लें और भक्ति का स्वर नाथों से तीव्र संतों में है—अतः कुछ और जोड़ भी दें—तब भी प्रश्न यह है कि 'सुरति' की

'सुरति' या लगन का विषय 'नाद' या 'दृश्यावली' है—अथवा उससे भिन्न कोई 'परमप्रेमास्पद' ? लगता है द्विवेदी जी उससे भिन्न 'परम प्रेमास्पद' मानते हैं। संत जन तो 'धुनि' या 'सबद' पर्यवसायी 'नाद' को ही परमप्रेमास्पद मानते हैं—नाथों को भी इसमें आपत्ति नहीं है। संत जन कहते ही हैं कि शब्द ही गुरु है और सुरति ही चेला—तत्वतः वे 'शिव' और 'शक्ति' हैं—व्यवहार में भिन्न। बाहरी देह में 'सुरत' शरीरी है और 'धुनि' रूप 'गुरु' भी शरीरी। इसीलिए संतों का कहना है कि शरीरी गुरु में प्रेम करने से सुरत की एकाग्रता बढ़ती है और वह भीतरी गुरु की झलक पाकर शनैः शनैः उसमें निमग्न होने लगता है—उसकी नूरानी झलक सुरत में मृत्युगामी विकलता और बेचैनी पैदा कर देती है। इस प्रकार संतबानी के साक्ष्य तथा ऐतिहासिक नाथ-साहित्य की परम्परा के आलोक में भी विचार करें—तो 'सुरति' सावलम्ब क्षमता विशेष ही है—और 'निरति' निवलम्ब क्षमता विशेष इन क्षमताओं का तादात्म्य 'जीवात्मा' यानी 'सुरति' से है—और तत्वतः नादमयी सुरति भी शब्दात्मा परतत्व से एक है—अतः संतों का यह कहना भी संगत हो जाता है कि सुरति, निरति और शब्द—हैं एक ही—केवल कहने के लिए भिन्न-भिन्न हैं। अतः समझ कर 'सुरति' को जीव भी कहा जा सकता है, असाधारण दृष्टि या क्षमता भी, साथ-साथ नादात्मा भी। साथ ही साथ सुरति स्तर विशेष पर 'चित्त' भी है—कारण तंत्र में 'चिदेव चित्तम' है।

बहुत से लोगों ने 'सुरति' और 'निरति' को सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दृष्टि का पर्याय समझकर पातंजल दर्शन की सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि से एक कर दिया है। उससे इसे एक नहीं करना चाहिए। संतों की धारा तांत्रिक अद्वयवाद की है—शक्ति साधना की है और पातंजल दर्शन में 'शक्ति' (कुण्डलिनी) का अस्तित्व ही नहीं है। यों 'सम्प्रज्ञात' में ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीता। (अस्मिता) में से कोई न कोई विषय तो रहता ही है—समाधिभंजक विक्षेपकारी संस्कारों के 'बीज' भी रहते हैं—दूसरी ओर असम्प्रज्ञात में जहाँ एक ओर वृत्ति आलम्बन शून्य रहती है—वहीं दूसरी ओर संस्कारात्मक 'बीज' भी (प्रज्ञा से) दग्ध हो जाते हैं। इसीलिए एक सबीज है और दूसरी निर्बीज। समाधि की अंतिम स्थिति जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं—इसमें 'निरोध' हो जाता है। इस निषेधात्मक पक्ष के बाद विध्यात्मक पक्ष आता है और वह है आत्मा की स्वरूप स्थिति। पातंजल दर्शन ही नहीं, अद्वैत वेदांत भी अविद्यानिवृत्ति पूर्वक आत्मलाभ करता है—इतना अंतर अवश्य है कि पूर्वत्र आत्मा चिन्मय ही है यहाँ चिदानन्दमय। पर समानता यह है कि उभयत्र—चाहे वह पातंजल दर्शन हो अथवा अद्वैत वेदान्त—दोनों ही 'त्याग' मार्गी हैं—अद्वैत वेदांती के अनुसार जीवनमुक्त का अनुभव 'बाधितानुवृत्ति' के नाम से कहा जाता है। तत्वबोध के फलस्वरूप दृश्यमान विश्वबाधित यानी मिथ्या है—फिर भी उसकी अनुवृत्ति चलती रहती है। आगमिक दृष्टि से जीवन

मुक्त को स्थिति भिन्न है—उसकी आरोहण यात्रा वृत्तात्मक है—वह जिसको अनृत मानता हुआ आरोहण करता है—ऋत लाभ करने पर वह फिर लौटता है और इस बार अनृत का भी ऋतीकरण कर देता है—त्यक्त जड़ का भी चिन्मयीकरण कर देता है—परिच्छिन्न प्रकाश को भी अपरिच्छिन्न कर देता है—फिर उसकी स्वातंत्र्य-मयी पूर्णाहंता के बल से परिच्छिन्न-अपरिच्छिन्न का मूल भेद ही विगलित हो जाता है—देखना और न देखना, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात जैसा अंतर ही नहीं रह जाता—सर्वद्वंद्व विनिर्युक्त हो जाता है—अशेष विशेष है—अतः सामान्य है—सच पूछिए तो सामान्य-विशेष जैसे शब्दों का वाच्य नहीं रह जाता—शब्दातीत अशब्दात्मक हो जाता है—नेति-नेति द्वारा ही वर्णित होता है। वह 'सुरति' में है तो भी 'निरति' में है और 'निरति' में है तो भी सुरति में है—कारण सभी आवरण जो हट गए अतः आरोहणावरोहणात्मक अध्यात्म यात्रा का वृत्त तभी पूर्ण होता है। बौद्ध सिद्ध भी तो संवृत बोधिचित्त को महासुख चक्र में ले जाते हैं—यह उनकी आधी यात्रा है अंतः वे पुनः निम्नस्थ निर्माण चक्र पर बोधिचित्त को उतार देते हैं। अब वह च्युति-अच्युति से ऊपर 'सहज' ही स्थिर हो जाता है। निष्कर्ष यह कि 'सुरति' और 'निरति' को सविकल्पक और निर्विकल्पक के भी रूप मेलें—तब भी वृत्ताकार यात्रा के कारण एक का दूसरे में समाना और सबमें सबका रहना—समज्जस होना संभव हो जाता है।

ब्यौरा बहुत बढ़ गया। कह यह रहा था कि सुरति बंकनाल के रास्ते धुंधकार मंडल या महाशून्य प्रदेश को पार करती हुई भंवरगुहा में पहुँचती है—जो सचखंड का द्वार है। सचखण्ड से सुरति 'अकह' 'अवाच' होती हुई दरिया के शब्दों में अगमनगरी या 'अमरपुर' पहुँच जाती है।

इस प्रकार विविध और विभिन्न अध्यात्म धाराओं—संत पंथों के आनुभाविक प्रकाश में 'सुरतिशब्दयोग' अथवा 'विहंगम मार्ग' की तंत्रानुमोदित आलोक में व्याख्या सम्पन्न की गई। नाथों में 'नादानुसंधान' सुरतिशब्दयोग की विद्या में रहा होगा—वारकरी संतों की बानियों में भी उसकी गमक है—पर सुरत से शब्द को मिलाने की प्रक्रिया भिन्न रही होगी। नाथ अध्यात्म सिद्धि के लिए आधार शुद्धि आवश्यक मानते थे—अतः कायशुद्धि पर उनका बल था। संतों ने अध्यात्मशुद्धि या सिद्धि से काय शुद्धि या सिद्धि अर्थात् और अनायास प्राप्त कर ली थी। संतों में भी साधन स्थल के भेद से सुरतशब्दयोग की विभिन्न विधियाँ प्रचलित थीं—ऐसा बताया गया है। डा० बड़थ्वाल की भी धारणा है कि तुलसी और शिवदयाल दृष्टि वाले अंश पर और शेष पवन वाले अंश पर विशेष बल देते हैं[1]। अंतर बल देने में ही होता है—लक्ष्य तो एक है—शब्द में सुरति का लय।

१. हिंदी काव्य में नि० सं०, पृष्ठ २४६।

रागात्मक पक्ष

संतों ने अपनी अभिव्यक्तियों में अनेकशः कहा है कि 'शब्द' गुरु है और 'सुरत'[1] चेला। इस प्रकार 'सुरत' ही 'शब्द' की उपासिका है। यह उपासना रागात्मक है इसी 'शब्द' का वाह्य रूप शरीरी गुरु है और शरीरी गुरु की आंतरिक तथा तात्विक रूप 'शब्द' या 'धुनि' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सुरत 'रूह' या जीवात्मा ही है—आत्मशक्ति का परिच्छिन्न रूप ही है। परिच्छिन्न आत्मशक्ति ही-जीवात्मा ही अपरिच्छिन्न 'धुनि' रूप गुरु की उपासना करता है। अक्षर अनन्य ने संत परम्परा में ही विशेष भक्ति[2] कहा है। इस धारा में गुरु रूप आत्मा की उपासना ही 'भक्ति' है। उपासना के धरातल पर 'शब्द' और 'सुरत' की बीच शरीरी गुरु ही सेतु है—उसी के सहारे 'सत्य राज्य' की यात्रा संभव है। यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि संतों की दृष्टि अद्वयवादी है—पर ऐसी अद्वयवादी—जहाँ द्रष्टा और दृश्य का आत्यंतिक विरोध नहीं है। जिन अभेद वादियों के यहाँ (विज्ञानाद्वयवाद, शून्याद्वयवाद तथा शांत ब्रह्मवाद) द्रष्टा तथा दृश्य में आत्यंतिक विरोध माना जाता है—वहाँ एक को परमार्थिक तथा दूसरे को 'सांवृतिक' कहना आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया में जहाँ एक ओर सांवृतिक 'दृश्य' सत्य का अध्यारोप किया जाता है वहीं आरोहण क्रम में उसका अपवाद भी कर दिया जाता है—आत्यंतिक अभाव भी सिद्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार ये दर्शन त्यागी हैं—ग्राही नहीं। तांत्रिक परम्परा में संतों का अद्वयवाद दो अतियों—द्रष्टा एवं दृश्य—में आत्यंतिक विरोध नहीं मानता—परवर्ती को पूर्ववर्ती का परिच्छिन्न रूप मानता है। परिच्छेद लीला के निमित्त है—जो जहाँ है—वह सब कुछ संभाव्य है—अतः सत् है—अन्यथा दर्शन स्वातंत्र्य कल्पित परिच्छिन्न दृष्टि (अविद्या) का है। दृष्टि संकोच के हटते ही सभी कुछ अपनी

---

१. शब्द गुरु सुरति धुनि चेला
   करैं ध्यान मंत्र मैं मेला—प्राण संगली, भाग २, पृ० २४८।
   (क) 'सुरति लीन गुरु शब्द महं तब सखाय महान्त'—सिद्धान्तबोध, पृ० १२६ अक्षर अनन्य।
   (ख) मंछिन्द्र-अवधू मनमूल पवन बेला।
   सबद गुरु सुरति चेला ॥ १४ —गोरखबानी—पृ० १८७।

२. अक्षर अनन्य, पृ० ४८८।

अपरिच्छिन्नता में एक और अद्वय हो जाते हैं। अपनी अपरिच्छिन्नता में 'सुरत' और 'शब्द' भी अभिन्न हैं, परिच्छेद में भिन्न। किंतु परिच्छेद भी यह आत्यंतिक नहीं होता—अपरिच्छेद से सामान्यतः संबंध बना भी रहता है। केंद्र से निर्गत परिच्छिन्न बिंदु-कल्प जीवात्मा का संबंध सूत्र केंद्र से सर्वथा पृथक् हो—ऐसा नहीं होता। इसीलिए उसका आकर्षण निरन्तर बना रहता है—अपने केंद्र की ओर। यह स्मृति ऐसी अबोधपूर्विका है कि रहकर भी सम्यक् रूप से नहीं रहती। 'सुरत' की शक्तियाँ बहिर्मुख इतनी अधिक रहती हैं—कि उस आंतरिक संबंध की सामान्यरूपता को अपेक्षित कर देती हैं। अभ्यास वश यदि उस सामान्य संबंध को प्रगाढ़ कर दिया जाय—तो एक रूप होने में कोई विलम्ब न होगा। संतों की धारणा है कि सुख और दुख की भावना का अर्थ इतना ही है कि आत्म चेतना कितनी देर तक केंद्र से विमुख होकर विषयमुख रहती है अथवा किसी आकर्षक विषय के अभाव में केंद्र पर स्थिर रहती है। केंद्र पर इस सुरत धार का विश्रान्त रहना ही आत्मविश्रान्ति है, सुख है।

"स्वात्मविश्रान्तिरेवैषा देवस्यानन्द उच्चते।[1]"
"यास्वस्वरूपरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽयभित्यदम्[2]"।
"प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहभीवो हि कीर्तितः[3]"।

'केंद्र' से 'जीव' का, 'शब्द' से 'सुरत' का संबंध बताकर बिना किसी बाह्य विक्षेप के बना रहे—यही आनंद या सुख का वास्तविक अर्थ है। बाह्य विक्षेप से अविश्रांति होती है—विश्रांति भंग होती है—फलतः जो अनुभव होता है—उसे दुख कहा जाता है। जीवात्मा सुख के अनुसंधान के रूप में आत्मा का ही अनुसंधान करती रहती है और पुनः पुनः विश्रांति लाभ चाहती है। आगमों की इसी विचारधारा के अनुरूप राधा स्वामी मत के प्रवर्तक श्री महाराज साहब की व्याख्या है—'ज्ञानवाह धारों का कायिक और मानसिक घाटों से जहाँ कि वे व्यापक हो रहीं हैं—बलपूर्वक हटा देने से जीव को जो भान होता है—उसे 'दुःख' कहते[4] हैं। 'ज्ञानवाह धारों के मन या माया के घाट पर जहाँ वे व्याप्त हो रही हैं, घनीकरण होने का जीव को जो भान होता है—उसे इस देश का सुख कहते[5] हैं'। 'परम आनंद की अवस्था जो दुःखों से सर्वथा रहित हो, केवल उसी परिस्थिति में संभव है जिसमें कि शारीरिक और मानसिक कोई लगाव शेष न रहे, केवल चैतन्य शक्ति

१. स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्—परमार्थ सार, श्लोक १०।
२. अजड़प्रमातृसिद्धि, श्लोक-१५।
३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २. पृ० ७४।
४. प्रवचन महराज साहब पृ० ३७।
५. वही, पृ० ३६।

का ही जाती जौहर रह जावे'[1] । ये ज्ञानवाही धारें सुरत चैतन्य—जो जीवन शक्ति का केंद्र है—से निकलकर मन और माया के घाट पर आती हैं । इस प्रकार जब ये मन-माया-सबसे अनवरुद्ध होकर स्वात्मविश्रांत हो जाती हैं—तभी परमानंद की, पूर्णाहंता की स्थिति आती है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परिच्छेद की भूमिका पर 'सुरत' और 'शब्द' उपासक और उपास्य हैं—दोनों के बीच रागात्मक संबंध है । सुरत का अपना मूल भंडार 'शब्द' है—वहीं विश्रांत होने के लिए वह बेचैन है—व्याकुल है । औपनिषद ऋषियों ने भी आत्मा को परम प्रमास्पद कहा है—जैसे कोई अपने ही से अपने अलग हो जाय—वही स्थिति है यहाँ । प्रिय और प्रेमी लौकिक धरातल पर सर्वथा भिन्न हैं—पर भिन्न प्रेमास्पद से भी विमुक्त होकर जब प्रेमी मर्मान्तक व्यथा सहता है और असह्य वेदना की स्थिति में पहुँच जाता है, तब स्वयम् यदि कोई अपने से अपने अलग हो जाय—तो उसके विरह और वेदना की तो कल्पनातीत स्थिति ही होगी । संतों की साधना में यही बेकली व्याप्त है । घनानंद ने सुजान से अपनी बेकली का बयान करते हुए कहा है—"जब होहु घरीक हूँ आपुते न्यारे"[2]—अर्थात् मेरी या उनकी दशा का अनुभव तो तब हो जब प्रिय स्वयम् से स्वयम् को घड़ी भर के लिए अलग करके देखे ।

प्रश्न यह है कि यदि लीला के निमित्त वह परमतत्व ही जानबूझकर आत्म विस्मृतिपूर्वक अपने को अपने से पृथक् करता है और शब्द तथा 'सुरत' की भिन्न भिन्न भूमिका पर अवरूढ़ हो जाता है—तो क्या बात है कि सभी अद्वैतवादी इस विरह-वैकल्प का अनुभव नहीं करते । बेकली औपनिषद ऋषियों को भी है—पर वह जिज्ञासा के स्तर पर लक्षित होती है, राग के स्तर पर नहीं । यह विशेषता मध्यकालीन अद्वैत भक्तों में ही अधिक लक्षित होती है—क्यों ? वारकरी अद्वैतियों में यह बेकली तो है—पर सिद्धों और नाथो में क्यों नहीं है ? क्या बात है कि मध्यकाल में ही 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' तथा 'अभेद भगति' का स्वर सुनाई देने लगता है—पहले क्यों नहीं ? या कि जैसा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'क्वासि' की भूमिका में कहा है कि भारतीय चेतना में—यह हूक सदैव रही है—उससे सुनने के लिए कान चाहिए ? यदि इस हूक की थोड़ी बहुत स्थिति प्राक्मध्यकाल भारतीय साधना में मान भी ली जाय—तो भी मात्रा में जो प्राबल्य मध्यकालीन भक्तों में है—वह तो अन्यत्र नहीं सुनाई पड़ता । इस प्रश्न पर हिंदी साहित्य के चिन्तकों में, भारतीय दार्शनिकों में पर्याप्त मतामत है ।

---

१. प्रवचन महराज साहब, पृ० ३६ ।
२. घनानंद कवित्त, सं० २७, पृ० १३४ ।

भारतीय साधक और चिन्तक सामान्यतः यह स्वीकार करते हैं कि साधकों में कतिपय की प्रकृति ही द्रुतिशील होती है और कतिपय की रूक्ष। प्रथम वर्ग भक्ति का मार्ग पकड़ता है और दूसरा ज्ञान का। यह भक्ति भी सामान्यतः दो प्रकार की है—साधनात्मक और साध्य रूप। साधनात्मक भक्ति अद्वैतवादियों के यहाँ वेधी कही जाती है—जिसका परिणाम होता है—अन्तःकरण की शुद्धि शुद्धान्तःकरण साधक जब आत्मस्वरूप का ज्ञान मार्ग से साक्षात्कार कर भी लेता है—तब उसकी स्वारसिक भक्ति आरंभ होती है। साध्य भक्ति चलती है—कल्पित द्वैत की भूमिका पर। कहा भी है—

> द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
> भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्[1]॥

बोध अर्थात् आत्म साक्षात्कार के अनन्तर भक्ति के निमित्त कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुंदर होता है। अनुपलब्धि की पीठिका पर उपलब्धि का सुख गुणित हो जाता है। यह एक स्वारसिक वासना की तृप्ति है—यह शुद्धवासना है। इस मार्ग के अनुसार जहाँ जैसा है—वहाँ वैसी कल्पना की जा सकती है। कार्य से ही कारण की स्थिति की कल्पना की जा सकती है।

मध्यकालीन आलोच्य संतों के मानस में उदित 'भक्ति' के ही विषय में कुछ विद्वान् इस बात से असहमत हैं कि वह मूलतः भारतीय हैं। फलतः कतिपय विद्वान्—डा० ताराचंद,[2] के फासेट; तथा बार्थ—मानते हैं कि इसका कारण मोहम्मदी धर्म का संपर्क है। कबीर में जिस 'प्रपत्ति' की स्थिति है—वह 'इस्लाम' का ही प्रभाव है। इस्लाम का अर्थ ही है—'प्रयत्न होना'। ग्रियर्सन[3] प्रभृति दूसरें विद्वान् मानते हैं कि यह सब कुछ मसीही धर्म के संपर्क की परिणति है। कारण, दोनों की रहस्यवादी सीढ़ियाँ एक जैसी ही हैं—पर्गेसन, इल्यूमिनेशन' तथा 'यूनियन' की क्रमिक स्थितियाँ एक जैसी ही हैं। अब इन मतों के विपक्ष में बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। कारण, ये मोहम्मदी और मसीही धर्म स्वयम् भारतीय साधनाओं को आत्मसात् किए हुए हैं। इतिहास ऐसे प्रमाणों से भरा हुआ है कि मसीही और मोहम्मदी जनता बौद्धों और भागवतों के प्रभाव में पहले से ही रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे विद्वानों ने तो यह भी कहा है कि भक्ति का यह आकस्मिक प्रादुर्भाव तात्कालिक परिस्थिति जन्य नैराश्य वश हुआ। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत इन दोनों वर्गों से भिन्न है। वे इसका कारण लोक संस्कृति से शास्त्रीय संस्कृति का समन्वय बतलाते हैं और बताते हैं कि यदि मुसलमान न भी आए होते तो भी इतिहास के गर्भ में जो

---

१. बोधसार।

२. Influence of Islam on Indian Culture, p. 107

३. Encyclopedea of Religion and Ethics V. 11, pp. 544-545.

आध्यात्मिक परमाण् दिखाई पड़ने हैं—उनका मध्यकालीन मूर्त रूप वही होता—जो हुआ। तात्कालिक परिस्थिति ने इस प्रक्रिया में त्वरा और प्रगाढ़ता ला दी। अभिप्राय यह कि आलोच्य संत धारा की भक्ति भावना न तो वैदेशिक स्रोत की प्रसव है और न ही तात्कालिक परिस्थितियों की, अपितु एक विकासमान धारा की प्रगाढ़ परिणति है। हाँ, यह प्रश्न अवश्य है कि इतिहास के पन्नों में आध्यात्मिक राग का जो रूप दिखाई पड़ता है—उसमें बेचैनी और विरहभावना का यह काष्ठापन्न रूप क्यों नहीं है—जो अद्वयवादी धारा के निर्गुनिएं संतों में मध्यकाल के अंतर्गत आकर मिलता है? पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतीय वर्णाश्रयी और याज्ञिक संस्कृति के प्रति विद्रोही वृत्ति रखने वाले औपनिषद ऋषियों, सिद्धों तथा नाथों की अपेक्षा इन संतों की यही देन मानते हैं कि योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज वपन इन्होंने ही किया। जहाँ डा० द्विवेदी इस भक्ति के अद्वैती नए रूप को संतों की देन कहते हैं वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उसे सूफियों का ऋण मानते हैं।

पहले आचार्य शुक्ल की मान्यता पर विचार कर लें, फिर द्विवेदीजी की स्थापना देखी जाय। शुक्ल जी के विपक्ष में इधर पर्याप्त विचार आए हैं। जिनके आलोक में यह स्पष्ट होता है कि निर्गुनियों की भक्ति भारतीय धारा की है—विदेशी सूफियों की नहीं।

आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि एक ही परमचेतना के अधिकारी भेद से दो पक्ष माने गए हैं—अव्यक्त और व्यक्त। शुक्लजी अव्यक्त रूप को ज्ञान का और व्यक्त पक्ष को राग का विषय भारतीय धारा के अनुरूप मानते हैं। पंचदशीकार का साक्ष्य है—

ये मंदास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेष निरूपणैः

उत्तम अधिकारी के लिए निर्विशेष ब्रह्म तथा मंद अधिकारी के लिए सविशेष ही निरूपित है। भारतीय परम्परा में ज्ञानमार्ग ही निविशेष का अभिव्यंजक है—रागमार्ग नहीं। उनके अनुसार ये सूफीसाधक ही हैं जिन लोगों ने रागमार्ग या अभौतिक 'कल्ब' के माध्यम से उस परमसुंदर की झलक पाई है। ज्ञान के क्षेत्र का यह अद्वैत जब राग का विषय बनता है तब सुंदर अद्वैती रहस्यवाद का जन्म होता है। शुक्लजी ने इसी रहस्यमार्ग का संधान निर्गुनियों में भी पाया है। इस प्रकार एक ओर शुक्लजी निर्गुनियों के (निर्गुण विषयक) राग तत्व को सूफियों से उधार लिया गया मानते हैं और दूसरी ओर हिंदू-मुसलमान -उभय साधारण सामान्य भक्ति मार्ग के संचार का श्रेय-आविष्कार का महत्व नामदेव को देते हैं। उनका वक्तव्य है—'भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई।

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६४।

हृदय पक्ष शून्य सामान्य अंतः साधना का मार्ग निकालन का प्रयत्न नाथ पंथी कर चुके थे महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने हिंदू मुसलमान—दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का आभास दिया ।"[1] इसी संदर्भ में आगे चलकर वे यह भी कहते हैं—"कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदाँत का पल्ला पकड़ा उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफ़ियों का प्रेमतत्व लिया ।[2]"

आचार्य शुक्ल की ऊपर जो स्थापनाएं हैं—उनका विरोध डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य लोगों ने किया है । पर इन लोगों के द्वारा दिए गए विरोधी तर्कों पर विचार किया जाय उससे पहले शुक्लजी के मंतव्य को स्वयम् भी सोच लिया जाय। शुक्लजी ने निर्गुनिएं संतों में दिखाई पड़ने वाली भक्ति के दो स्रोतों की ओर इंगित किया—एक तो नामदेव और दूसरे सूफी । नामदेव की साधना पद्धति में दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग के आभास की बात कही गई है । अर्थात् नामदेव में जिसका 'आभास' है, निर्गुनियों में उसकी 'प्रतिष्ठा' है । शुक्ल जी 'आभास' से क्या कहना चाहते हैं—यह कि वहाँ निर्गुन भक्ति थी ही नहीं या थी अथवा थी नहीं—होने का आभास मात्र था ? यदि वहाँ निर्गुन भक्ति थी ही नहीं—तब उनका इस प्रसंग में कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता और थी पर आभास मात्र अर्थात् थी नहीं—लोगों को ऐसा जान पड़ता है—तब भी कोई बात नहीं उठती। बात केवल उसी स्थिति में यहाँ संभव है जबकि उनमें निर्गुन भक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जाय। शुक्लजी ने इतना तो स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि ज्ञानदेव ने इनकी वृत्ति सगुण से निर्गुण की ओर कर दी । अंततः वे गुरु निर्दिष्ट प्रणाली से निर्गुणोपासना में तत्पर हो गए। पर यदि यह स्वीकार कर लिया जाय; तब तो शुक्ल जी ही निर्गुणोपासना-निर्गुणभक्ति-को भारतीय परम्परा का मान लेते हैं—फिर शुक्लजी का खण्डन करने वाले इसको भारतीय परम्परा का सिद्ध करने में—और वह भी शुक्ल जी के विरोध में—इतना प्रयास क्यों करते हैं ? हाँ, एक बात स्पष्ट नहीं होती कि इस निर्गुन भक्ति का एक स्रोत नामदेव की भक्ति साधना को बताकर भी उन्होंने उसमें कौन सी अपर्याप्तता देखी, जो फिर सूफियों की प्रेम साधना की ओर मुड़े ? फिर सूफी, राग का आलम्बन किसी पार्थिव बुत को मजाजी इश्क के रूप में बनाते हैं—सीधे निर्गुण को नहीं। यह तो यही इश्क की आग इतनी तेज हो जाती है कि 'कल्ब' पर पड़ा हुआ मल जलकर भस्म हो जाता है और निर्मल तथा दिव्य 'कल्ब' के माध्यम से उस अपरिमेय सौंदर्य तत्व की झलक मिल जाती है, प्रेम का असीम सागर लहराने लगता है । साधनात्मक बेला में राग का आलम्बन पार्थिव बुत या सगुण ही होता है । बारकरी नामदेव

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६४.
2. वही, पृ० ६४ ।

और सूफियों में एक साम्य भी है और वह रागात्मक उपासना के दो सोपान-सगुण या पार्थिव बुत की उपासना और तदनन्तर निर्गुणोपासना । कबीर आदि निर्गुनिए संत न तो किसी सगुण की उपासना स्वीकार करते हैं और न तो किसी सामान्य पर आकर्षक पार्थिव बुत पर प्रेम साधना—अतः इनका मार्ग तो 'तृतीयः पंथाः' सा है। इनकी उपासना सीधी निर्गुण उपासना है—यहाँ अवश्य प्रश्न खड़ा होता है कि 'राग का निर्गुण आलम्बन' – क्या भारतीय साधन परम्परा सम्मत है ? डा० व्रजलाल वर्मा का विचार है कि निर्गुनियों ने सूफियों से प्रेम की तीव्रता तोली पर पार्थिव बुत वाला मजीजी इश्क का पक्ष नहीं लिया ।[1]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी कहा है—"क्या ऐसा रूपातीत भगवान् भक्ति का विषय हो सकता है । 'इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह भी कहा गया—'भगवद् विषयक यह जो अहेतुक या कारण रहित प्रेम है वह न तो निरूपाधिक स्वरूप के लिए असम्भव है और न अद्वैतभावना के विरुद्ध । नारद पाँचरात्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भगवान् के सर्वोपाधिविनिर्मुक्त स्वरूप को तत्पर होकर (अर्थात् अनन्य भाव से) समस्त इन्द्रियों और मन के द्वारा सेवन करना ही भक्ति[2] है। अद्वैत भावना भक्ति के मार्ग में बाधक नहीं है, इसके प्रमाण हैं तुलसीदास, शंकराचार्य और अन्यान्य बहुतेरे शैव और ताँत्रिक साधक । इस भावना के अनुसार जीव वस्तुतः भगवान् का ही रूप है जो भ्रमवश अपने को पृथक् समझ रहा है। इस अंश की अपने स्वाभाविक रूप में फिर जाने की जो चेष्टा है वह अभेदमूलक आकर्षण है । नदी के प्रवाह का प्रत्येक विंदु जो समुद्र की महान् सत्ता में विलीन होने के लिए दौड़ लगा रहा है वह इसी अभेद प्रतीति जन्य प्रेम के कारण[3] । पुरुषोत्तम लाल[4] श्रीवास्तव भी इसी पक्ष की पुष्टि करते हैं और डा० द्विवेदी की भांति पंचदशी का साक्ष्य देते हैं। पंचदशीकार ने कहा है कि निर्गुण ब्रह्म की भी उपासना असंभव नहीं है। जिस प्रकार सगुण ब्रह्म की प्रत्ययावृत्ति रूप उपासना संभव है—वह निर्गुण ब्रह्म के विषय में भी सही है । यह कहना कि वह अवाङ्मनोगोचर हैं अतः उपासना का विषय नहीं बन सकता तो अवाङ्मनोगोचर का वेदन या ज्ञान विषय भी नहीं हो सकता है—जो अनुभव विरुद्ध है । कहा जा सकता है कि वेदन या ज्ञान तो इसलिए संभव है कि न और किसी विध्यात्मक रूप से तो 'अवाङ्मनोगोचर है वह तत्त्व'—इस विध्यात्मक रूप से तो जाना ही जा सकता है । जानना तो किसी भी रूप जानना है और

---

१. रज्जब बानी पृ० ४८ ।

२. सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेश हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ॥ भ० र० सि० १।१।१२।

३. कबीर, पृ० १४३, १४४ ।

४. कबीर साहित्य का अध्ययन देखिए, अध्याय पाँच और छह ।

वह वागगोचर है–इस रूप में भी जानना जानना तो है ही – अतः वेदन तो संभव है – पर 'भावना' या 'उपासना' संभव नहीं है। पंचदशीकार का इस पर भी उत्तर है कि 'वागाद्यगोचराकार' रूप में जानना, और ऐसे ज्ञान की आवृत्ति करते रहना–यह भी तो उपासना है, फिर ऐसी 'प्रत्ययावृत्ति' रूप उपासना भी क्यों नहीं हो सकती[1]?' 'पंचदशी' ही नहीं, 'नारद पाँचरात्र' का भी साक्ष्य देते हुए कहा गया है कि सर्वोपाधि विनिर्युक्त (निर्गुण-निरुपाधि) का अनन्य भाव से सेवन भक्ति ही[2] है। भक्ति सूत्र कार के 'अथातो ब्रह्म भक्ति जिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे[3]"–इस वचन से तो निर्गुण ब्रह्माक्ति की पुष्टि की ही गई है, 'बोधसार' के उस वचन को भी अनुकूल माना गया है जिसमें वेदान्त की अपरोक्षानुभूति को प्रेमलक्षणा भक्ति का परिणाम कहा गया[4] है। डा० पु० ला० श्रीवास्तव ने कतिपय और उद्धरणों से इसकी पुष्टि की। एक तो कबीर की भक्ति को उन्होंने विभिन्न प्रमाणों और तर्कों से वैष्णव भक्ति के ही अंतर्गत स्वीकार किया और नारदी भक्ति की परम्परा में स्थिर किया। वैष्णव परम्परा के विरूद्ध पड़ने वाली उन तमाम बातों का जो कबीर साहित्य में मिलती हैं – डा० श्रीवास्तव ने यह कहकर खण्डन किया है कि वे 'भक्ति' में अनुपयोगी हैं। उनका कहना है कि कबीर वैष्णव परम्परा में स्वीकृत तमाम बातों का जो खण्डन करते हैं–वह महज इसलिए कि उनका भक्ति में उपयोग नहीं है–अर्थात् वे सारी बातें अस्वीकरणीय हैं जिनका भक्ति में उपयोग नहीं। वे वैष्णव परम्परा विरोधी नहीं हैं–उसकी मान्यताओं के विरोधी नहीं हैं–विरोधी केवल उस बाह्याचार अथवा रूढ़ि से हैं–जिनमें 'भक्ति' प्रेरणा के रूप में निहित नहीं है। बात यह है कि प्रत्येक परम्परा का एक तात्विक पक्ष हुआ करता है और एक काल प्रवाह वश विकृतिग्रस्त निष्प्राण रूप, पहला ग्राह्य होता है औ. दूसरा त्याज्य अथवा आलोच्य। पं० परशुराम[5] चतुर्वेदी भी 'प्रेमभगति' तथा 'भगति नारदी' के पक्ष में

---

१. निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य नत्युपास्तेरसंभवः ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥
अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत ।
वागाधगोचराकारमित्येवं यदि वेत्यसौ ।
वागाधगोचराकार मित्युपासीत नो कुतः ॥पंचदशी । ९।५५-५६

२. सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् । हृषीकेश हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते
ह० भ० र० सि० १।१२ में उद्धृत

३. शांडिल्य भक्तिसूत्र–१ तथा २ ।

४. अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता ।
प्रेमलक्षणभक्तेः स परिणामः स एव हि॥१०॥ नरहरिपाद कृत 'बोधेसार' पृ० १८५

५. कबीर साहित्य की परख, पृ० १०३, १०३।

अपनी स्वीकृति देते हैं, परन्तु उसका निर्वाह शांकर अद्वैतबोध के अनन्तर कल्पित 'अमृतोपम' द्वैत की भूमिका पर स्वीकार करते हैं। साथ ही इस साधनागत नैरन्तर्य में खलल डालने वाले मन को अंग रूप में 'शब्द' में लगा देने की बात करते हैं। इस प्रकार आचार्य चतुर्वेदी तीन बातें मानते हैं—एक तो कबीर का दृष्टिकोण शुद्ध अद्वैत-वादी है। दूसरे उनकी 'प्रेम भगति' अथवा 'नारदी भगति' अद्वैत साक्षात्कार के बाद कल्पित द्वैत की भूमिका पर चलती है और तीसरी कि सुरति शब्द योग उसमें साधक है। साधक है—चंचल मन को 'शब्द' में स्थिर कर। चिन्तन के अगले सोपान पर चतुर्वेदीजी ने अपनी पूर्ववर्ती स्थापना का ध्यान रखते हुए माना है कि 'उपासकस्य कार्यार्थे ब्रह्मणो रूप कल्पना' – और कल्पित द्वैत की अमृतोपम भूमिका पर यह संभव भी है[1]। इस प्रकार 'पंचदशी' के आधार पर उपासना का जितना व्यापक रूप माना गया है – उसे व्यवहार्य न मानते हुए संतों की बानियों के साक्ष्य पर उसे रूपगोचर ही समर्थित किया है। चतुर्वेदी जी ने उत्तरी भारत की संत[2]परम्परा में कहीं अधिक संत परम्परा सम्मत अभिमत प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि कबीर साहब की सहज समाधि का स्वरूप देखने से यह लगता है जैसे वह केवल ज्ञानमय ही हो, पर यह वास्तव में भक्तिमय भी है। इस दृष्टि से उस दशा को ये 'भाव भगति' कहना चाहते हैं। इनके अनुसार भगति का अर्थ है – हरि नाम का भजन, निर्गुण राम का भजन। यह राम नाम एक 'वसतु अगोचर' है जो ज्ञानदीप के प्रकाशित होने पर अनाहत बानी या शब्द के रूप में भीतर ही प्रकट होता है। यही राम नाम है। इसका सुरति के साथ संयोग होने पर जब तन्मयता आ जाती है और दोनों एकाकार हो जाते हैं तब सारी स्थिति भावमयी हो जाती है और तभी भजन (भज-भाग लेना अथवा भाग लेकर उसमें लीन हो जाना) की सार्थकता भी संभव हो जाती है। भाव भगति को इसीलिए कबीर ने 'हरिसूं' गठजोरा कहा है।

इस प्रकार यहाँ मूल प्रश्न यह है कि संत यदि भक्त हैं—तो उनकी भक्ति का आलम्बन कौन ? शुक्लजी ने अपना मत दिया 'निर्गुण'—शांकर संप्रदाय सम्मत 'अद्वैत'। बारकरी नामदेव ने भारतीय परम्परा में इस निर्गुण-राग-साधना का आभास अवश्य दिया था, पर उसे और अधिक दीप्ति दी – सूफियों ने। यदि शुक्ल जी का यह आशय मान भी लिया जाय—और दो स्रोतों की विरोधिता का परिहार कर भी लिया जाय—तो भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि उनके अनुसार कबीर की भक्ति भारतीय है या सूफी-विदेशी। परवर्ती आलोचकों ने शुक्ल जी को दूसरी कोटि की ओर ही झुका माना है – इसीलिए कबीर की भक्ति को भारतीय मानने का प्रबल प्रयास किया है। भिन्न-भिन्न भारतीय साधना ग्रंथों से उद्धरण एकत्र कर यह स्पष्ट किया

---

१. कबीर साहित्य चिंतन, पृ० १०२-१०६ देखें।

२. पृ० २०७

गया है कि 'निर्गुण' भक्ति भारतीय परम्परा में विहित है। बात एक फिर भी नहीं स्पष्ट हो पाती और उलझी ही रह जाती है कि 'निर्गुण' का अर्थ क्या ? संत साहित्य का उपास्य तो शतशी गुण-युक्त रूप में स्मृत किया गया है—इसमें प्रमाण और तर्क की आवश्यकता नहीं है। इस विरोध के निवारण में तीन विकल्प किए जा सकते हैं—

(१) यह कि गुण उपासना के निमित्त आरोपित हैं।
(२) यह कि गुण अप्राकृत और स्वभावगत हैं—निर्गुण में जिस गुण का निषेध किया गया है—वह प्राकृत है।
(३) यह कि 'निर्गुण' (संत सम्मत) द्वैतवादी और अद्वैतवादी 'सगुण' 'निर्गुण' से भिन्न अर्थ ही रखता है—वह 'उभयातीत तथा उभयात्मक है—अतः उसे निर्गुण भी कहकर गुणयुक्त कहा जा सकता है। इसमें कोई विरोध है ही नहीं।

शुक्ल जी संतों के उपास्य को—कम से कम कबीर के संदर्भ में स्पष्ट ही शांकर-दर्शन सम्मत 'निर्गुण' कहते हैं और तभी उस ज्ञान गम्य की 'राग गम्यता' का विरोध भी करते हैं और तभी परवर्ती समीक्षकों को उसे भारतीय सिद्ध करने का प्रयास करना पड़ता है। शुक्लजी के अनुसार स्पष्ट ही ये गुण आरोपित हैं—स्वभावगत नहीं। प्रश्न तब भी उभरता है कि 'राग' साधना के लिए 'गुणों' का आरोप है या 'गुण' हैं—अतः उन पर 'राग' है। दूसरी बात तो संभव ही नहीं है—शाँकर दर्शन के अनुरूप-अतः पहली बात ही माननी पड़ेगी। और पहली बात—अर्थात् राग निर्वाह के निमित्त जब गुणों का आरोप करना ही पड़ता है तब दो प्रश्न फिर उपस्थित होते हैं—अद्वैत-आत्म साक्षात्कार के बाद यह आरोप करना पड़ता है या उससे पूर्व ? बाद वाली ज्ञानोत्तरा भक्ति जो वारकरी या नामदेव में मानी जाती है—वह 'साध्य' है, साध्यरूपा भक्ति है—साधन रूप नहीं—कारण वह स्वयं अभीष्ट है उसका कोई अतिरिक्त प्रयोजन ही नहीं—अतः वह 'साधनात्मिका' नहीं है। नामदेव की भक्ति जो भारतीय परम्परा की है—उसमें इस 'साध्यभक्ति' के पूर्व 'ज्ञान' से 'अज्ञान' निवृत्ति पूर्वक' आत्मसाक्षात्कार का विधान है और उससे भी पूर्व उसका पात्र बनने के लिए वैधी सगुण भक्ति का श्रुति-सम्मत हरिभक्ति का। क्या कबीर की साधना का यही नामदेव द्वारा दिया गया मार्ग है ? कबीर में ज्ञान की बात अवश्य मिलती है—पर श्रुति सम्मत साधन रूपा वैधी भक्ति का स्वर नहीं मिलता, विपरीत इसके रागात्मक भक्ति का ही रंग मिलता है – जो 'गुण' सापेक्ष है। हो सकता है इन उलझनों के कारण शुक्लजी को नामदेव निर्दिष्ट सामान्य भक्ति साधना में कबीर की दृष्टि से अपर्याप्तता दिखाई पड़ी हो—और वे साधन वेला में भी 'सगुण' की ओर न झुकने वाले सूफियों की ओर मुड़े हों। कबीर को इसीलिए सूफियों का ऋणी कहा है। लेकिन सूफियों की साधना-राग साधना तो मजाजी इश्क की तरह 'गुणी बुत' पर ही चलती है—निर्गुण पर

नहीं–अतः कबीर साधन प्रक्रिया में सूफियों के अनुगामी नहीं जान पड़ते। रही ज्ञानोत्तरा भक्ति–सो जहाँ 'ज्ञान' ही नहीं, वहाँ ज्ञानोत्तर' का पक्ष ही नहीं खड़ा होता। इस प्रकार कबीर उभय था गुणारोपण के संदर्भ में सूफियों के ऋणी सिद्ध नहीं होते। वैधीभक्ति के बाद के सोपान-ज्ञान लाभ' आत्मज्ञाननिवृत्ति पूर्वक आत्म साक्षात्कार-ज्ञानोत्तरा भक्ति – तो मिलते हैं परन्तु आरंभिक नहीं। हो सकता है उसकी सीढ़ी पूर्वजन्म से ही सिद्ध हो। पं० परशुराम चतुर्वेदी का यही पक्ष है।

पर तत्व निरूपण वाले अध्याय में यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि संत अद्वयवादी हैं और यह 'अद्वय' शांकर वेदान्त सम्मत नहीं, आगम सम्मत है–जो उभयात्मक भी है और उभयातीत भी – निर्गुण भी सगुण भी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति सभी चिन्तक वस्तुमुखी पद्धति से विचार करते हुए इस निष्कर्ष की ओर झुके से लगते हैं कि कबीर का अद्वैत ठीक वही नहीं है जो शंकराचार्य का है। परवर्ती चिन्ताधारा संतों के आगमिक झुकाव की ओर ही मुड़ती जा रही है। यदि यह पक्ष मान लिया जाय–तब उसमें गुणों के आरोप की भी आवश्यकता नहीं है – साथ ही यदि वहाँ गुण हैं–तो वे बद्ध मानव की भांति प्राकृत स्तर के नहीं, अप्राकृत स्तर के ही हैं। ऐसा ब्रह्म इन संतों का आलम्बन है। ज्ञानोत्तरा भक्ति की संभावना भी उभयात्मक उभयतीत उद्वय को लेकर ही शंकराचार्य के साथ ही संबद्ध की जाती है। वारकरी ज्ञानदेव का 'अमृतानुभव' स्पष्ट ही इस तथ्य का साक्षी है कि उनका परतत्व विषयक मंतव्य आगम सम्मत है–काश्मीरी शैवागम के अनुरूप है। ज्ञानेश्वरी में तो उस परतत्व को 'साम्य' रूप कहा भी गया है। इस प्रकार जो लोग कबीर की भक्ति को भारतीय प्रकृति की सिद्ध करना चाहते हैं–और निर्गुण विषयक मानकर भी – वे सभी सायास-अनायास सबोध-अबोध आगम सम्मत अद्वय की ही ओर झुककर। शुक्लजी का विरोध शंकर सम्मत अद्वैत को ध्यान में रखकर है। शांकर अद्वैत ज्ञान गम्य ही है–भक्तिगम्य नहीं–रागालम्बन नहीं। पंचदशीकार के निर्गुणोपासन प्रतिपादन का आशय संतों की रागमयी उपासना से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। केवल 'वागाधगोचर' इत्याकारक वृत्ति का निरन्तर चलते रहना भी ब्रह्म विषयक उपासना है–नेति-नेति विधया उसका अनुसंधान है–पर यह भावात्मक विशेषण अथवा गुणों से संवलित उपास्य की रागमयी विरह विह्वल भक्ति से एक रूप है–कैसे कहा जा सकता है। पंचदशीकार के तर्क से इतना ही निश्चित होता है कि जिस ब्रह्म का नेति नेति रूप से सामान्य बोध हो सकता है–उसका उसी रूप से चिन्तन या उपासन भी हो सकता है–एकाकार वृत्ति भी चल सकती है–इतना ही नहीं 'सो हमस्मि' इस रूप से भावरूपा वृत्ति चलती ही है–जो नेति-नेति दिशागामी पंचदशी निर्दिष्ट पद्धति से कहीं अधिक सुकर है और परम्परा प्रसिद्ध भी है। पर यह पद्धति मुक्त ज्ञान की ही है भक्ति की नहीं।

अत्यंतबुद्धिमांद्याद्वा सामग्रया वाऽप्यसंभवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत् सोऽनिशम् ।।६।५४ पंचदशी

विचार भी ब्रह्म साक्षात्कार में पर्यवसित होता है—पर बुद्धिगत मान्द्य अथवा गुरु और शास्त्र की अनुपलब्धि वश जो साधक विचार न कर सके—वह 'सोहमस्मि' इत्याकारक प्रत्ययावृत्ति रूप उपासना भी कर सकता है । ब्रह्म (निर्गुण) यदि वेद्य है तो उपास्य भी है और वेद्यता अवास्तविक मानी जाती है तो उपास्यता भी अवास्तविक मान ली जाय । वृत्ति व्याप्ति ही यदि वेद्यता का वास्तव रूप है तो वृत्ति (सोहमस्मि) व्याप्ति उपासना का अर्थ भी वास्तविक हो सकता है । इस प्रकार विचार करते हुए 'उपास्ति' का समर्थन अवश्य किया है—पर यह उपास्ति या उपासना एक तो उस रूप की नहीं है जिस रूप की संत साहित्य में मिलती है । वह उपास्ति या भक्ति रागात्मिका वृत्ति का उच्छल प्रवाह है जो साधन काल में अतृप्त रहकर समुद्र की भांति हहर-हहर कर रही है । दूसरे स्वयम् पंचदशीकार का कहना है कि उपासना की यह पद्धति कहीं अनुष्ठित होती हुई लक्षित नहीं होती । यह बात दूसरी है कि उनके अनुसार जो उपास्ति श्रुति एवम् तर्क से सिद्ध है—वह किसी के द्वारा अनुष्ठेय न होने से असिद्ध नहीं हो जायगी। पर इस कथन से इतना तो स्पष्ट है कि उपास्ति की यह पद्धति नितान्त विरल है । अतः जिस उपास्ति के उद्धरण से भारतीय साधना में 'भक्ति' का निर्गुण विषयक होना सिद्ध किया जाता है—वह संतों के उद्गार में व्यक्त 'भक्ति' के संदर्भ की तो नहीं है। इस प्रकार द्विवेदी जी के द्वारा दिए गए जितने भी तर्क हैं—उनमें से पंचदशी की 'उपास्ति' का आशय वह सर्वथा नहीं है जो संत साहित्य में उपलब्ध है। हरिभक्तिरसामृतसिंधु में नारद पाँचरात्र' का जो उद्धरण प्रस्तुत है, वह तथा 'शांडिल्य भक्तिसूत्र का जो अंश प्रस्तुत किया गया है—दोनों ही 'भागवत' धारा के ग्रंथ हैं। उस भागवत धारा के जिसकी परिणति भागवत ग्रंथ में है । नारद पाँचरात्र में शांडिल्य भक्तिसूत्र का उद्धरण है—अतः दोनों एक धारा के प्रतीत होते हैं । इन दोनों को आगमानुसारी 'भक्ति' के आलोक में देखने सेशुक्लजी के वक्तव्य के विरोध में संगति नहीं बैठ सकती। नरहरिपाद कृत 'बोधसार' भी भागवत के अभेद भक्ति विषयक श्लोक उद्धृत करता है और अद्वय-

---

'पंचीकरण' नाम की कृति में विद्यारण्य ने उपासना का अनुष्ठान प्रकार निर्दिष्ट किया है । कहा भी है—पंचदशी में—
अनुष्ठान प्रकारो' यंऽपंचीकरण ईरितः ।
'उपासना' इच्छाधीन है तथा 'ज्ञान' वस्तु-अधीन ।
'उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि
शाण्डिल्य विद्यादीनि'—वेदांतसार में उद्धृत, पृ० १५ ।

वादी आगमिक विचारधारा के प्रकाश में ज्ञानोत्तरा भक्ति का उपबृंहण करता है। विपरीत इसके वह एक श्लोक भी उद्धृत करता है–जिसमें 'निर्गुणविधि की अवहेलना है–

"योगे नास्ति गतिर्न निर्गुणविधौ सम्भावनादुर्गमे"

– – – – – – – पृ० २०४

इस प्रकार शुक्ल जी की शांकर अद्वैत परक कबीर की निर्गुण भक्ति को जोड़ना और फिर उसे असंभव मानना ही गलत दिशा का प्रमाण है। पर जिधर प्रमाण है उधर की समझ ठीक है। वेदांत का अद्वैत कबीर का निर्गुण नहीं है–अतः उसकी उपास्ति का समर्थन करना व्यर्थ है। उनकी भक्ति तो आगमिक धारा की 'भक्ति' है–अतः उसी आलोक से समझना चाहिए। जाने अनजाने लोग मुड़े भी इसी दिशा में हैं। रही बात सूफियों की; सो उस विषय में भी यह जानना चाहिए कि भारतीय गुरुवाद से सूफी मत अत्यधिक प्रभावित है। साधना के क्षेत्र में सूफियों के बीच गुरु का जो स्थान पाया जाता है–वह इस्लाम में नहीं है। इसलाम पूर्व अरब में भी नहीं है। यूरोप में भी इस प्रकार गुरु शिष्य संबंध देखने को नहीं मिलता। गुरु भक्ति का जो रूप भारत में है–वह कहीं नहीं है। सूफी मत में मुरीद के लिए यह कहा गया है कि वह 'इमाम' के हाथों में अपने को शव की भांति छोड़ दें[1]। शुक्ल जी ने भी अपनी बात थोड़े भ्रामक ढंग से रख दी है। ब्रह्म शंकर प्रतिपाद्य ब्रह्म भी ज्ञान का विषय कभी नहीं होता।

बात यों है–ज्ञान भी दो प्रकार का है एक है – वृत्ति रूप और एक है आत्म-रूप। वृत्ति रूप ज्ञान का स्वयम् ही जो चेतन प्रकाशक है–वह स्वयम् उसका प्रकाश्य किस प्रकार हो सकेगा? इसीलिए तो उपनिषदों ने कहा है–

"जानतामविज्ञातम् विज्ञातमविजानताम्" तथा
"यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः"

अर्थात् जिसने यह समझा कि बहन को उसने जान लिया–वृत्यात्मक ज्ञान का विषय बना लिया–उसने गलत जाना–अभिप्राय यह कि जाना ही नहीं और उसने जान लिया जिसने उसे नहीं जाना और वृत्ति रूप ज्ञान का अविषय समझा। इसी प्रकार जिसने उसे मनन से ऊपर समझा–उसने समझ लिया और जिसने उसका विषय बनाया उसने नहीं समझा। अभिप्राय यह कि मूल चेतन तत्त्व का अव्यक्त पक्ष वृत्ति-वेद्य नहीं है–ज्ञानगम्य भी नहीं है और यथा कथान्चित् है तो वह परम्परया। परम्परया इस प्रकार कि "सो हमास्मि" इत्याकार अखंडाकार विधा वृत्ति से अविद्या का निवारण हो जाता है और अविद्या का पिधान हट जाने से आत्मा निरावृत और

१. विशेष देखिए–सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ३८३।

स्वयं प्रकाश हो जाती है। इस प्रकार वह वृत्यात्मक ज्ञान का विषय तो हो ही नहीं सकता–रहा आत्म स्वरूप का विषय होना–तो अपना ही विषय अपने ही बनना अपने कंधे पर अपने ही चढ़ना है। इस प्रकार अव्यक्त चेतन को ज्ञानगम्य कहना एक तो तर्क ओर शास्त्र सम्मत नहीं है और–है भी तो परम्परया–एक भेदक पद्धति के रूप में। पद्धति दो अवश्य है–ज्ञान तथा भक्ति। अव्यक्त अथवा निर्गुण ज्ञानात्मक पद्धति से तथा सगुण रागात्मक पद्धति से उपासना का विषय है। शुक्ल जी का यह आशय हो–तो हो सकता है। ऐसा कहते हुए भी शुक्ल जी का ध्यान आगम सम्मत अद्वय की ओर नहीं है–ज्ञानोत्तरा भक्ति और निर्गुण भक्ति की ओर नहीं है। जो लोग भी निर्गुण भक्ति अथवा ज्ञानोत्तरा भक्ति का समर्थन करते हैं–वे आगम सम्मत प्रक्रिया की ओर ही जाकर। अतः शुक्लजी के मत का 'निर्गुण भक्ति' को भारतीय परम्परा का सिद्ध करने वालों द्वारा न खण्डन होता है न मण्डन। हाँ यह अवश्य है कि संतों की निर्गुण भक्ति को शुक्ल जी शांकर परम्परा में जो देख रहे हैं–वही ठीक नहीं है।

सम्प्रति, संतों की 'भक्ति' साधना पर विचार करते हुए यह देखना है कि तत्वतः उनका प्राप्य तो उभयात्मक एवम् उभयातीत स्वात्मा ही है–'शब्द' ही है–पर क्या साधन वेला में भी उसका वही रूप रागात्मक आकर्षण का विषय है? अथवा अन्य रूप? दूसरा प्रश्न यह है कि इनकी 'भक्ति' साधन वेला में 'वैधी' हो सकती है–साधक भेद से –कुछ सीमा तक या सर्वथा नहीं? तीसरा प्रश्न यह है कि इनकी भाव भगति-नारदी भगति-दक्षिण से आई है अथवा उत्तरी भारत के वातावरण में ही मौजूद थी? चौथा यह कि जब नामदेव में भी वही विरह विह्वलता 'निर्गुन' साधना के स्तर पर मिलती है–तब उसे सूफियाना रंग ही क्यों माना जाय? पांचवा प्रश्न यह कि इस भक्ति का अंग सुरति-शब्द साधना है अथवा सुरति-शब्द साधना का अंग भक्ति?

प्रथम प्रश्न है–उपास्य का व्यावहारिक अथवा साधन वेलागत स्वरूप। आध्यात्मिक चिन्तन पद्धति के अनुसार यह स्वीकरणीय है कि आत्मा परमप्रेमास्पद है–आत्मा से अधिक प्रीति का भाजन दूसरा कोई नहीं है। सारा आगम-निगम ऊर्द्धबाहु होकर इस सत्य को स्वीकार करता है। यह भी सही है कि प्रीति ही आनंद है–आनंद ही प्रीति की पराकाष्ठा है। पर जब तक हम आत्म स्वातंत्र्य कल्पित परिच्छेद में हैं–अज्ञान के चौखटे में हैं–तब तक चाहे जितनी प्रीति और आनंद का अनुभव कर लें–चाहे वह जितना भी छल छला उठे–सातिशय बराबर बना रहेगा–निरतिशय हो नहीं सकता। चौखटे या सीमा के प्रेम या आनंद का सदैव सातिशय या छोटा बड़ा प्रतीत होना ही इस बात का प्रमाण है कि कोई प्रतिमान निरतिशय प्रतिमान भी अज्ञात स्तर में रहकर भी अनुभूत प्रीति या आनंद की लघुता और बड़ाई–को अपनी अपेक्षा में सदा सातिशय प्रतीत कराता है। अपने आप में कोई छोटा-बड़ा या सातिशय कैसे हो सकता है? किसी की अपेक्षा में ही होगा–जिसकी अपेक्षा में होगा–वह यदि

निरतिशय है–तभी चौखटे के आनन्द को वह सातिशय कर सकेगा। अर्थात् आनंद या प्रीति निरतिशय भी है और सातिशय। वृद्धावस्था की चौखटें में बंधी प्रीति सातिशय है और मुक्तावस्था का अपरिच्छिन्न परम प्रीति स्वरूपा आत्मा निरतिशय। वृद्धावस्था में भी उस परम प्रीति रूपा आत्मा की सुवास श्री आवरण को चीर कर परिच्छेद में कौंधती रहती है–पर हिरण्य-मय पात्र से आच्छन्न होने के कारण सामान्य रूप से अनुभूत होती हुई भी विशेष रूप में अनुभूत नहीं होती––अतएव ज्ञात रहकर भी अपरिज्ञात सी रहती है। इसी सामान्यतः ज्ञात का विशेषतः ज्ञान हो जाय––यही प्रत्यभिज्ञा है––यही साधन ा है। आत्म- रूपा आनन्दात्मिका प्रीति 'स्वातंत्र्य' कल्पित परिच्छेदों से व्यवहित होकर 'सातिशय' तथा अव्यवहित होकर 'निरतिशय' हो जाती है। भक्तगण मानते हैं कि यह झीना आवरण इसीलिए डाल दिया गया है कि साधक उसका संधान पाते रहें और उधर उन्मुख होते रहें––व्यवधान के कारण जो क्लेश प्रतीत होता है––वह विगलित हो जाय। यह भी उस लील पुरुष की क्रीड़ा ही है––कृपा ही है। यदि उस अद्वय तत्व ने व्यवच्छेदक को दृढ़ कर दिया होता तो जीव-परिच्छिन्न आत्मा उसका कभी संघात ही न कर पाती। अस्तु––इस रीति से यह माना जा सकता है कि इस संसार में प्राणीमात्र के भीतर जो 'प्रीति' या आकर्षण है –वह अपनी 'आत्मा' के प्रति ही है––पर आत्म कल्पित परिच्छेदों के माध्यम से––सांसारिक संबंधियों के माध्यम से––ज्ञान साधन के विषयों के माध्यम से, रूप- रस, गंध, शब्द तथा स्पर्श विषयों के माध्यम से। ज्ञान के जो उपकरण हम परिच्छिन्न जीवों को मिले हैं––वे आत्मेतर को जानने के लिए। इसीलिए उनका स्वभाव बहिर्मुख है। कठोपनिषद् कहती है–– "परांचि- खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मांत् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्"–स्वयम्भू ने––लीला पुरुष ने इंद्रिय अर्थात् ज्ञान के माध्यमों को स्वभाव से ही बहिर्मुख बनाया है–– फलतः वे बाहर ही देखती हैं––भीतर देखती ही नहीं है। इसलिए हममें जो प्रीति है––रागात्मक आकर्षण है––वह अपने ही प्रतिपर सीमा दशा में उसकी तृप्ति इंद्रिय गोचर- मनोगोचरविषय के द्वारा ही होती है ––यह दूसरी बात है कि वह तृप्ति सातिशय है। इस प्रकार कहने का आशय यह कि जब तक यह सीमा है––मानव के आकर्षण का विषय आत्मेतर ही रहेगा––आत्मा नहीं होगा और तत्वतः वह रहेगा तब भी व्यवहारतः आत्मेतर विषयों के माध्यम से रहेगा। निष्कर्ष यह कि साधन वेला में परिच्छिन्न आत्मा या साधक के आकर्षण का विषय कभी निर्गुण––विश्वातीत-आत्मा साक्षात् नहीं हो सकती––हो नहीं सकती। अभिप्राय यह कि तत्वतः आकर्षण का विषय आत्मा होती हुई भी व्यवहारतः नहीं होगी। अतः साधन वेला में ही भक्ति 'निर्गुण' को आलम्बन बना लेगी––यह संभव नहीं प्रतीत होता––गुरु का 'शब्द' बाण समर्थ है––वह सब कुछ करा सकता है। इसीलिए जहाँ एक ओर सूफी पार्थिव बुत के माध्यम से

अपनी प्रीति की आग दीप्त करता है और दीप्त रखता है तो दूसरी ओर ज्ञानोत्तरा भक्ति का साधन द्वैत की कल्पना करता है। पर ज्ञानोत्तरा भक्ति 'ज्ञानी भक्त' की भक्ति है—यहाँ तो अज्ञानदशा में पड़े हुए संत-भक्तों की साधन रूपा-भक्ति का प्रश्न है। ज्ञानी भक्त तो अपने से ही अपने को अपने स्वातंत्र्य कल्पित द्वैत से आस्वाद गोचर बनाता है। मूल प्रश्न है—अज्ञानी साधक अपनी राग साधना-भाव भगति—कैसे और किस पर चलाता है ?

राग तृप्ति अन्य निरपेक्ष भी है और अन्य सापेक्ष भी। आत्माराम की राग तृप्ति ही अन्य निरपेक्ष हो सकती है—अन्य की नहीं। जो आत्मा-राम अर्थात् मुक्त है—उसके अतिरिक्त जो भी बद्ध दशा में हैं—सभी पर सापेक्ष रागतृप्ति करते हैं—उनके राग का आलम्बन रागेतर ही होगा। तत्वतः भले ही यह आकर्षण आत्मस्वरूप का ही हो—पर बद्ध दशा में वह चरितार्थ होगा—आत्मेतर के माध्यम से ही। साम्प्रदायिक साधकों की तो यह धारणा हो सकती है और बातचीत[1] के संदर्भ में कुछ एक ने कहा भी है कि यदि गुरु की कृपा हो जाय, तो आत्मा का आकर्षण सीधे तीव्र हो जाता है—बिना किसी अवरोध के। हो सकता है—अध्यात्म राज्य में समर्थ गुरु द्वारा सभी संभव है। यह प्रक्रिया संभव हो सकती है—पर विचार के धरातल पर संत साहित्य के साक्ष्य से प्रस्ताव यह भी रखा जा सकता है कि स्वयम् 'गुरु' की ही आराधना संतों की भक्ति हो। परवर्ती संत साहित्य से तो इसकी भरपूर पुष्टि होती है। इसके पूर्व की संत साहित्य का साक्ष्य देकर इस स्थापना की पुष्टि की जाय—यह देख लेना आवश्यक है कि गुरु तत्व है क्या ?

भारतीय साधना का समूचा साहित्य गुरु का स्तवन करता है—उन्हीं की कृपा पर सब कुछ संभव मानता है। उपनिषदों में प्रत्येक अध्यात्म जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ तथा श्रोत्रिय गुरु की शरण में विकलता का अनुभव करता हुआ जाता है। मुण्डक उपनिषद्[2] में स्पष्ट कहा ही गया है कि आत्म तत्व का साक्षात्कार का भी जिज्ञासु शिष्य हाथ में समिधा लेकर गुरु की शरण में जाय। ज्ञानकाण्ड प्रधान उपनिषदों में ही नहीं, कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक वाङ्मय में भी पुरोधा की

---

१. बातचीत के संदर्भ में भूतपूर्व आकाशवाणी निदेशक तथा दर्शन के मर्मज्ञ और सम्प्रति साधक ठाकुर जयदेव सिंह ने कहा था कि उनके गुरु ने इसी तरह की चर्चा के प्रसंग में उन्हें एकाग्र होने को कहा और स्वयम् तवज्जह दी। सो, कहते हैं कि उनके अंतर में जो बेकली उठी कि अनवरत आँसुओं का प्रवाह चलता रहा। फिर क्या हुआ—राम जाने।

२. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।।२।१२, पृ० ४५ (गीता प्रेस) मण्डूकोपनिषद्

महत्ता स्पष्ट है। श्वेताश्वतर[1] उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि गुरु परमात्मा का अवतार है—अतः आत्मसाक्षात्कार से पूर्व शिष्य के द्वारा वही उपास्य है—वही परमात्मा की प्रतिमा है नैगमिक साहित्य की अपेक्षा आगम और तन्मूलक-शैव; शाक्त, बौद्ध एवम् वैष्णव-साहित्य में भी गुरु महिमा का कथन भरा पड़ा है। गुरु का महत्वगा न तो है ही, गुरु भक्ति की भी महिमा भरी पड़ी है। परवर्ती उपनिषदों में यह स्वर और भी तीव्र हो गया है। योगशिखोपनिषद्[2] में कहा गया है कि परमात्मा और गुरु में कोई भेद नहीं है—अतः परमात्मा की भाँति गुरु में भी अनन्य भक्ति रखनी चाहिए। ब्रह्म तत्वोपनिषद् में भी परमात्मा तथा गुरु की अभिन्नता कही गई[3] है। नारद पाँचरात्रि में कहा गया है कि सहस्रदल कमल पर गुरु का निवास है जो परमात्मा का सूक्ष्म रूप है। मानव मूर्ति गुरु उसी का सूक्ष्म रूप[4] है। पाँचरात्रि कार की तो दृढ़ धारणा है कि गुरु परमात्मा का रूप है। बौद्धों के यहाँ तो गुरु कल्या णमित्र ही कहा गया है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति—जो नाथ पंथियों का मान्य ग्रंथ है—उसमें स्पष्ट कहा गया है—

"अतस्तु सद्गुरुः सेव्यः सत्यमीश्वरभाषितम् ।[5]

वारकरी संप्रदाय के साधक ज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी में पग-पग पर गुरु भक्ति का प्रवाह प्रस्तुत कर दिया है। बहुत उद्धरण एकत्र इसलिए नहीं करना है कि यह एक आध्यात्मिक वाङ्मय तथा साधकों से समर्थित तथ्य है कि गुरु की महिमा साधना जगत् में निर्विवाद है। प्रसंग गुरु की महिमा बताने की नहीं है—प्रसंग यह है कि आत्मसाक्षात्कार से पूर्व गुरु भक्ति संत साधना का अंग है या नहीं ?

संत साहित्य के समीक्षण से यह पता चलता है कि संस्कारी साधकों की कई कोटियाँ हैं। उत्कृष्ट कोटि के संस्कारी साधक में गुरु-दीक्षा के साथ-साथ तमाम आत्मेतर व्यवधानों को बाधा मानते हुए आत्म रूप में समा जाने की बेकली असह्य हो जाती है—और साधक गुरु के पथ प्रदर्शन में अपनी यात्रा तय

---

१. (क) यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ—श्वेताश्वतर
(ख) गुरुकृपाँ विहाव ब्रह्मविद्या दुर्लभा—शंकराचार्य भाष्य—पृ० ७६।
(ग) गुरुदेवतयोरेकत्व वुद्धया—विज्ञानभगवत् पाद कृत टीका, पृ० ६२।
यस्य . . . सच्चिदानंद परज्योतिस्वरूपिणि
परमेश्वर परात्कृष्टा निरुपचिता भक्ति . . . पृ० ७६।

२. पृ० ३६७।

३. गुरुर्देव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः। पृ० २३२।

४. ४।५।८।

५. पृ० ८०१।

कर लेता है। कमजोर साधकों के लिए मानसिक ऐकाग्रय की अपेक्षा है —अतः संभव है उन्हें अपना मन एकाग्र करने को किसी स्थूल आलम्बन की आवश्यकता हो। इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर कबीर ने कहा है—

जो चाहे आकार तू साधू परितिप देव।
निराकार निज रूप है प्रेम भगति से सेव[1] ॥

अथवा

हरि से तू जनि हेत कर करि हरिजन सों हेत।
माल मुलुक हरि देत हैं हरि जन हरि ही देत[2] ॥

स्वच्छंद तंत्र भी कहता है कि दीक्षा दो प्रकार की होती है—सबीज और निर्बीज। जो लोग शास्त्र विचार में कुशल नहीं हैं—उनके लिए निर्बीज दीक्षा विहित है। जिसे यह दीक्षा मिलती है उसे समयाचार के पालन की भी आवश्यकता नहीं है। यह साधक केवल गुरु भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

"दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमात्रद्व गुरोःसदा[3] ।"

शैव और शाक्त ग्रंथों में ही नहीं, तांत्रिक बौद्धों की कृतियों में भी गुरु की भक्ति पर बहुत बल दिया गया है। यह भी कहा गया है कि उनकी कृपा की प्राप्ति के बिना परमतत्व की प्राप्ति असंभव है। अभिषेक से पहले शिष्य गुरु की पूजा उसी प्रकार करता था जिस प्रकार बुद्ध की। संभव है कि सहज पान तक या बाद में बुद्ध की कृपा गुरु कृपा पर ही निर्भर मानी जाने लगी हो। चर्यापदों और दोहों में भी यही वृत्ति मिलती[4] है।

इसी प्रकार सिद्ध सिद्धान्त पद्धति[5] में भी कहा गया है—

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोः करुणां बिना
अतस्तु सद्गुरुः सेव्यः सत्यमीश्वरभासितम् ॥

इसी कृति की 'नाथ निर्वाण व्याख्या' में कहा गया है—

"गुरुभक्ति लभ्यं स्वसंवेद्यं परंमपदमिति"[6]

---

१. कबीर बानी, पृ० ३५।
२. संतबानी संग्रह, पृ० २८।
३. स्वच्छंदतंत्र।
४. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—देखें, पृ० १६३।
५. पृ० १०१।
६. पृ० ६१

वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य का इष्ट है—आनन्दोपलब्धि। गुरु जो उपाय बतलाते हैं—उनका आश्रित शिष्य उसी उपाय का आलम्बन कर इष्ट- प्राप्ति के पथ पर आगे बढ़ता है यह उपाय मंत्ररूप देवता का आराधन है। साधक साधना के मार्ग में चलते चलते क्रमशः आराधना में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है एवं दिव्य ज्योतिर्मय शक्ति के रूप में अपने आराध्य देवता का साक्षात्कार करते हैं। वस्तुतः यह आराध्य-देवता साधक के अपने आत्मस्वरूप के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। उसका अपना स्वरूप भूत आनंद कर्म के प्रभाव से घन होकर अपने इंद्रियों एवं मन का आकर्षण करने वाले दिव्य आकार को धारण कर अपनी सत्ता से अपृथक् रहकर भी पृथक् भूत रूप से दृष्टि के सामने दिखाई देता है। इसी का नाम इष्ट देवता का साक्षात्कार है।

आगे कविराज म० म० गोपीनाथ[1] ने बताया है कि माता के गर्भ में जैसे वीज रूप से संतान निहित रहती है एवं क्रमशः पुष्ट होकर अंग प्रत्यंगों की पुष्टता के साथ पूर्णता प्राप्त करती है उसी प्रकार गुरु प्रदत्त वीज मंत्र भी अंततः इष्ट देवता के रूप में प्रकट होता है और साधक उस दर्शन से आनंदमग्न हो जाता है। इष्ट साक्षात्कार के लिये गुरु ने पहले जिस मानव देह में दर्शन दिया था वह उस गुरु का वास्तव रूप नहीं है। इष्ट दर्शन के साथ-साथ गुरु का वह छद्म रूप तिरोहित हो जाता है। इसके अनंतर भी इष्ट एवं साधक अति दुर्गम पथ पर अग्रसर होते हैं—यह पथ गुरु के स्वरूप दर्शन का मार्ग है।

फिर उन्होंने बताया है कि गुरु स्वरूपतः निराकार चैतन्यमय है। साधक प्राकृत या अप्राकृत आकार का है। इष्ट आनंदमय अजर अमर देह विशिष्ट है। इस इष्ट या सगुण के साथ साधक का योग होने पर निराकार चैतन्य स्वरूप की ओर अग्रसर होना संभव है। इस गति के अंत में साधक एवं इष्ट एक होकर निराकार चैतन्य से एकाकार हो जाते हैं—इसी का नाम 'गुरु साक्षात्कार है। यहाँ साधक इष्ट एवं गुरु—एक ही हैं। यह साकार निराकार रूप द्वन्द्व के अतीत विशुद्ध आत्मरूप है। इस प्रक्रिया से साधक सिद्ध अवस्था प्राप्त कर इष्ट देवता के साथ अभिन्न होकर निर्गुण और निराकार गुरुतत्व में एकत्य लाभ करता है। इस प्रकार गुरु तत्व तक अधिकार होने पर स्वयं प्रकाश आत्मा अपने आप अभिव्यक्त हो उठता है। यह समान रूप से साकार और सगुण तथा निराकार और निर्गुण दोनों ही है। पर उभयात्मक होने पर भी उभयातीत है।

वारकरी संत ज्ञान देव ने भी गुरु भक्ति की पुष्टि में कहा है—"हे चतुर श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि गुरु की भक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए। ध्यान देकर सुनो। वह गुरु सेवा मानो भाग्य की जननी है, क्योंकि

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना।

जिस जीव की स्थिति परम शोचनीय हो, उसे भी यह ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति कर देती है . . . जिस प्रकार समस्त जल की सम्पत्ति अपने साथ लेकर नदी समुद्र की ओर जाती है अथवा समस्त महासिद्धान्तों के साथ वेद विद्या ब्रह्मपद में स्थिर होती है अथवा जिस प्रकार सती स्त्री अपने पाँचों प्राण एकत्र कर अपने समस्त गुणों और अवगुणों के सहित अपने प्रिय पति को अर्पण करती है उसी प्रकार जो अपना सर्वस्व गुरु कुल में अर्पित कर देता है और जो स्वयम् गुरु भक्ति का मायका बन जाता है, जो गुरु गृह के स्थान का उसी प्रकार चिन्तन करता है जिस प्रकार विरहिणी स्त्री अपने पति का चिन्तन करती रहती है, गुरु गृह के स्थान की ओर से हवा को आते हुए देखकर जो उसका सम्मान करने के लिए दौड़कर उसके आगे खड़ा होता है और—उसके सामने जमीन पर लोटकर उससे प्रार्थना करता है—'मेरे घर आओ।' सच्चे प्रेम के कारण जिसे गुरु गृह की दिशा के साथ ही बातें करना अच्छा लगता है और जो अपने जीव को गुरु गृह का हकदार बना देता है जिसका शरीर गुरु की आज्ञा के साथ बँधा होने के कारण गुरु से दूर अपने घर रहने पर भी उसी प्रकार बंधन में पड़ा रहता है, परन्तु फिर भी उसी बछड़े की तरह जो निरन्तर अपने मन में यही कहता रहता है कि यह रस्सी का बंधन किस प्रकार टूटेगा और किस प्रकार कब मुझे गुरु देव के दर्शन मिलेंगे, जिसे अपने गुरु के विरह का प्रत्येक क्षण युग से भी बढ़कर जान पड़ता है और ऐसी अवस्था में यदि उसके गुरु के निवास स्थान से कोई व्यक्ति आता है तो उसे वैसा ही आनंद प्राप्त होता है जैसा किसी मरणोन्मुख व्यक्ति को आयुष्य प्राप्त होने पर होता है . . .[१] आदि- आदि।

संत साहित्य में 'भक्ति' का जो स्वरूप उपलब्ध है—वह भी आगमिक परम्परा से ही ठीक-ठीक संगत बैठता है। मनीषियों ने मंथन पूर्वक यह निश्चय किया है कि वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा अधिक नहीं है। वैदिक वाङ्मय में तीन काण्ड हैं—ज्ञान काण्ड, कर्म काण्ड तथा उपासना काण्ड। यद्यपि जैसा कि ऊपर पंचदशी के प्रसंग में कहा गया है कुछ लोग वैदिक उपासना से भक्ति को जोड़ते हैं—तथापि अंशतः ठीक होते हुए भी वह भक्ति शब्द का वाच्यार्थ नहीं है। संभव है 'भाव' के वासनात्मक होने से वैराग्य मूलक ज्ञानकाण्ड में इसका स्थान न हो और कर्म काण्ड में तो है ही नहीं—वहाँ तो कर्म ही 'सब कुछ है—निःश्रेयस का साधन है—अतः ईश्वर तक की आवश्यकता न होने से मीमांसा दर्शन मौन है। संकर्षण नामक उपासना काण्ड में भी यह नहीं है। वास्तव में 'भक्ति चित्त का भावमय प्रकाश है। न्या, वैशेषिक दर्शन में आत्मधर्म के रूप

१. गीता ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३, पृ० ३७७ से ३८२ तक देखें
प्रकाशक—हिंदी साहित्य कुटीर वाराणसी १, बसंत पंचमी २०१३।

में सुख दुख इच्छा आदि का उल्लेख हुआ है—पर इनमें से कोई भी ठीक-ठीक 'भाव' पद वाच्य नहीं है। सभी दर्शन किसी न किसी प्रकार ज्ञान से ही मुक्ति या निःश्रेयस की उपलब्धि मानते हैं।

भक्ति एक भाव है और इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा संगत विचार आगमों में मिलता है। कहा ही जाता है कि शाण्डिल्य महर्षि को चारों वेदों में जब परम श्रेयस नहीं मिला, तब पाँचरात्रि का आश्रयण किया और परम तृप्ति लाभ की। शाण्डिल्य तथा नारद द्वारा विरचित भक्ति सूत्रों में भक्ति का ही प्रामुख्य है—वहाँ भक्ति ही निःश्रेयस है—कहीं कहीं तो अपरा भक्ति परा भक्ति का कारण मानी गई है और मुक्ति आन्तरालिक स्थिति की कही गई है। वैष्णव भक्ति का निरूपण इसी पाँचरात्रागम में ठीक-ठीक हुआ है। पाँचरात्रागम में भी काश्मीरी शैव या शाक्त आगम की भी भाँति अद्वयवाद उपस्थित है। वहाँ भी पराशक्ति अथवा लक्ष्मी का परमेश्वर से सामरस्य माना गया है। शांकर अद्वैत वेदान्त में 'शक्ति' की कल्पना नहीं है—यह पहले ही कहा जा चुका है। यही कारण है कि उसके अनुसार सभी कुछ मायिक होने से अनादरणीय है। कविराज गोपीनाथ का महत्वपूर्ण निष्कर्ष है कि भक्ति मार्ग में शक्ति' का स्वीकार करना आवश्यक है। अद्वैत भावना मात्र भक्ति अथवा रस साधना के विपरीत अथवा प्रतिकूल नहीं है—क्योंकि वह शक्ति त्याग मूलक नहीं है। शांकर वेदान्त अवश्य प्रतिकूल है।

संतों में जो 'भक्ति' मिलती है वह कहीं 'भगति नारदी मगन शरीरा'—द्वारा 'नारदी' कही गई है, कहीं, कहीं भक्ति उपजी द्राविडी' माना गया है और कहीं वैष्णवों में इनकी आस्था स्पष्ट की गई है। इधर निकट में जो शोध[1] ग्रंथ आए हैं—वे भी संतों की भक्ति को—योगमिश्र भक्ति—को पाँचरात्रों और वैष्णवों से जोड़ रहे हैं। यह नारद पाँचरात्र ही है जहाँ गुरु की सर्वाधिक महत्ता गाई गई है और गुरु को हरि से अभिन्न कहा गया है। आगमों की इस धारा में 'भक्ति' को कहीं स्वाद, प्रीति या प्रेम कहा गया है तो कहीं आनंद और सौंदर्य। साहित्य शास्त्र में 'भाव' का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन है—जो आगमों का ही प्रभाव है। यही कारण है कि एक ओर अलंकार शास्त्र में 'भक्ति' को 'भाव' से 'रस' कोटि तक पहुँचाया गया है और दूसरी ओर भक्ति शास्त्र में भी। कहीं-कहीं संतों में जिस

---

१. (क) देखिए "नाथ और संत साहित्य"—डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय का छठा तथा सातवाँ अध्याय।
(ख) संतों का भक्तियोग—डा० राजदेव सिंह।
(ग) मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना— डा० हरवंशलाल शर्मा।
(घ) हिंदी संत साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका—डा० रामनरेश वर्मा।

प्रकार इश्क को अल्लाह से (दादू ने) एक कर दिया गया है–ये सारी बातें 'भक्ति' की आगमिक धारणा में ही संगत हो सकती हैं। यद्यपि पाँचरात्र और भागवत पहले भिन्न रहे होंगे—पर कालक्रम से दोनों का समन्वय हो गया। आलवारों में यही भाव धारा व्याप्त है और परवर्ती वैष्णव आचार्यों द्वारा उत्तर भारत की ओर यह क्रमशः लाई भी गई। अतः भक्ति नारदी भी संगत है और भक्ति द्राविड़ ऊपजी भी। परभक्ति द्राविड़ ऊपजी का आशय यह नहीं कि उत्तर भारत में भक्ति की स्थिति थी ही नहीं, थीं; इस प्रवाह ने उसे और भी दीप्ति दी।

संत साहित्य में प्राप्त 'भक्ति' की ऐतिहासिक पीठिका पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है और इसीलिए उतने ही मतभेद भी व्यक्त हुए हैं। यहाँ इसीलिए उसकी ऐतिहासिक पीठिका संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत की गई है। तात्विक पीठिका ही तदर्थ विशेष विवेचन की अपेक्षा रखती है—फलतः उसी पक्ष से यहाँ विचार किया जा रहा है।

ऊपर कहा गया कि 'भक्ति' के लिए 'शक्ति' का स्वीकार आवश्यक है और शक्ति का स्वीकार शांकर वेदांत में नहीं है, आगमों में है। अतः आगमों में भी 'भक्ति' का वह रूप मिलता है जिसके प्रकाश में संतों की 'भक्ति' का तात्विक स्वरूप निरूपित किया जा सकता है। पहले यह भी कहा गया है कि 'भक्ति' चित्त का एक भावमय प्रकाश है। वास्तव में आगमिकों की धारणा है कि मूलतत्व द्वयात्मक अद्वय है। एक है—स्वरूप और दूसरा है—उसकी-शक्ति। यही शक्ति चित् शक्ति है—जिसका स्वरूप से अभेद संबंध है। यही चित् शक्ति अंतरंगा शक्ति है, आल्हादिनी शक्ति है—आनंदमयी शक्ति है—सच्चिदानन्दमयी है। लीलावादी इस धारा में प्रत्येक चिन्मय जीवात्मा में एक 'विशेष' है—जो उसका 'स्वभाव' है—यह 'विशेष' और कुछ नहीं, अन्तरंगाशक्ति के अचिन्त्य प्रभाव वश आनन्दांश का स्वागत वैचित्र्य है—जो चदंश की अंतरंगा शक्ति के साथ ओतप्रोत रूप से आनन्दांश की अंतरंगा शक्ति के जड़ित होने से संभूत है। इसी वैचित्र्य की छाप जीवात्माओं में पड़ी हुई है। जीव मात्र में यह इतना गुप्त है कि उसका संधान पाना उसके लिए कठिन है। यही आनन्दांश भक्ति, प्रीति या राग का नामान्तर है।

इसे थोड़ा और भी स्पष्ट कर लिया जाय। वास्तव में लीलात्मक सृष्टि क्रम में वह अद्वय तत्व अपने सत्, चित् तथा आनन्दांश में विभक्त सा कर लेता है और साथ ही उसकी अंतरंगा शक्ति की व्याप्ति भी तरतम भावापन्न हो जाती हैं। सदंश के साथ सर्वाधिक या निरतिशय, चिदंश के साथ उससे कम पर घनतर और आनन्दांश के साथ उससे भी कम पर घनतम रूप में वह अंतरंगा स्वरूप शक्ति व्याप्त रहती है। एक वृत्त की कल्पना करें तो समूचे वृत्त को व्याप्त करने वाली अंतरंगा शक्ति सदंश के साथ, अर्द्धव्यास तक व्याप्त करने वाली चिदंश के साथ और विंदु या केंद्र में स्थित रहने वाली आनन्दांश के साथ सम्पृक्त रहती है। जीवात्मा

का संबंध इसी चिदंश के साथ है—माया और मायिक जगत् में सदंश, जीव या जीव जगत् में चिदंश तथा भगवद्धाम में आनन्दांश व्यक्त और सक्रिय रहता है। यों अव्यक्त भाव से अथवा तारतम्य में सर्वत्र सभी भाव हैं। घनतम आनंदांश गत वैचित्र्य ही मूल वैचित्र्य है उसी की छाप राग, प्रीति या भक्ति है। इस प्रकार वह ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति विशेष है।

साधारणतः भक्ति प्रतिपादक ग्रंथों में यह लिखा रहता है कि भक्ति अंतःकरण की एक वृत्ति विशेष है—पर यह सही नहीं है। इस वक्तव्य की सार्थकता है तो केवल इतनी ही कि वह 'भाव' या 'भक्ति' अपना प्रकाश या अभिव्यंजन इस चित्त के सहारे ही करती है। चित्त की वृत्ति तो दूर इसे माया अथवा महामाया की वृत्ति भी नहीं कहा जा सकता—वह तो अंतरंगा अथवा स्वरूप की ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति विशेष है। मूलतः भक्ति न तो अनुराग है, न सेवा है और न ज्ञानविशेष है—अपितु वह इन सबसे अतीत है। यह ह्लादिनी शक्ति ही है जो स्वरूपभूत आनंद का आस्वाद करा पाती है। वस्तु तः यह स्वरूप शक्ति स्वरूप का आस्वाद लेने के ही लिए अपने से पृथक् हुई है।

यह 'भाव' या 'भक्ति' कृपावश भी प्राप्त हो जाती है और साधना वश भी। साधन भक्ति वस्तुतः भक्ति है नहीं, 'भक्ति' का साधन होने से ही वह भक्ति कही जाती है। व्यक्ति कर्तृत्वाभिमान तक कर्म का अधिकारी है और भक्ति कर्मातीत है अतः कर्तृत्वाभिमान के विगलन के निमित्त साधना करनी पड़ती है। अभिमान के विगलित होते ही वह साधना 'भक्ति' रूप में परिणत हो जाती है। ये साधनात्मक कर्म साधन भक्ति ही हैं।

व्यक्ति कर्म में कर्तव्यबुद्ध्या भी प्रवृत्त होता है और स्वभावतः भी। पहला विधि-मार्गी है और दूसरा रागमार्गी। उभय विधवृत्ति प्रेरित कर्म साधन भक्ति के ही अंतर्गत आते हैं। साधनात्मक स्थल पर यह राग- भक्ति मूल 'राग' की छाया है। मूल राग भक्ति ही रागात्मिका भक्ति है और मायिक अंतस् में तो वह उसकी छाया होने से रागानुगा है। वैधी से रागानुगा को इसीलिए उत्तम माना गया है कि वह स्वभाव प्रेरित है। रागात्मिका भक्ति चूंकि दो प्रकार की होती है—काम रूपा तथा संबंध रूपा, अतः रागानुगा भी द्विविध-कामानुगा तथा रागानुगा-मानी जाती है। साधना क्रम में साधक जितने आवरणों को पार करता जाता है—'भजन' का स्तर भी उतना ऊँचा होता जाता है। मायिक देह के भजन का स्तर निश्चित ही तदतीत स्तर के भजन के स्तर से नीचा होगा। भजन का लक्ष्य है—भाव से प्रेम की ओर बढ़ना। भजन भी एक 'स्वभाव' की लीला ही है। इसका उद्देश्य है—प्रेम की अभिव्यक्ति। प्रेम पर्यन्त विकास होने पर भाव शान्त हो जाता है। भक्त महा प्रेम में प्रतिष्ठित हो जाता है—अपने स्वभाव में स्थित हो जाता है।

भक्ति का जैसा स्वरूप यहाँ स्पष्ट किया गया है—वह पराभक्ति है—साध्य भक्तिहै—वस्तुतः भक्ति है। 'भक्ति' में ही वह क्षमता है जिससे गुप्त स्वभाव का संधान मिल जाता है—भजनीय का प्राकट्य हो जाता है। अर्थात् राग मार्ग से भी अन्वेषण का प्राकट्य हो जाता है। ये सब ऐसी बातें हैं जिनकी गहराई में जाने पर रागमार्गी साधनाएँ परस्पर इतनी निकटवर्तिनी लगने लगती हैं कि कौन किससे कितना प्रभा वित है—निर्णय करना कठिन हो जाता है।

एक बात यह भी समझनी चाहिए कि यह अद्वैत भक्ति उसी हृदय में उद्रिक्त होती है जो स्वभावतः भक्ति प्रवण है—ज्ञानार्थी रुक्ष अंतम् में नहीं। साथ ही यह भी है कि भक्ति का उदय हो या नहीं—अंततः ज्ञान और भक्ति—दोनों ही एकाकार हो जाते हैं। यही पूर्णाहंता है—यही ज्ञान और प्रेम की पराकाष्ठा है। वर्तमान गंभीर कोटि के अनुसंधायकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि त्रिपुरादि, प्रत्यभिज्ञा तथा सूफी और गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धांतों में नितान्त साम्य है।

भक्ति के इस तात्विक और आगम सम्मत विवेचन के आलोक में 'अद्वैत-भक्ति' या, निर्गुन भक्ति' (संतसाहित्य में उपलब्ध) का समन्वय और संगत व्याख्यान सहज हो जाता है। जब कबीर यह कहते हैं—

मेरा मन सुमिरे रामकूं मेर मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या सीस नवावौं काहि[1]॥

इससे अभेद भगति की ही व्यंजना तो होती है। यह वह स्तर है जहाँ उपासक-उपास्य का भेद ही समाप्त हो गया। उनका दृढ़ विश्वास है—

योगी जंगम जीवड़ा संनिआसी दरवेश।
बिना प्रेम पहुंचे नहीं दुरलभ सतिगुरु देश॥

सतगुरु (धुनि) के देश बिना प्रेम के पहुँचना संभव नहीं। संत सावण सिंह का कहना है 'प्रेम दो दिलों को एक कर देता है और सच्चा अद्वैत- वादी बना देता[2] है। "उपर्युक्त आगम सम्मत विचारणा से सहमत विचार सावण सिंह का भी है—"परमार्थ में पहली आवश्यक बात भक्ति, प्रेम या इश्क का होना है। ये कहने को तीन भिन्न-भिन्न नाम है—पर इनका रूप एक ही है। भक्ति और प्रेम एक होते हुए भी इनकी अवस्था में कुछ भेद है। भक्ति एक बेइख्तियार प्रवाह या आकर्षण है जो कि मनुष्य को खींचकर अपने प्रीतम की ओर ले जाता है और

---

१. सुमिरण कौ अंग-कबीर ग्रंथावली, पृ० ५ संख्या १०।

२. गुरुमत सिद्धांत, भूमिका, पृ० ४।

प्रीतम तक रसाई और उसमें एक हो रहने के आनन्द का नाम[1] है।" अर्थात् भक्ति की पूर्णता ही प्रेम है। ये भी मानते हैं कि नवधा भक्ति की प्रणालियाँ प्रेम उत्पन्न कराने के ही मुख्य साधन हैं। इनकी धारणा है कि परमात्मा प्रेम है और आत्मा उसका अंश है। अतएव प्रेम प्रत्येक मनुष्य में मूल रूप में उपस्थित है, पर आत्मा का परदों (माया, महामाया,) में ढके रहने के कारण वह गुप्त है। "इसके जागरित होने के दो ही साधन हैं—एक तो गुरु की बख्शीश (कृपा) और दूसरे तरीकत की कमाई[2]।" संतगण मानते हैं--सुमिरन या ध्यान (तरीकत) करने और नाम को जपने से (प्रेम सम्पत्ति) प्रकट हो जाती है। सुमिरन और ध्यान के बढ़ने पर अन्तर में श्रद्धा और प्रीति बढ़ती जाती है और उस आनंद में लवलीनता बढ़ती जाती है जो कि मालिक की प्रसन्नता का कारण बनता है और जिससे उसके प्रेम का सुरूर और रंग चढ़ता है। मालिक नाम और शब्द है। मालिक प्रेम है। इसलिए, नाम और शब्द भी प्रेम है।

"प्रेम पदारथ नामु है भाई माइआ मोहु बिनासु ॥[3]

ज्यों-ज्यों आत्मा नाम के साथ लगती है—प्रेम अंतर में उमड़ उमड़ कर बहता है। प्रेम का स्रोत प्रत्येक मनुष्य के अंतर में नाम या शब्द के रूप में मौजूद है। नाम सतगुरु का रूप होता है वे नाम का रूप होते हैं। गुरु के बिना प्रीति उत्पन्न नहीं हो सकती—

बिन गुरु प्रीति न ऊपजै भाई मनमुखि दूजै भाइ।

हरि प्रेम है—हरि स्वयम् गुरु में है तथा गुरु ही हरि से मिलाता है—

बिनु गुरु प्रेम न लभई जन वेखहु मनि निरजाति।
हरि गुरु विचि आपु रखिआ हरि मेले गुर सवासि॥
सचा प्रेम पिआरु गुरु पूरे ते पाइए।

भक्ति भी गुरु के बिना नहीं हो सकती और न ही नाम के साथ प्यार हो सकता है। हम नाम को भी गुरु के अपार प्रेम द्वारा ही पा सकते हैं।

बिनु सतिगुरु भगति न होवई नामिन लगै पिआरु।
जब नानक नामु अराधिआ गुर कै हेति पिआरि॥[4]

अद्वैतवादी स्वर में ही नानक कहते हैं—

आपि भगति भाउ तूं आपे मिलहिं मिलाइ।

भक्ति रजामंदी और रगबत के साथ तवज्जह स्थिर करना[5] है। गुरु अर्जुन कहते हैं कि सबको सब कुछ प्रिय हो, पर

---

१. गुरुमत सिद्धांत, भूमिका, पृ० १।
२. गुरुमत सिद्धांत, भूमिका पृ० ५।
३. सोरठि म० ५, (६४०-३)।
४. गुरुमत सिद्धांत, भाग २, भूमिका भाग।
५. वही, पृ० २।

नानका भगति प्रिअ हो (गउड़ी म ५, २१३-१५)

भक्ति, इश्क और प्रेम एक ही हैं—नाम भेद भर है—

भगती इश्क प्रेम ये तीनों। नाम भेद हैं रूप समान
(सारवचन)

विश्वास ही श्रद्धा में और श्रद्धा ही भक्ति में परिणत होती है—यही भक्ति प्रेम के रूप में फूलती है। अहंता विलीन हो जाती है अनायास आगमों का 'भाव' संतों में उतर आया है। संत रैदास कहते हैं—

साध संगति बिना भरउ नहिं अपनै।
भाव बिनु भगति नहीं होइ तेरी।
(६९४ ११ धनासदी, रविदास)

यदि पवित्र हृदय (दर्पण में प्रेम का मसाला लग जाय तो परमात्मा का रूप उसमें उतर आए। भक्ति उसकी करनी चाहिए जो 'हुस्न-उल हुजूह' (परम सुंदर) हो, जहाँ सौंदर्य नहीं, शोभा नहीं—भक्ति वहाँ होगी कैसे ?

संत जन स्पष्ट ही स्वीकार करते हैं कि गुरु परमात्मा का इस भूतल पर अवतार है—प्रतिनिधि है—अतः भक्ति उसी की करनी चाहिए। ग्रंथ साहब में कहा है—

सख उपाइ गुरु सिरी मोरि।
भगति करउ पग लागउ तोर॥
(बसंतु म० १,११८७-१०)

मालिक को पाता है तो गुरु भक्ति ही द्वार है। भक्ति एक ही की होती है—दो की नहीं। जो यह कहते हैं कि श्रद्धा गुरु को दी जाय और भक्ति उससे भिन्न-परमात्मा-की की जाय—उसकी बात समझ में नहीं आती। कबीर ने यही कहा है—

जे मन लागै एक सूँ तौ निरवाल्या जाइ।
तूरा दुइ मुख बाजड़ां, न्याइ तमाचे खाइ॥१२
(पृ० २० निहकर्मी पति तग का अंग, कबीर ग्रंथावली)

प्रेम का निर्वाह तभी हो सकता है जब वह एक मुखी हो। "भक्ति गुरु के स्वरूप का हृदय में बसना है—चंद्र चकोर की भांति प्रीति का हृदय में उत्पन्न होना है।[1] जब तक ऐसी प्रीति न हो जाय—तब तक इसी साधन को पूर्ण करना चाहिए। जब ऐसी भक्ति पूर्ण हो जाती है तब आत्मा अधर पर चढ़ने लगती है और शब्द को पकड़ती है। जो लोग बगैर गुरुभक्ति के साधन में लगते हैं, वे अनजान हैं। गुरु की दया से उर में शब्द सुनाई देने लगता है तथा उसकी चुम्बकीय शक्ति द्वारा आत्मा गगन की ओर खिंचने लगती है।

१. गुरुमत सिद्धांत पृ० १६।

गुरु भगति बिन शब्द में पचते, सो भी मानुख मूर्ख आन।
शबर खुलेगा गरु मेहर से, खेंचे सुरत गुरु बलवान ॥

(सारवचन)

इन संतों की धारणा है कि गुरु में अलौकिक आध्यात्मिक सौंदर्य और आकर्षण है। उसके स्वरूप में हजारों रस भरे रंग आभास देते हैं जो तन्मयता प्रदान करते हैं। ठीक ही है—

जहाँ हुस्न नहीं इश्क भी पैदा नहीं होता।
बुलबुले गुले दीवार पै शैदा नहीं होता ॥

गुरु की भक्ति प्राणी क्या कर सकता है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—भी उसे नहीं जानते।

गुरु की भगति करहि किआ प्राणी। ब्रह्मै इंद्र महेसि न जाणी।
सतिगुरु अलखु कहहु किउ लखिए। जिसु बखसे तिसहि पछाता है

स्पष्ट ही कहा है—"यमे वैषवृणुते तेनैव लभ्यः"। यह भी स्पष्ट है कि हम जिस की उपासना करते हैं वही हो जाते हैं।

महात्मा चरनदास जी ने नवधा भक्ति इस प्रकार दी है—

सुमरन वंदन ध्यान और पूजा करो
प्रभु में प्रीति लगाय सरत चरनन धरो।
होकर दासहि भाव साध संगति रलो
भगतन की करि सेव यही है भलो।
आपा अरपन दे धीरज दृढ़ता गहो
छिया शील संतोष दया धारे रहो ॥

गुरु की इस नवधा भक्ति के बाद रूहानी भक्ति है। यह है—तवज्जह या सुरत को आत्मा के केंद्र पर एकाग्र कर नाम के साथ जोड़ना। यही है—नाम साधना, नाम—भक्ति। इसमें सुरत शारीरिक तथा मासिक मण्डलों से हटी रहती है। गुरु सेवा ही गुरु भक्ति है। ग्रंथ साहब में है—

भाई रे दासनि दासा होइ।
गुरु की सेवा गुरु भगति है बिरला पाए कोइ।

(सिरी रागु म० ३, ६६ १५)

प्रेमी और प्रिय सजातीय होते हैं—गुरु अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा पर रूप की ओर साधक को भी स्थूल, सूक्ष्म तथा पर—बनाकर ले जाता है। है यही बात—

एवडु ऊचा होवै कोइ। तिसु ऊचे कउ जाणै सोइ ॥ जपुजी; ५।१५।

आगमिक भी कहते हैं कि उपासक और उपास्य समान स्तर के होते हैं। भाव भजन के लिए भाव देह भी आवश्यक है। सच्चा भजन भावदेह में होता है। वास्तविक आत्मा रूप प्रेम मायिक अथवा महामायिक उपकरणों में कैसे व्यक्त होगा? मालिक के ऊंचे रूप को समझने के लिए स्वयम् ऊंचा होना होगा। राम और कृष्ण ही के

प्रति हम क्यों आकृष्ट हुए-इसलिए कि हमारे स्तर पर व्यक्त थे-हमारे प्रतिरूप और सजातीय थे। सूफियों में इसीलिए आदम सूरत में ही मुरशिद की पूजा की व्यवस्था है। हिंदू परम्परा निगुरे की गति नहीं मानती। कबीर भी इसी गुरु भक्ति के माध्यम से रूहानी चढ़ाई की ओर संकेत करते हुए कहते हैं-

मन मेरा पंछी भया उड़ कर चला अकास।
स्वरग लोक खाली पड़ा साहिब संतन पास ॥

संत सावण सिह ने बहुत ही अच्छा लिखा है-'प्रेम विना हम जिन्स के और किसी के साथ हो नहीं सकता। अगर खुदा को भी अपना प्रेम मंजूर है और अगर वह जीवों को सरलता पूर्वक खुदा परस्त करना चाहता है (ईश्वरोपासक) तो इन्सान की शक्ल में खुद आ जाय। वास्तव में खुदा वही है जो खुद+आ, जाय। "गुरु सीमित व्यक्ति नहीं है-असीम समुद्र जैसे परमात्मा का एक घाट या किनारा है। गुरु है-कारण, वह एक ओर मानव से और दूसरी ओर परमात्मा से मिला हुआ है। शब्द उसका वास्तविक रूप है। शब्द ही शरीरी वन कर हमारे बीच आता है-

अभिप्राय यह कि परमात्मा, शब्द और गुरु-परस्पर पर्याय हैं। इस प्रकार यदि देह धारी शब्द से हमारी भक्ति हो जाय तो अन्तर में शब्द से भी हमारा संबंध हो जायगा। निष्कर्ष यह कि गुरु की भक्ति ही परमात्मा की सच्ची भक्ति है। श्वेताश्वतर में यही कहा गया है-"यथा देवे तथा गुरौ।" गुरु भक्त गुरु में समाकर गुरु रूप में जाग उठता है। कबीर साहब कहते ही हैं-

जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी तामहि दो न समाहिं।

पर यह है बहुत कठिन-

भगति दुहेली गुरु की नहिं कायर को काम।
सीस उतारे हाथ से सो लेखी सति नाम ॥
भगति भेरव बहु अंतरा, जैसे धरनि अकास।
भगति लीन गुरु चरन में, भैरव जगत की आस ॥
कबीर गुरु की भक्ति कर तज विखिआ रस चोज।
बार बार नहिं पाइये मानस जनम की मौज ॥
कबीर गुरु की भगति का मन में बहुत उलास।
मन मनसा माँजे नहीं, यों ही कहत है दास ॥

शिष्य गुरु की भक्ति करता है कि उसमें गुरु के संस्कार आवें और संसार के संस्कार मिटें। ग्रंथ साहब में है-

गुरु परमेसरु पूजीए मनितनि लाइ पिआरु ।
सतिगुरु दाता जीव का समसै देइ आधारु ।
(सिरी रागु म० ५.५२-१०)

भक्ति से गुरु की दया मिलती है और दया से सुरत ऊपर चढ़ती है—शरीर से हट कर ऊपरी मंडलों की ओर बढ़ती है। फिर तो भक्ति ही प्रिय हो जाती है। कबीर कहते हैं—

भगति दान मोहि दीजिए, गुरु देवन के देव ।
और नहीं कुछ चाहिए, निस दिन तेरी सेव ॥

संत वानी में कामरूपा तथा संबंध रूपा—उभयविध भक्ति की स्थिति मिलती है।

कामरूपा— जो तू पिआ की पिआरनी, अपना कर ले री ।
कलहि कल्पना में कर, चरनों चित देरी ॥

संबधरूपा— दास्य भाव
केसा का करि बीजना संत चंउरु डलावउ
(सूही म० ५, ७४५-१२)

कबीर ने इस भक्ति के विकास के लिए कई बातें कही हैं—(१) अनन्य निष्ठा पतिव्रता की भांति (२) संत संगति (३) असाधु की असंगति, (४) युक्त जीवन। जिस प्रकार रसिक साधकों में संबंध रूपा भक्ति के विभिन्न स्तरों का नाम लिया गया है—वैसे ही संत साहित्य में भी विभिन्न रूप मिलते हैं—वहाँ भी शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य की जगह पितृ भाव के रूप उपलब्ध हैं। ये रूप नितान्त प्रसिद्ध तथा चर्चित हैं—अतः उनका विवरण नहीं दिया जाता है। यों संतों की धारणा है—

रामयी गुरु जानिए, गुरु महं जान् राम ।
गुरु मूर्ति को ध्यान उर, रसना उचरै राम[1] ॥
(रामसनेही सम्प्रदाय—संत रामचरण दास)

अथवा—

जाकी गुरु मैं वासना सो पावै भगवान ।
सहजो चौथे पद बसे गावत वेद पुरान[2] ॥
(सहजो बाई)

अथवा—

सद्गुरु ब्रह्म स्वरूप है मनुष भाव मत जान ॥
देह भाव मानै 'दया' ते हैं पसू समान [3]॥

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा (उद्धृत) पृ० ६८० ।
२. सहजो बाई की बानी, पृ० २१ ।
३. दूलनदास जी की बानी, पृ० ६ ।

अथवा–

सब्द सरूपी आप बिराजें सीस चरन में धरिया[1]॥

अथवा–

शब्द सरूप सतगुरु अहैं जाका आदि न अंत।
काया माहीं अग्र है निहचे मानो[2] संत।

इस प्रकार संतों ने सर्वभावेन गुरु की उपासना पर बल दिया है। कबीर की भक्ति भावना कबीर पंथी महात्माओं को परम्परा में मिली है। कबीर की भक्ति धारा का प्रभाव सर्वाधिक छत्तीसगढ़ी शाखा पर है। धनौती वाली शाखा 'भगति' को ही महत्व देने के कारण 'भगताही शाखा' कही ही जाती है। कबीर पंथ में तो कुछ ऐसी शाखाएं हैं जो परम तत्व के अस्तित्व में विश्वास नहीं करतीं। फलतः उन शाखाओं में भक्ति का रूप केवल गुरु तथा पारखी संतों की भक्ति तक ही सीमित हैं। भव॰ तारण बोध में कबीर ने कहा है–

भाव भक्ति करिए चितलाई। सेवइ साधु तजि मानु बड़ाई॥
(पृ० ४२)

इस प्रकार जो संत लोग प्रेम-विभोर लक्षित होते हैं–उसका कारण परम प्रेमास्पद चिन्मय आत्मा का सीधा आकर्षण है या रूप गुण के माध्यम से व्यवहित ? –इस प्रश्न पर विचार करते हुये उक्त विश्लेषण के आलोक में यह निर्द्धारित किया गया है कि साधन काल में सभी आध्यात्मिक साधकों को कहीं अपना मन केंद्रित करना पड़ता है–और यह आलम्बन रूप-गुण सम्पन्न होता है। वस्तुतः रहस्यदर्शी गुरु श्रेष्ठ अधिकारी को प्रातिभ ज्ञान के रूप में उपदेश देता है। इस उपदेश को वाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर नहीं सच्चरित करना पड़ता। मध्यम अधिकारी को विशुद्ध चेतन शब्द के साथ उपदेश दिया जाता है। इस चेतन शब्द में इतनी क्षमता है कि कानों में जाते ही मर्म वेध देता है–फलतः दीक्षित व्यक्ति का हृदय आंदोलित हो जाता है। साधक का हृदय संसार से खिंच जाता है। सारा यंत्र उलट जाता है–इंद्रिया, प्राण, मन–सभी एकोन्मुख होकर उद्दामवेग से अन्तरात्मा से मिलने के लिए दौड़ पड़ते हैं। इस सचेतन शब्द में बड़ी शक्ति है जो कृष्ण की वंशी में गोपियों के प्रति थी। तंत्र शास्त्र में मंत्र चैतन्य की प्रक्रिया बताई गई है। अचेतन शब्द शब्द ब्रह्म नहीं है। अचेतन शब्द का भी चैतन्यीकरण होता है, पर तदर्थ विशेष प्रकार का जप अपेक्षित है–संतों में जप की विभिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है। अधम अधिकारी के लिए अचेतन शब्द का उपदेश दिया जाता है–क्रिया विशेष के साथ उसका जप करते

---

१. दूलनदास जी की बानी, पृ० ६।
२. कबीर साहेब कृत अमरावली, पृ० १।

से वह चैतन्य हो जाता है। शब्द का चैतन्य हो जाना ही-एक प्रकार का कुण्डलिनी जागरण है! कबीर ने ठीक ही कहा था-

सद् गुरु लई कमाँड़ करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या तीर सुँ, भीतरि रह्या शरीर ॥६
सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जुबाह्या एक।
लागत ही मैं मिल गया, पड्या कलेजैं छेक ॥७
सतगुरु मार्या बाण भरि, धरि करि सोधी मूठ।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूटि ॥८
हंसे न बोलै उन्मुनी चंचल मेंल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिघा, सतगुरु कै हथियारि[1] ॥९

इस आशय के वचन संतों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

कुण्डलिनी का जागरण अथवा शब्द का चिन्मयीकरण, अथवा आत्मशक्ति का प्रत्यभिज्ञान साधक के अधिकार भेद से भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा संभव है। भक्ति, ज्ञान, हठयोग, मंत्रयोग, राजयोग-आदि अनेकविध उपायों में से किसी के भी आश्रयण से शक्ति का जागरण संभव है। यह शक्ति सत्यरूप पर आवरण बन कर जड़ भाव में प्रसुप्त है और जब तक यह स्थिति है-तब तक जीव जड़ भावापन्न है-शिव शवावस्थ है और जब तक यह सब है तब तक सारा कष्ट है। शक्ति के जागरण होते ही वह आत्मरूप से एकरस होने के लिए व्याकुल हो जाती है। आत्मदर्शन से ही यह संभव है। इस सामरस्य से ब्रह्मपथ का प्रारंभ होता है। इसके बाद अनन्त लीलाओं का साक्षात्कार होता है। इस वैचित्र्य दर्शन के बाद तत्वातीत या निःशब्द का आभास मिलता है। कुण्डलिनी जागरण के फलस्वरूप पहले सत् में, फिर चित् में अंततः आनंद में प्रतिष्ठा होती है। इन स्थितियों का भी वर्णन संतों में पर्याप्त मिलता है-धरनीदास कहते हैं-

नाम को सत भाव राखो, उर्ध सों करु नेह।
जब अभय पुर कहं परग दीन्हों, छूटो भरम संदेह ॥
तहीं पूरन रहनिकरु जहं सक्ति सीव निवास।
ब्रह्मादि और सनकादि खोजैं संत करहिं निवास ॥
(धरनीदास जी की बानी पृ० ३७)

संत दरिया का कथन है-

जब दरिया सतगुरु मिला कोई पुरबले पुन्न।
जड्ड पलट चेतन किया, आन मिलावा सुन्न ॥१४॥ पृ०२
(दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी)

---

१. कबीर ग्रंथावली, गुरुदेव को अंग।

संतों या निर्गुनिये संतों के यहाँ यह रूप-गुण सम्पन्न आलम्बन 'गुरु' ही है। इसका समर्थन उन्हीं संतों की निम्नलिखित पंक्तियों से होता है–

कबीरदास ने कहा है–

चल सत गुरु की हाट, ज्ञान बुधि लाइये ।
कीजे साहिब से हेत, परम पद पाइये ।
सतगुरु सब कुछ दीन्ह, देत कछु ना रह्यों ।
(हिंदी के जनपद संत, पृ० ३८)

इन पंक्तियों में कबीर दास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहब से हेत या प्रेम किये बिना परमपद की उपलब्धि संभव नहीं है। यहाँ संदर्भ से बहुत ही स्पष्ट है कि 'साहब' शब्द का प्रयोग 'गुरु' के ही लिये किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि 'साहब' शब्द जैसे मध्यकाल में 'गुरु' के लिये रूढ़ सा हो गया है। तुलसीदास भी तो कहते हैं–'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'–यहाँ सुसाहिब है–कौन? गुरु ही सुसाहिब हैं–जिनकी आज्ञा को कार्यान्वित करने से मनुष्य या साधक सब कुछ पा लेता है।

दादू तो साधन को उपदेश देते हुये स्पष्ट कहते हैं–'दादू सगुणा लीजिये निर्गुण नेह निवारि। सगुणा सन्मुख राखिये, निर्गुण नेव निवारि।' अर्थात् निर्गुण से नहीं 'सगुण' को सन्मुख रखिये, उनसे नेह कीजिये। विचारणीय है कि यह 'सगुण' है कौन जिसके रूप, वाणी, मूरति की बात करते हुए दादू कहते हैं–

तेरे नाउं की बलि जाऊं, जहाँ रहौं जिस ठाऊं।
तेरे नैनों की बलिहारी, तेरे नैनहूं ऊपर वारी ॥
तेरी मूरति की बलि कीनी, वारि वारि हौं दीती ॥

'निर्मल भगति प्रेम रस' का पान करने वाला अनन्य परायण दादू का 'राम' है कौन? जिसके लिये वे कहते हैं—'सहजैं सदा राम रंग रति, मुकति वैकुंठे कहा करे'। निश्चय ही संत परम्परा और लोक संस्कार के अनुसार ये राम दशरथ सुत तो नहीं हैं–फिर क्या सूफियों की भांति कोई गुरु-भिन्न पार्थिव वृत है? नहीं, मेरे विचार से वह 'गुरु' ही है।

सुंदरदास का तो कहना है कि वास्तव में सद्‌गुरु ब्रह्ममय है, पर शिष्य की दृष्टि तो चर्ममयी है–उलटी है। इसलिये दर्पण के मुख भाग की ओर न देखकर पृष्ट-भाग की ओर देखता है और असलियत से दूर रह जाता है–

"सुंदर सद्‌गुरु ब्रह्ममय, पर सिख की चम दृष्टि।
सूधी ओर न देखई, देखै दर्पन पृष्ठ॥

वस्तुतः आत्मा, परमात्मा एवं इष्ट या गुरु परमार्थतः एक ही है–इसका दार्शनिक पक्ष हम बाद में स्पष्ट करेंगे–यहाँ तो इतना ही कहना है कि संतों ने गुरु को ही अपने

साधनावस्था के प्रेम का आलम्बन बना रखा है । यह प्रेम की आग उत्तरोत्तर तब तक बढ़ती ही जाती है-जब तक वही आत्मरूप में भीतर प्रकट नहीं हो जाता। आत्म-रूप में भीतर प्रकट होने से पूर्व साधक प्रेमी की वही स्थिति होती है-जो एक ही बिस्तर पर पड़े हुए प्रेमी के बावजूद तड़पती प्रेमिका की होती है। दादू दयाल ने कहा है-

"जब लग नैन न देखिये, परगट मिले न आइ ।
एक सेज संगहि रहे, यहु दुख सह्या न जाइ ।
तब लग नेड़े दुरि है, जब लग मिले न मोहि ।"

अर्थात् गुरु की बाह्य स्थिति 'परगट' की स्थिति नहीं है, 'परगट' तो वे भीतर होते हैं—तभी जी की जलन शाँत होती है-तभी उस परम प्रेमास्पद से एकमेव होने की स्थिति आती है । सुंदर दास ने 'परगट' करने का रास्ता भी बताया है और कहा है-

है दिल में दिलदार सही, अंखियाँ उलटी करि नाहि चितैये ।
आब में खाक में बाद में आलस, जानि में सुंदर जानि जनैये ।
नूर में नूर है तेज में तजहि, ज्योति में ज्योति मिलै मिलि जैये ।
क्या कहिये कहते न बनै कुछ, जो कहिये कहते ही लजैये ।।

यदि उस दिलदार को भीतर प्रकट करना है संसार की ओर बंधी आँखों को उलटना आवश्यक है । इसमें साधना की ओर भी गंभीर संकेत है-जो गुरुगम्य है । उसे सर्वमान्य के लिये खोला नहीं जा सकता ।

संत धरनी दास का भी यही स्वर है-

जाके गुरु चरनन चित लागा ।
ताके मन की भरम भुलानो, धंधा धोखा भागा ।

मानसिक-विक्षेप की शाँति के लिये यह आवश्यक है कि उस मन को गुरु के चरणों में लीन कर दिया जाय-उसी का स्मरण किया जाय । स्मरण या जप के द्वारा वह प्रकट हो जायगा । संत पलटू दास भी कहते हैं-

साहिब तेरे पास याद कर होने हाजिर ।
अंदर धंस के देखु मिलेगा साहिब नादिर ।

स्मरण या नाम जप से नामी का साक्षात्कार शरीर के भीतर ही हो जाता है । आव-श्यकता है इसके लिये भीतर धंसकर देखने की । ताँत्रिक दार्शनिकों की भी धारणा है कि वर्णात्मक जप अंततः 'नादात्मक' परिणति होता है-सावयव शब्द निरवयव हो जाता है – और फिर वही नाद 'ज्योति' के रूप में प्रकट होता है । यही ठोस 'नामी'

दर्शन है । नाम-जप से नामी-दर्शन-तक की यही प्रक्रिया है । संत जगजीवन साहब ने इसी प्रक्रिया को कितने सुंदर ढंग से व्यक्त किया है–

"गुरु बलिहारियाँ मैं जाऊं ।
होरि लागी पोढ़ि अब मैं जपहुं तुम्हारो नाउं ।
नाहिं इत उत जात मनुआ, गगन वासा पाऊं ।
महनिर्मल रूप छबि सत निरखि नैन अन्हाऊं ।'

चरनन में लागी रहि हौं री ।
और रूप सब तिरथ बतावैं, जल नहिं पैठ नहैं हौं री ।
रहिहौं बैठि नयन में निरखत, अनत न कतहूं जै हौं री ।
तुमहीं ते मन लाऊ रहि हौं, और नहीं मन आनि हौं री ।
जगजीवन के सतगुरु समरथ, निर्मल नाम गहि रहि हौं री ॥

इन पंक्तियों में गुरु नहीं, तो क्या कोई और आलंबन कहा गया है ? संत भीखा साहिब ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है–

"रहिन सों लौ लीन ह्वै, गुरु ग्यान ध्यान जगाव ।
जोग की यह सहज जुक्ति, बिचार कै ठहराव ॥"

"प्रेम प्रीति तन मन धन अरपों प्रभु जी को बलिहारी
गुरु गुलाल के चरन कमल रज लावत मात भिखारी ॥"

इसी प्रकार चरन दास के भी 'सुकदेव प्यारे रहू मतन्यारे, आनि करो उर वासा हो'–के द्वारा भी यह नितांत सुस्पष्ट है कि वे अपने गुरु शुकदेव से पार्थक्य नहीं सह सकते और निवेदन करते हैं कि आत्मरूप में भीतर ही उनका साक्षात्कार हो जाय–भेद की भावना समाप्त हो जाय । इन्होंने तो और भी स्पष्ट कहा है–

"अखियाँ गुरु दरसन की प्यासी
इक टक लागी पंथ निहारूं तन सुँ भई उदासी ।
रैन दिवा मोहिं चैन नहीं है चिंता अधिक सतावै ।"

इन पंक्तियों में तो नितांत सुस्पष्ट रूप से गुरु विरह की बात कह दी गई है ।

रमा बाई ने भी इस धारणा को दृढ़ किया है और पुष्टि में कहा है कि कृपानिधान, करुणा सागर गुरु साक्षात् ब्रह्ममय एवं भगवान् ही हैं । उनके शब्द इस प्रकार हैं–

"करुना सागर कृपानिधाना । गुरु हैं ब्रह्म रूप भगवाना ।
दै उपदेस करैं भ्रम नासा । दया देत सुख सागर वासा ।
गुरु की अहनिसि ध्यान जो करियै । निसिदिन सेवा में अनुसरिये ।"
तन मन सूं आज्ञा में रहिये । गुरु आज्ञा बिन कछू न करिये ।

इन पंक्तियों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि गुरु ही ध्येय है, उसी का ध्यान रूक्ष करते रहना चाहिए। सहजो बाई का तो यहाँ तक कहना है—

"राम तजूं पै गुरु न विसारूं, गुरु के सम हरि कुं न ति हारूं।"

(विहार वाले) दरिया साहब ने भी बताया है कि—

जल में कुमुदिन इंदु अकास। प्रेम सदा गुरु चरन पास।

आरंभ में जिस गुरु का बाहर ध्यान किया जाता है —उसके अंतर प्रकटन के विषय में गुलाल साहिब ने यह निर्देश दिया है कि—

"अष्ट कमल में जीव बसतु है द्वादस में गुरु दरस करे।" उनकी यह दृढ़ धारणा है कि अजर, अमर अविनाशी और एक सत्पुरुष कोई है तो वह केवल—सतगुरु है। यह तथ्य कि संतों का सगुण, निर्गुण तथा उभयातीत कोई एक ही तत्व प्रतिपाद्य है—तो वह 'गुरु' नाम से ही संकेतित होने वाला तत्व है। उसे ही व लोग राम, कृष्ण, रहीम आदि-आदि नामों से पुकारते हैं। पर इसको वे लोग 'रहस्य' भी रखना चाहते हैं। संत दूलनदास ने कहा है—

दूलन यह मत गुप्त है, प्रगट न करौं बखान।
ऐसे राखु छिपाय मन, जस विधवा औधान।

संतों का यह रहस्य सम्प्रदाय इस सिद्धांत को इतना अधिक नहीं उघाड़ना चाहते कि उसका महत्व नष्ट हो जाय। संत शिवनारायण ने यह स्पष्ट कहा है कि 'सूरत में मूरत साहब की'। धरम दास ने तो गुरु के साथ माधुर्य भाव का संबंध निर्दिष्ट करते हुए कहा है—

चलो सखि देखन चलिये, दुल्ह कबीर हैं।
उन सों जुरल सनेह, जठर सों राखि हैं॥

कितना प्रमाण दिया जाय? इतने ही उद्धरणों से मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि संतों का ध्येय और समाध-गम्य-तत्व गुरु-तत्व ही है। वही साधन काल में मूर्तिमान और बाह्य है। साधन द्वारा जीवात्मा ही गुरु रूप में अंदर प्रकट होता है—इसी अंतराल का काल विरह और विह्वलता का काल है।

इन प्रमाणों और तर्कों के आलोक में यदि यह मान लिया जाय कि साधन बेला में 'राग' का आलम्वन 'गुरु' ही है—तब दूसरा सवाल यह भी खड़ा होता है कि संत साहित्य में लक्षित 'विरह' का तीव्र स्वर किसके प्रति है? गुरु समक्ष है और परम आत्मा अपरोक्ष होने से राग का ही आलम्वन नहीं है तो विरह अर्थात् तीव्र राग का आलम्वन किस प्रकार हो सकेगा? विरह और कुछ नहीं, प्रेम की जाग्रत दशा है। प्रेम के स्वरूप के विषय में संतजन की उक्ति है—

प्रेम प्रेम सबको कहे प्रेम न चीन्हे कोय ।
आठ पहर भीना रहे, प्रेम कहावै सोय ॥

यह स्पष्ट है कि राग किसी के प्रति होगा और विरह किसी। अन्य का होगा—सर्वथा असंगत है । यदि उनके प्रति राग है तो उन्हीं के प्रति तीव्र राग या विरह भी है । स्मरण तथा ध्यान के माध्यम से गुरु की ओर चित्त ,वृत्ति एक तान होने लगती है—नाम का आकर्षण बढ़ने लगता है—नव द्वारों से बहती हुई भावना एक ही द्वार से प्रवल प्रवाहमयी हो जाती है—उपास्य के संस्कार उसकी आत्मा या स्वरूप के संस्कार अपने वनने लगते हैं और इतर विध .संस्कार समाप्त होने लगते हैं—संतों का मार्ग वासना दमन का नहीं, वासना शोधन का मार्ग है । संत जनों ने स्पष्ट ही कहा है—

मेरा मन लोचै गुरु दरसन नाई ॥
विलप करे चात्रिक की नाई ॥
तृखा न उतरे सांति न आवै ।
बिनु दरसन संत पिआरे जीउ ॥
हउ घोली जीउ घोलि घुमाई ।
गुरु दरसन संत पिआरे जीउ ॥ (भाक्त म० ४,६४-६५).
मैं बिनु गुर देखे नींद न आवै ।
मेरे मन तनि वेदन गुर विरह लगावै ॥ (भाक्त म० ४,६४-६५)

निष्कर्ष यह कि विरह गुरु, मालिक अथवा नाम के प्रकट न होने से होता है ।

वास्तव में प्रेम दो प्रकार का होता है—एक सकारण और दूसरा अकारण । सकारण प्रेम भी तीन प्रकार का होता है । एक तो वह है जो किसी व्यक्ति पर तात्कालिक प्रभाव वश उत्पन्न होता है, दूसरा वह जो किसी के गुण पर उत्पन्न होता है और तीसरा वह जो किसी क्रिया या कर्म के कारण पैदा होता है । ये तीनों ही प्रेम कारण के न रहने से स्वयम् भी विनष्ट हो जाते हैं, पर जहाँ आकर्षण जोरदार ही होता जाय और कारण का अनुसंधान करने पर भी पता न चले—वस्तुतः वही प्रेम निजी प्रेम है—वही निज रूप है—मालिक है, धुन है, परमात्मा है, गुरु का वास्तविक रूप है । शरीरी गुरु के माध्यम से उसका आरंभ होता है—अनुरोधी (सुमिरन, ध्यान, सत्संगति आदि) तथा अविरोधी प्रयत्नों से उसमें तेजी आती है—और साधक वाहरी आकर्षणों से हटकर अंतर्मुख होता जाता है—मालिक की ओर सुरत बढ़ने लगती है—वही वाहरी गुरु भीतर झलक देने लगता है—आकर्षण में और भी तेजी आती जाती है—यह आकर्षण जितना ही बढ़ता है—दूरी उतनी ही घटती है—पर बेचैनी भी उतनी ही बढ़ती है—यहाँ तक कि मरणान्तक कष्ट भी उसके समक्ष हलका पड़ जाता है । साधक मरकर जब पुनः

जीवन पाता है—तब दीदार मिलता है संतों की धारणा है कि सद्गुरु परमात्मा के प्रेम का ही मूर्त रूप है। सूफियों की धारणा है कि सद्गुरु के साथ प्रेम करने से मनुष्य या साधक फ़नाफ़िशशैख़ (गुरुलीन) से फ़नाफ़िल्लाह (परमात्म लीन) हो जाता है। सद्गुरु की सेवा और प्रेम उसका इश्क और तसव्वुर वस्तुतः परमात्मा का ही इश्क और तसव्वुर है। नानक ने कहा है—

सतिगुरु देउ परताखे हरि मूरति जो अमृत वचन सुणावै।
नानक भाग भले तिसुजन के जो हरि चरणी चितु लावै।
मलार म० ५, १२६४–६)

संत सावण सिंह ने कहा है—"मालिक का सामीप्य दो प्रकार का होता है—प्रकट या बाहरी और मानसिक या आन्तरिक। प्रकट सामीप्य तो संत जनों की संगति करना है, पर आन्तरिक संपर्क तो हृदय से हृदय तक मार्ग बने बगैर नहीं मिल सकता। हृदयों के इस सम्पर्क के लिए उच्च कोटि के प्रेम की आवश्यकता है। जब प्रेम और मुहब्बत का क्रम स्थापित हो जाता है तो सहज रूप से ध्यान भी अनिवार्य हो जाता है। कारण, प्रेमियों के अंतर में प्रीतम की छवि सदैव रहती है। मदीस में आया है—

"अल मोमिनो मिरआतुर्रहमाने।"

अर्थात् मोमिन खुदा की शीशा है। मोमिन में खुदा झलकें देता[1] है। कबीर भी कहते हैं—

कबीर दर्शन साधके साहिब आवे याद।
लेखे महि सोई घड़ी, बाकी के दिन बाद॥

वास्तव में सद्गुरु की पहचान ही यही है कि उसके देखने से परमात्मा की याद आ जाय। मौलाना रूम साहिब ने भी कहा है कि अगर तुम मुरशिद को हक से भिन्न देखेगा तो तू असल और उसके मूल को ही खो देगा। अगर तू हक की जात को ढूंढ़ रहा है तो मुरशिद के मुख को देख—

गर बजोई जाते हक रा सूरते मुर्शिद बबीं
आशिके शौ जाते हक दा अंदर आँ रोशन जबीं।[2]

इस प्रेम के जाग्रत हो जाने पर कितनी बेकली और बेचैनी होती है—यह साधक की अंतरात्मा ही जान सकती है। संत बुल्लेशाह ने इसी अवस्था का चित्र खींचा है।

---

१. गुरुमत सिद्धांत, भाग २, प्रकरण २-१६० ।
२. वही, पृ० १६१-१६२ ।

जिस तन लगो सो तन जागें इजा कोई न जाने ।
इश्क असाँ नाल के ही कीतो लोक मरेंदे ताने ॥

भीतर की ज्वाला जितनी ही जोर पकड़ती है—गुरु कुछ और ही दिखाई पड़ने लगता है । गुरु दर्शन इत्ति को एक तान कर देती है—फलतः सुरत की चढ़ाई आरंभ हो जाती है—जिसमें वह अपरिमित सुख का अनुभव करने लगती है । गुरु और शिष्य की आत्मा एक होने लगती है—फलतः शिष्य गुरु में लीन होने लगता है—उसकी सारी विशेषताएँ शिष्य में उद्रिक्त होने लगती हैं—आन्तरिक दृश्य भी प्रकट होने लगते हैं । संत सावण सिंह ने लिखा है—"कभी विजली का चमकना, कभी तारे का दिखाई देना, कभी उसका फटना और कभी उससे आगे सूर्य चन्द्र दिखाई देते हैं । कभी गुरु का स्वरूप इन विजलियों के साथ सुशोभित दिखाई देता है । कभी उसकी आत्मा ब्रह्म तथा पारब्रह्म को पार कर जाती है और वहाँ के दृश्य देखती[1] हैं" । सूफियों में इश्क मजाजी इश्क हकीकी की सीढ़ी है । ठीक ही कहा है—"Love begins in the flesh and ends in the spirit" सेन्ट वर्नार्ड का यह कहना सही है । संतों का गुरु प्रेम भी सीढ़ी है—परमात्मा प्रेम का । फ़नाफ़िल्लाह में जाने की सीढ़ी है—फ़नाफ़िशशेख ।

संत सावण सिंह की धारणा है—"मालिक शब्द है, मालिक प्रेम है, अतएव शब्द भी प्रेम है । सन्त जन देह धारी शब्द होते[2] हैं । "इस साधना के फलस्वरूप सुरत ऊपर चढ़ती हुई गुरु रूप धुनि का साक्षात्कार कर लेती है—सुरत का शब्द से जोग हो जाता है । यह मार्ग भक्ति या प्रेम का मार्ग है—ज्ञान का नहीं । संत सावण सिंह ने ठीक कहा है—"प्रेम और ज्ञान में यदि कोई अंतर समझा जाय तो वह केवल यही है कि ज्ञान, भेद को विलकुल ही मिटाकर खेल खत्म करना चाहता है और प्रेम, भेद को भी अनमोल जानकर उसको स्थिर रखता हुआ अभेद रहता है । 'इक जोति दोइ मुखी' वाली अवस्था बनी रहती है । भक्त भगवान के प्रेम में ऐसा लीन हो जाता है कि सेवा करते हुए भी स्वामी तथा सेवक का भेद नहीं रहता । प्रेमी अपने आपको प्रीतम से भिन्न नहीं देखता । वुद्धि इस भेद को नहीं जान सकती, क्योंकि यह तो आध्यात्मिक जीवन का भेद है । यह केवल समझने की वात नहीं ।

हरि आपे ठाकुर सेवकु भगतु हरि 'आपे करे कराए[3]
(विहागड़ा वार म० ४, ५५०—११)

---

१. गुरुमत सिद्धांत, पृ० १६५ ।
२. वहीं, पृ० ९८ ।

३. गुरुमत सिद्धांत, पृ० २१५ ।

प्रेम की महिमा गाते हुए संतों ने कहा है—

प्रेम हरि को रूप है, तिउं हरि प्रेम स्वरूप।
एक होइ द्वै इ यूँ बसैं, जिउ सूरज अस धूप॥

संतों को भी यही प्रेम या भगति परम प्राप्य है। संत पलटूदास का कथन है—

पलटू चाहैं हरि भगति ऐसा मता हमार।
संतन चाहैं मुकति को नहीं पदारथ चार॥

इस पराभक्ति के लिए अपरा भक्ति की अपेक्षा है—साध्य भक्ति के लिए साधन भक्ति की अपेक्षा है—साधन भक्ति 'भक्ति' नहीं, पर साधन होने से साधन भक्ति कही जाती है।

यह साधना कर्तव्य बुद्ध्या जब कार्यान्वित होती है—तब 'वैधी' कही जाती है, किंतु जब स्वतः राग प्रेरित होती है—तब रागात्मिका मानी जाती है। इसका उभार जब मायीय वृत्ति में रहता है तब यह रागानुगा है और जब अप्राकृत् तथा चिन्मय स्तरों की हो जाती है—या मूल रूप में व्यक्त हो जाती है—तब रागात्मिका हो जाती है। राग या प्रेम की इस प्रगाढ़ता की फलोपलब्धि के निमित्त विरह का फूल लगता है। विरह के फूल से चिन्मय राग या प्रेम का फल लगता है—उस तात्विक स्तर पर जहाँ भेदमय अभेद है—प्रेम की क्रीड़ा चलती है—सुरत शब्द में लीन हो जाती है।

इस प्रकार साधन वेला में 'सुरत' शब्द तथा प्रेम, उपासक, उपास्य तथा उपासना—अलग-अलग हैं—पर भेदगर्भ अभेद की चरम भूमि पर भिन्न-अभिन्न कहना संभव नहीं। आगम मूल तत्व का यही रूप तो मानता है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में जो प्रश्न पीछे (पृ० १६) उठाए गए हैं उनका समाधान स्पष्ट मिल जाता है। पहला प्रश्न यह था कि साधन वेला में उभयात्मक तथा उभयातीत 'शब्द' साधक का आलम्बन किस प्रकार (साक्षात्) हो सकता है? उत्तर है—साधन स्तर पर उसी 'शब्द' तत्व का शरीरी रूप गुरु निजी राग का आलम्बन है। दूसरा प्रश्न था कि साधन वेला में इनकी भक्ति वैधी भी हो सकती है या नहीं? स्पष्ट है कि यदि राग कर्तव्यबुद्ध्या है, राग प्रेरित नहीं—तो संतों का इससे विरोध नहीं है—न कबीर से पूर्व और न कबीर के बाद। बात यों है—कबीर के पूर्व चाहे किसी धारा का संत हो, एक तो सगुण-निर्गुण का आत्यंतिक विरोध नहीं मानता। सगुण से यहाँ पर आशय अवतार वाद का है। एक तरफ गोपियाँ कहती हैं—"निर्गुन गुन बाँधिय सकल[1]" और दूसरी ओर संत सदना कहता है—"नृप कनिया के कारन हक् भइया वेषधारी"[2]।

प्रसिद्ध संत अक्षर अनन्य ने तो स्पष्ट कहा है—

---

१. पृथ्वीराज रासो, द्वितीय अध्याय 'दसम्' शीर्षक रचना।

२. ग्रंथ साहब।

यह राज जोग यह भक्ति ज्ञान । मनसा सुमिरन धुनि रूप ध्यान ।
जो यह न सधै धुनि ध्यान गूढ़ । तौ अजपा साध साँसमूठ ।
जौ यह न सधै अजपा उचार । तौ इष्ट देव धरि ध्यान सार ।
जौ ध्यान न आवहिं बिना देख । तौ प्रतिमा थापहि इष्ट भेष ।
नित प्रतिमा पूजन दरस नित । सोइ सूरति राखहि ध्यान चित्त ।
इहि भांति ध्यान उर बसहिं आन । यह ध्यान राह नरनाह जान ।
जो ध्यान न सधहिं न लगै चित्त । तौ नेम सहित जप मंत्र नित्त
जो मंत्र न विधि सौ सधै राव । तौ पावन प्रभु को लिय नाव ।
कुछ दिन साधन करिये उपाव । परिजालि बहुरि मनसा सुभाव[1] ।

अर्थात् राज योग की साधना ही सर्वोच्च साधना है । यह भक्ति और ज्ञान का काष्ठापन्न रूप है । इसमें धुनि का सुमिरन तथा रूप का ध्यान ही प्रमुख है । यदि साधक इसमें अक्षम हो, तब अजपाजाप की विधि अपनाई जानी चाहिए । यदि यह अजपाजाप का 'मध्यमा नाद' भी न खुल सके, तब इष्टदेव का ध्यान ही धारण करे । यदि देखे बिना ध्यान न हो पावे, तब प्रतिमा पूजन करना चाहिए । और उसका दरस-परस करना चाहिए । जब ध्यान में भी मन न लगे, तब नियम विधान पूर्वक मंत्र जाप करना चाहिए । जब मंत्र भी विधि पूर्वक न सधै—तब प्रभु के पावन नाम का उच्चारण किया करैं । इस तरह यदि कुछ समय तक कर्तव्य-बुद्ध्या साधना चलती रही तो धीरे-धीरे वह स्वभावगत हो जायगी ।

निरंजनी सम्प्रदाय के संतों में भी बुत परस्ती और विधि मार्ग के प्रति वह कट्टरता नहीं मिलती । संत हरिदास का कहना है—

नहिं देवन सुं बैरता, नहिं देवल सुं प्रीति ।
कृत्रिम तज गोविंद भजै, या साधां की रीति[2] ।

निष्कर्ष यह कि श्रुति लोक सम्मत विधि तथा अवतारवाद का विरोध न तो पहले था और न बाद में—जहाँ था भी—वहाँ उसके विकृत पक्ष को लेकर ।

सहजो बाई[3] ने भी सगुण-निरगुण में एकरूपता और अविरोध प्रदर्शित किया है । उनका कहना है—

वही आप परगट भयो, ईसुर लीला धार ।
माँहि अजुध्या और बृज, कौतुक किए अपार ॥४॥
चारबीस अवतार धरि, जन की करी सहाय ।
राम कृष्ण पूरन भये, महिमा कही न जाय ॥५॥

---

१. अक्षर अनन्य के चिट्ठा १४-२०-२३, २६ ।
२. वाणी, जोधपुर सं०, पृ० ८ ।

३. सहजो बाई की बानी, पृ० ३९ ।

निर्गुन सूँ सर्गुन भये, भक्त उधारन हार ।
सहजो की दंडोत है, ता कूँ बारम्बार ॥६॥

इन पंक्तियों के साक्ष्य पर यह स्पष्ट है कि सहजो बाई ने अवतारवाद में आस्था व्यक्त की है । 'नेत नेत कहि वेद प्रकारै'—कहने वाली महजो की वेद-विधान में निष्ठा भी लक्षित होती है । अभिप्राय यह कि वैधी पद्धति और उसके स्रोतों से इन्हें कोई विरक्ति नहीं है ।

इसी प्रकार दयाबाई ने भी कहा—
बड़े बड़े पापी अधम, तारत लगी न बार ।
पूँजी लगै कछु नंद की, हे प्रभु हमरी बार[1] ॥४१॥

इन पंक्तियों से भी स्पष्ट है कि दयाबाई की भी आस्था अवतारवाद में है । इस प्रकार इन पंक्तियों द्वारा एक तो यह स्पष्ट है कि अवतारवाद के विरुद्ध जितना तीखा स्वर कबीर का है—उतना अन्य संतों का नहीं । दूसरे विधि विधान यदि अंतः शुद्धि में साधन हैं—तो उसके समर्थन में उन्हें संकोच नहीं ।

तीसरा प्रश्न यह है कि संतों की नारदी भक्ति का स्रोत 'दक्षिण' है या 'उत्तर' । 'दक्षिण' वालों का पक्ष है—'भगति ऊपजी द्राविड़ी'—आलवार भक्ति । आलवार शठकोपाचार्य नाथमुनि यामुनाचार्य रामानुजाचार्य (तमिल से मैसूर वहाँ से विठुला महाराष्ट्र)—से चलती हुई 'भगति' विठलोपासना के रूप में महाराष्ट्र में आई । यहाँ उस पर नाथ पंथ, शैवागम, पाँचरात्रागम, भागवत धारा—सभी का रासायनिक मिश्रण है । उत्तर भारत से तो सात्वत धारा आलवारों में जाकर विलीन हुई ही थी । फलतः उत्तर भारत में भी वैष्णव भक्ति निःशेष नहीं थी । शैवों का प्रभाव समाप्त होते ही मध्यकाल में जनता के बीच सुरक्षित वैष्णव भावना पुनः दीप्त हो उठी । इसी उत्तरी क्षेत्र के रामानंद से संतों की भगति का संबंध डा० राजदेव सिंह जोड़ते[2] हैं । वैसे अभी 'रामानंद' के नाम से प्रचलित विभिन्न रचनाओं (संस्कृत, हिंदी) का परीक्षण स्वयम् में एक स्वतंत्र शोध का आव्हान है । अतः इस विषय में निर्भ्रान्ति रूप से कुछ निर्णय लेना संभव नहीं है। ऊपर जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है उससे एक बात निर्भ्रान्त है कि संतों की 'भगति' आगम सम्मत 'भक्ति' है—निगम मूलक नहीं । ज्ञानदेव से लेकर राधास्वामी संतों तक 'गुरु भक्ति' का तीव्र स्वर अविच्छिन्न रूप से सुनाई पड़ता है—सूफियों का स्रोत भी आगम धारा ही है—अतः सूफियाना प्रभाव भी इसमें लक्षित हो—तो शुक्ल जी का पक्ष ठीक ही है । इस संदर्भ में शुक्ल जी की स्थापना कि वह शांकर निर्गुण धारा की अद्वैती भक्ति नहीं है और वारकरी तथा सूफियों के मेल में है—सर्वथा संगत है । विरोधियों

१. संतबानी संग्रह, भाग पहिला, पृ० १७६ ।
२. संतों का भक्ति योग, संतों की भक्ति : ऐतिहासिक संदर्भ पृ० ८ से ३४ तक ।

ने जो तर्क दिए हैं—उनकी सारासारता का परीक्षण हो चुका है। अतः चाहे संतों की निर्गुण भक्ति को रामानंदी प्रभाव में उत्तरी समझा जाय अथवा सक्त क्रम परम्परा में दक्षणी—यह स्पष्ट है कि ये दोनों ही रूप आगम सम्मत अद्वैत भक्ति के हैं। इसका असर दोनों पर है। चौथा प्रश्न यह था कि यदि निर्गुन भक्ति का स्रोत नामदेव तथा ज्ञानदेव में उपलब्ध है और कुछ काल तथा देश का व्यवधान पार करता हुआ वह संतों में प्रकट होता है—तो इस स्थिति में उसे सूफियों से क्यों जोड़ा जाय? यदि गुरु भक्ति के माध्यम से हद तक पहुँचने का दोनों में साम्य है और संतों में भी वह उपलब्ध है—तो न मानने से जो है—उसका क्या विगड़ जायगा?

पाँचवां प्रश्न यह था कि भक्ति सुरति शब्द योग का अथवा सुरति शब्द योग भगति का साधन है—और इस प्रकार क्या यह साधना एक के क्षेत्र में दूसरे का बीज वपन है? ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है सुरत-शब्द तथा प्रेम तत्वतः भिन्न नहीं है। साधन वेला में शब्द के शरीरी रूप गुरु की 'भगति' आरंभ होती है और भगति की तीव्रता से सुरत शब्द के आकर्षण में उतावली होकर ऊपर चढ़ने लगती है—अंततः यह आकर्षण सुरत को शब्द में लीन कर देता है—वहाँ सुरत शब्द तथा प्रेम का भेद मिट जाता है फिर भी स्वारसिक राग अपनी तृप्ति के लिए अभेद में भेद वनाकर सुरत शब्द की क्रीड़ा चलाता रहता है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने 'निर्गुन राम भजहु रे भाई'—की ऐसी ही संगत व्याख्या दी है—"इस प्रकार पूर्वक्त' अनाहत वानी' ही वह भाव रूपिणी वस्तु है जिसे हम ज्ञानरूपो दीपक का प्रकाश हो जाने पर उपलब्ध करते हैं और वही दूसरे शब्दों में हरिनाम वा रामनाम भी है जिसका भजन यहाँ पर विवक्षित है। उसके साथ सुरति का संयोग होने पर जव तन्मयता आ जाती है और दोनों एकाकार हो जाते हैं तव सारी स्थिति ही भवमयी हो जाती है और तभी भजन (भज्=भाग लेना अथवा भाग लेकर उसमें लीन हो जाना) की सार्थकता संभव होती है। भाव भगति को कवीर साहव ने इसी अर्थ में गंठ जोरा भी कहा[२] है। इस अध्याय का सर्वोत्तम समापन राधास्वामी मत के संतों के शब्दों में इस प्रकार है—

मालिक शब्द है
मालिक प्रेम है
अतएव शब्द भी प्रेम है।
सन्त जन देह धारी शब्द होते हैं।
वे शब्द की दात प्रदान करते हैं[१]।

●

---

१. उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ३०७।

२. गुरुमत सिद्धांत, भाग २ प्रकरण २, पृष्ठ १८०।

प्रत्यावर्तन

संत कबीर ने कहा है—

तोंको पीव मिलेंगे घुंघट के पट खोल[1]

अर्थात् मुख या 'स्वरूप' पर आत्मा ने अपनी 'स्वातंत्र्यशक्ति' के बल पर अनेक परतों की घूंघटें डाल रखी हैं—स्वरूप विस्मृति कर रखी है और यह सब कुछ उसकी लीला के लिए है। अवरोहण क्रम में शक्ति ने जितने आवरण केंद्र निर्मित किए हैं—आरोहण क्रम में उन सबका निवारण करना है। कबीर ने बड़े सामान्य पर बड़े गहरे ढंग से अवरोहण और आरोहण की बात इन पंक्तियों में कह दी है। आत्मा सर्वव्यापक है—अतः आरोहण में अवकाश का अभाव होने के कारण उसका कहीं चढ़ना-उतरना अभिधा के स्तर पर संभव नहीं है। चढ़ना-उतरना स्वातंत्र्य कल्पित आवरणों का ही चढ़ना उतरना है। जिस-जिस क्रम से ये आवरण उतरेंगे आत्मा अपने 'स्वरूप' में प्रतिष्ठित होने की ओर बढ़ेगी। स्वरूप प्रतिष्ठ होने के बाद स्वारसिक वासना के कारण कल्पित द्वैत की भूमिका पर आत्मलीला का जिस जिस स्तर पर साक्षात्कार वह करती है—अपनी शब्दसाध्य अभिव्यक्तियों और उद्‌गारों में उनकी अभिव्यंजना करती है। पहले यह भी कहा जा चुका है कि उस चरम-परम स्तर पर किसी प्रकार का 'विशेष' न रहने पर भी आत्मा की अचिन्त्य शक्ति वश 'विशेष' रहता है—इसीलिए भिन्न-भिन्न धाराओं के साधकों की तो बात छोड़ें—एक ही साधन धारा के साधकों में भी अनुभूतियों का वैचित्र्य मिलता है—आध्यात्मिक ठहरावों और अनुभवों का वैविध्य मिलता है। आध्यात्मिक ठहराव और अनुभवों के ये संकेत मध्यकालीन संतों और भक्तों में ही नहीं, अपितु प्राचीनतम साधकों की अभिव्यक्तियों में भी मिलते हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि भारतीय अध्यात्ममार्ग में 'अधिकारभेद' को बहुत महत्व दिया गया है। यह महत्व साधक के 'स्व' भाव को ध्यान में रखकर दिया गया है। किसी का स्वभाव अद्रुतिशील है और किसी का द्रुतिशील[2] पहले प्रकार के स्वभाव वाले ज्ञानमार्गी उपासना की ओर जाते हैं और दूसरे भावमार्गी साधना की ओर। पहले नैगमिक प्रभाव में हैं और दूसरे आगमिक। एक साम्य

१. 'कबीर' (कबीर वाणी) पृ० ३५०।

२. भगवद्भक्ति रसायन, १।३वीं कारिका-मधुसूदन सरस्वती।

अवश्य है कि दोनों आत्मसुख के भावात्मक पक्ष पर ही केंद्रित होते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो 'दुःखत्रयाभिघात'[1] चाहते हैं और उसके अपघातक निमित्तों को खोजते हैं। ऐसा खोजते हुए विभिन्न प्रकार के मूल ढूंढ़ निकालते हैं और यहाँ तक पहुँचते हैं।

जो लोग दुःखोच्छेदपूर्वक सुखोपलब्धि की आकांक्षा से साधन पथ पर आरूढ़ होते हैं वे बताते हैं कि सुख दो प्रकार के हैं—सातिशय और निरतिशय। पहला 'प्रेय' है और दूसरा[2] 'श्रेय'। आत्मवादी साधकों की धारणा है कि 'प्रेय' सुख वह है जो स्वेतर माध्यमों से आत्मा को मिलता है। स्वेतर माध्यम की सातिशयता निरवधिक है—अतः उनसे प्राप्त होने वाला सुख भी निरवधिक सातिशय है—निरतिशय नहीं। यही कारण है कि सातिशय सुख दुःख-संभिन्न है—केवल सुख नहीं। आत्म-मात्र सापेक्ष सुख आत्माराम होने का सुख है—'श्रेय' है। प्रेयमार्गी 'कर्मजित्' एवं 'पुण्यजित्' लोकों में ही सातिशय सुख की उपलब्धि करता है पर वैदिक वाङ्मय के औपनिषद साधक इस सुख को क्षर मानते हैं और निरतिशय सुख की उपलब्धि के लिए 'श्रेयमार्ग' का ग्रहण करते हैं। कठोपनिषद्[3] का नचिकेता यमराज अथवा धर्मराज से बात करता हुआ इसी दिशा का संकेत देता है। इसी द्विविध सुख में निरतिशय सुख की महत्ता का नितान्त मनोरम निरूपण बृहदारण्यक[4] उपनिषद् में सनत्कुमार तथा नारद के पारस्परिक संवाद के अंतर्गत हुआ है। सनत्कुमार ने नारद से कहा कि वे सब कुछ पढ़कर 'मंत्रविद्' तो हुए, पर 'आत्मविद्' न हो सके—फलतः शोकमग्न हो रहे हैं। उन्होंने कहा—'तरति शोक मात्मविद्'[5] आत्मविद् शोक सागर का संतरण कर जाता है। नारद ने बताया सनत्कुमार ने जो कुछ किया है—वह आत्मविद् बनने का प्रथम सोपान था—जिसे नामज्ञान मात्र कहा जाता है। उन्होंने निरूपण क्रम में उत्तरोत्तर सोपानों का निर्देश करते हुए बताया कि नाम वाणी मन संकल्प चित्त ध्यान विज्ञान बल अन्न जल तेज आकाश स्मृति आशा प्राण सत्य क्रमशः उत्तरोत्तर हैं। आगे यह भी बताया कि सत्य वही बोलता है जिसे ज्ञान-विज्ञान हो। विज्ञान को मनन की, मनन को श्रद्धा की, श्रद्धा को निष्ठा की और निष्ठा को कर्मण्यता की अपेक्षा है। [कर्मण्यता या कृति में प्रेरणा देने वाली वस्तु है—सुख। इसलिए 'सुख' ही ज्ञेय है। फलतः सुख का निरूपण करते हुए नारद ने कहा—'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति'—सुख वह है जो असीम

---

१. सांख्य तत्व कौमुदी—प्रथम कारिका पृ० ८।
२. कठोपनिषद् २।१, पृ० ५।
३. वही।
४. छांदोग्योपनिषद् ७।१ पृ० ६०।
५. देखिए, वही।

है, ससीम में सुख नहीं । सुख वह है जो निरतिशय और महान् है, वह नहीं जो सातिशय, परिमित और क्षुद्र । अतः भूमा ही विजिज्ञास्य है । इसका साक्षात्कार होने पर साधक स्वयम् को 'भूमा' रूप में अनुभव करने लगता है—अर्थात् अपने को परसापेक्ष नहीं, स्वात्मपर्याप्त समझ जाता है । यहाँ कोई स्वेतर माध्यम नहीं, सीमा नहीं, आवरण नहीं, खंड नहीं, भेद नहीं । समस्त भेदों से पार होकर 'भूमा' तक जाने में आहार शुद्धि द्वारा 'सत्वशुद्धि' या 'मनोनैर्मल्य' होता है—फलतः 'ध्रुवा-स्मृति' का उदय होता है जिसके कारण अपने अपने ध्रुव-भूमा रूप का स्मरण हो आता है—ग्रंथियाँ टूट जाती हैं—आवरण हट जाते हैं ।

प्रश्न यह खड़ा होता है कि उस 'भूमा' को ढूंढ़ा कहाँ जाय ? औपनिषद ऋषियों ने इसका उत्तर देते हुए बताया है कि यह भूमा प्रवचन, मेधा और बहुश्रवण से नहीं, बल्कि वह स्वयम् जिसका वरण कर ले, उसी को प्राप्त होता[1] है । फिर भी यदि उसे पाना है तो उसे इसी शरीर रूपी ब्रह्मपुर में खोजना होगा । इस ब्रह्मपुर में 'दहर' नाम का एक छोटा सा, कमल की भाँति मंदिर है—हृदय है—जिसमें एक छोटा सा, आकाश है—वहीं यह छिपा है—वहीं इसे पाया जा सकता है । यह नहीं समझना चाहिए कि यह नन्हीं सी जगह है—वस्तुतः इसमें वह सब कुछ है—जो ब्रह्माण्ड में है । इन ऋषियों ने इन उक्तियों में संतों के पिण्ड ब्रह्माण्डवाद की ओर भी संकेत कर दिया है इस शरीर के जराजीर्ण होने पर भी उसमें स्थित रहने वाले तत्व का नाश नहीं होता—उसकी प्राप्ति के बिना सब प्राप्तिक्षर है और उसके प्राप्त हो जाने पर सब उसी ब्रह्मपुर में मिल जायंगे—उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है । ऐसा व्यक्ति संकल्पमात्र से बिना कहीं आए गए सब कुछ पा लेता है । उस समय तृष्णाओं का अनृत आवरण हट जाता है और सत् स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है । स्वल्प सुख की तृषणाएँ 'भूमा' का आवरण हैं—हृदय की इन तुच्छ एषणाओं का बादल जब फट जाता है, मल जब ध्वस्त हो जाता है—तब वह 'भूमा' यहीं व्यक्त हो जाता है । 'हृदयम्' का अर्थ ही है—'हृदि+अयम्'—वह हृदय में है । तदर्थ बाहर प्रयास निरर्थक है । बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने भी जनक को यही उपदेश दिया है—'हृदय वै सम्राट् ! परं ब्रह्म[2] । हे सम्राट । हृदय ही परब्रह्म है । उसी देश में उसकी उपासना आरंभ की जानी चाहिए । प्रसिद्धि ही है कि वैदिक ऋषियों की साधना का आरंभ 'हृदय' देश ही था ।

---

१. नायमात्मा प्रवचनेनलभ्यःन मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैषवृणुते तेनैव लभ्यः . . . —कठोपनिषद् । १।२, पृ० ६

२. बृहदारण्यक् ।

उपनिषदों तथा तदनुयायी नैगमिक वाङ्मय में अधिकारी भेद से हृदयाकाश में व्याप्त निर्गुण ब्रह्म तत्व की प्राप्ति के साधनों का उल्लेख मिलता है। उत्तम अधिकारी सीधे ज्ञानमार्ग से उस रहस्यमय तत्व को—आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, पर जो उत्तम अधिकारी नहीं है—उनके लिए क्रम-मुक्ति के मार्ग वताए गए हैं—उन्हीं के लिए अर्चिरादि मार्ग तथा धूममार्ग का निर्देश उपनिषदों में मिलता है। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जिनके लिए अक्रम तथा सक्रम—दोनों रास्ते वंद हैं—वे आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। इस प्रकार निर्गुण साधना सीधे और—सगुण साधना चित्तगत एकाग्रता का साधना वन कर परम्परया निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेती है। निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने में अक्षम सगुणोपासक अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं और वहीं 'श्रवण' वश तत्वसाक्षात्कार हो जाता है। ये अनुष्ठापक ज्ञान पूर्वक कर्म का अनुष्ठान करते हैं, पर विशुद्ध कर्ममार्गी धूममार्ग से पितृलोक जाते हैं और पुण्यक्षय के अनन्तर अपने सुकृत तथा दुष्कृत भोग के अनुसार पुनः उत्पत्ति होते हैं।

इसे यों भी समझा जा सकता है। अनादि परम्परा से 'विधा' तथा 'कर्म' ये दोनों आत्मा के साथ[1] रहते हैं। इस 'विधा' और 'कर्म' के तारतम्य से कभी एक काष्ठापन्न होकर दूसरे को ढंक लेता है और कभी मध्य स्थिति रहती है। इतना अंतर अवश्य है कि 'विधा' (सात्विकरत्ति—जिसमें आत्मा का प्रकाश है) काष्ठापन्न होकर 'कर्म' का नाश कर देती है; पर 'कर्म' काष्ठापन्न होकर 'विधा' का नाश नहीं कर पाते—आवरण अवश्य वन जाते हैं। इस प्रकार आत्मा की तीन दशाएँ हुईं—(क) विधा की काष्ठापन्न दशा (ख) कर्म की काष्ठापन्न दशा तथा (ग) दोनों की तारतमिक स्थिति संवलित दशा। इनमें से तृतीय स्थिति में ही गति संभव है—कारण, यहाँ विधा तथा कर्म—दोनों का समुच्चय है। शेष दोनों अवस्थाओं में आत्मा गतिशून्य रहती है। इन दोनों में से भी विधा की काष्ठापन्न अवस्था वाली 'अगति' तथा कर्म की काष्ठापन्न वाली 'अगति' में अंतर है। परवर्ती में स्तम्भन है और पूर्व वाली में व्यापक आत्मा की 'गति' क्या ? इसीलिए श्रुति कहती है—"न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति"। उसकी गति किसी लोक में नहीं होती—वह समवलय गति है। यही परम मुक्ति या विदेह मुक्ति है। यह विवरण रहा—अगति का जहाँ तक 'गति' का सवाल है—वह दो प्रकार की है—पहली 'विधा' द्वारा या उसकी प्रधानता होने पर सूर्याभिमुख और दूसरी विधा के अविधा द्वारा खा लि[ए] जाने पर चन्द्राभिमुख। पहला अर्चिरादि मार्ग है और दूसरा धूममार्ग—पहला शु[क्ल]

---

१. "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते, पूर्वप्रज्ञाच-(श्रुति)
पृ० १४० देखें, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति।

मार्ग है और दूसरा कृष्ण मार्ग । शुक्ल मार्ग में दो गतियाँ हैं—एक ब्रह्मलोकगति और दूसरी देवलोक गति यहाँ इन प्रासंगिक बातों का अधिक विवरण अनावश्यक है—यह सब केवल ऊर्द्धयात्रा की पीठिका रूप में दिया जा रहा है—ताकि संतों की ऊर्द्धयात्रा का रहस्य समझाया जा सके—
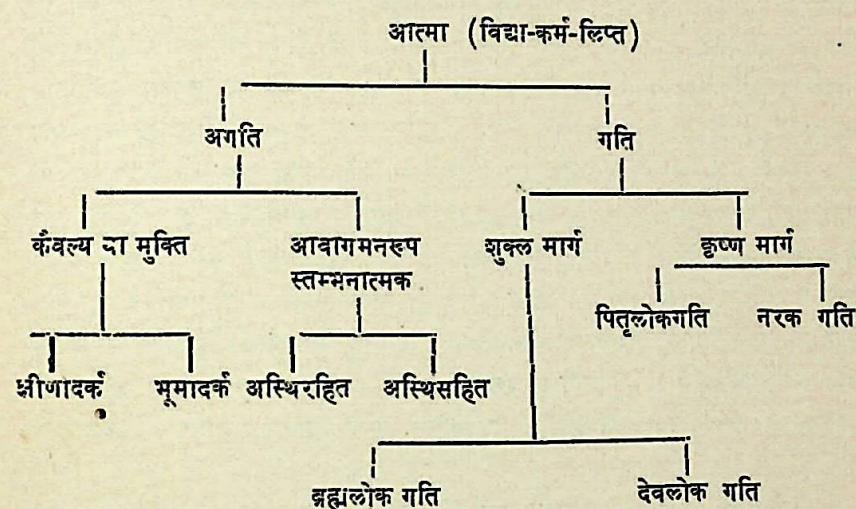
औपनिषद वाङ्मय में 'गति' के निरूपण में भी उन विभिन्न लोकों का वर्णन मिलता है—जो स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के उत्क्रान्त होने के बाद लोक मिलते हैं । संत वाङ्मय में इस प्रकार का ऊर्ध्व यात्रा का विवरण प्रायः नहीं है, कारण वहाँ इसी शरीर में रहते हुए जो अनुभव होते हैं—उनका विवरण है । अतः औपनिषद वाङ्मय में उस 'अगति' की पीठिका यहाँ प्रसंगोचित हो सकती है जिसे 'मुक्ति' रूपा अगति कहते हैं । इस मुक्ति के भी दो रूप कहे गए हैं—एक तो वह जो कुटुम्ब, नगर देश या संपूर्ण भूमण्डल आत्मबुद्धि से प्राप्त मुक्ति और दूसरी वह जो समस्त-कुटुम्ब, शरीर, मन, प्राण, इंद्रिय आदि सबको आत्मव्याप्ति से निकालकर निर्गुण निराकार आत्मबोध के बाद मिलती है । पहले को भूमोदर्क कहते हैं और दूसरे को क्षीणोदर्क । संत जन उस आगम धारा के उपासक हैं जहाँ क्षीणोदर्क की भूमिका प्राप्त कर व्यक्त प्राणेन्द्रियादि का पुनः चिन्तयीकरण होता है और व्यक्त का स्वरूपात्मक ग्रहण हो जाता है । इसीलिए इस धारा में यात्रा वृत्तात्मक है—पूर्वार्द्ध है—त्यागमार्ग और उत्तरार्द्ध है—ग्रहणमार्ग । कुल मिलाकर उभयात्मक भी है और उभयातीत भी । निर्गुण भी सगुण भी—न निर्गुण न सगुण भी—जो है सो है—अनिर्देश्य है ।

एक बात अवश्य है—वैदिक मार्ग निर्दिष्ट 'गति' संज्ञक यात्रा में सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से संबंध विच्छेद हो जाता है; पर संत जन की उर्द्धयात्रा में शरीर में ही साधक का संबंध स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण—शरीरों से छूटता जाता है—अ सव शरीर में हैं अन: नहीं भी छूटे हैं—अतः सूक्ष्म शरीर साध्य प्राणोत्क्रमण की यात्रा में जो लोक पड़ते हैं—उनकी संभावना यहाँ भी है। वैसे संत जन की उर्द्धयात्रा का प्रस्थान और प्रक्रिया सर्वथा भिन्न है। वैसे उपनिषदों में तथा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में अचिरादि तथा धूममार्ग के ठहरावों का उल्लेख हुआ है। छांदोग्य[1] उपनिषद में अचिरादि मार्ग से जाने वाले क्रम का विवरण इस प्रकार है। उत्क्रान्त सूक्ष्म शरीर अचि या प्रकाश में अहः शुक्ल पक्ष उत्तरायण के छह मासों में संवत्सराग्नि में सूर्य मण्डल चन्द्रमा विद्युत में जाता है। इसी विद्युत् लोक में मानस पुरुष आता है और इसमें रहने वाले समस्त प्राणियों को ब्रह्मलोक पहुँचा देता है। यहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती। सर्वोत्तम गति या क्रम मुक्ति यही है। यहाँ जो काल विशेष के वाचक नाम हैं—वे वास्तव में अमतिवाहिक आत्मा को ले जाने वाले देवता हैं। ये देवता वाचक तो हैं ही—अतः इनका एक पद और लोक भी होगा। विद्युत् तयः लोक ही है और मानस पुरुष स्वयम्भू मण्डल का अधिष्ठाता है।

इस 'गति' से ऊँची भूमिका 'अगति' की है और वैदिक 'अगति' से ऊँची आगम सम्मत 'अगतिमय गति' की। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ तांत्रिक साधना पद्धति का भी प्रचार कम नहीं था। उपनिषदों में वर्णित ऐसी अनेक विधाएँ हैं जिनकी आधार भित्ति तांत्रिक प्रतीत होती है। वृहदारण्यक[2] तथा छांदोग्य[3] में वर्णित पंचाग्नि विधा के प्रसंग में 'योषावाव गोतमाग्निः' आदि रूपक का क्या रहस्य है? सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाड़ियाँ हैं, गुप्त आदेश मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है, उससे निकलने वाले अमृत का 'साध्य' नामक देवता उपभोग करते हैं। इस पंचम अमृत के वर्णन में जिन गुप्त आदेशों को मधुकर वतलाया गया है वे गोपनीय तांत्रिक आदेशों के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं।' अतः वैदिक उपासना के साथ गुह्य तांत्रिक पद्धति की कल्पना निराधार नहीं है। म० म० प० कविराज गोपीनाथ ने 'सस्त्री की धर्ममाचरेत्' से किसी ऐसी वैदिक साधना की ओर इंगित किया है[4] जो गुह्य उपासना थी। इनके अतिरिक्त 'वाग्योग' आदि और न जाने कितनी साधनाएँ

---

१. देखिए—छांदोग्य प्रभा० ५ खण्ड १० कण्डिका १, २।
२. ६।२।
३. ५।८।
४. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० ५५३।

थीं'। श्वेताश्वेतर[1] उपनिषद् में कहा गया है कि यदि पति चाहे कि उसकी पत्नी संतानोत्पत्ति न करे—बल्कि ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करे—तो पति पत्नी को अनुकूल बनाले और दोनों प्राणापान की गति साधें और दोनों एक दूसरे के प्रति इस भावना को जन्म दें कि अपनी शक्ति को एक दूसरे की इन्द्रियों की शक्ति में सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार वे दोनों अरेता हो जाते हैं—प्रजनन नहीं करते।

संतों ने आगम सम्मत वाग्योग का ही एक रूप सुरत शब्दयोग-साधन के रूप में अपनाया है। इस साधन के तीन सोपान हैं—प्रवर्तक अवस्था, साधक अवस्था तथा सिद्ध अवस्था। कृत्रिम साधना प्राकृत देह में आरम्भ होती है। इस स्तर पर आरंभ गुरु प्रदत्त नाम साधना से होता है। नाम साधना के फलस्वरूप गुरु की उपलब्धि होती है जो साधक में मंत्रात्मक बीजवपन करता है। इस साधना के फल-स्वरूप प्रथमावरण भंग होता है—प्रमातावरण ध्वस्त होता है—फलतः सच्चे साधक का जन्म होता है। यहाँ से साधक अवस्था का आरंभ होता है। यहाँ साधक की चेतना प्राकृत शरीर से खिंचकर भावमय शरीर में चली जाती है। वास्तविक साधना इसी भावमय शरीर में होती है। इसी देह में 'भाव' भगति का प्राकट्य होता है—जो ह्लादिनी की, अंतरंगा या चिच्छक्ति की एक वृत्ति विशेष है—जो साधक में पहले आवृत रहती है—आवरणों से आच्छन्न रहती है। इस स्तर पर आकर्षण में भी तीव्रता आ जाती है—यहाँ बेकली की यात्रा इतनी बलवती होती है कि प्राकृत शरीर तो इस आँच को सह ही न सके। इस भावमय देह में जो अपक्व 'भाव' होता है—वही धीरे धीरे पक्व होकर 'प्रेम' का रूप धारण करने लगता है। इसी स्तर पर प्रेममय इष्ट तत्व का साक्षात्कार होता है। अंतिम स्तर सिद्ध दशा का स्तर है—जहाँ 'प्रेम' रस रूप में विकसित हो जाता है। वैष्णव भक्तों में यही दशा महाभाव की दशा है। निर्गुनियाँ संतों में यही सुरत शब्दलीन हो जाती है।

साधक जीव आवरणों का भंग करता हुआ जिन स्तरों पर पहुँचता है और उसे जैसी-जैसी अनुभूति होती है—उसका यत्किंचित् संकेत श्रोतस्मार्त परम्परा में भी मिलता है। वेदों की रहस्यमयता के संबंध में ज्ञान की वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति से अपरिचित लोगों की बात पृथक् रखें; कविराज गोपीनाथ तथा महर्षि अरविंद की धारणा है कि वैदिक ऋषि 'सत्य' के दृष्टा थे और उनकी अभिव्यक्ति प्रतीकमय पद्धति में है। ऋषी दीर्घतया कहता है—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः'[2]—अर्थात् ऋचाएँ रहती हैं उस परमाकाश में जो अविनाशी है जिसमें सभी देव स्थित हैं। साथ ही वह फिर कहता है—'यस्तन्न वेद किम् ऋचा

---

१. छठें अध्याय के चौथे ब्राह्मण का दसवाँ श्लोक।
२. म० सं० सा० भाग १, पृ० ४७६ (उद्धृत)

करिष्यति'—वह जो उसे नहीं जानता, ऋचा से क्या करेगा[1] ? वहीं यह भी कहा गया है कि वे स्तर चार हैं—जहाँ से वाणी निकलती है—जिनमें तीन गुह्य हैं और चौथा मानवीय[2] हैं । वेद के शब्द और विचार उच्चतर तीन स्तरों से संबद्ध हैं । पुरोहितों ने गुह्यार्थ को मासिक प्रक्रिया से इतना ढंक दिया कि 'गुह्य' ढंक गया । 'आरण्यक' तथा उपनिषदों में इसका पल्लवन अधिक हुआ और उत्तरोत्तर होता ही गया ।

इन जिज्ञासुओं ने 'ऋतस्य पंथा:' की खोज की और पाया कि 'अमृतस्य[3] भूरे:' अमृतपूर्ण दृश्यमान जगत् से परे 'सदनम् ऋतस्य'[4] है—जो 'सत्यम्, ऋतं'[5] है। उन लोगों ने और भी आन्तरालिक लोकों की कल्पना या चर्चा की है और माना है कि त्रिदिव तक बीच में और भी लोक हैं । पर सर्वोच्च है—परमपद, परमव्योम। त्रिविक्रम द्वारा लांघित तीनों लोकों से यह परे है । यहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप में निवास कहा गया है । वहाँ विष्णु के भक्त या सूरि लोग मधुपान करते हुए आनन्द-मग्न रहते हैं । वहाँ का मधुचक्र ही अमृतकूप है । इसी लोक की उपलब्धि गह्य ब्रह्म की उपलब्धि है। इसे विप्र एवम् विद्वज्जन ही जानते हैं—'तद् विप्रासो विमन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत् परमं पदम्'[6] । उसी परम पद के विषय में वेदों का कहना है 'तद् विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्'[7] । विद्वानों ने इस वाक्य को आधार बनाकर 'परम पद' के विशिष्ट व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं । कहा गया है कि द्युलोक में व्याप्त चक्षु के आकार की भाँति फैला हुआ यह परम पद सूरियों द्वारा सदा दृष्टिगोचर होता रहता है । सदा दृष्टिगोचर होने का अभिप्राय यह निकाला गया है कि दर्शन क्रिया सदा तभी हो सकती है जब द्रष्टा में उन्मेष निमेष क्रिया शान्त हो गई हो । उन्मेष और निमेष की क्रिया तभी शान्त होती हो सकती है जब प्राण, मन तथा इंद्रियाँ शांत हो गई हों । इस स्थिति में अज्ञानविरोधी ज्ञाननेत्र खुलते हैं और ज्ञाननेत्र द्वारा ही उस लोक का साक्षात्कार होता है । इन सूरियों की देह अप्राकृत तथा सत्त्वमय है ।

जैसा कि गति-अगति का निरूपण करते हुए ऊपर कहा गया है उस 'परम धाम' या 'परम पद' में देहावस्था में भी प्रवेश किया जा सकता है और देहत्याग के

---

१. ऋग्वेद, १।१६४।३९ ।
२. वही, १।१६४।४६ ।
३. वही, ७।६०।५ ।
४. वही, १।१६४।४१ : ४।२१।१३ ।
५. अथर्ववेद, १२।१।१ ।
६. ऋग्वेद, १।२२।२१ ।
७. भा० सं० और साधना, भाग १, पृ० ४७६ (उद्धृत) ।

वाद भी। पर कतिपय आलोचकों की धारणा है कि इस 'परम पद' में प्रवेश हो ही नहीं सकता। पर न 'सूरि' गण 'दिव्य सूरि गण' अवश्य इसका दर्शन करते होंगे, तभी तो इसकी चर्चा होती है—अन्यथा यही कैसे संभव होता। 'सूरि' और 'दिव्यसूरि' में अंतर है। जिसके अप्राकृत शरीर में भी प्राकृत गुणों की गंध शेष रह गई हो, वह 'सूरि' और जिसमें न रह गई हो, वह 'दिव्यसूरि' है। जो लोग इस पद में प्रवेश मानते हैं वे यह भी मानते हैं कि उसमें प्रवेश देहावस्था में भी हो सकता है और देहपात के बाद भी हो सकता है। देहावस्था में देह अपक्व भी हो सकती है और पक्व। अपक्वदेह के रहते यदि उस धाम में प्रवेश हो गया, तो प्रारब्धक्षय वश देहपात हो जाता है और आवागमन समाप्त हो जाता है। पक्वदेह या सिद्धदेह होने पर तो प्रवेश-वेला में भी देह रह सकती है—हाँ, यह अवश्य है कि तब देह बोध नहीं रहता, निर्गम के बाद देह बोध होता है। रही देहपात के बाद प्रवेश की सो वह देह पात प्रारब्धक्षय वश स्वाभाविक क्रम में ही हो सकता है और स्वेच्छया भी हो सकता है। इस प्रकार 'परम पद' की प्रवेश-अप्रवेश को लेकर पाँच स्थितियाँ हुई—(१) अपक्वदेह से (२) पक्वदेह से (३) स्वेच्छा देहबोध त्याग से (४) मृत्युकाल में देहबोध निवृत्ति से और (५) सूरियों द्वारा अप्रवेश योग्य होने से।[१]

गीताकार ने भी कहा है—

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"[२] गीताकार ने उसी 'परमपद' को 'परमधाम',[३] वैष्णवों ने 'परमपद[४] वाल्मीकि ने 'सनातन आकाश'[५] महाभारतकार ने 'दिव्यं स्थानमजं[६] चाप्रमेयम्' तथा नाथों ने 'परमपद'[७] कहा है। वास्तव में यह वह अवस्था है जो निरोधमय है—यहाँ पहुँचने पर पुनः व्युत्थान होता ही नहीं। यह चंद्र, सूर्य तथा अग्नि मय ज्योतियों के नियंत्रण से परे है। इस स्तर की चर्चा क्रम सूत्रकार[८] ने भी की है। पातंजल दर्शन के अनुसार यह 'धर्ममेघ'[९] के समकक्ष है। महायानियों की दश बोधिसत्व भूमियों में दशमी भूमि संज्ञावेदना

१. देखिए, 'परमपद' शीर्षक निबंध, भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १ पृ० ४७६।
२. भगवद्गीता।
३. वही।
४. वही।
५. वाल्मीकि रामायण।
६. महाभारत।
७. सिद्धसिद्धांत पद्धति।
८. क्रमसूत्र।

९. पातंजल योग सूत्र, व्यासभाष्य।

निरोध है। हीनयानी या प्राचीन बौद्धों के संज्ञावेदना[1] निरोध से इसकी तुलना संभव है। गीता के 'विशते तदनन्तरम्'—से तो यह भी अनुमान किया जाता है कि 'परधाम' के बाद 'अपरधाम' भी है[2]। इस प्रकार 'परमधाम' विषयक चरम-स्थिति की तुलना स्वयम् में एक शोध का विषय है। कौन सा साधक किस चरम स्तर तक का है—वह उसका विवरण क्या देता है ? इसी आधार पर यह तुलना प्रस्तुत की जा सकती है।

प्राचीन बौद्धों ने अपनी ऊर्द्धयात्रा में निम्नलिखित आठ भूमियों की चर्चा की है। बौद्ध 'चित्त' को ही महत्व देते हैं। हीनयानी इस धारा का—चित्तधारा का 'निर्वाण' करता है—तदर्थ रूपायतन अरूपायतन नैव रूप रूपायतन आकाशानंत्यायतन विज्ञानान्तायतन अकिंचमायतन नव संज्ञा नासंज्ञायतन संज्ञावेदमित्री इन स्थितियों का उल्लेख करता है।

डा० बड़थ्वाल ने इन भूमियों की चर्चा की है। परन्तु हीनयानी आचार्य मानते हैं—चित्त के दो रूप हैं—लौकिक तथा लोकोत्तर लौकिक चित्त के तीन रूप हैं—कामावचर, रूपावचर तथा अरूपावचर। इन तीनों स्तरों पर 'तण्हा' (तृष्णा) व्याप्त रहती है। प्रथम स्तर पर काम तृष्णा, दूसरे पर रूप तृष्णा तथा तीसरे पर अरूप तृष्णा व्याप्त रहती है। हीनयानी साधक के चित्त को इन तीनों प्रकार के तृष्णा लोकों को पार करना पड़ता है। लोकोत्तर चित्त ही तृष्णा मुक्त होता है। इनके विस्तृत और सूक्ष्म विवरणों में यहाँ उतरना आवश्यक नहीं है। इससे इतना ही कहना है कि 'चित्त' भिन्न-भिन्न उपायों से पूर्व-पूर्व अवस्थाओं को पार करता हुआ अभीष्ट, स्थिति तक पहुंच जाता[3] है।

महायान में 'चित्त की 'बोधिचित' स्तर तक पहुँचाना पड़ता है और तदर्थ बोधिसत्व की दश भूमियाँ पार करना पड़ता है—प्रमुदिता विमला प्रभाकरी अर्चिष्मती सुदूर जया अभिमुक्ति दूरडमा अचला साधमती धर्ममेघा[4]।

इसी प्रकार तांत्रिक बौद्ध धर्म अर्थात् वज्रयान में माना गया है कि चित्त की संवृत दशा 'शुक्र' है और परमार्थ 'बोधिचित्त'। 'शुक्र' को 'बोधिचित दशा' तक पहुँचने में चार चक्रों को पार करना पड़ता है—जिनमें चित्त भिन्न-भिन्न स्थितियों में आता है। ये चार चक्र हैं—

---

१. बौद्ध दर्शन।
२. भगवद्गीता।
३. बौद्धदर्शन।
४. (बौद्ध दर्शन) तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० ७७।
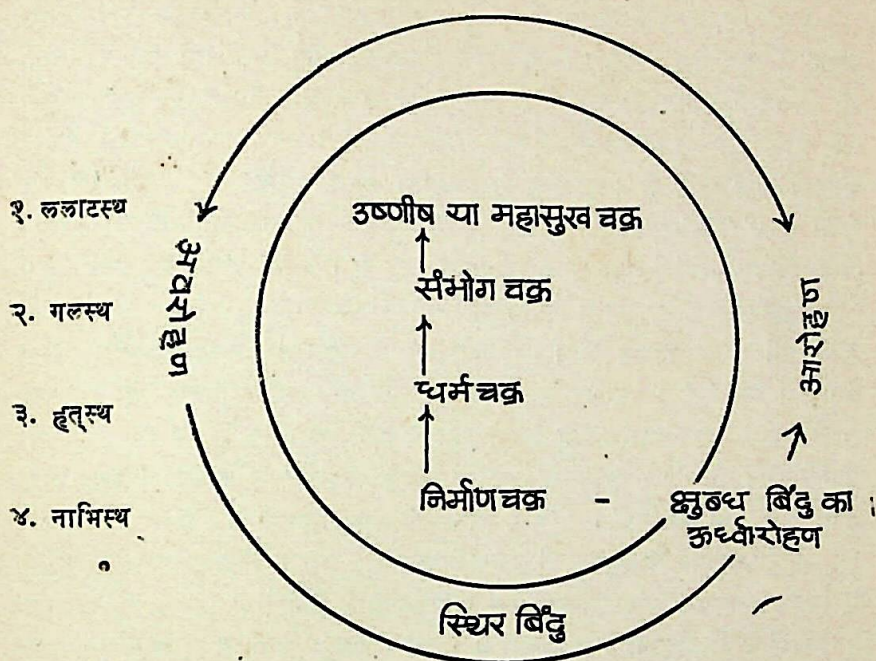
क्षुब्ध शुक्र का ऊर्ध्वारोहण होता है और पुनः अवरोहण होने के बाद चित्त वज्रोयम हो जाता है—उसमें चांचल्य नहीं रहता। जब तक चित्त में चांचल्य रहता है—उसे काल ग्रस लेता है और वज्रोयम होने पर वह कालातीत हो जाता है। बौद्ध सिद्धों ने इन स्तरों की आनन्दानुभूतियों का भी वर्णन किया है। और उनकी भिन्न भिन्न संज्ञाएँ दी[१] हैं।

बौद्धागमों के अतिरिक्त वैष्णवगमों तथा तदनुयायी विभिन्न वैष्णव धाराओं में भी विभिन्न लोकों का उल्लेख है—जो जीवात्मा की आध्यात्मिक यात्रा में पड़ते हैं। 'श्री सम्प्रदाय' में 'परमपद' को 'परम व्योम' कहा जाता है। और माना जाता है कि परमव्योम वैकुण्ठ ही भगवान की नित्य विभूति है—लीला विभूति है। त्रिपाद विभूति 'नित्य' और एक पाद विभूति 'लीला' है। मध्व सम्प्रदाय के आचार्यगण अनन्तासन, श्वेतद्वीप तथा वैकुण्ठ में भेद मानते हैं। इनके मत से परमपद 'दिवः परम्' है, द्युलोक से ऊपर है पृथ्वी में द्युलोक महामेरु से परे अनन्तासनही दिवः परः आकाश में द्युलोक सूर्यमण्डल से परे श्वेत द्वीप ही दिवः परः है द्युलोक में, दिवः पर इन्द्र सदन से परे वैकुण्ठ ही दिवः परः है।

---

१. An Introduction to Tantric Buddhism. १७६

एक ही परमपद तीनों स्थानों से दृष्टिगोचर होता है । ऋग्वेद में यही 'परम-व्योम' है और महानारायणोपनिषद् इन्हीं के समकक्ष तीन चन्द्र कहे गए हैं । ब्रह्म की त्रिपाद विभूति तथा एक पाद विभूति के बीच जो अवकाश है—उसे विरजा नदी कहते हैं । यह कारण सलिलात्मक मानी जाती है । एक पाद विभूति में समस्त ब्रह्माण्ड माने जाते हैं । ब्रह्मरंध्र से उत्क्रमण करते समय 'स्थूल', सूर्यमंडल भेद करते समय 'लिंग' तथा 'विरजा' भेद करते समय 'सूक्ष्म' का त्याग हो जाता है । फिर अप्राकृत सत्वमय शरीर से वैकुण्ठ लाभ् होता है । वैकुण्ठ ही दिव्य[1] लोक[2] है ।

वेदान्त देशिक का मत है कि विशुद्ध सत्व या परमव्योम ही परमपद के नाम से अध्यात्मशास्त्र में प्रसिद्ध है । उपनिषदों का 'आदित्यवर्ण तमसः परस्तात्' द्वारा इसी का निर्देश है । पर यह स्थान चिन्मय नहीं है । महाप्रभुवल्लभ के यहाँ भी ज्ञानी साधक अक्षर ब्रह्म अथवा निर्गुण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं जब कि भक्त भी वहाँ पहुँचते हैं । पर भक्तजनों पर अनुग्रहातिरेक होने के कारण वे पुनः प्रबुद्ध होकर पुरुषोत्तम धाम-गोलोक धाम-में पहुँचते हैं और क्रीड़ा मग्न होते हैं ।

वैष्णव वाङ्मय में भगवान् चतुस्पाद विभूति माने गए हैं । उनकी एकपाद विभूति में अनन्त ब्रह्माण्ड संवलित प्राकृत जगत् विद्यमान है । त्रिपाद विभूति अप्राकृत जगत् है वैष्णवों ने इसे 'व्यापी वैकण्ठ' कहा है । इस अप्राकृत जगत् के लोकोत्तर मण्डलों में महाशून्य को पारकर ही जाया जा सकता है । मर्मियों की धारणा है कि बौद्धों का बुद्ध क्षेत्र भी इसी मण्डल का एक प्रकार विशेष है । जैन मत में जिस सिद्धशिला की बात की जाती है—उसके भी ऊपर अप्राकृत जगत् के विभिन्न लोकोत्तर मण्डल हैं । मध्यकालीन आलोच्य संत भी विभिन्न संज्ञाओं से इन्हीं लोकोत्तर मण्डलों का उल्लेख करते[3] हैं ।

इस प्रकार विभिन्न तन्त्रों और पुराणों में अध्यात्मयात्रा में पड़ने वाले विभिन्न मण्डलों का उल्लेख मिलता है । उत्कलीय वैष्णवों के साहित्य में जो पारिभाषिक शब्दावलियाँ मिलती हैं उनके माध्यम से यह संकेत मिलता है कि इस साधन धारा पर नाथ, बौद्ध (काल चक्रयान) तथा वैष्णव सहजयान का भी प्रभाव है । कहाँ तक कहा जाय—इस प्रकार अध्यात्म यात्रा में पड़ने वाले लोक लोकान्तरों का उल्लेख सर्वत्र ही मिलता है । यह सब आत्मस्वरूप का स्तर दर-स्तर प्रकाश ही है, आवरणक्षय ही है ।

बात को पीठिका रूप में बहुत अधिक न बढ़ाते हुए उस आगमिक धारा में निरूपित लोक लोकान्तरों का भी उल्लेख आवश्यक है । आगमिक चिन्ताधारा का

---

१. देखिए-श्री कृष्ण प्रसंग । शक्ति, धाम, लीला, भाव (ख) ।
२. देखिए – भारतीय संस्कृति और साधना–'परमपद' शीर्षक लेख ।
३. देखिए – श्रीकृष्ण प्रसंग (कविराज गोपीनाथ) पृ० ५५ ।

वश्वकोश् कहा जाने वाला 'तंत्रालोक' वताता है कि 'वीरावलि' आगम के अनुसार जब 'चित्त' चेत्य (ज्ञेयपदार्थ मात्र) को ग्रासीकृत करता हुआ चेतयिता में (संवित् में) विश्रान्त हो जाता है—तव 'प्राण' एवम्-'उत्थान' का प्रवाह 'मध्य धाम' में लीन हो जाता है, फलतः 'उदान' या जीव मध्यमार्ग से ऊर्ध्व संचार करता हुआ 'द्वादशान्त' में प्रतिष्ठित हो जाता हैं—उस समय प्रमाण एवं प्रमेय का व्यवहार समाप्त हो जाता है—प्रमाता काष्ठाधिरूढ़ हो जाता है—यही आत्मवोध की स्व प्रकाशमयी चरमदशा है—इसी अवसर का जो 'अनुभव विशेप' है—वही मोक्ष है, यही 'स्वभाव' वोध का परम रूप है । यहाँ 'वोध' और 'स्वातंत्र्य' का सामरस्य अनुभूत होता है (दोनों का पार्थक्य ही 'भाव' से 'अभाव' की ओर वंध में अवरोहण है और अपार्थक्य ही 'अभाव' से 'स्वभाव' की ओर 'मुक्ति' में प्रविष्ट होता है) । औपनिषद धारा में इस पार्यान्तिक दशा को आनन्दमय कहा गया है—आगमिक भी आनंदमय मानते हैं—पर उसे स्पप्ट करते हुए वे कहते हैं कि वह दशा आनन्दमयी स्वातंत्र्यात्मा शक्ति से समरस वोधात्मक शिव की दशा है । इसकी आनंदात्मिका प्रकृति या अनुभूति को स्पप्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि 'द्वादशान्त' का ही दूसरा नाम 'विसर्गान्त' है—इस तुर्यातीत चरमभूमि में भैरव मुद्रानुप्रवेश क्रम से समाविप्ट होकर साधक आनन्दानुभूति करता है । आनन्दानुभूति का कारण 'विसर्ग' दशा में विश्रांति है । 'विसर्ग' उस विंदु-द्वयात्मक पारमेश्वर रूप का नाम है—जो विसिश्रिक्षात्मक माना गया है और जिन्हें संकोच विकासात्मक या सस्पंद कहा गया है । दृष्टान्त पूर्वक अभिनव गुप्त और जयरथ ने इसे स्पप्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रासमी या वड़वा (घोड़ी) मूत्रत्याग करते समय अपने वरांग का संकोच विकास करती है और तन्मनस्क होकर उससे क्षणभर के लिए एक प्रकार का आनंद प्राप्त करती है—ठीक उसी प्रकार साधक भी आनन्दधाम तरांग स्थानीय 'विसर्ग' दशा को जव पहुँचता है—तो उस शाश्वत स्पंदशील संकोचविकासात्मक आत्म शक्ति से एक रस होकर विश्रांति लाभ करता[1] है ।

इस प्रकार 'आणव' उपाय द्वारा 'परपथ' से चलने वाले साधक को 'पूर्णता' की ओर उन्मुख होते ही 'आनंद' का अनुभव होने लगता है—उसकी प्रगाढ़ता के लिए वेकली भी होने लगती हैं । पार्यन्तिक या पूर्णता की दशा के अतिरिक्त आन्तरालिक अथवा मध्यवर्ती आरोहण क्रम में कैसी कैसी रहस्यात्मक अनुभूतियाँ होती हैं—इसका भी आगमिकों ने संकेत दिया है ! कहा है कि 'पूर्णता' की ओर उन्मुख होने पर स्वतः आनंद की अनुभूति होने लगती है । आनन्द के अनन्तर अनेकविध अनुभूतियाँ होती हैं—कम्प, भ्रमी, घूर्णन, प्लवन, स्थिरता, चित्प्रकाश, आनंद, दिव्य दृष्टि एवम् चमत्कृति । अन्ततः 'पूर्णता' की उपलब्धि हो जाने पर जो दसवीं स्थिति

---

१. तंत्रालोक, चतुर्थ माह्निक दुसवीं कारिका और उसकी टीका ।
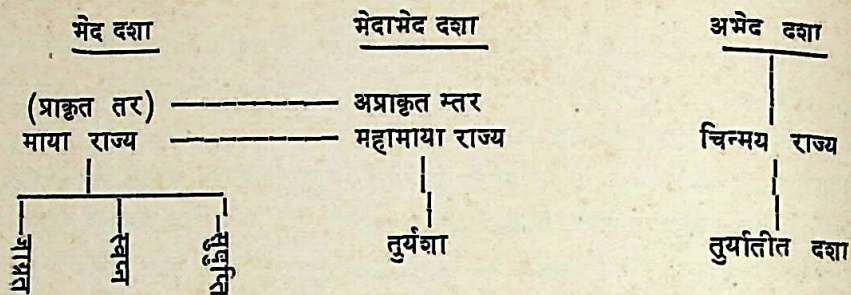
भेद दशा
भेदाभेद दशा
अभेद दशा
(प्राकृत तर)
माया राज्य
अप्राकृत स्तर
महामाया राज्य
चिन्मय राज्य
जाग्रत
स्वप्न
सुषुप्ति
तुर्यदशा
तुर्यातीत दशा
१० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३
मायोर्द्ध पर महामाया राज्य अथवा अप्राकृत या वैंदव मण्डल में आज्ञाचक्र से सहस्रार की कर्णिका तक फैले हुए परद सोपान
शेष चक्र
मूलाधार
स्वाधिष्ठान
मणिपूर (प्रथम शून्य)
अनाहत
विशुद्ध
बिंदु (आज्ञा चक्र में)
अर्द्धचंद्र (ललाट देश में)
रोधिनी (कपाल के ऊपर एवम् ब्रह्मरंध्र के नीचे त्रिकोण के मध्य)
नाद (ब्रह्मरंध्र के मुख पर)
नादान्त (मूर्द्धा में)
शक्ति (मूर्द्धा के बीच
(चतुर्थ शून्य)
व्यापिनी
समना (ब्रह्मबिल के बाहर अतियम का स्थान)
पंचम शून्य
(महाशून्य)
२
षष्ठ शून्य
१
महाबिंदु-निष्कल
सप्तम शून्य
अशून्य
परमपद
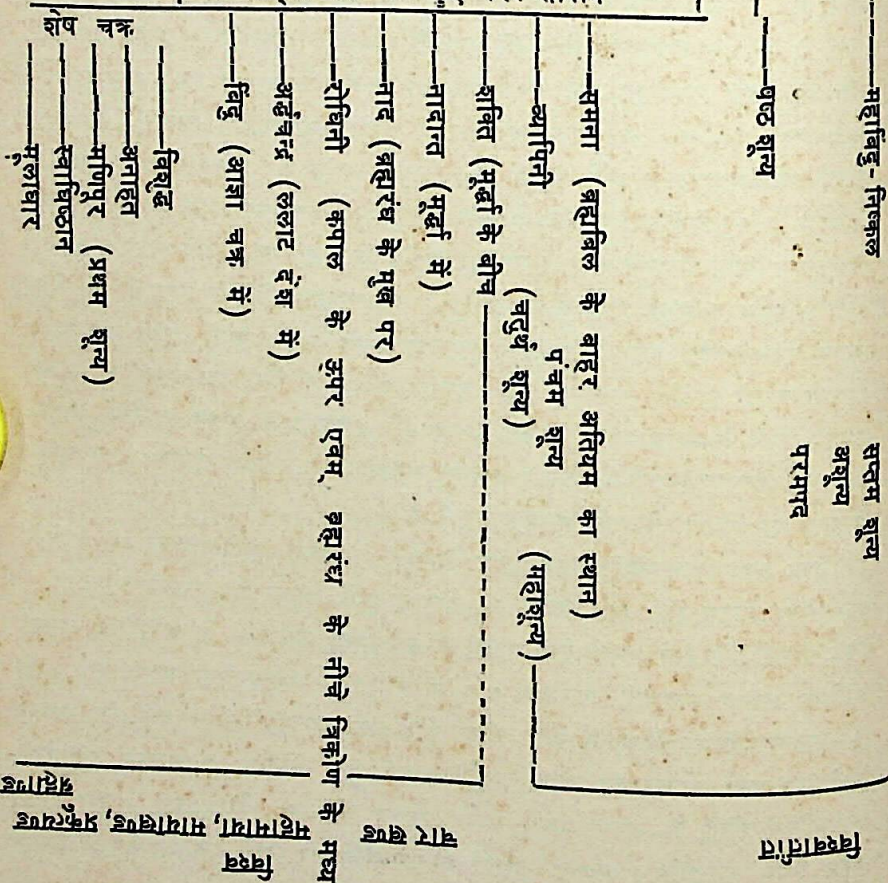
आती है—वह अवाच्य है । एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि साधक लक्ष्य को हृत्कमल में अनेक रूपों में दिखता है और अन्ततः वह 'विंदु' प्रकाशपुंज के रूप में दृष्टिगोचर होता है ।

परमधाम की ओर आरोहण करते हुए तांत्रिकों ने और भी अन्यान्य आंतरालिक रहस्यमय सोपानों की बात कही है । मध्यमार्ग में आरूढ़ जीवात्मा अनेकविध चक्रों का उत्क्रमण करता हुआ, उन्हें ऊर्ध्वमुख करता हुआ अधोमुखी वर्णात्मक शक्तियों को गलाकर नादात्मक बनाता हुआ आज्ञाचक्र तक पहुँचता है । उभरता चक्र से सहस्रार की कर्णिका तक फैले हुए माया राज्य के बाहर और महामाया की सीमा के अंतर्गत इन आठपदों—विंदु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी तथा समना—को भी पार करता है । वस्तुतः इन आठ पदों में भी पाशजाल फैला हुआ है । पाशजाल से सर्वथा मुक्ति तुर्यातीत की 'उन्मनी दशा' में ही संभव है—इस अध्यात्म यात्रा का चित्र पृ० ३६४ के अनुसार होगा ।

चरम या पार्यन्तिक आनन्दमयी अनुभूति तथा आन्तरालिक रहस्यमय लोकों एवम् विभिन्न रूपों की अनुभूति के अतिरिक्त रहस्यात्मक नाद श्रुति का भी उल्लेख मिलता हैं। इस तरह के उल्लेख आगमिक और नैगमिक दोनों ही धाराओं में मिलता है । छांदोग्य उपनिषद[१] में कहा गया है "दोनों कानों, दोनों आँखें और नाक बंद कर दिए जाने चाहिए—तभी शुद्ध सुषुम्णा के मार्ग में शब्द सुन पड़ेगा।" वृहदारण्यक[२] में भी कहा गया—"यह शब्द उस अंतः पुरुष की गर्जना है जो अन्न को पचाता है और यह केवल कानों के बंद कर देने पर सुनाई पड़ता है। इसे आसन्न मृत्यु व्यक्ति नहीं सुन सकता ।" छांदोग्य[३] ने तो यह भी कहा है कि कानों के बंद करने पर बैलों की हुंकार, बिजली की कड़क अथवा अग्नि की धधक के रूप में शब्द सुन पड़ता है। तंत्रों या आगमों में भी नाद श्रुति की अनेक विध चर्चा मिलती है। तंत्रालोक में[४] कहा गया है कि ब्रह्मयामल तंत्र के अनुसार राव या नाद दश प्रकार का होता है। जयरथ ने उसकी व्याख्या में बताया है कि परा वाक रूपा विमर्श भक्ति विभिन्न नाद-रूपात्मक रूपों में परिस्फुरित होती हुई अंततः 'अराव'-अशब्द (आत्म रूप परामर्श) में लीन हो जाती है। नाद की दशरूपता अनेक ढंग से प्रतिपादित हुई है । अभिनव[५] गुप्त ने तो कहा है—'पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, में से प्रत्येक स्थूल, सूक्ष्म तथा पर—होने के कारण सम्मिलित रूप से नाद के नव भेद होते हैं और स्वयम् सबके मूल में

---

१. छांदोग्य उपनिषद् ।)
२. वृहदारण्यक उपनिषद् ।)
३. छांदोग्य उपनिषद्) रहस्यवाद, पृ० ४८ ।
४. तंत्रालोक ।)
५. तंत्रालोक ।)

स्थित 'परा' को लेकर कुल १० भेद होते हैं, पर वहाँ जयरथ[1] ने 'दूसरे ढंग से नाद के दस प्रकार कहे हैं—

नदते दशधा सातु दिव्यानन्दप्रदायिका
चिनीति प्रथमः शब्दः चिनचिनोति द्वितीयकः ।
चीरवाकी तृतीयस्तु शंखशब्दस्तु चतुर्थकः ॥
तन्त्रीघोषः पंचमश्च षष्ठो वंशस्तथा ।
सप्तमः कांस्यतालस्तु मेघशब्दरवस्तथा ॥
नवमो दावनिघोषिः दशमोदुंदुभिस्वनः । :
नव शब्दात् परित्यज्य दशमो मोक्षदायक् ।
अनेन विधिना येन व्याहरेद् दशधा रवम ॥

अर्थात् ये नव शब्द हैं—चिनी, चिनचिनी, चीखाकी, शंख, शब्द, तंत्री घोष, वंशरव, काँस्पताल, मेघशब्द, दाव निर्घोष । दशम शब्द है—दुंदुभिस्वन । अंतिम शब्द मुक्ति दायक है । कहीं-कहीं[2] यह भी कहा गया है कि वैखरी से मध्यमा भूमि में जाने पर नव शब्द सुनाई पड़ते हैं ।' श्री कृष्ण प्रसंग' में कविराज गोपीनाथ ने साधार वताया है—'दर्शन न पाने पर भी वे (वैष्णव) सभी अपने अपने धाम के अनुरूप कोई न कोई ध्वनि सुन पाते हैं। इस ध्वनि को आश्रय वनाकर ही दर्शन-आभास की सहायता से वे प्रेम लाभ में समर्थ होते हैं एवम् अंतर्मण्डल में प्रविष्ट होकर प्रेमिक रूप से भगवद् दर्शन का अधिकार पाते हैं। यह शब्द ब्रह्म रूपी शब्द है । इसमें संदेह नहीं। इस शब्द ब्रह्म को आश्रय वनाकर ही परब्रह्म रूपी भगवान् का साक्षात्कार होता है। श्री वृंदावन में यह शब्द सुमधुर वंशीध्वनि के रूप में सुना जाता है । अन्यान्य भगवद्धामों में धामानुरूप पृथक्-पृथक् शब्द हैं—यह जानना चाहिए ।"[3]

अध्यात्म यात्रा की इन क्रमागत धाराओं में उल्लिखित स्तरों तथा नाद रूपात्मक विविध अनुभूतियों की पीठिका पर निर्गुनिऐं संतों की आरोहण प्रक्रिया का विवरण दिया जाना चाहिए ।

'अवरोहण प्रक्रिया' वाले अध्याय में यह वताया गया है कि संत साहित्य में पर-तत्व संसारात्मक परिणमन में तीन भूमियां ग्रहण करता है—अभेद, भेदाभेद तथा भेद । प्रत्यावर्तन अथवा आरोहण क्रम में यात्रा संतों के यहाँ सामान्यतः दोनों आँखों के वीच से आरंभ होती है । यह स्थान पिंड तथा ब्रह्माण्ड की देहली कही जाती है। कहीं कहीं यात्रा का आरंभ नाभिचक्र से भी कहा गया है ।

---

१. तंत्रालोक, जयरथ टीका ।
२. रहस्यवाद, पृ० १२५ ।
३. श्रीकृष्ण प्रसंग, पृष्ठ ३६० तथा ३०१ ।

संतधारा का सीधा संबंद्ध सिद्धों, नाथों[1] से भी जोड़ा जाता है। बौद्ध सिद्धों की चार भूमियों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। नाथ लोग भी 'परमपद' का उल्लेख करते हैं। गोरखनाथ पंचपिंड का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। पिंडो का यौगिक प्रक्रिया से रासायनीकरण करते हुए उसे चिन्मय कर देते हैं और 'परमपद' से एकरूप कर देते हैं इनके यहाँ ऊर्ध्वारोहण की भूमियाँ इस प्रकार हैं–

अनाधपिंड के ऊर्ध्व में परपिंड रूपी शिव पंचशक्तिमय है। यह अवश्य है कि पंचशक्ति पिंड में न रहकर विभक्त रहती है।

५
अपरम्पर
४
परमपद
३
शून्य
२
निरंजन
१
परमात्मा

४–अनाधपिंड (इसमें पाँच अवस्थाएँ हैं)
३–आधापिंड–परमानंद से सो हंभाव पर्यन्त व्याप्त
२–महासाकार पिंड – अष्टमूर्तिमय शिवरूप
१–प्रकृति पिंड–नरनारी रूप

बौद्ध सिद्धों ने चित्त-गत चान्चल्य को दूर कर उसे वज्रोपम या वोधिचित बनाया था, नाथों ने समूचे पिंड का ही शोधन कर उसे अमृत बनाया–परमपद से समरस कर दिया। बौद्ध शुक्र का शोधन कर रहे थे–इन लोगों ने प्राण का शोधन किया–काय का शोधन किया। संतगण 'वासना' का शोधन करते हैं–मनः शोधन करते हैं। प्राकृत शरीर में वासना को क्षेत्र बनाकर उसे संसार से हटाकर उपास्य की ओर उन्मुख करते हैं–और उसमें साधना की बीज बोते हैं—जिससे 'भाव' तथा 'प्रेम' और 'रस' का विकास होता है।

नाथों तथा संतों के बीच की कड़ी रूप में आचार्य शुक्र ने वारकरी तथा सूफी साधकों को ठीक ही जोड़ा है। वारकरी भी वैसे ही भक्ति द्वारा 'वासना' शोधन करते हैं जैसे सूफी हकीकी इश्क के निमित्त मजाजी इश्क को सोपान मानते हैं। आगमिक चिन्ताधारा–दोनों में ही अनुस्यूत है। अतः दोनों से संवद्ध करते हुए भी

---

१. देखिए – सिद्ध सिद्धान्त पद्धति – (नाथ निर्वाण व्याख्या) पृ० ६।

संतों की प्रकृति में किसी वैदेशिकता की वात मानने को आवश्यकता नहीं है। एक बात और है—नाथ साहित्य तथा सूफी साहित्य की आध्यात्मिक—आरोहण में प्रयुक्त अनेक समान पदावलियाँ भी मिलती हैं—उदाहरण के लिए 'भ्रमर गुफा'[१] तथा 'लाहूत'[२] 'जवरूद' आदि को लिया जा सकता है। नाथों की 'भ्रमर गुफा' ही संतों की 'भंवर-गुहा' है। यही नहीं वारकरी नामदेव ने भी अपनी अभिव्यक्तियों में उन शब्दावलियों का प्रयोग किया है – जो संत साहित्य में पाए जाते हैं। संतों की भांति वे भी स्पष्ट कहते हैं—

'नाद समाइलो रे सति गुरु मेटिले देवा'[३]

संत मानते हैं कि नाद में समाना और सद्गुरु से भेंट होना एक ही बात है। जिस 'सहज' को संतों ने निरन्तर स्मरण किया है—नामदेव ने भी उसे सर्वोच्च पद दिया है—

गुरु परसादी जानिआ जनुनामा सहज समानिआ[४] ॥

अभिप्राय यह कि पिण्डी, ब्रह्माण्डी, पारब्रह्मांडी, —मुकामातों के संकेत यहाँ भी विद्यमान हैं— यद्यपि जितना क्रमिक उल्लेख बाद में मिलता है—उतना नामदेव में क्या, सच पूछा जाय तो कबीर की प्रामाणिक प्राय (पूर्ववर्ती) रचनाओं में भी कम मिलता है।

कबीर और कबीर पंथ-आध्यात्मिक मंडल :

जिस 'परमपद' शब्द का प्रयोग वैदिक उक्तियों में मिलता है—वही पर्याप्त दीर्घ यात्रा करता हुआ कबीरपंथी साहित्य से भी लुप्त नहीं हुआ है। कबीर ने भी 'परम पद'[५] शक का घुरठिकाने के लिए प्रयोग, किया है। इतना ही नहीं 'निजपद'[६] 'चौथा पद'[७] तथा 'अभै पद'[८] जैसे पदों का भी प्रयोग है। ये सभी शब्द द्वैतातीत पद के संकेतक हैं। कबीर ने स्पष्ट कहा है—

राजस सातिग तामस तीन्युं ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे तिनहि परमपद पाया।[९]

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति (पद्यानुवाद) पृ० १३।
२. 'तसव्वुफ और सूफी मत' तथा 'कवीर मंसूर' (गुरुमत सिद्धान्त) पृ० ३ भूमिका।
३. पंजावातील नामदेव (जोशी, १९४० संस्करण) सिद्धांत, पृ० ८९।
४. हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० ११६।
५. क० ग्र० १५०।
६. वही, २१०।
७. वही।
८. सं० वा० सं०, भाग १ पृष्ठ १२३।

९. क० ग्रं०, पृ० १५०।

अर्थात् त्रिगुणातीत अथवा अवस्थात्रयातीत पद ही 'परम पद' है। संत दरिया (बिहार वाले) ने भी कहा है—

सत्तनाम नर जो पढ़ै, जाय अमरपुर गाँव ।
आवागमन रहित भयो अजर अमर निज ठांव ॥२१.०
वह निर्गुन से रहित है विमल विरोग अभाव ।
ज्ञान चेतन जब चेतिए पाए पद निर्वान ॥[1] ४.०

अथवा— तीन लोक के ऊपरे अभयलोक विस्तार ।[2]

कहने का मतलब यह कि संत कबीर तथा संत दरिया—दोनों ने उस लोक को तीन गुण से पार माना है । लेकिन जैसा कि आगे चलकर देखा जायगा, संत दरिया ने संभवतः और भी ऊर्द्धोर्ध्व लोकों की चर्चा की है ।

जैसा कि पीछे देखा गया है कबीर में तो उतना स्पष्ट नहीं, परन्तु परवर्ती कबीर पंथी साहित्य में लोक लोकान्तरों की कल्पना काफी बढ़ गई। वैसे इसके संकेत कबीर ग्रंथावली में प्रयुक्त एक दोहे से मिलने लगता है, परंतु उनके नाम पर ऐसे पद भी मिलते हैं जिनमें लोकान्तरों का सविस्तार उल्लेख है । प्रकीर्णक पद है ।

बंकनालि के अंतरे पछिम दिसा के बाट ।
नीझर झरे रस पीजिए, तहाँ भंवर-गुफा के घाट रे ।[3]
(क० ग्रं० पृ० ८८,४)

इस पदाँश में आध्यात्मिक यात्रा के उन तीन कड़ियों का उल्लेख है जो स्वतेर-सापेक्ष होने के कारण अन्यों का भी आक्षेप कर लेते हैं । यदि बंकनाल शब्द का प्रयोग है — तो वह समस्त विहंगम मार्ग का आक्षेपक है । पछिम दिसा—शब्द का प्रयोग शेष तीन दिशाओं का आक्षेप कर सकता है । इसी प्रकार भवंरगुहा जिस सत्य राज्य का द्वार है—अपने द्वारा सत्यराज्य का गमक हो सकता है । यों कबीर के नाम पर एक पद मिलता भी है—जो इस प्रकार है—

मेरी नजर में मोती आया है ।
कोई कहे हलका कोई कहे भारती दूनों भूल भुलाया है ।
ब्रह्मा विष्णु महेसुर थाके तिहूं खोज न पाया है ।
संकर सेस औ सारद हरि पढ़ि रटि गुन बहु गाया है ।
है तिल के तिल के तिल भीतर बिरले साधू गाया है ।
चहुंदल कवंल तिर्कुटी साजे ओंकार दरसाया है ।

---

१. संत कवि दरिया ।
२. वही ।
३. कबीर ग्रंथावली, पृ० ८८, ४ ।

ररंकार पर सेत सुन्न मध षट्दल कवंल बताया है ।
पारब्रह्म् महासुन्न मंझारा सोइ निः अछर रहाया है ।
भंवर गुफा में सोहं राजै मुरली अधिक बजाया है ।
सत्तलोक सत्सुरुष विराजै अलख अगम दोउ माया है ।
पुरुष अनामी सब पर स्वामी ब्रह्मांड पार जो गाया है ।
यह सब बातें देही माँही प्रतिबिंब अंड जो पाया है ।
प्रतिबिंब पिंड ब्रह्मांड है नकली असली पार बताया है ।
कहं कबीर सत्तलोक सार यहाँ पुरुष नियारा पाया है[1] ।

क्रम इस प्रकार हुआ

↑ अनामी (ब्रह्मांड पार)
↑ अगम
↑ अलख
↑ सत्यलोक
↑ भवंर गुफा (सो हम्)
↑ महासुन्न (निः अछर)
↑ सुन्न (ररंकार) षट्दल
↑ त्रिकुटी (ओंकार) चतुर्दल
↑ तिल

पिंडगत ब्रह्माण्ड किसी और तत्व का प्रतिबिंब है । बिंब प्रतिबिंब भाव का जो संकेत यहाँ विद्यमान है– या तो यहाँ से राधास्वामियों में होगा अथवा उसकी छाया में यह पद बाद में कबीर के नाम से बना हो । जो हो ।

कबीर पंथ में 'शब्द' को 'सारशब्द' कहा गया है और चरम प्राप्य माना है। कबीर पंथी चिन्तकों में प्रचलित है कि वर्णों का मूल अकार है । अकार तीन प्रकार है—कह-अकह[2] तथा निःअक्षर । यही निःअक्षर सार शब्द है । यही परमात्मा है । कह तथा अकह (क्षर तथा अक्षर, प्रकृति तथा जीव) से परे है–निःअक्षर। 'सोहं' के विलय से ओम् की और ओम् के विलय से निरक्षर सार शब्द की प्राप्ति होती है । यही परम तत्व, परम धाम तथा परात्पर अव्यय[3] है । कहीं कहीं इस सार शब्द को सत्यपुरुष का साधक माना गया[4] है। अर्थात् सारशब्द से उत्पुरुष ऊपर है । कबीर-पंथी चिन्तकों ने 'स्तर शब्द' की विभिन्न व्याख्याएं की हैं । प्रसिद्ध कबीरपंथी पूरण साहब ने 'त्रिज्या' टीका तथा 'निर्णय सागर' नामक ग्रंथ में 'सारशब्द' को 'पारस पद'

---

१. संतवानी संग्रह, कबीर शब्दावली, भाग २, पृ० ५५ ।
२. 'मुक्ति प्रकाश'—भूमिका, पृ० (ङ) ।
३. वही ।
४. कबीर और उनका पंथ, पृ० २३४ तथा वही पृ० (ड) ।

सत्यलोक

यह सत्य पुरुष का निवास स्थान है। इसे अमरधाम भी कहते हैं

दस असंख्या लाख योजन के ऊपर

सहज द्वीप–सहज पुरुष का स्थान
अंकुर द्वीप–अंकुर पुरुष का स्थान
इच्छा द्वीप–इच्छा पुरुष का स्थान
सोहंग द्वीप–सोहंग पुरुष का स्थान

आचिंन्त्य दीप–आचिंन्त्य पुरुष का स्थान
आरण्य द्वीप – सायुज्य मुक्ति
झांझरी द्वीप–सारूप्य मुक्ति
वैकुण्ठ–विष्णु का स्थान–सामीप्य मुक्ति
दहृय अंश का स्थान–सालोक्य मुक्ति

पृथ्वी से छत्तीस सहस्र योजन ऊपर देवों और सिद्धों का स्थान

पृथ्वी
अतल
वितल
सुतल
महातल
रसातल
पाताल

नरक लोक, जहाँ चौरासी लाख कुण्ड है और उनमें पापियों को दण्डित किया जाता है।

कहा[1] है। महाराज रीवाँ नरेश विश्वनाथ ने 'रकार' तथा 'मकार' को सार शब्द कहा[2]। वड़ैया गद्दी के संत प्रकाशपति साहब ने इन लोगों का खण्डन कर 'सार शब्द' का ही मण्डन किया। वडैया गद्दी की परम्परा सार शब्द को ही सत्यलोक, सत्यद्वीप, शब्दलोक, चौथा लोक तथा अमरद्वीप आदि कहा[3]। कहा है। छत्तीसगढ़ी शाखा में कबीर की धारणा का और पल्लवन-विस्तार हुआ। छत्तीसगढ़ी शाखा में परमतत्व को और स्थूल रूप देकर उसे एक लोक में प्रतिष्ठित किया उनकी लोक कल्पना पृ० ३७१ पर दृष्टव्य है।

कबीर परम्परा के 'कबीर मंसूर' में भी यह कहा गया है कि सत्यपुरुष ने सृष्टि के लिए छह पुरुष उत्पन्न किए—सहज, इच्छा, सुहंग, अंकुर तथा अचिन्त। यह ग्रंथ उन्नीसवीं शती का है। (सन् १८८०)। इसमें जो लोकों का विवरण दिया गया है उसमें एक विशेषता है। विशेषता यह है कि जिन लोकों का यहाँ वर्णन है—उनमें एक ओर कबीर एवम् कबीर पंथी परम्पराओं की पदावली प्रयुक्त है और दूसरी ओर सूफियों के। संबंधित चित्र पृ० ३७३ पर दिया जा रहा है।

इस प्रकार कबीर तथा कबीर पंथी साहित्य में एक ओर अवरोहण क्रम के कतिपय स्थान निर्दिष्ट हैं – जिसका कबीर मंसूर में उल्लेख है और दूसरी ओर कबीर के नाम पर ऐसे पद मिलते हैं जिनमें आरोहण के सोपानों और मार्गों के उल्लेख हैं। मुक्ति प्रकाश नामक वड़ैया गद्दी की कृति में ऐसे पदों का भी उल्लेख है जिनमें आरोहण के विभिन्न मार्गों तथा ठिकानों का उल्लेख है। ऊपर एक पद उद्धृत किया जा चुका है – जिसमें कतिपय ठिकानों का उल्लेख है। एक पद खंड निम्नलिखित है—

पूरब सोधि पश्चिम को जावै अंधाधुंध को हाल बतावै।
शिला द्वार दक्षिण दे राखै उत्तर जाय सजीवन चाखे
चारों दिशा का माल[4]।

'प्राण संगली' कार ने जिन दिशाओं का विवरण दिया है उनका संकेत इसमें विद्यमान है। तांत्रिक वाङ्मय में चार पीठं माने गए हैं—कामरूप, पूर्णगिरि, जालंधर तथा उड्डीयान। भारत के प्रतिरूप मानव देह में भी चार पीठ माने गए[5] हैं। परम्परा है कि यदि मानव देह में प्रतिष्ठित इन पीठों की परिक्रमा न की गई तो साधक की यात्रा पूर्ण नहीं होती। हठयोग में मूलाधार से पिंड-ब्रह्मांड के साँधे स्थल भेद की

---

१. कबीर और उनका पंथ, पृ० २३३।
२. मुक्ति प्रकाश—भूमिका।
३. कबीर और कबीर पंथ, ३२६ पृ० (१९६५)
४. 'मुक्ति प्रकाश' में 'उद्धृत' पृ० २४२, २४३।
५. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० ४५।

चित्र यों है–

सत्यलोक सहित सब लोकों का विवरण–पृष्ठ २३५

जाहूत | सत्य लोक | अमरधाम
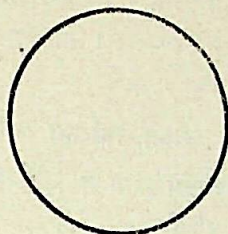
दस असंख्य लाख योजन शून्य के ऊपर

आहूत — सहज

राहूत — अंकुर

साहूत — इच्छा

वाहूत — सोहंग

हाहूत — अचिन्त्य

लाहूत — आरण्य

विवरूत — झांझरी

मलकूत — वैकुंठ

नासूत — दह्य

देवसिद्ध भूमि

कर्मभूमि.
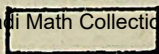
यात्रा प्रसिद्ध है – यह पूर्व दिशा की यात्रा है। विहंगम मार्ग अथवा संतों के वाँङ्मय में अन्य दिशा के मार्गों का विशेष उल्लेख है। 'योगबीज' नामक ग्रंथ में भी कहा गया है।

"पश्चिम द्वार मार्गेण जायते त्वरितम् फलम्"

यह पश्चिम मार्ग ब्रह्माण्ड प्रदेश से आरंभ होता है और महाशून्य पर्यन्त जाता है। पश्चिम मार्ग की समाप्ति के बाद दक्षिण दिशा की यात्रा आरंभ होती है। वस्तुतः पश्चिम मार्ग की यात्रा समाप्त होने पर भंवरगुहा की ओर जाना होता है। किंतु दोनों के अन्तराल में वंकनाल पकड़ना पड़ता है – तदर्थ वक्राकार धुंधले मण्डल को पार करना पड़ता है। फिर बाईं ओर अर्थात् दक्षिण से पश्चिम जाकर पुनः दक्षिण से उत्तर की ओर प्रत्यावर्तन करना पड़ता है।

कबीर मंसूरकार ने सूफ़ियों के रूहानी मुकामातों का सामानान्तर उल्लेख कर आरोहण तथा अवरोहण को संबद्ध कर दिया। यों तो अवरोहण में आत्मा जिन स्तरों को पार करता हुआ उतरता है आरोहण में उन्हें फिर पार करना ही पड़ेगा।

सूफ़ियों में भी रूहानी चढ़ाई में आने वाले विभिन्न मुकामातों का वर्णन मिलता है। इस संदर्भ में चंद्रबली पाण्डेय का एक उद्धरण आवश्यक प्रतीत होता है– 'आत्मा और परमात्मा, अब्द एवम् अल्लाह की मीमांसा है हल्लाज ने 'नासूत' एवम् 'लाहूत' की कल्पना की थी। इस प्रकार की लोक कल्पना से उसको अपने मत के प्रतिपादन में पूरी सहायता मिली थी। हल्लाज के उपराँत इमाम गज्जाली ने लोक कल्पना पर विशेष ध्यान दिया। उसने नासूत के साथ मलकूत और लाहूत के साथ जबरूत का विधान कर इस्लाम की गुत्थियों को सुलझाने तथा तसव्वुफ को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। सूफ़ियों ने नासूत; मलकूत, जबरूत और लाहूत–चारों का स्वागत किया और किसी किसी ने एक अन्य लोक 'हाहूत' की भी कल्पना कर डाली। ब्रह्मांड में लोकों की जो व्यवस्था है. उससे सूफ़ियों का उतना संबंध नहीं रहता, उन्हें तो पिंड के भीतर उन्हें देखना रहता है। सामान्यतः नासूत नरलोक, मलकूत देवलोक, जबरूत ऐश्वर्य लोक एवम लाहूत माधुर्य लोक है। हाहूत को चाहें तो सत्यलोक कह सकते हैं। साधक इन्हीं लोकों में विराम करता हुआ परब्रह्म में लीन होता और संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से इन लोकों की तुलना जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था से की जा सकती है। हाहूत को तुरीयातीत कह सकते हैं। मोमिन शरीअत का पालन कर नासूत में विहार करता है, मुरीद तरीकत को सेवन कर मलकूत में विचरता है, सालिक मारिफत का स्वागत कर जबरूत में विराम और आरिफ़ हकीकत का चिन्तन कर लाहूत में तल्लीन हो जाता है। यही सूफ़ियों की पराकाष्ठा और तसव्वुफ की परिणति है। कुछ लोग झोंक में इससे भी आगे पहुंचकर हाहूत लोक में विहार करते हैं। पर

GOD (Infinite Power, Knowledge, Bliss)

NO POWER — MIND

Consciousness of self — 7th Plane	Experiences Consciously (Infinite Power, Knowledge, Bliss)
Fully conscious of second state of Mind and master of minds of all. The creator and Controller of Feelings (desires abd emotions) — 6th Plane Conscious of the first state of MIND i e. THOUGHTS and controls only thoughts — 5th Plane 4th Plane	MENTAL WORLD (Domain of mind) (Threshold)
Fully conscious of ENERGY (Full Power) and threatened by overpowering desires. Gains greater conciousness of ENERGY — 3rd Plane Gains Consciousness of ENERGY — 2nd Plane With gross nose, eyes, ears, etc. experiences SUBTLE smell, sights, Music ect. — 1at Plane	SUBTLE WORLD (Domain of Energy)

ALL POWER — ENERGY

GROSS WORLD

(Includes universes visible and invisible)

(a) Imbibing Energy from Subtle world through gross aspects of Energy such as nuclear, solar etc:

(b) Imbibing the aspects of Mind of the Mental World such as desires, thoughts, emotions, etc.

1. GOd Speaks, p. 58.

१ ॐ सतिगुर प्रसादि ॥

अध्यात्म मार्गीय मंडल प्रदर्शक चित्र

(उत्तर).........

दिगंभपुर देशकाल परिच्छेद शून्य पारावार रहित अकथ (अवाच) पद (परमधाम)

ब्रह्मांड पार—: भवँर गुफा। मध्यखंड आदि दरबारी केन्द्रों का स्थान ॥
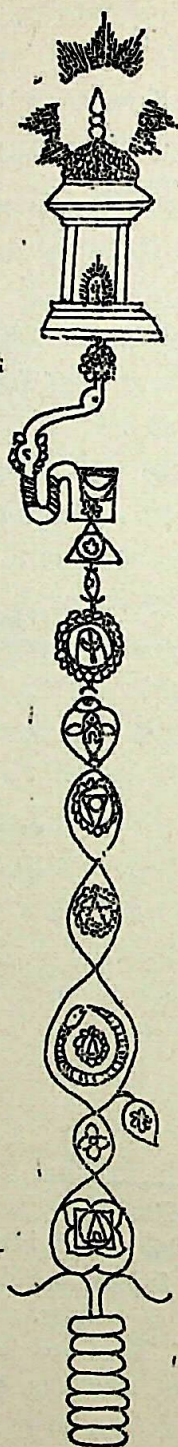
ब्रह्मांड—: अनिक दल (सहसदल) त्रिकुटी सुन्न मंडल आदि ब्रह्मांडी केंद्रों की उपस्थिति का स्थान

(दक्षिण) ....

ऊर्ध्व ......(पश्चिम)

मुक्त त्रिवेणी......

......पिंड ब्रह्मांड की संधि ॥

.....नासिका चक्र इसके मूल में काल का सुन्न खंड है, गुरु मुख बिना इसके आगे वह किसी को नहीं जाने देता।

पिंड—: पिंडी चक्रों का आधार भूत काया देश

मध्य

कुंडलिनी परिवारित

मणिपुर चक्र

......मनोचक्र (हृदय कमल) ८ दल। पिंडी इन पर भ्रमण करता रहता है, केन्द्र पर आवे तो स्थिरता पाता है ॥

मुक्त त्रिवेणी......

(पूर्व)

अधः सप्त पाताल

परिक्रमा क्रम सहित अध्यात्मक यात्रा परिचय निमित्त देखो अध्याय, १२, १८, १९, २०, आदि ॥ घट भेद विचार निमितक अध्याय, २७, २९, ३३, ३४, ४०, ४१, ४३, आदि ॥

सामान्यतः सूफी हाह्रत के कायल नहीं हैं। पं० रामपूजन तिवारी ने अपने 'सूफीमत; साधना और साहित्य' में बताया है कि अलतुज वीरी के अनुसार सूफीमार्ग की तीन मंजिलें हैं– (१) मुकामात (२) अह्वाल तथा (३) तमकीन । मुकामात का विवरण ऊपर दिया ही जा चुका है । 'अह्वाल' वह स्थिति है – जहाँ साधक भावाविष्ट और उल्लास की दशा में रहता है। सामान्यतः साधक पहली 'मुकामात' वाली मंजिल पारकर 'अहवाल' की दशा में पहुंचना है–पर जो पूर्णतः परमात्मा की कृपा पर निर्भर है । इसीलिए इस अवस्था की झलक कभी-कभी मुकामात की पहली मंजिल पर ही मिलने लगता है । तीसरी स्थिति पर साधक परम सत्य को पा जाता है ।

कुछ सूफियों ने इन दोनों से भिन्न स्थितियों का भी उलेल्ख किया है । उनके अनुसार तीन यात्राएं हैं––

(१) सैर इल्लाह : परमात्मा की ओर यात्रा । यहाँ साधक 'वाहिदियत' और 'वहदत' की मंजिलों को पार करता है । इस यात्रा का अंत 'हकीकते मुहम्मदिया' में होता है ।

(२) सैर फ़ी ल्लाह : परमात्मा में यात्रा । इसमें साधक परमात्मा में लय हो जाता है । यह 'अह्दियत' की मंजिल है ।

(३) सैर-अनी-अल्लाह: इसमें साधक परमात्मा के गुणों से विभूषित होकर इस अभिव्यक्त होने वाले संसार में लौट कर आता है । यह 'फ़ना' के बाद 'वका' की लय के बाद स्थिति की अवस्था है ।[२]

सूफियों ने अधिक से अधिक पाँच मुकामातों का उल्लेख किया है––ऊपर 'कवीर मंसूर' में इन पाँच मुकामातों का तो उल्लेख है ही––चार और भी बढ़ा लिए गए हैं । सूफियों की इन मुकामाती शब्दावलियों का प्रयोग राधास्वामी मत की पुस्तकों में भी मिलता है । मेहरबाबा ने इस धारा के समानान्तर मुकामातों का उल्लेख किया है ।

छत्तीसगढ़ी शाखा, दरिया-साहित्य में तो 'अमरलोक' की चर्चा है ही, सरभंग सम्प्रदाय में भी इस लोक को 'सतलोक'[३] और 'नूरमहल'[४] इत्यादि कहा जाता है । शिवनारायणी संप्रदाय में इसी अमर लोक के लिए 'संतदेश' शब्द का प्रयोग है ।

---

१. तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ६३, ६४। १९४८ संस्करण ।
२. सूफीमत : साधना और साहित्य–पृष्ठ ३२७-३२१ तक ।
३. किनाराम की 'रामगीता', पृ० १९ पद ५०।
४. आत्मनिर्गुण-ककहरा, पृ० २ पद १०।

नानक पंथ तथा तदनुयायीं और रूहानी मुकामात :

संलग्न चित्र 'प्राणसंगली' के अनुसार आरोहण-क्रम का सूचक है। इस चित्र में कुछ चक्र ऐसे हैं जो मेरुदंड के अंतर्गत हैं और कुछ वाहर। सुषुम्णा नाड़ी गत सभी हैं। इड़ा-पिंगला से वे सभी वेष्टित हैं। इन चक्रों को तीन खंडों में विभक्त किया गया है—अध: लोक, मध्यलोक तथा ऊर्द्धलोक। प्रत्येक लोक में सात-सात खंड और हैं—कुछ मिलाकर २१ पुरियाँ कही जाती हैं।

अधोलोक :	स्थान	नाम
	पावों के तलुवों में	पाताल
	एड़ियों में	तलातल
	टखनों में	रसातल
	पिंडलियों में	महातल
	जानुओं में	सुतल
	जंघों में	वितल
	तड़ागी में	अतल

मध्यलोकों का विवरण :

मूलाधार	भूलोक
स्वाधिष्टान	भुव: लोक
मणिपुर	स्वलोक
अनाहत	महलोक
विशुद्ध	जनलोक
आज्ञा	तप लोक
सहस्रार	सत्यलोक

मणिपूर तथा अनाहत के वीच एक अष्टदल कमल की स्थिति वताई जाती है। माना जाता है कि अष्टदल कमल इससे किंचित वाहर को निकला हुआ पिंडी मन का स्थान है। मन इसके एक-एक दल पर घूमता रहता है। युक्ति पूर्वक जव यह केंद्र में लाया जाता है तो स्थिरता को प्राप्त करता है।

सत्यलोक तक की गति प्राप्त होने पर अर्थात् गुरुमुख साधक की सुरति जव यहाँ तक पहुँच जाती है तव वह स्थूल शरीर में रहते हुए भी उस आवरण से असंवद्ध हो जाता है। फलत: उसे किसी प्रकार के शारीरिक वंधन नहीं रहते। इसका केंद्रीय चिन्ह पश्चिमाभिमुख योनि आकार वाला तथा औंधा चन्द्राकार दर्शाया है। कारण, स्थूल शरीर की उत्पत्ति का स्रोत शुक्र शक्ति का आधार चन्द्र ही वताया गया है। योगशास्त्र में भी चन्द्र का स्थान ऊपर कहा गया है। इस स्थान तक जिसकी सुरत पहुँच जाती है—वह आवागमन के चक्र से छूट जाता है। गुरु-

वाणी में इस स्थान को निराकार परमेश्वर के चरण कमल नाम से कहा गया है।

ऊर्द्धलोकों का विवरण :

सहस्रार दो हैं—एक रक्त शक्ति प्रधान और दूसरा श्वेत शक्ति प्रधान। मध्य लोक की ऊर्ध्वसीमा पर जो सहस्रार है—वही ऊर्ध्वलोक का आरम्भक अर्थात् मूलाधार है। इसके ऊपर निम्नलिखित सात स्थान हैं—

१. **ब्रह्मांडी मन का स्थान :** षट्दल त्रैलोक्याधिष्टाता महान् देव यहाँ पर वसते हैं।

२. **शिव शक्ति के समवाय का स्थान :** यह पूर्ण कलावान् पद है प्रथम शून्य, तथा मध्य शून्य या महाशून्य।

३. **निरालम्बपुरी :** अन्तः शून्य पद।

४. **शक्ति ब्रह्म स्थान :** प्रणव तथा विंदु पदाधार।

५. **निजपद :** श्वेत कमल ३२ दल, इसे त्रिशंदाधार भी कहते हैं और इसी का नाम ही भंवरगुफा लिया जाता है।

६. **गुरुपद :** निरंकार देश।

७. **सहस्रार** (पूर्णपद)।

वस्तुतः यह द्वितीय सहस्रार भी पूर्णपद नहीं है, अपितु पूर्ण पद की मध्यभूमि है। इस धारा वालों का विश्वास है कि गोरखनाथ तथा भर्तृनाथ आदि ने प्रथम सहस्रार अवश्य प्राप्त किया था—पर द्वितीय सहस्रार के आगे का पता उन्हें भी नहीं था। वास्तव में इसके भी आगे अलख, अगोचर तथा अकथ्य पद भी गुरुमुख को उत्तीर्ण करने पड़ते हैं। इन स्थानों का अतिक्रमण सक्रम भी होती है और गुरु की कृपा से निष्क्रम भी होता है।

इनके यहाँ यात्रा का आरंभ नाभि कमल से होता है। कारण, प्राण शक्ति का परिचायक है—प्राण-अपान। इनके संचार का केंद्र है—नाभि। जब गुरु निर्दिष्ट प्रणाली से शब्दाभ्यास आरंभ होता है—तब कुंडलिनी उसके प्रभाव से जागकर उर्द्धवगामी होती है और अंततः ब्रह्म से एक रूप हो जाती है। इसीलिए जहाँ अन्य साधक कुंडलिनी को मूलाधार चक्र में दिखाते हैं—वहाँ प्रस्तुत चित्र में मणिपुर में दिखाया गया है। कुंडलिनी की तीन अवस्थाएं हैं—प्रसुप्त, प्रबुद्ध और प्रलीन। संचालित अवस्था में वह कुंडलिनी सरल हो जाती है और सुषुम्णा के भीतर से होती हुई स्वस्थान में पहुँच जाती है और तेजोमय भाव में प्रलीन हो जाती है जिस प्रकार चक्र रूप केंद्रीय स्थानों में पहुँच कर वह अपना विशिष्ट वर्ण (तेज) में परिवर्तन करती है उसी प्रकार ध्वनि में भी।

शरीर को प्रारब्धानुसार 'व्युत्थान' दशा में उतरना पड़ता है। सो, समाधि में ऊर्ध्वारूढ़ कुंडलिनी व्युत्थानकाल में पुनः अवरोहण करती है और अपना चमत्कार दिखाती रहती है। समाधि और व्युत्थान-के इस आरोहावरोह से साधकों की कोई हानि नहीं होती—अपितु अभ्यासवश स्वाच्छन्ध ही बढ़ता जाता है।

पिछले अध्याय में इस 'विहंगम पथ' का परिचय देते हुए कहा गया है कि यह भी एक प्रकार की दिग्विजय है—जिसमें यात्रा 'पूर्व' दिशा से आरंभ होती है। उक्त चित्र में ये दिशाएँ तो अंकित की ही गई हैं—शारीरिक मानसिक रचना को ध्यान में रखकर उसके चार खंड भी कर लिए गए हैं—अधः; मध्य, ऊर्ध्व तथा ऊर्ध्वपार। अधः मंडल में जीवात्मा आसुर तथा पाशव प्रवृत्तियों से संचालित रहता है। इस स्तर के जीवों में आध्यात्मिक प्रवृत्ति ही नहीं होती, अतः इस यात्रा में इन देशों-लोकों और स्थानों का कोई महत्व नहीं है। यहाँ केवल सांगोपांगता की दृष्टि से इन का उल्लेख कर दिया गया है। मानव जीवन की निर्वाहक शक्तियाँ अपने-अपने अधिष्ठाता देवताओं के साथ साथ मध्य मंडलवर्ती षट् चक्रों में निवास करती हैं—इनका उपयोग अध्यात्म यात्रा में है। इन चक्रों के आधारभूत काया-मंडल को पिंडी मंडल भी कहा जाता है। इससे भी ऊँचा स्तर उस ब्रह्मांडी मंडल का है जो 'ऊर्ध्व मार्ग' में स्थित है और जहाँ देवी प्रभाव का उत्थापक प्रकाश सक्रिय रहता है। दैत्य, मानव तथा देव भावों में भी उपरत होकर जब साधक में परम कैवल्य की इच्छा उत्पन्न होती है—तब 'सुरत' का जिस मण्डल में भीतर ही भीतर आरोहण होता है—उसे पार-ब्रह्मांड ऊर्द्धवपार अथवा परमलोक भी कहा जाता है। इसे निरंकारी देश कहा जाता है। निरंकार पद वासी साधक आरोहण क्रम के अनुसार तीन और अवस्थाएँ प्राप्त करता है—(१) निरंकार पदावलम्बी, (२) निरंकार पदारूढ़ तथा (३) निरंकार पदलीन। इन्हीं अवस्थाओं के लिए गुरु गण प्रायः अलख, अगम, और अकथ्य—जैसी संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं।

"अलख अगोचर अगम अपारा चिन्ता करहु हमारी।"

इस यात्रा में जो 'सुरति' आरोहण करती है—वह जब पिंडी मंडल में रहती है, तब स्थूल शरीर से, जब ब्रह्मांडी मंडल में जाती है तब सूक्ष्म शरीर से, पार-ब्रह्मांड होते ही कारण शरीर से, और इनसे भी आगे बढ़ने पर तुर्य तथा तुर्यातीत पदों से संबद्ध हो जाती है। स्मरण रहे कि यह 'सुरति' और कुछ नहीं, अपितु निजरूपिणी तथा सर्वानुभवसाक्षिणी 'शक्ति' ही है।

यों तो तुर्यातीत की भी आगे और और दशान्तर कल्पना की जाती है—पर वे सर्व वागगोचर हैं—उनके उल्लेख में निम्नलिखित खंडों का अस्तित्व है—

१. धरम खंड
२. ज्ञान खण्ड
३. सरम खण्ड
४. करम खण्ड
५. सच्च खण्ड

इस प्रकार वे लोग मानते हैं कि गुरु नानक की पहुँच 'सच्च खंड' तक की ही थी। पर 'प्राणसंगली' के भूमिकाकार[1] संत संपूर्ण सिंह की निम्नलिखित गुरु ग्रंथ साहब गत पंक्तियों के साक्ष्य पर धारणा है कि गुरु नानक की अध्यात्म यात्रा 'अकथ्य' लोक तक थी। पंक्तियाँ हैं—

"शिवनगरी महि आस्न अवधू अलख अगंम अपारी।"[2]

तथा—

"अलख अपार अगम अगोचर ना तिस काल न करमा"।[3]

इत्यादि।

संत दरिया सम्मत-आध्यात्मिक यात्रा :

इनकी एक कृति 'ब्रह्म चैतन्य' नाम की मानी जाती है। इस ग्रंथ में रूहानी चढ़ाई का विवरण मिलता है। मार्ग में पड़ने वाले केंद्रों का भी विशेष रूप से उल्लेख है। इनका कहना है कि पिपीलिका योग में पिंड से ब्रह्माण्ड तक की यात्रा है, पर विहंगम योग में सुरति नेत्र के अष्टदल कमल से अपना प्रस्थान आरम्भ करती है। इस कमल के सूत्रीद्वार से वह ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर जाती है। वहां 'त्रिवेणी' में स्नान करती हैं आज्ञा चक्र के बाद ही त्रिवेणी घाट आता है। यहाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा का मेल है। आज्ञाचक्र गगन का ताला है। पिंड और ब्रह्माण्ड का जुटाव यहाँ पर है। यही दशम द्वार है। पिंड में नौ द्वार हैं—ब्रह्माण्ड में दशम। यहाँ से 'सहस्रदल कमल में होती हुई सुरति बंकनाल द्वारा भंवर-गुहा में जाती है। प्राणसंगलीकार की भांति दरिया साहब भी मानते हैं कि इस (सहस्र- दल) कमल का नाम श्याम श्वेत भी है। यह निर्मल देवस्थान नमपुर में है। तीसरा तिल (दृष्टि-शिव नेत्र) ठीक इसी के नीचे है। इसकी ज्योति नीलाभ है। जब सुरति सहस्रदल कमल में प्रविष्ट होती है तब इष्ट वस्तु आँखों में बस आती है और तब त्रिकुटी के मंडल में

१. प्राणसंगली, भूमिका, पृ० ८२।
२. प्राणसंगली, पृ० ८४।
३. वही।

प्रवेश होता है । शून्य में पहुँची हुई सुरति के समक्ष नैर्मल्य रूप दर्पण रहता है। इसमें अलख की छाया पड़ती है । शून्य के आगे धुंधकार है । वही स्थल सूक्ष्म रचना का बीज है । इसके बाद भंवर गुफा है जो सचखंड की ड्योढ़ी है। इस खंड में 'निराकार' का वास है और उसके ऊपर 'अकह लोक' 'अपरंपार' और 'अवाच' है । अकह लोक का शब्द ऐसा जान पड़ता है—जैसे जल का शब्दायमान
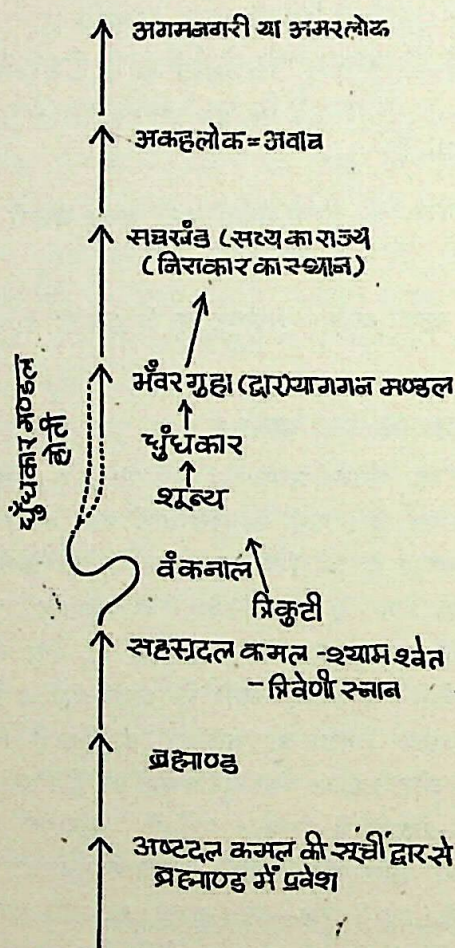
वेग। यह शब्द एक अकह दशा में उड़ाकर ले जाता है जहाँ 'अगम' नगरी है। सुरति, निरति, मन और प्राण को एकाग्र करके शून्य मण्डल में जाने पर शब्द सुनाई पड़ता है । इसका स्थान भंवर गुहा में है—जो ब्रह्माण्ड पार है । ध्वनि से

१. 'ब्रह्म चैतन्य' के आधार पर ।

शब्द प्रगट होता है और फिर वहीं लय हो जाता है। शब्द गुरु है और ध्वनि सद्गुरु।

संत दरिया कबीर, नानक, दादू, रज्जब आदि के परवर्ती सन् १६७४ (१७३१–५७) के आसपास विद्यमान थे। इन पर कबीर और कबीर पंथ का प्रभाव है। 'दरिया सागर' में कबीर की भाँति तीन गुण से परे 'छयलोक' 'सत्य लोक' सचखंड' या 'अभयपुर' की स्थिति मानी है, परन्तु 'ब्रह्म चैतन्य' में आगे के लोकों का भी उल्लेख मिलता है। इसीलिए डा० ब्रह्मचारी धर्मेन्द्र ने इसके प्रणेता के रूप में किसी कोकिल साहब की भी संधवना की है।

राधास्वामी मत : आध्यात्मिक यात्रा

इस मत के अनुसार सुरत को अपने मूलस्रोत की ओर उलट कर एक रस कर देने की पद्धति है—सुरत और मन को जो सारे शरीर में व्याप्त है—बहिर्मुखी है—उनको दोनों नेत्रों के केन्द्र पर समेट लिया जाय। इस सिमटाव से मन और सुरत-दोनों ही 'शब्द' में लग जाते हैं। यात्रा की शुरुआत इसी प्रकार हो जाती है। इसी धार के सहारे सुरत निम्नलिखित स्तरों को पार करती हुई पिंड देश में उतर आई है—

शुद्ध —१ निर्मल चैतन्य देश
मिश्र— २ निर्मल चैतन्य और शुद्ध माया का देश
—३ निर्मल चैतन्य और मालिन माया देश

और फिर उस ज्ञानधार, चैतन्य धार या नाम के सहारे वहीं लौट जाती है। शक और सुरत एक ही शक्ति के रूप हैं—एक प्रश्वास की तरह बहिर्मुखी और दूसरी श्वास की तरह ऊर्ध्वमुखी। पहली सुरत है और दूसरी शब्द। इस प्रति ज्ञात यात्रा के निर्वाह के निमित्त उपदेश में प्रत्येक दीक्षित व्यक्ति को उपविभाग अथवा छोटे दरजे के शक का भेद दिया जाता है। इन्हीं के द्वारा सुरत को ऊपर चढ़ाना पड़ता है। यह वर्णात्मक नहीं, ध्वन्यात्मक नाम है। इन लोगों की यह धारणा भी है "राधास्वामी मत और मतों के शक या नाम एक ही दरजे या मण्डल के नहीं हैं। कोई शक निर्मल चैतन्य और शुद्ध माया के देशों के हैं और कोई शब्द निर्मल चैतन्य और मलिन माया देशों के। परंतु राधास्वामी मत में जिस नाम या शब्द का उपदेश दिया जाता है वह पहले बड़े दरजे या सबसे ऊँचे निर्मल चैतन्य देश का है। ये शब्द मामूली चीजों के नामों की तरह शक या नाम नहीं है बल्कि ये वे शब्द हैं जो अपने अपने मंडलों में घंटे शंख आदि के शब्द की तरह गाज रहे[1] हैं।" इस शब्द साधना के अभ्यास के माध्यम से सुरत को ऊपर या भीतर

१. राधास्वामी मत प्रकाश, पृ० ३०, १९२७ प्रथम संस्करण।

खींच सकता है तथा इस प्रकार वह जाग्रत दशा तथा स्थूल शरीर से संबंध विच्छेद कर सकता है । सुरत का चढ़ाव जब पिंड को पारकर ब्रह्माण्ड की ओर होता है—तब आँखें वैसे ही उलटने लगती हैं जैसे मृत्यु के समय । यही जीवित मृत्यु है—इसके बाद अमरता की ओर सुरत बढ़ती है—ब्रह्माण्डी सीमा पार कर जाने के बाद साधक कालातीत हो जाता है ।

पिंडीमन या कामादेश तथा ब्रह्माण्डी मन के बीच महासुन्न का सा एक अंतराल यहाँ माना जाता है—वहाँ भी सूक्ष्म सृष्टि है । इस संधि स्थल में एक बहुत ही सूक्ष्म छिद्र है—जिसे तीसरा तिल, दिव्य चक्षु, तीसरा नेत्र, सूक्ष्म नेत्र आदि कहा जाता है । आँखों के पीछे स्थित सुरत को अंतर्मुखी कर देने पर इसी छिद्र से वह ऊपर की ओर प्रमाण करती है । इस प्रकार सुरत सहस्र दल कमल के राज्य में पहुँचती है—ब्रह्माण्डी मन में आरूढ़ होती है । राधास्वामी मत में सहस्रदल कमल को कहीं-कहीं अष्ट दल कमल भी कहा जाता है और उसका कारण भिन्न भिन्न आठ धाराओं का मिश्रण माना जाता है । यहाँ से सुरत बंकनाल का सहारा लेती हुई 'त्रिकुटी' में पहुँचती है । इस स्थान को अर्से अजीम अथवा आलमे लाहूत भी कहा गया है । इसे महाकाश, गगन, प्रणव, ओंकार आदि संज्ञाएँ भी दी गई हैं । इसके ऊपर सुरत का आत्मपद 'सुन्न' स्थान है । यही दशम द्वार अथवा हाहूत भी कहा गया है । दशम द्वार द्वारा ब्रह्मांडी मन का भी उत्तरण हो जाता है और साधक निर्मल चैतन्य देश में आरूढ़ होता है । ब्रह्मांडी मन तथा निर्मल चैतन्य देश के बीच एक स्थान है—महासुन्न सुरत इसे पार कर 'भंवर गुहा' में समा जाती है—जो सत्त लोक का द्वार है । इस लोक से शक की प्रतिध्वनि इस गुहा में गूंजती रहती है । संतों ने इसे महानाद, सार शब्द तथा हूत—जैसी संज्ञाएँ भी दी हैं । इन संतों की धारणा है कि सहस्र दल कमल से सत्तलोक तक के छह मुकामातों से शुद्ध माया का कथन्चित समावेश रहता है परन्तु बाद में वह भी समाप्त हो जाती है और निर्मल चैतन्य भर रह जाता है ।

इन संतों के अतिरिक्त संत गरीबदास, भीखा साहब तथा लाल साहब ने भी कुछ पौड़ियों का उल्लेख किया है—पर पद्य में वह उतना ब्योरेवार नहीं है जितना होना चाहिए । फलतः किसी विशेष नवता की संभावना न देख उन्हें छोड़ता हुआ एक निकट अतीत के संत की उपलब्ध पाण्डुलिपि से कुछ बातें उद्धृत करना चाहता हूँ ।

सहज समाधि का हाल :

जिस समय अभ्यास में सहज समाधि के द्वारा आँखों की दोनों पुतलियाँ उलटने लगती हैं तो पहले अंधेरे में कुछ रोशनी के किनके दिखाई देते हैं और फिर लुप्त हो जाते हैं । वहाँ बिजली की सी चमक, दीपक सी ज्योति, पाँच तरह के रंग—

शब्द की धार के ध्रुवीकरण के फलस्वरूप

शुद्ध निर्मल चैतन्य देश

(१) राधास्वामी
(२) अगम
(३) अलख

परम संत / परम हंस

सुरत की धार के ध्रुवीकरण के फलस्वरूप

(४) अनामी
हूत—(५) सत्त लोक (सुरत शब्द का स्पष्ट मेल)
महानाद, सार शब्द
(६) भंवर गुहा (सोहं पुरुष)

हंस / संत

महा सुन्न का मैदान

ब्रह्माण्डी देश (मिश्र) चैतन्य+शुद्ध माया

सुन्न या दसम द्वार, हाहूत
बंकनाल त्रिकुटी—(गगन) ब्रह्म, प्रणव, ओंकार, आलमे लाहूत
सहस्रदल कमल (अष्ट दल कमल भी कहा गया है)

विष्णु
ब्रह्मा
शिव

महा सुन्न विशाल मैदान

चैतन्य+मलिन माया पिंड (मिश्र)

तीसरा नेत्र, सूक्ष्म नेत्र, दिव्य चक्षु—छिद्र तीसरा तिल
आख—आँखों के पीछे का चक्र
विशुद्ध—कंठ चक्र
अनाहत—हृदय चक्र
मणिपूर—नाभि चक्र
स्वाधि०—इंद्रिय चक्र
मूलाधार—गुदा चक्र

लाल, पीला, श्वेत श्यामल तथा नील—दिखाई देते हैं—फलतः साधक का मन अभ्यास में लगने लगता है। इसके बाद आसमान और तारों की सी चमक, दीपक माला सी झिलमिल रोशनी दृष्टि पथ में आने लगती है। संत दरिया ने भी सुरत के धँसते ही 'दिव्य दृष्टि' प्राप्ति की बात की है और अनेक विध अनुभवों का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, वहाँ सूर्य की किरणों का सा प्रकाश भी लक्षित होने लगता है। जिस समय आँखें बिलकुल भीतर की ओर उलट जायंगी, तब सुरत शरीर को छोड़ कर ऊपर को चढ़ेगी—फलतः प्रकाश के और ही रूप सामने आते हैं। अब स्थान सहस्र दल कमल का है। इसकी हजारों पंखुड़ियाँ पृथक् पृथक् तीन लोक का काम दे रही हैं। अभ्यासी इस यात्रा से विह्वल हो उठता है। यहाँ त्रिलोकपति का दर्शन होता है। बहुत से अभ्यासी इस मुकाम को पाकर तथा मालिक का कुल समझकर गुरु से आगे चलने का रास्ता ही नहीं पूछते। सुरत इस प्रकाश से तृप्त हो जाती है।

इससे आगे बढ़ने पर इस प्रकाश के ऊपर का द्वार इतना सूक्ष्म और झीना है जैसे बारीक सुई की नोंक। अभ्यासी इसमें प्रवेश करता है। इससे आगे बंकनाल का टेढ़ा रास्ता है जो कुछ दूर तक सीधा जाता है और फिर नीचे की ओर मुड़ कर ऊपर जाता है। इस प्रणालिका से पार हो सुरत दृष्टि आसमान पर पहुँचती है—इस आसमान पर एक मुकाम है—त्रिकुटी—जिसे 'लाहूत मुसलसी' भी कहते हैं। यह करीब लाख योजन लम्बा और लाख योजन चौड़ा है। यहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की लीलाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वास्तव में वहाँ की शोभा अवर्ण्य है फिर भी कुछ कहा जा रहा है। हजार सूरज, हजार चाँद—इसकी रोशनी से लज्जित हो जाता है। यहाँ ॐ ॐ की आवाज होती रहती है और आठो पहर बादल की सी मंद्रध्वनि होती रहती है। इस मुकाम पर सुरत को अत्यधिक आनंद मिलता है। यहाँ पर सुरत के तमाम आवरण हट जाते हैं अतः वह स्वच्छ साफ और निर्मल हो जाती है। इस स्थान से भीतरी रहस्य का अनावरण आरंभ हो जाता है। कुछ समय तक सुरत इस स्थान की यात्रा कर फिर आगे बढ़ती है। चढ़ते चढ़ते करीब करोड़ योजन पर चढ़ कर तीसरा परदा फोड़कर वह 'सुन्न' में पहुँचती है। इसे हूतलाहूत भी कहा गया है। इस जगह का क्या वर्णन किया जाय? यहाँ सुरत बहुत विलास करती है और प्रकाश 'त्रिकुटी' से बारह गुना अधिक है। मानसरोवर के तालाब अमृत से भरे हुए हैं जो जगह जगह पर मौजूद हैं और कितने ही बाग-बगीचे खड़े दिखाई पड़ते हैं। बहुत सी सूरतें अप्सरा की भाँति जगह-जगह पर नृत्य करती रहती हैं। इस आनंद को पहुँची हुई सुरत ही जानती है। लिखने और कहने में सब संभव नहीं है। अति मधुर भक्ष्य पदार्थ निरन्तर अपनी तरोताजगी में विद्यमान रहते हैं—रस रंग सब तरह के वहाँ मौजूद हैं। हर

स्थान पर अमृत के झरने प्रवाहित हो रहे हैं। हीरे के चबूतरे, पन्नों की क्यारियाँ, जवाहरात, लाल चुनियाँ जड़ी हुई प्रकट हो रही हैं। मछलियाँ, वत्तख उन सरोवरों में तैर रहे हैं। उनके आगे शीश महल बने हुए हैं और रूह अपने अपने मालिक के आज्ञानुसार स्थित हैं। इन सूरतों को हंस मंडली के नाम से वर्णित किया जाता है। इन स्थानों की निर्माण योजना देखते ही बनती है। यह चिन्मय प्रदेश है—जड़ता का नाम नहीं। यहाँ की सूरतों में निर्मलता और सूक्ष्मता बहुत है—न तो यहाँ भौतिक स्थूलता है और न मलिनता ही।

यहाँ से सुरत आगे बढ़ती है। चढ़ते-चढ़ते पाँच अरब पचहत्तर करोड़ योजन ऊपर जाती है—महासुन का नाका तोड़कर आगे बढ़ती है। यहाँ दस नील तक अँधेरा ही अँधेरा है। उस तिमिर खण्ड की गहराई और घनता कहाँ तक वर्णित की जाय? खरब योजन तक सुरत नीचे तर गई और फिर भी थाह न लगी—फिर ऊपर को चली। जो निशान गुरु ने बताया था उसी की सीध में उसी मार्ग पर चलती ही रही—पर थाह लेना उसने उचित नहीं समझा—फलतः आगे की ओर बढ़ी। यही मैदान महासुन्न का है। इस स्थान पर चार शब्द तथा पाँच मुकाम गुप्त है। इनका पता गुरु की कृपा से लगता है। इस स्थान पर अनगिनत सूरतें जो मरदूद सच्चे मालिक की हैं—इनके लिए बंदीखाने बने हुए हैं—उनको तकलीफ तो कुछ भी नहीं—अपने-अपने प्रकाश से अपना-अपना काम करती हैं—परंतु दर्शन मालिक का उन्हें नहीं होता। दर्शन के न होने से उनको बेचैनी अवश्य है परंतु एक सुरत मारूफी की उनके लिए मुकर्रर है। जब संत इस रास्ते से गुजरते हैं और जो सूरतें नीचे के लोकों से संतों के वसीले से जाती हैं—उनमें से जिन जिन सूरतों को ले जाने की खुशी जो संतों को होती है उस सच्चे मालिक की उन संतों पर अति दया व कृपा होती है। संत उन सूरतों को बक्सवा कर उस सच्चे मालिक के पास बुलवा लेते हैं—और हाल इस जगह की कहाँ तक लिखी जाय?

इस मुकाम को छोड़कर सुरत 'भंवर गुफा' में पहुँचती है। वहाँ एक चक्कर है जिसको हिंडोलना कहते हैं—ऐसा उत्तम फिर रहा है कि बहुत सूरतें उस जगह झूलती हैं। इसके इर्द गिर्द अनंत दीप चैतन्य बने हुए हैं इन दीपों में से आवाज सो हं सो हं उठ रही है और उनकी धुन से सुरतें और हंस हमेशा विलास कर रही हैं और जो जो रचना इस मुकाम पर और हैं वह ज्यों की त्यों लिखने में नहीं आतीं—दर्शनीय ही हैं। जब सूरत इस मार्ग को कमाती हुई पहुँचेगी, तब वह स्वयम् ही देख लेगी।

अब, यहाँ की सैर करती हुई सुरत आगे की ओर बढ़ती है। इधर सुगंध मलय गिरि की ओर किस्म किस्म की इत्रों से लिपटी चली आती है। बाँसुरी की धुनें

सुनाई पड़ती हैं। इसको सूंघती और सुनती हुई सुरत आगे को बढ़ी चली जाती हैं। जब वह इस मैदान को पार कर लेती है तब सत्त लोक की सीमा आ जाती है। वहाँ से बीन की आवाज सुनाई पड़ती है। इसे सुनकर सुरत मत्त हो जाती है और आगे की ओर धँसती हुई चली जाती है। वहाँ सुनहले और रुपहले सरोवर अमृत से भरे नजर आने लगते हैं—बड़े बड़े उद्यान दिखाई पड़ने लगते हैं। एक एक रस इस स्थान के करीब-करीव करोड़ योजन की बुलंदी रखता है। सूरज और चाँद करोड़ फूलों और फलों की जगह लगे हुए हैं और अनेक सुरतें इन वृक्षों पर पक्षियों की जगह पर बोल और विलास कर रही हैं। इस मुकाम की अजब लीला है। इन सारी लीलाओं को देखते हुए सुरत सत्त लोक में पहुँचती है। वहाँ सत्त पुरुष के दर्शन होते हैं।

सत्पुरुष के शरीर का वर्णन इस प्रकार हो सकता है—एक एक रोम उसका इस कदर प्रकाशित है कि करोड़ सूरज और चाँद लज्जित हैं। जब एक रोम की ऐसी शिक है—तो तमाम रोमों की शिकन कहाँ तक कही जाय ? नयन, नासिका, हाथ, पाँव की शोभा क्या लिखूँ—प्रकाश ही प्रकाश है। प्रकाश का समुद्र कहूँ भी तो भी नहीं बन सकता एक पद्म पालंघ घेरा उस लोक का है और पालंघ का शुमार यह है कि तीन लोक का एक पालंघ है। इस सत्त लोक की लम्बाई चौड़ाई किस प्रकार की है—कहना संभव नहीं। पाक सुरतें जिनको हंस कहते हैं—वहाँ बसती हैं और सत्पुरुष का दर्शन करती हैं—बीन की आवाज सुनती हैं तथा खुराक अमृत की हमेशा खाती हैं।

इस मुकाम का विलास देखकर सुरत फिर आगे बढ़ती है और अलख लोक में अलख पुरुष का दर्शन पाती है। करीब एक शंख पालंघ घेरा उस लोक का है। अरब, खरब सूर्यों का एक-एक रोम अलख पुरुष का है।

सुरत फिर वहाँ से ऊपर को चली और 'अगम लोक पहुँची—जिसका घेरा महाशंख पालंघ का है और करोड़ों शंख की कामा अगम पुरुष की है। वहाँ के हंसों के स्वरूप भी अद्भुत हैं और विलास भी वहाँ के आश्चर्यमय हैं। इस जगह सुरत बहुत विलास करती हुई इसके भी आगे 'अनामी पुरुष' का दर्शन पाती है। और अंततः उसमें समा जाती है। वह अनादि अनन्त है। संतों का वही मूल स्थान है। उसको पाकर सभी संत मौन हो जाते हैं। मुकामातों का चित्र यों है—

छपरा वाले परमहंस जी महाराज के अनुसार

जिनकी परम्परा में महात्मा आत्मविवेकानंद जी

महाराज थे
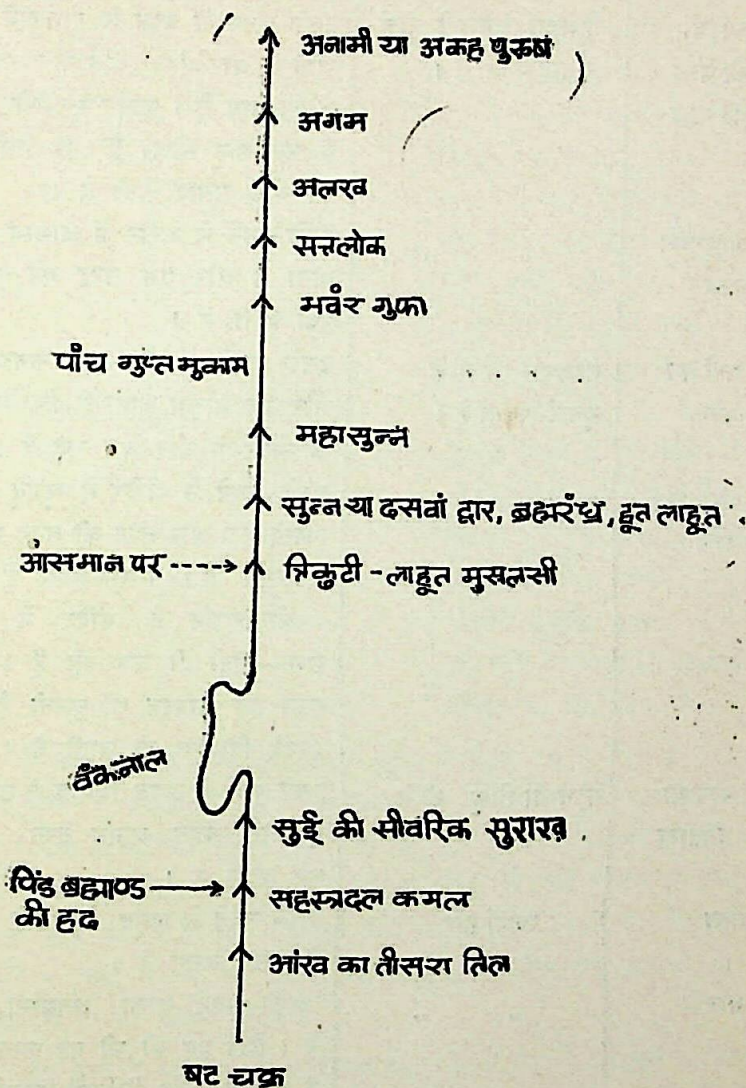
आगम और निगम की विभिन्न परम्पराओं में अनेक प्रकार के शब्दों की बात भी मिलती है—जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस परम्परा में भी अंदरूनी शब्दो का विवरण मिलता है।

नाम शब्द	स्थान	विवरण
१. चिड़ियों की बोल का शब्द	संहस्रदल कमल के नीचे सुनाई पड़ता है।	इसके सुनने से बदन के रोम खड़े हो जाते हैं और ऐसा स्थान नजर आता है जो बाग है। जहाँ रंग रंग के वृक्ष व फूल फल मौजूद हैं और चिड़ियों की बोल सुनाई देती है।
२. झींगुर की शक	" "	इसके सुनने से शरीर में आलस्य पैदा होता है और एक तरह की सुस्ती पैदा होती है।
३. घण्टे का शब्द	सहस्रदल कमल से सुनाई पड़ता है।	इसके सुनने से प्रेम बढ़ने लगता है और यह मालूम होता है कि शिवजी के मंदिर में घंटा ,बज रहा है।
४. शंख का शब्द	" "	इसके सुनने से शरीर में खुशबू आने लगती है। और नशा की तरह शरीर चकराता है। मालूम होता है कि लक्ष्मीनारायण के मंदिर में घंटा शंख—दोनों ही बज रहे हैं। जब सुरत इस आवाज को सुनती है तब आनंद विह्वल हो जाती है।
५. बीन या सितारा	गगन या त्रिकु टी से	इसके सुनने से अमृत दिमाग से उतरता है और बहुत आनंद तथा रस आता है।
६. ताल	दसवाँ द्वार	इसके सुनने से अमृत दिमाग से हलक में उतर आता है।
७. बांसुरी	" "	इसको सुनने वाला अंतर्यामी होता है। छिपे हुए को भी वह जान लेता है। इससे अनेक सिद्धियाँ मिलती हैं। यह वही बाँसुरी है जो श्री कृष्ण बजाते थे और वृन्दावन वासी सुनते थे।
८. मृदंग	भंवर गुहा	इसके सुनने से बहुत आनंद मिलता है और सुनने वाला हर समय मग्न रहता है। क्योंकि यह शब्द हर वक्त बाहर भीतर सुनने लगता है और दिव्य दृष्टि यहाँ तक बढ़ जाती है

नाम शब्द	स्थान	विवरण
		कि छिपी चीजों को वह अच्छी तरह जान लेता है।
९. नफीरी	सतलोक	इसको सुनने से वह शक्ति मिलती है जो देवताओं को है। शरीर बहुत ही हलका और सूक्ष्म हो जाता है। इससे वह पक्षी की भाँति उड़ सकता है और लोगों को नजर नहीं आता साथ ही वह सबको देखता है। यह स्तर त्रिकालज्ञ का है।
१०. बादल की गरज	सत्त लोक	इसके सुनने से हर तरह के शक तमाम अच्छे व बुरे ख्याल का नाश हो जाता है और दुनियाँ व उसकी चीजों की सिद्धि व करामात को बच्चों का खेल जानकर ख्याल नहीं करता, क्योंकि सुनने वाला असल में मिल जाता है—सामरस्य की स्थिति में आ जाता है।

ये दस तरह के बाजे हर वक्त मनुष्य के अंदर बजते रहते हैं—जो अनहद शब्द सुनने से मालूम होते हैं। चित्तगत विक्षेप के कारण निरन्तर उच्चरित होते हुए ये शब्द श्रुतिगोचर नहीं हो पाते। गुरु की कृपा से ये सारे शब्द सुनाई पड़ते हैं।

जिन आध्यात्मिक ठहरावों और उन पर पहुँचने के बाद श्रुतिगोचर तथा दृष्टि-गोचर होने वाले नादों एवं रूपों की चर्चा की गई है उनका मत किंचित् उल्लेख किसी न किसी रूप में सभी संतों में मिलता है। शब्द और रूप ही नहीं, गंध, स्पर्श तथा रस का भी अनुभव होता है।

तंत्र ग्रंथों के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि आणव उपाय द्वारा 'पर पथ' से चलने वाले साधक को 'पूर्णता' की ओर उन्मुख होते ही 'आनन्द' का अनुभव होने लगता है। पार्यन्तिक अथवा पूर्णता की दशा के अतिरिक्त आन्त-रालिक आरोहण क्रम में कैसी-कैसी रहस्यात्मक अनुभूतियाँ होती हैं—इसका भी आगमिकों ने संकेत दिया है। कहा है कि पूर्णता की ओर उन्मुख होने पर स्वतः आनन्द की अनुभूति होने लगती है। आनंद के अनंतर अनेक विध अनुभूतियाँ होती हैं—कम्प, भ्रमी, घूर्णन, प्लवन, स्थिरता, चित्प्रकाश, आनन्द, दिव्य दृष्टि तथा चमत्कृति। अंततः पूर्णता की उपलब्धि हो जाने पर जो दसवीं दशा आती है—

वह 'अवाच्य' है। एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि साधक लक्ष्य को हृत्कमल में अनेक रूपों में देखता है और अंततः वह 'बिंदु' प्रकाश पुन्ज के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

परम धाम की ओर आरोहण करते हुए तांत्रिकों ने और भी अन्यान्य आंतरालिक रहस्यमय सोपानों की बात कही है। मध्यमार्ग में आरूढ़ जीवात्मा अनेकविध चक्रों का उत्क्रमण करता हुआ आज्ञा चक्र से लेकर सहस्रार की कर्णिका तक माया राज्य के ऊपर तथा महामाया राज्य के भीतर आठ पदों—बिंदु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना—को भी पार कर जाता है। वस्तुतः इन आठ पदों में भी पाश जाल फैला हुआ है। पाश जाल से सर्वथा तुर्यातीत की 'उन्मनी दशा' में ही संभव है।

सामान्यतः आस्तिक-दर्शन—शिरोमणि वेदान्त में माया अथवा त्रिगुण राज्य की चर्चा की जाती है और मायातीत पद को चौथा पद या तुर्य दशा कहा जाता है। संतों में से भी अनेक ने परम पद को चौथा पद कहा है। पर आगमिक धारा में 'माया' के बाद 'महामाया' का उल्लेख मिलता है—जो स्वयम् 'तुर्य' दशा है। महामायातीत दशा 'तुर्यातीत' दशा है। संत साहित्य में इस तुर्यातीत का भी उल्लेख किया गया है। तुर्य और तुर्यातीत में अनेक स्तरों का उल्लेख मिलता है।

पहले एक चित्र द्वारा दिखाया गया हैं वहाँ कहा गया है कि देह में अकुल सहस्रार से आज्ञा चक्र तक माया राज्य है—यह 'सकल' दशा है। अ ऊ म के रूप से नाद यहाँ उत्थित रहता है। मकार मात्रा के बाद वह उच्चार भ्रूमध्य में 'बिंदु' के रूप धारण करता है। योगियों की नौ भूमियों में बिंदु ही प्रथम है। माया राज्य के समस्त भेद अविभक्त 'बिंदु' रूप से यहाँ स्थित हैं। अवरोहण की दृष्टि से यह स्थान सृष्टि का आरंभ बिंदु है और आरोहण पक्ष से विचार करने पर यह अनन्त में प्रवेश का द्वार है। अर्द्ध चन्द्र तथा रोधिनी इसी बिंदु-आवरण के ऊर्ध्वरूप है। इन पदों या स्तरों की विभिन्न शून्य रूप में कल्पना है। स्वच्छदागम में अनेक शूलों की कल्पना है। हृदय कमल अधः शून्य है। मध्य शून्य है—कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट तथा ब्रह्मरंध्र। व्यापिनी ब्रह्मरंध्र के भी अनन्तर है। ब्रह्मरंध्र ही शक्ति स्थान है! इसीलिए 'व्यापिनी' चतुर्थ शून्य है। समना पन्चम शून्य है। इस प्रकार आगमिक धारा में वह सब कुछ है—जिसका विकास संत धारा में मिलता है।

संतों की ऊर्ध्वयात्रा में तीसरे तिल से भवंर गुहा होते हुए सत्य राज्य तक पहुँचने की बात का आरंभ तो कबीर से ही हो चुका है। पर क्रमशः परवर्ती संतों ने उसके बाद भी अनेक भूमियों का उल्लेख किया है। वैसे तो कबीर के नाम से लिखी अनेक रचनाओं में सत्य राज्य के पार स्थानों—अलख, अगम, अकह आदि—का भी नाम मिलता है। आध्यात्मिक मुकामातो में कुछ क्रम भेद भी मिलता है। वास्तव में इन अवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन पर्याप्त रोचक है। इसके अध्ययन

के माध्यम से मध्यकालीन समस्त साधनाओं के पारस्परिक प्रभाव पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। संतों की इन मुकामात संबंधी शब्दावलियों में अनेक आगम, सिद्ध, नाथ धारा से संक्रान्त पदावली है और कई एक सूफियों की साधन धात से भी उनकी अपनी नवाविस्कृत शब्दावली तो है ही। इन इतर शाखाओं से प्राप्त चरम भूमि—सत्य राज्य तथा हाहूत—के ऊपर भी संतों ने अपने लोकों की कल्पना की है। कबीर पंथी साहित्य में अवतरण क्रम में पड़ने वाले स्तरों के साथ सूफी शब्दावली का समानान्तर प्रयोग किया गया है और राधास्वामी मत में आरोहण क्रम से पड़ने वाले स्थानों के समकक्ष। बात एक ही है—जिन स्तरों से चित् जड़पर्यन्त अपनी यात्रा का सम्पादन करता है—उन्हीं से वह सक्रम या अक्रम वापस भी आयगा। अतः नाम भेद का विचार करने से एकरूपता ही मिलेगी। इन शब्दावलियों के अर्थों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि संत शब्दावली कहाँ की ले लेते हैं—पद प्रयुक्त करते हैं—स्वानुभूत अर्थ में—अतः कहीं-कहीं अंतर भी पड़ जाना सहज संभव है—संयोगात् साम्य भी हो सकता है।

इस प्रकार संत साहित्य के अन्य पक्षों की भाँति इस पक्ष की व्याख्या तांत्रिक आलोक में ही संभव है।

संत साहित्य और कवित्व

प्रायः संत साहित्य को लेकर विद्वानों में यह मतभेद चलता रहता है कि इसका विवेचन-विश्लेषण साहित्य के अध्येता द्वारा किया जाना चाहिए अथवा नहीं ? निषेध पक्ष वालों के तर्क हैं कि इस साहित्य की प्रेरक भावना साम्प्रदायिक है अतः 'सार्वभौमिकता' - 'सर्वजन संवेद्यता' के उपासक साहित्य-अध्येता को इसे अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाना चाहिए । इस की चर्चा या तो दर्शन विशेष की शाखा में होनी चाहिए—क्योंकि वह किसी न किसी 'दृष्टि' सम्पन्न आचार्य से दीक्षित साधक की अभिव्यक्ति है । अथवा जैसा कि पश्चिमी समाजवादी चिन्तकों ने सामाजिक क्रांतियों और अवस्थाओं के विश्लेषण से इन सिद्धो-संतों के साहित्य को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया है— वही हमें भी करना चाहिए। इस दृष्टिकोण से अध्ययन का परिणाम यह रहा है कि ये संत उन की दृष्टि में एक अच्छे 'समाज सुधारक' रहे हैं—समाज के निचले तबके की पिसती हुई चेतना को शक्त स्वर देने में इनका श्लाघ्य योग रहा है । ये लोग जीवनयापन में उपयोगी आर्थिक ढांचे को ही (Basic structure) मूलभूत ढांचा स्वीकार करते हैं और उसी दृष्टि से तादाधृत (Super structure) का उच्च ढांचे का अध्ययन करते हैं। एक तर्क और भी देते हैं—कि इन संतों की अभिव्यक्ति के मूल में ही कवित्व की भावना नहीं है—अनायास भावावेश में काव्योचित उपकरण कहीं आ जाय—इससे कोई रचना मूलतः काव्य नहीं बन जाती । कवित्वद्योतक भाषा या वर्णना और है और कवित्मय वर्णना और । इन संतों के समस्त उद्‌गार या तो अपनी साँप्रदायिक अनभूतियों की विवशता की परिणति हैं या तो अपने व्यक्तिवेद्य साम्प्रदायिक अनुभूति के धरातल से हटने पर लोक-करुणा अथवा लोकोद्धार की भावना से प्रेरित खण्डनात्मक अथवा उपदेशात्मक उद्‌गार । इस प्रकार इनकी समस्त रचना की मूल प्रेरणा या तो साम्प्रदायिक है अथवा सामाजिक । मानव में निहित स्वभाव-गत समस्त संभावनाओं के विकास में बाधक तत्वों का खण्डन तथा साधक तत्वों का उपदेश-ही इनका मूलस्वर है । यदि अंतर्मुख हैं तो साम्प्रदायिक और बहिर्मुख हैं तो सामाजिक । फलतः उभयथा इनका विचार साहित्य के विद्यार्थी अथवा अध्येता के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है । वस्तुवादी चिन्तक तो यह स्वीकार करते हैं कि मानव में चेतना मूलतः समाज में पैदा होती है अतः सामाजिक ही होती है—

फलतः चेतना प्रेरित समस्त कृतियों की व्याख्या एक सामाजिक सदस्य के रुप में ही होनी चाहिए । मनुष्य का कुछ भी व्यक्तिगत नहीं है—एक दूसरे के विपक्ष में

विशेषताएं व्यक्तिगत होकर भी कहीं न कहीं समाज से संवृक्त हैं—अतः जिन्हें साम्प्रदायिक कहा जाता रहा है—जीवनयापन के संदर्भ में वे भी कहीं न कहीं सामाजिक वर्ग विशेष की हैं। इस प्रकार व्यक्ति मात्र की तरह संत मात्र की हर हरकतों का मूल्यांकन एक सामाजिक व्यापार के रूप में समाजशास्त्रीय दृष्टि से किया जाना चाहिए। इनकी दृष्टि से चेतना या संवेदना कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका समाज या भूत से पृथक कोई अस्तित्व या महत्व है। इस दृष्टि से संतसाहित्य—जो कवित्व की भावना से रचित नहीं है—काव्य की दृष्टि से नहीं—समाज शास्त्रीय निष्कर्षों की पुष्टि के लिए अधीन होना चाहिए। मार्क्स एवम् एंजेल्स ने ऐसा किया भी है।

इन आक्षेपों के संदर्भ में पहले यह स्पष्ट कह दिया जाय कि और चाहे जिसकी यह दृष्टि हो—पर स्वयम् संत भूतवादी नहीं है—मार्क्स के विचारों की तो बात ही पृथक् है। मूलतत्व वाले अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संत जन जड़ या पदार्थ जैसी कोई वस्तु मानते ही नहीं—वे तो उस दृष्टि के अनुयायी हैं जो एक मात्र चेतन की सत्ता मानते हैं और जड़ को भी चेतन का परिच्छिन्न रूप मानते हैं। ये संत उस शांकर मत के भी समर्थक नहीं हैं जो जड़ को सर्वथा चिद्भिन्न मानते हैं—फलतः अद्वैत की सिद्धि के लिए उसका आत्यंतिक निषेध कर देते हैं। शांकर मत की तरह ये लोग जड़ को अनादि अविद्या की परिणति-प्रातिभासिक परिणति—नहीं मानते हैं जिसका विद्यात्मिका वृत्ति अथवा ज्ञान वश सदा सदा के लिए निवर्तन हो जाया करता है। यदि ऐसी मान्यता इन संतों की होती तो न तो भोग के साथ योग का समर्थन करते और न तो निर्वाण के समक्ष भव को मान्यता देते और न ही दोनों का पार्थक्य मिटाने की बात करते। वे यह भी न कहते—

जन दरिया सतगुरु मिला, कोई पुरवले पुन्न।
जड्ड पलट चेतन किया, आन मिलावा सुन्न॥

जड़ और चेतन—सर्वथा भिन्न होते—तो जड़ को पलट कर चेतन करना किसी के बूते का न होता। जहाँ जो संभावना निहित है—वहीं उसका सम्मूर्तन हो सकता है। यदि ये शांकर मत की भांति चेतन से भिन्न जड़ मानते होते, तो वासना का शोधन नहीं, दमन करते। प्रतिबिम्ब 'राग' के माध्यम से 'मूल राग या 'स्वभाव' को पाने के लिए मरणान्तक वेदना न सहते। निष्कर्ष यह कि संत गण केवल चेतनावादी हैं—जड़ को मानकर भी उसे वे चेतना का परिच्छिन्न रूप मानते हैं—सर्वथा पृथक् और विजातीय द्रव्य नहीं।

कहा जा सकता है कि यह चेतना और कुछ नहीं एक प्रकार की भौतिक घटना है। किसी भी प्रकार का कोई भी ज्ञान एक धक्का है। किसी भी वस्तु का इंद्रिय पर धक्का लगता है—इंद्रियाँ स्नायषिक यंत्र को यह धक्का देती है और स्नायुएं उसे मस्तिष्क तक पहुंचाती हैं—यही धक्का तो चेतना कही जाती है—यह एक भौतिक

व्यापार ही तो है – स्वतंत्र विजातीय द्रव्य नहीं । कहा जा सकता है कि यदि यह धक्का ही चेतना है तब मादक द्रव्यों के सेवन काल में उससे हीन व्यक्ति जला दिया जा सकता है ? यदि उक्त चेतना हीं सब कुछ है तो अवश्य जलाया जा सकता है लेकिन मदहोश को जलाने पर भी कष्ट का अनुभव होता है–जो अतिरिक्त 'चेतना' का अस्तित्व द्योतन करता है । भूतवादी कह सकता है कि यह अतिरिक्त चेतना नहीं है–प्रत्युत स्थगित चेतना है जो अग्नि के संपर्कजन्य धक्के से पुनः गतिशील हो गई है । अतः अतिरिक्त चेतना मानने की कोई आवश्यकता नहीं–वह एक भौतिक घटना का ही नामान्तर है ।

उक्त तर्क शृंखला के विपक्ष में दो बातें कही जा सकती हैं–एक तो यह कि हम सब जब गहरी से उठते हैं तब यह समझते हैं कि 'आज बड़े आनंद से सोया' । स्पष्ट है कि यह स्मरण बिना पूर्ववर्ती अनुभवात्मक चेतना के किसी प्रकार संपन्न हुई ? और यह अनुभवात्मक चेतना किसी प्रकार का धक्का है–नहीं, कारण धक्का का अनुभव हो तो गहरी नींद नहीं और गहरी नींद हो, तो धक्का नहीं । फिर भी अनुभवात्मक चेतना है—अतः प्रतीत होता है कि चेतना का एक ऐसा रूप भी है–जो भौतिक घटना नहीं है–जो स्वतः प्रज्वलित या स्वयम्प्रकाश है । कहा जा सकता है कि यह स्मृति नहीं है–अनुमान है । नींद के बाद की विश्रान्ति से यह अनुमान होता है कि उस समय शरीर की सारी हरकतें–भीतरी बाहरी–शाँत थीं–अतः जगने पर इतनी विश्रांति एवम् ताजगी अनुभूत हो रही है । अनुमान अप्रत्यक्ष या अननु भूत का ही होता है –अतः 'सुख से सोया' इस बोध की उपपति के निमित्त अगत्यात्मक सुख चेतना के अनुभव का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता । तब भी प्रश्न यह है कि 'सुख' का अनुभव तो है–पर वह 'सुख' जागरण कालिक (विश्रान्ति रूप अनुभव का) है अथवा पूर्ववर्ती निद्राकालीन ? 'सुख से सोया'–इस वाक्य में 'सोना' क्रिया के विशेषण रूप में 'सुख' से 'शब्द का प्रयोग है–विशेषण का संबंध विशेष्य 'सोना' क्रिया से से है – न कि जागरण से – विपरीत इसके तो सुख की नींद भंग होने से दुःख ही होता है । सुख से सोने वाला 'सुख से सोया' यही कहता है–न कि 'सुख से जगा'– यह । न ही यह कि जगने पर विश्रान्ति का जो अनुभव हो रहा है–उससे अनुमित हो रहा है कि शयन सुखकर था । इस प्रकार अनुभवाश्रित चिन्तन यह सिद्ध करता है कि हर प्रकार की गति-विश्रान्ति बेला में भी अनुकूल सुख का जो साक्षी है– वह 'चेतना' है, 'चेतन' है–बल्कि इससे भी आगे बढ़कर कहूं तो कह सकता हूं कि वह सुखात्मक या आनन्दात्मक भी है–चेतन । अर्थात् वह 'चेतन' है 'और 'सुखात्मक' है । अर्थात् सबका साक्षी सच्चिदानन्द हैं – सत् (है) चित् (चेतना) तथा आनंद (सुख) –किसी के भी न रहने पर भी वह है–अपने से ही वह अपना सुखात्मक अनुभव करता है–जागरण में अनेक अन्य उपकरणों के माध्यम से जागतिक 'भेद' व्यवहृत आत्मा- नुभव करता है । चेतना को अतिरिक्त इसलिए भी माना जा सकता है कि जीव-

कोष (Cell) ही अपने साक्ष्य में धक्का को 'चेतना' का रूप देता है—अर्थात् जो चेतना गतिमय है—वह जीवकोशगत तरल द्रव्य पदार्थ के कारण। वैज्ञानिकों ने इस तरल द्रवपदार्थ के संगटक अवयवों का पता तो लगा लिया है—पर उनके रासायनिक मिश्रण से जीवनी शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं कर सके। अभी तक तो वह किसी रासायनिक मिश्रण की प्रतिक्रिया रूप में तो न आ सका—भविष्य में क्या होगा—नहीं कहा जा सकता।

अस्तु, जो भी हो—कम से कम संतगण यह मानकर चलते हैं कि चेतन ही एक-मात्र सत् है और सब कुछ उसीका परिच्छिन्न रूप बल्कि इतना और कि उस चेतन की ही अचिन्त्य शक्ति (चिन्मय) का परिच्छिन्न रूप। यही अचिन्त्य स्पंदात्मक संकोच विकासमयी शक्ति जगत् रूप में परिणत होती हुई अंततः सर्वाधार रूप में कुण्डलित हो गई है—कुण्डलिनी बन गई है। वह वर्णात्मक शक्तियों का अविभक्त नादमय रूप है। वही भिन्न-भिन्न वर्णात्मक रूपों में अवतरण वेला में आत्मा का आवरण भी बन जाती है चक्र केन्द्र बन जाती है। अस्तु। जिसकी यह 'दृष्टि' है जिसका सारा जीवन, सारी साधना और समूची अभिव्यक्ति—उस 'दृष्टि' की परिणति है—उसके साहित्य की व्याख्या 'वस्तुवादी' या 'भौतिकवादी' दृष्टि से की जाय—यह व्याख्येय संतों के साथ तो न्याय न होगा—व्याख्याता अपनी दृष्टि से चाहे जो भी सोचे।

हाँ, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि उसके समस्त अभिव्यंजन में उसका द्विविध व्यक्तित्व अंतर्निहित है—अध्यात्ममुखी अथवा अंतर्मुखी साधक या सिद्ध का व्यक्तित्व तथा बहिर्मुख सामाजिक का व्यक्तित्व। अंतर्मुखी व्यक्तित्व की अभिव्यंजना-भावात्मक हो या साधनात्मक-सम्प्रदाय की वस्तु है—समान संस्कार वाले साधक की वस्तु है—सबकी नहीं। दूसरे प्रकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन सामा-जिक चेतना के दबाव का समुच्छलन है —कवित्वावेश का उदगिरण नहीं। फलतः चेतनावादी होने पर भी काव्याध्येता का क्षेत्र फिर भी संत साहित्य नहीं है। साम्प्र-दायिकों और समाजशास्त्रियों के काम की वस्तु हो सकती है।

इस स्थिति में पहली बात यह कहना चाहता हूं कि न केवल भारतीय अपितु विश्व के समस्त प्राचीन सांस्कृतिक केंद्रों के निवासियों का जीवन धर्म और अध्यात्म की मान्यताओं से नियन्त्रित और परिचालित था। भारत में तो उत्थान से शयन पर्यन्त और जन्म से मृत्यु तक—प्रत्येक व्यापार विधि-विहित था। इस धर्मअध्यात्म नियंत्रित ढांचे का एक लक्ष्य था और उस लक्ष्य की ओर अपने 'अधिकारभेद' वश श्रद्धा-विश्वास के सहारे व्यक्ति बढ़ता था। इस यात्रा की अपनी सुखदुःखमयी अनु-भूतियों का काव्योचित रासायनीकरण के साथ वह अभिव्यक्ति करता था। अभिप्राय यह कि जिस देश-काल का समष्टि मानस ही सम्प्रदाय—निगड़ित था उसकी मानस

तरंगों में साम्प्रदायिक गंध का अभाव सोचा ही नहीं जा सकता। फलतः साँप्रदायिकता तथा कविता को परस्पर विरोधी आत्यंतिक रूप से नहीं माना जा सकता। धर्म और अध्यात्म-जो अधिकारभेद की दृष्टि से साम्प्रदायिक होता ही है–प्रेरित रचना मात्र साम्प्रदायिक होने के कारण यदि साहित्य के क्षेत्र से बहिर्भुत कर दिए जायं–तब तो प्राचीन वाङ्मय मात्र साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया जा सकता है।

कहा जा सकता है कि तब तो साम्प्रदायिक वाङ्मय और साहित्यिक वाङ्मय में कोई भेद ही न होगा–और भेद न होगा तो क्या दोनों पर्याय मान लिए जायं? क्या किसी संप्रदाय का आचारग्रंथ काव्य के रूप में लिया जा सकेगा? नहीं, बिल्कुल नहीं – मेरा यह आशय नहीं है। साँप्रदायिक जो कुछ है–वह सब साहित्य है – मैं यह नहीं मानता – पर यह अवश्य मानता हूं कि सांप्रदायिक होने के कारण ही सब असाहित्य नहीं हो जाता। 'साँप्रदायिक' होकर भी 'काव्य' हो सकता है, यदि कवित्व के उपकरण उसमें विद्यमान हैं। यदि साम्प्रदायिक सम्प्रदाय प्रेरित रचना को भी आद्योपाँत सरस तथा कवित्वोचित उपकरणों के उपयोग से आकर्षक बनाए रखता है – तो वह काव्य हो सकता है – उसे काव्य माना जाना चाहिए। अन्यथा समूचे मध्यकालीन भक्तों की रचनाओं का क्या होगा–जिसके कारण हिंदी साहित्य अपने उस काल खंड को 'स्वर्ण युग' कहलवाता है। रहा यह कि वह कविता सार्वभौम तत्वों से समन्वित न होगी, विपरीत इसके समान संस्कार वालों के ही काम की होगी–इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। कविता 'सहृदय' –'समान हृदय' वाले के लिए होती ही है – तभी तो 'संवादी' प्रभाव उत्पन्न कर पाती है। जिन तुलसी और सूर की रचनाओं को शुद्धतावादी भी 'साहित्य' कहने में नहीं हिचकते क्या विश्व का अहिंदू भी उसी संवाद के साथ उसका आस्वाद ले सकता है जिस संवाद के साथ संस्कारसाम्य वश एक आस्थावान् हिंदू? अर्थात् क्या वह भी सार्वभौमिकता के प्रतिमान पर खरा उतरता है? अधिक दूर क्यों जाया जाय–प्राचीन संस्कारों का हिंदू ही जिस रसात्मकता के साथ मानस अथवा सूर सागर का आस्वाद लेता है–उस तरह का आस्वाद आज का 'अ-कविता' वादी भारतीय (हिंदू) लेगा? तब क्या उसे साहित्य की परिधि से हटा दिया जाय? फिर असमान संस्कार वाले उस 'साहित्य' के पद से बरखास्त भी कर दें–तो कर दें–समान संस्कारवाले तो नहीं करेंगे। भारत में संतों के संस्कार से संवाद रखने वाला संस्कार जिन लोगों में है–उन सहृदयों के जगत् में तो संत साहित्य अपने कवित्वोचित उपकरणों में बंधकर काव्य कहा ही जायगा–अन्य लोग कहें न कहें। काव्य तो 'मन माने की बात है।'

एक बात और। इन संतों ने धर्म और अध्यात्म से प्रेरित होकर अंतर्मुखी व्यक्तिगत परिधि में जो भावात्मक और साधनात्मक रहस्यमय अभिव्यक्तियाँ निर्मित की हैं–उनका 'काव्य' से कोई संबंध है या नहीं? अर्थात् 'रहस्य' और 'काव्य' का

कोई संबंध है या नहीं ? कारण, 'भावना' भी रहस्यात्मक भूमिका की है–अतः व्यक्ति मात्र वेद्य है और नीरस साधना तथा तत्प्रसंग की विलक्षण अनुभूतियों का तो काव्यात्मक दृष्टि से कोई महत्व है नहीं ?

इतना तो स्पष्ट है कि जो उक्तियाँ काव्यात्मक कही जा सकती हैं या कही जाती हैं–उनमें लोकमनोगोचर भावों, विचारों और वस्तुओं का तो सन्निवेश रहता है, अलोकमनोगोचर तत्वों, अनुभूतियों और साधना प्रक्रियाओं का भी यत्र-तत्र समावेश देखा जाता है। भारतीय साहित्य शास्त्री इस विषय में दो टूक अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जिस प्रतिभा या शक्ति विशेष से काव्यात्मक उक्तियाँ निर्मित होती हैं–वह दो प्रकार की देखी गई हैं–पहली आर्ष प्रतिभा और दूसरी अनार्ष प्रतिभा। आर्ष प्रतिभा मनोलोक से परे रहस्यमय तत्व का साक्षात्कार करती है, उसके लिए अतीत वर्तमान एवम् भविष्य–सभी निरावृत हैं पर अनार्ष प्रतिभा मनोलोक के ही विषयों का जाने-अनजाने साक्षात्कार करती है। कवित्व शक्ति दोनों ही प्रकार की प्रतिभाओं के साथ दृष्टिगोचर होती है। कवित्व शक्ति का प्रकाश लोकोत्तर अभिव्यंजना में ही लक्षित होता है। लोकोत्तर अभिव्यंजना का कवित्व से नियत संबंध है–अर्थात् जहाँ लोकोत्तर अभिव्यंजना है–वहाँ कवित्व है और जहाँ कवित्व है वहाँ लोकोत्तर अभिव्यंजना भी हो सकती है। अभिव्यंजना में लोकोत्तरत्व का उन्मेष सम्भवतः दो कारणों से होता है – काव्योचित प्रतिभा या कल्पना से तथा उस कल्पना को सक्रिय बनाने वाली सार्वभौम और निर्वैयक्तिक भूमिका पर उभरी हुई आनन्दमयी अनुभूति से। आनंदमयी काव्यानुभूति ही कल्पना या प्रतिभा की प्रणालिका से निरर्गल प्रवाहित होती हुई काव्यात्मक अभिव्यंजना ग्रहण करती है और ऐसी ही अभिव्यंजना मानवीय हृदय की वीणा के तारों को अनन्त काल झंकृत करने में मिजराव का काम करती है। इस प्रकार भारतीय आचार्य यह स्पष्ट मानते हैं कि कवि वह भी हो सकता है जिसने साधना के बल से आर्ष चक्षुओं को उद्घाटित कर लिया है और कवि वह भी हो सकता है जो रहस्यदर्शी नहीं है। जो रहस्यदर्शी नहीं है, वह भी कवि हो सकता है–पर उसके काव्य से रहस्य का–अमनोगोचर का –कोई संबंध हो सकता है तो केवल जिज्ञासा के स्तर पर–अपरोक्षानुभूति के स्तर पर नहीं। कारण, वह है ही नहीं। इसीलिए अनार्ष प्रतिभा सम्पन्न कवियों को ध्यान में रखकर धनिक[1] ने कहा है–"न हि कवयो योगिन इव. . ." अर्थात् कवि योगी की भांति वर्ण्य की अपरोक्षानुभूति पूर्वक वर्णना नहीं करता–अपितु स्वपर संवेद्य सामान्य रूप का अपना कल्पना से उत्प्रक्षण करता है। कल्पना की इस तृतीय आँख से मानस संस्कारों के आधार पर वर्ण्य का प्रत्यक्षायमाण बिंबात्मक रूप देखता है और इसीलिए वह एक ओर प्रत्यक्ष न देखने के कारण योगी से भिन्न होता है

---

१. दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, टीका ग्रंथ।

और दूसरी ओर परोक्ष को प्रत्यक्षायमाण रूप में देखकर परोक्ष रूप में ही न देखने के कारण–सामान्य जन से अपना पृथक् महत्व रखता है। इसीलिए क्रोचे ने भी शास्त्र और काव्य का भेद 'सामान्य' और 'विशेष' वर्ण्य के आधार पर किया है। निष्कर्ष यह कि भारतीय आचार्यों की दृष्टि से अनार्षप्रतिभासम्पन्न कवि के काव्य से 'रहस्य' का संबंध यदि है–अलोकमनोगोचर से संबंध यदि हो सकता है–तो वह स्वाभाविक जिज्ञासा के ही स्तर पर हाँ, आर्ष प्रतिभा रहस्यदर्शी की कलात्मक अभिव्यंजनाओं का संबंध 'अवाङ्मनोगोचर' रहस्य से (अपरोक्षानुभूतिमूलक) सर्वथा संभव है।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने रहस्यदर्शी कवि और सामान्य कवि के रूप का पश्चिमी कलावादी साहित्य चिन्तकों की भाँति व्यामोहकारी मिश्रण नहीं किया है। कवि की अनार्ष प्रतिभा या कल्पना को इहलाम के स्तर पर नहीं उठाया है। 'प्रसाद' जी की असाधारण दशा या संकल्पात्मक[1] अनुभूति निश्चय ही एक व्यामोहकारी अथवा मिश्रित प्रकार की स्थिति का बोध कराती है। इनकी कवि और काव्य मात्र के संदर्भ में कही हुई यह 'असाधारण दशा' कवि मात्र के लिए उपयोगी हो कर कवि और रहस्यदर्शी को–आर्ष-अनार्ष को–अभिन्न कर देती है। इस संकल्पात्मक अनुभूति की सीमा इतनी विस्तृत है कि किसी न किसी प्रकार उसका विषय लोकमनोगोचर और अलोकमनोगोचर–दोनों ही हो सकते हैं। इसी प्रकार महादेवी[2] ने भी कहा है – 'व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौंदर्यांश या सामन्जस्य खंड हमारे सामने किसी व्यापक सौंदर्य या अखण्ड सामन्जस्य का द्वार नहीं खोल देता, तो हमारे अंतर्जगत् का उल्लास से आँदोलित हो उठना संभव नहीं। इतना ही नहीं कर्म के सौंदर्य और सामन्जस्य की अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है।" उनकी दृष्टि में मनोगोचर अनुभूतियाँ भी वैयक्तिक परिधि में रहस्यानुभूति हैं–अमनोगोचर अनुभूतियाँ तो रहस्यमय हैं ही। कविवर निराला और पंत ने भी अपनी रचनाओं की प्रेरणा को किसी रहस्यमय लोक से आती हुई कहा है। पश्चिम में भी प्रेरणा सिद्धांत का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया है कि प्रेरणा का स्रोत रहस्यमय है। भारतीय आचार्य यह नहीं मानता कि प्रेरणा का स्वरूप रहस्यमय नहीं है–हो रहस्यमय–पर प्रेरणा अपने स्वरूप में रहस्यमय रहकर भी अनार्ष प्रतिभा सम्पन्न कवि में जिस तरह की अनुभूति और वर्ण्य को कल्पना के माध्यम से काव्याकार परिणति दिला देती है –उसके द्वारा उभारी हुई अनुभूतियाँ और वर्ण्य वस्तुएं सहृदय समाज के लिए अमनोगोचर नहीं होती, अन्यथा आनंदात्मक प्रतिक्रिया किस

---

१. काव्य कला तथा अन्य निबंध।
२. दीपशिखा, पृ० २७-२८।

प्रकार संभव होती-सहृदय संवाद किस प्रकार होता ? प्रेरणा रहस्यमयी होकर भी अनार्ष कवियों में मनोगोचर विभूतियों को ही उभारती है – यह बात दूसरी है कि दार्शनिक दृष्टि से आत्मस्वरूप आनन्दमयाँश वहाँ भी अनुस्यूत है । दार्शनिक की इस भक्ति से सभी तो सहमत नहीं हो सकते ।

प्रस्तुत प्रसंग में 'रहस्य' शब्द का ग्रहण अबुद्धि बोध्य और अमनोगोचर अर्थ के लिए ही है – इसलिए अनार्ष कवियों की रचनाओं से उसका कोई संबंध नहीं, रहस्यदर्शी आर्ष कवियों के लिए ही उसका अस्तित्व है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने काव्य के क्षेत्र अध्यात्म के निष्कासन की बात कही है–वह अनार्ष कवियों को ही ध्यान में रखकर। वैसे जब वे यह मानते कि जगत् अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और काव्य उसी व्यक्त जगत् की–अर्थात् काव्य अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है–तब वे अव्यक्त की सत्ता मानते हैं – पर अनार्ष कवियों की कृतियों को व्यक्त जगत् और मनोगोचर अनुभूतियों से ही नियन्त्रित कर देते हैं । लेकिन मनोगोचर और व्यक्त जगत् की ही अभिव्यक्ति काव्य हो सकती है – यह आत्यन्तिक सत्य नहीं है । उपनिषदों, वेदों तथा आर्ष प्रतिभा सम्पन्न रहस्यदर्शियों की कृतियों में व्यक्त अमनोगोचर अनुभूतियाँ भी काव्यात्मक परिधान में उतरती हुई दिखाई पड़ती हैं। क्या उन्हें केवल इसलिए अकाव्य कह दिया जाय कि उनका वर्ण्य मनोमय कोश से परे का है ? मैं मानता हूँ कि रहस्यदर्शियों के हर उद्‌गार काव्य नहीं हैं–पर जहाँ सच्ची और तीव्र अनुभूति तथा कल्पना की बारीकियाँ सक्रिय हैं–वहाँ की लोकोत्तर अभिव्यंजना को अकाव्य कहना स्वतः हृदयहीनता नहीं है ? अभिनव गुप्त तथा आनंदवर्द्धन ने जिस 'शांत' रस को काव्य में स्वीकार किया है–उसका स्थायी भाव 'समस्त तृष्णा[1] क्षय सुखात्मा' ही है –यह स्थायीभाव जिसमें होगा, वह रहस्यदर्शी ही तो होगा–इस प्रकार 'रहस्य' का काव्य से संबंध नहीं है–रहस्यदर्शी संतों की अंतर्मुखी स्थिति में अनुभूत भावनाओं का काव्य से संबंध नहीं है–यह कैसे माना जा सकता है ?

निष्कर्ष यह कि अनार्ष कवियों की कृतियों से 'रहस्य' का जिज्ञासा के स्तर पर और आर्ष या रहस्यदर्शी कवियों में भावना के स्तर पर भी प्रकाशन होता है । शुद्धतावादियों ने भी यह स्वीकार किया है कि रहस्यदर्शी संतों ने लौकिक संबंधों के ढांचे पर जो रमणीय अभिव्यंजनाएं की हैं–उनका समावेश काव्य के क्षेत्र में किया जा सकता है ।

दूसरी आपत्ति यह है कि इन अभिव्यंजनाओं का प्रेरक रीति कवियों की भांति कवित्व नहीं है – अतः मूल में ही कवित्व नहीं – तो बाहर कवित्व कहाँ होगा ? यह

१. ध्वन्यालोक-लोचन, तृतीयउद्योग ।

तर्क बिलकुल निरर्थक है । इस तर्क पर उन कवियों का क्या होगा जो कहा करते हैं–

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत
मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत ।"

जहाँ विवशता में अनायास काव्योचित उपकरणों से संवलित अभिव्यंजना हो जाय–वह जान बूझकर सायास अभिव्यंजना से कहीं अधिक महत्व की ओर उत्कृष्ट होगी ।

अब, संतों की उन रचनाओं के विषय में सोचना चाहिए जो बहिर्मुख होने पर 'स्वभाव' निष्ठ समस्त संभावनाओं को मूर्त करने में अड़चन डालने वाली रूढ़ियाँ हैं–और उनके खण्डन से संबद्ध उद्‌गार हैं अथवा संभावनाओं के मूर्तीकरण में साधक उपदेशमय वचन है – । ये वचन निश्चय ही सामाजिक चेतना के दबाव से निकले हुए तत्कालीन समाजशास्त्रीय निष्कर्षों का पोष करेंगे । पर इससे भी क्या हुआ–साहित्य तो सामाजिकता का वाहक है ही–तभी तो 'सामाजिक' के लिए उसकी चरितार्थता है । यदि ये सामाजिक उद्‌गार भी काव्योचित सरणि पर हैं–तो इन्हें काव्य मानने से कैसे इनकार कर सकेंगे – जवकि विहारी के – 'कनक कनक ते सौ गनो' . . .को काव्य निर्विवाद रूप से माना जाता है ।

रहा सवाल यह कि संतों की अन्य आध्यात्मिक साधनाओं का वैचारिक तथा साधनात्मक विवरण का क्या होगा ? साहित्यिक शोध का विषय उसे क्यों बनायें ? इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि किसी संत की काव्यात्मक रचना को गहराई से हृदयंगम करने में इन पक्षों की जितनी ही गंभीरता से जानकारी होगी–रसात्मक आस्वाद उतनी ही घनता के साथ होगा । उदाहरणार्थ; 'घूंघट का पट खोल रे तोहें पोउ मिलेंगे' – का सामान्य अर्थ तो हर व्यक्ति समझ सकता है–पर आत्मा के ऊपर अविद्या या महामाया के कौन-कौन से पट पड़े हुए हैं–आवरण पड़े हुए हैं– और उन्हें कैसे खोला जाता है फिर प्रिय का मिलन किस प्रकार संभव है–आदि बातों की जानकारी न हो तो सामान्य व्यक्ति की उक्ति और कबीर की इस उक्ति में काव्यात्मक चमत्कार की दृष्टि से अंतर ही क्या होगा? ये सब तमाम वस्तु व्यंजनाएं यदि ग्राहक को प्रतीत न हों – तो उत्तानार्थक इस वाक्य में चमत्कार ही क्या होगा ? कवित्व ही इसमें कैसे झलकेगा ? कवित्व का घूंघट भी तभी उघड़ेगा जब कि इन अर्थों की जानकारी हो – अतः इस प्रकृति के शोध की नितान्त आवश्यकता है, सार्थकता है ।

सभी रहस्यदर्शियों ने एक स्वर तथा एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि 'रहस्य' और उसकी अनुभूति अनिर्वचनीय है – वह अबुद्धि बोध्य तथा अवाङ्मनोगोचर है । यह तो सर्व सामान्य अनुभव है कि हर व्यक्ति अपनी बुद्धि और मन में भी उदित होने वाले भावों और विचारों को अपनी वैयक्तिकता में समाज

स्वीकृत और समाजोपयोगी भाषा के माध्यम से ज्यों का त्यों दूसरों तक नहीं पहुंचा सकता फिर जो अमनोगोचर और अबुद्धि वोध्य है—उसे वाणी का विषय बना सकना कितना असम्भव कार्य है। इसीलिए सच्चा कवि सहृदय संवाद में बाधक बनने वाली वैयक्तिकताओं से (सार्वभौम विशेषताओं से संपन्न प्रेरणा द्वारा) स्वतः ऊपर उठ जाता है और सहृदय मात्र की मनोगोचर भावना को कल्पना द्वारा काव्य का आकार प्रदान करता है। रहस्यदर्शी की मनोमय कोश से परे की रहस्यानुभूति में भी समस्त वैयक्तिकता भस्मसात् हो गई रहती है – फलतः यह भावना तो और भी निर्वैयक्तिक रहती है – किन्तु इसका सर्व सामान्य के प्रति प्रेषणीय होना संभव नहीं है। इसीलिए ऐसे उद्‌गार प्रेषणीय बनाए जाने की अपेक्षा कहीं अधिक स्वान्तः सुखाय निर्मित होते हैं। इसीलिए अनिर्वचनीय होकर भी 'वचनीय' बताए जाते हैं, कारण उससे तुष्ट होने वाली स्वान्तः सुख की प्रेरणा दुर्दमनीय है। रहस्यदर्शी के सजग प्रयत्नों के विना भी उसकी अनुभूति व्यक्ति एवम् अव्यक्त नाद का रूप धारण करके अभिव्यक्त होने लगती है।

रहस्यदर्शियों की रचनाएँ 'स्वान्तः' सुखाय' तो होती ही हैं—'प्रेषणीयता' की दृष्टि से भी लिखी जाती है—आत्मा-भिव्यंजन के निमित्त तो हो ही जाती हैं 'पर प्रबोधनार्थ' भी बनती रहती हैं। कभी कभी तो स्वान्तः सुखाय और प्रेषणीयता की काव्यमयी भूमिका से नीचे तथा स्थूल धरातल पर उतरकर व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से 'प्रचार' की वर्णिका भी ग्रहण करती हुई दृष्टिगोचर होती है।

उक्तियों का विषय जितना ही अमूर्त और सूक्ष्म होगा—भाषा भी उतनी ही सांकेतिक और प्रतीकात्मक होगी। भाषा अपनी चरम सीमा में जब सांकेतिक हो जाती है—तब 'प्रतीकात्मक' होने के सिवाय और कोई चारा नहीं रह जाता। कारण, जिस स्वपर संवेद्य भाव विचार के लौकिक स्तर को प्रेषणीय बनाने के निमित्त भाषा की उत्पत्ति हुई है—उस स्तर से ऊपर—व्यक्ति मात्र वेद्य तथा आध्यात्मिक स्तर—के भाव और विचार की वही लोक भाषा व्यक्त कैसे कर सकती है। इसलिए कभी कभी तो वह अनुभूति 'गूंगे का गुड़' बन कर—रह जाती है और मुखर का आश्रय भी लेती है तो 'उलटबांस' हो जाती है—लौकिक अर्थ से अपना संबंध तोड़ देती है—फिर 'प्रतीक' बनने के सिवा और कौन रास्ता ही बचा रह जाता है? लोक में भले ही पानी बरसता हो और कम्बल भींजता हो, पर इन संतों की भाषा में तो कम्बल ही बरसेगा और पानी भींजेगा, समुंदर में आग लगेगी, मछली वृक्ष पर चढ़ेगी, चौंसठ दीप के जला देने पर, चौदस चंदा के उदित हो जाने पर भी प्रकाश का कण नजर नहीं आयगा—क्या किया जाय—सबकी सीमा है न? ससीम से असीम को, रूप से अरूप को जब जोड़ा जायगा—तब सीमा और रूप—अथवा आत्मविस्तार कहाँ तक करेंगे? सारी बातें संकेत से ही

समझनी पड़ेंगी ? महर्षि अरविंद ने 'आलोक' काव्य के लिए यही भाषा क्षम बताई है। भारती साहित्य शास्त्रियों की दृष्टि से कहा जाय तो यही कहा जा सकता है कि भाषा का चरम सामर्थ्य 'ध्वनन' या 'व्यंजन' ही है, प्रतीकों में गोपन और प्रकाशन की क्षमता एक साथ रहती है—फलतः मौन और मौखर्य के सम्मिलित प्रभाव से दोहरे अर्थ की अभिव्यंजना संभव होती है। 'प्रतीक' ही वे माध्यम है जो स्वयं गोचर और मूर्त होते हुए अगोचर और अमूर्त तक का अनुभव करा देने में समर्थ होते हैं। अगोचर और अमूर्त भाव शब्दों से अभिधेय नहीं हो सकते—इसलिए शब्द का अभिधात्मक सामर्थ्य उसके लिए उपयोगी नहीं होता। लक्ष्यार्थ भी अन्वितार्थ या वाक्यार्थोपयोगी ही होता है—प्राथमिक स्तर के संबंध बोध में ही अभिधा तथा लक्षणा की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है—फलतः शब्द की उभयविध-अभिधा तथा लक्षणा-सामर्थ्य पाठक या ग्राहक को वाक्यार्थ (प्राथमिक स्तर का) बोध तक ही रहती है—'भाव' बोध या 'रसास्वाद' तक नहीं ले जा पाती—अशक्त हो जाती है। यह तो केवल व्यंजना या प्रकाशन शक्ति ही है जो अमूर्त भावनाओं और अनन्तानन्त संकतगम्य तथ्यों और भावों का ग्राहक की ग्रहण शक्ति के अनुरूप अनुरंजनात्मक ढंग से इंगित कर सकती है। जो लोग व्यंजना की क्षमता और संकेत को सीमित समझते हैं—वे भारतीय साहित्य शास्त्र में विवेचित इसकी महिमा से अनवगत हैं। भारतीयों की दार्शनिक दृष्टि ने तो 'व्यक्ति' या अभिव्यंजना को 'भग्नावरण[1] चित्' तक कहा है—जिसके कारण स्वयम् आत्मा की आनंदमयता अनुभूतिगोचर होती है—समस्त संसार प्रकाशित होता है, अस्तु, तो कहना यह है कि यह व्यंजनाशक्ति केवल शब्द की शक्ति के रूप में शब्दों द्वारा व्यंजित होने वाली विशेषताओं, सूक्ष्मताओं और भावनाओं को यहाँ तक प्रकाशित करती है—जहाँ तक ग्राहक का सामर्थ्य हैं। व्यंजना स्वतः सीमाहीन है—तभी तो वह सीमाहीन के साथ एक हो जाती है—भग्नावरण चित् बन जाती है। लेकिन है तो आखिर रचयिता और ग्राहक की बौद्धिक क्षमता द्वारा ही ग्राह्य—इसलिए फिर भी ससीम हो जाती है। इसीलिए व्यंजना को सक्रिय होने में जहाँ अनेक वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, वाच्य आदि का वैशिष्ट्य अपेक्षित बताया गया है वहाँ प्रतिभावैशिष्ट्य को भी सहायक कहा गया है। व्यंजना के सामर्थ्य का चमत्कार प्रतिभावानों को ही अनुभूतिगोचर होता है। रहस्यदर्शियों के प्रतीकों और शब्दों के व्यंजनात्मक सामर्थ्य की थाह रहस्यदर्शी ही पा सकते हैं—सामान्य पाठक या सहृदय अपनी क्षमता के अनुरूप एक सीमा तक ही उसका आस्वाद प्राप्त कर सकते हैं।

---

१. रस गंगाधर, प्रथम आनन, पृ० २६ "व्यक्तिरज्ज भग्नावरणा चित्"।

रहस्य की साधना करने वाले ये रहस्यदर्शी संतगण साधन वेला की व्याकुलता और वेदना तथा मिलन की रसवर्षा की अभिव्यक्ति प्रायः पति और पत्नी के वियोग-संयोगमय प्रतीक से व्यक्त करता है। औपनिषद् रहस्यदर्शियों ने भी ब्रह्मानुभूति की आनंदमयता की उपमा जामा संपरिष्वक्त पति की अनुभूति से की है। कहा है—'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिस्वक्तः न वाह्यं किन्चन वेद नान्तरमेवमेवायं रुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः न वाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृहदारण्यक ४।२।२१)। देश, विदेश के प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यदर्शियों ने इसी प्रतीक के माध्यम से उस तन्मयावस्था की संयोगज और वियोगज अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है।

तांत्रिक धारा तो मुख्यतः गोपनात्मक पद्धति में आस्था रखती है—फलतः रागात्मक मार्ग से प्राप्त चरम स्थिति की सामरस्य दशा का निरूपण स्त्री एवम् पुरुष की एकरस मिलन दशा के माध्यम से व्यक्त करती है। शिव तथा शक्ति, राधा तथा कृष्ण एवं सीताराम—सभी 'नित्यविहार' में समरस हैं। बौद्ध सिद्धों का 'युगनद्ध' इसी महासुख की प्रतीकात्मक दशा है। बौद्ध सिद्ध उष्णीष चक्र में 'निरामणि' नामक स्वकीय गृहिणी से संयोग का सुख प्राप्त करते हैं। ये सिद्ध प्रायः स्वकीया और—कभी-कभी परकीया रूप से संकेतित सहज प्रज्ञा का डोंगी चाण्डाली आदि प्रतीकों से आव्हान करते हैं और सुरतवीर का उल्लास तथा नर्तन वर्णित करते हैं। इस प्रकार चर्यापद में ये सिद्धगण प्रायः 'महासुख' के लिए गृहीत प्रज्ञोपायात्मक योग प्रणाली को दाम्पत्य सुख के प्रतीकों में—या कभी कभी रूपकों में अनेकशः और अनेकत्र अभिव्यक्ति देते हुए दिखाई पड़ते हैं। चर्यापदों या गीतियों में जो इनका भावपक्ष व्यक्त हुआ है, वह 'महाराग' है। यह महाराग संबोधि प्राप्त चित्त का ही भाव है जिसे महामुद्रात्मक तरुणी के प्रति प्रज्जवलित किया जाता था। प्रज्ञामयी भगवती महामुद्रा भी साधक के प्रति वैसा ही राग रखती है जैसा साधक उसके प्रति। स्मरणीय इतना ही है कि यहाँ साधक अपने को पुरुष रूप में (यदि पुरुष है) रूपित करता है। सिद्धों ने सदैव परतत्व को स्त्री रूप में ही रूपित किया हो—यह नियमतः नहीं कहा जा सकता। सरहपा की इस रचना में देखें—

> अक्खहृय अच्चेव परमं पहु खसम महासुह नाह।[1]
> जो आवाज अचित्त वि तस्थ च्चक्खु करे हे॥

यहाँ उस परम प्राप्य को अक्षय, अचिन्त्य, परम प्रभु तथा महा सुखनाथ के रूप में स्मरण किया गया है।

नाथ सम्प्रदाय के सिद्धों की बानियों में भी कहीं कहीं इस प्रतीक का संकेत मिलता है। यह संकेत खासकर वहाँ मिलता है जहाँ देह के अंदर योगिनी या शक्ति से

---

१. दोहा कोश।

संगम लाभ करने की योग पद्धति का उल्लेख है। शैव परम्परा के ये नाथ योगी शिव शक्ति के मिलन जन्य सामरस्य सुख को योगी और योगिनी के संयोग सुख से रूपित करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

"माहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि भोगी
जोगिणि संग न छांड़े[1]।"

आदि। फिर भी आपेक्षिक दृष्टि से कार्यसिद्धि को योग पद्धति के मुखर होने से रागोद्गार का सिद्धों वाला धारावाहिक रूप यहाँ नहीं मिलता। होना भी चाहिए यही। कारण, राग मार्गी अतिवाद और उसकी संभावित विकृति से विरक्त होकर ही गोरखनाथ ने योगिनीकौल मार्गी मत्स्येन्द्र नाथ से अपना काय साधनात्मक योग प्रधान मार्ग पृथक् कर लिया था।

निर्गुण संत साहित्य में आगम धारा के अनुसार सिद्ध 'भक्ति' शंकर की तरह द्वैतमूलक नहीं, कारण संतों का मार्ग उनकी तरह शुष्क ज्ञान मार्ग नहीं है। शंकर के यहाँ अद्वैतावस्था में भक्ति नहीं है—साधन अवस्था में अवश्य है। संतों के यहाँ साधन दशा में भी भक्ति है और साध्य दशा में भी। सामरस्य सुरत शब्द साम रस्य—में चिदंश ज्ञानभाव है और आनंदांश भक्ति—अतः ज्ञान और भक्ति का भी सामरस्य है। संतों में स्वामि सेवक भाव, पति-पत्नी भाव, पिता पुत्र भाव, मातृ पुत्र भाव, गुरु शिष्य भाव का उल्लेख मिलता है। परवर्ती वैष्णवरस साधकों में अद्वैत समुद्र से उठने वाली द्वैत भक्तिभाव की लहरी में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा शृंगार भाव भी माने गए हैं। वस्तुतः माधुर्य भाव ऐसा भाव है जिसमें सभी भावों का समावेश हो जाता है। भक्तों की तरह संतों का कोई साहित्य-शास्त्र अभी नहीं बना—जिसमें इस तरह का कोई विवेचन हो। और सब भाव तो संतों में मिलते हैं—पर उपास्य के प्रति वत्सभाव नहीं मिलता। उसका कारण कदाचित् साकार उपास्य गुरु का वत्सेतर रूप हो। साधक का गुरु के प्रति महत्व बुद्धि रहती है—इसलिए वत्सभाव संभव नहीं है।

भक्ति का मूल है—दास्य और चरमफल है—माधुर्य। वास्तव में अद्वैतभाव का बोध हो जाने पर भी जब तक तदाश्रित बोध नहीं होता, तब तक भक्तिभाव का उदय ही नहीं समझना चाहिए। और पार्यन्तिक माधुर्य में भी दास्य अनुस्यूत है। कल्पित तदाश्रित बोध में स्वस्वामि भाव, पिता पुत्र या मातृपुत्र भाव आदि का उद्रेक हो जाता है—पर पर्यन्त में इन सबसे परिपुष्ट माधुर्य की ही स्थिति होती है। भाव-व्यंजना की इस दार्शनिक पीठिका को और आगे न बढ़ाते हुए कहना यह है कि जिन भी लौकिक रागात्मक संबंधों का सहारा लेकर व्यंजना संत काव्यों

---

१. गोरख बानी।

में हुई है—वे सभी काव्यात्मक कोटि में परिगणित किए जा सकते हैं। आलम्बन इन भावों का शरीरी 'शब्द' हो, या 'अशरीरी'—तत्वतः इसे अनुभव कर्ता ही बता सकता है। इन सारे संबंधों का लौकिक अर्थ इस लोकोत्तर भूमिका की व्यक्ति में जब संभव नहीं है तब प्रतीकात्मक व्याख्या ही उनकी अन्ततः संभव है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को लें—

यहु तन जालौं मसिकरूं ज्युं धुआँ जाइ सरग्गि।
मति बै राम दया करैं बरसि बुझावै अग्नि[1]"।
यह तन जालौं मसि करूं, लिखौ राम का नाहूं।
लेखणि करूं करंक कौ, लिखि लिखि राम पठाउं[2]॥१२

पुरुष एवं स्त्री के बीच के रागात्मक संबंध के वियोग पक्ष का ही नहीं, संयोग पक्ष का भी सहारा आध्यात्मिक मिलन की अभिव्यक्ति के लिए स्वीकृत हुआ है।

कबीर तेज अनन्त का मानौ ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुंदरी, कौतिक दीठा तेणि [3]।

अथवा

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्यालह्या जब अंतरि प्रगट्या आप[4] ।३०

इस प्रकार जहाँ भी विविध लौकिक संबंधों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति हुई है—वे अंश निश्चय ही काव्यात्मक बन गए हैं। आध्यात्मिक रस धारा को अन्य प्रतीकों से भी व्यक्त किया गया है। देखिए—

गगन घटा घहरानी साधो गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी है बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेंड़ सम्हारो, बह्यौ जात यह पानी।
सुरत निरत का बैल नहायल करैं खेत निर्बानी।
धान काट मार घर आवै, सोई कुशल किसानी।
दोनों धार बराबर परसैं, जेवैं मुनि औ ज्ञानी[5]।

इस प्रकार संतों ने आध्यात्मिक तृप्ति और अतृप्ति को दाम्पत्य प्रणय के संयोग और वियोग जैसे पार्श्वों को प्रतीक बनाकर—उनका सहारा लेकर अभिव्यक्ति प्रदान

१. कबीर ग्रंथावली, विरह को अंग, पृ० ६८, दोहा ११।
२. वही, दोहा १२
३. वही, परचा को अंग, दोहा-१।
४. वही, पृ० १५।५।
५. कबीर (कबीरवाणी) पृ० २८३।

की है। इन और ऐसी तमाम रचनाओं का काव्य की दृष्टि से प्रतीकात्मक सौंदर्य तो है ही, लौकिक संबंधों की भूमिका पर रसात्मक होने से सर्वसाधारण को भी आस्वाद्य है अतः उस दृष्टि से भी इसकी काव्यात्मकता अक्षत है। समग्र रूप में ये सारे विवरण प्रतीक हैं—किसी लोकोत्तर वेदना और (संयोग) आनंद के—पर अपनी विवरणात्मकता में लोक स्तर की भी अभिव्यंजना करते हैं—ग्राहक दोनों ही स्तरों पर इसका आस्वाद ले सकता है। वेदांतियों ने ठीक ही कहा था कि समस्त शब्द जात का अखण्ड बुद्धिनिग्राह्य पर ब्रह्म ही वाक्यार्थ है—वही अखण्ड वाच्य है और अखण्ड वाक्य ही वाचक। पद पदार्थ जैसी खंड कल्पना तो उनकी बात है जो अविद्या के पद पर पतित[1] हैं। ठीक यही बात यहाँ भी कही जा सकती है कि संयोग-वियोग के विवरणात्मक पद पदार्थ अपनी समग्रात्मक वाक्यता और वाक्यार्थता में एक अखण्ड प्रतीक हैं उनके लिए जो 'समस्त तृष्णा क्षय सुखात्मा' शम की वर्णिका के अविद्योत्तीर्ण ग्राहक हैं—पर जो अविद्यापदपतित ग्राहक हैं वे समस्त विवरणों का लोक भूमिका में भी काव्योचित आस्वाद ले सकते हैं। साहित्यिक दृष्टि से समूची संत-उक्तियाँ अंततः 'शांत' रस के रूप में ग्राह्य हैं, कारण जिस अंतस् से निकली हैं—वहाँ शान्त का समुद्र लहरा रहा है। पर स्मरण रखना होगा कि यह 'शांत' प्रवृत्ति और निवृत्ति का अत्यंतिक विरोध मानकर चलने वाले चिन्तकों और साधकों का विषयवैराग्य मूलक शम का परिणत रूप नहीं है अपितु उन नित्योदित समाधि सम्पन्न संत साधकों का है जो निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर लौटकर दोनों के आसक्ति और त्याग मूलक अंतर को मिटा चुके हैं। अर्थात् यहाँ राग और वासना का शमन नहीं—शोधन है और शोधन के माध्यम से परिच्छिन्न का अपरिच्छिन्नीकरण है। आध्यात्मिक दृष्टि से दास्य की आत्मासात् करने वाले माधुर्य का नित्योदित विलास है—रस का अपरिच्छिन्न उद्वेल रूप है।

मध्यकाल के एक विरही ने—जिसका साहित्यिक स्वर कदाचित् सबसे ऊँचा माना जाता है—नाम घनानंद है—कहा था कि अब उसके हृदय की दाह का शांत करने का किसी ओर से कोई आशा की किरण दिखाई नहीं पड़ती—अंततः उसकी ही आँखों से निकलती हुई आँसुओं की धारा शेष रह गई है जो उसे शांत करने के लिए रह गई है। अध्यात्मजगत् के इसी एकोन्मुख सात्विक ऊँचाई पर पहुँचा हुआ कबीर भी कहता है कि जिसने सारे संसार से अपनी आँखें खींचकर राम की ओर केन्द्रित कर रखी थीं, उस राम ने भी किनारा कस लिया। कस लें—उन पर किसकी चल सकती है? अब तो कबीर को एक ही आशा शेष रह गई है और वह यह कि भीतर की आग को इतना तेज हो जाने दिया जाय कि हाड़-मांस जल कर धुआँ के रूप में ऊपर की ओर उठे और आसमान में बादल बन कर छा

१. काव्य प्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० २५१।

जाय । वह तो अपनी प्रकृति से लाचार है—बरसेगा ही— उसी वृष्टि का आशा है—वही अब इस दाह को शांत करने के लिए प्रत्याशित है ।

संसार का सर्वाधिक माधुर्य कवि और विचारकों की परम्परा में यही वियोग शृंगार है—इससे अधिक माधुर्य कहीं नहीं है—कम से कम लोक में नहीं । परलोक में भी यदि वियोग में माधुर्य कम होता—तो द्वैती ही नहीं, अद्वैती भी 'द्वैत' का कल्पित रूप न चाहते । द्वैत सदा सर्वदा 'विरह' का मूल है । 'अद्वैत' संयोग की चरमभूमि है—पर अद्वैती भी कल्पित द्वैत में 'विरह' की ही उपासना करते हैं । मानव अथवा प्राणीमात्र अपनी शाश्वत यात्रा के एक सिरे से दूसरी सीमा तक 'द्वैत' से 'द्वैत' की यात्रा करता है—'विरह' से 'विरह' तक फैला है । विश्वभर के मधुरतम उद्धार इसी विरह भावना के उद्‌गार हैं । हृदय जितना द्रुत होकर अपनी अहंता, कठिनता, द्वैत बोध इस भूमिका पर खोता है—उतना कहीं नहीं । विश्व काव्य की ओर, विश्वजीवन की ओर कान लगाने पर जितना प्रखर स्वर इसका श्रुतिगोचर होता है—उतना किसी का नहीं । संतों का साहित्य इसी स्वर का शंखनाद है । कहते हैं कि लौकिक विरह की जितनी आँच है—पारलौकिक विरह की आँच उससे न जाने कितनी गुनी है—इसीलिए उस विरह का आधार यह पार्थिव शरीर हो भी नहीं सकता—अन्यथा तड़क कर उसके जर्रे-जर्रे भस्म हो जायं । संत पलटूदास ने कहा है—

> कफन को बाँधि कै करै तब आसिकी
> आसिक जब होय तब नाहिं सोवै ।
> चिंता बिनु आगि के जरै दिन राति जब,
> जीवत ही जान से सती होवै ।
> भूख पियास जग आस को छोड़ करि,
> आपनी आपु से आप खोवै ।
> दास पलटू कहै इश्क मैदान पर,
> देइ जब सीस तब नाहिं रोवै [१]॥

विरही को बड़ा और वीर होना चाहिए—साहस और धैर्य का होना चाहिए । यह प्रेम की दुनियाँ है—खाला का घर नहीं यहाँ तो अपने हाथ से अपना सिर काट कर भूमि पर रख दे—तब पहला कदम उठावे । संयोग में आग ठंडी पड़ जाती है—अतः वह तीव्रता नही मिलती—जो वियोग में संभव है । संयोग में या तो फिर वृत्तियाँ ही वृत्तियाँ हैं या फिर हैं ही नहीं—पर वियोग में तो एक ही वृत्ति है अतः सारा दबाव उसी की नोंक पर खिंच जाता है । संत साहित्य में इस स्नायविक तनाव का रूप द्रष्टव्य किंवा अनुभूतिमात्र संवेद्य है । कबीर ने कहा—

१. पलटू साहिब की बानी, दूसरा भाग, पृ० ६१ ।

सब रग तंत खाब तन बिरहव जावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साई के चित्त[1]॥२०

सारा शरीर तांतों की मढ़ी वीणा है जिसे विरह नित्य वजाया करता है—इसको सुनने लायक काम सबको कहाँ—यदि चाहे तो केवल स्वामी ही इसे सुन सकता है।

वियोग की ही नहीं संयोग की फुहारें भी संत साहित्य की भूमि को सिक्त करती हैं। संत जगजीवन साहब की उक्ति है—

यहि नगरी में होरी खेलौं री ।[2]
हम तें पियो तें भेंट करावौ, तुम्हरे संग मिलि दौरों री ।
नाचौं नाच खोलि परदा में, अनत न पीव हंसौ री ।
पीव जीव एकै करि राखौं सो छबि देखि रसौं री ।
कतहुं ने वहीं रहौं चरनन ढिग, यहि मन दृढ़ होय कसौ री ।
रहौं निहारत पलकन लावौ सर्वस और तजौं री ।
सदा सोहाग भाग मोरे जागे, सतसंग सुरति बरौं री ।
जठा जीवन सखि सुखित जुगन जुग चरनन सुरति धरौं री ॥

संत जगजीवन उस भूमिका में आरूढ़ हैं—जहाँ पिय समक्ष है। माध्यम को संबोधित करते हुए वे कह रहे हैं कि वह पी से मिला दे—तो उसके पीछे-पीछे दौड़ते रहें। पी मिलते हैं—पर कब, जब जीव को परिच्छिन्न करने वाले सारे परदे उघड़ जाते हैं—जीव अपरिच्छिन्न हो जाता है। तब कोई अन्य है ही नहीं, व्यभिचार का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। पिय और जीव एक हो चुके हैं—इस सुख में वह मग्न है—फिर भी उसकी कामना है कि वह तदाश्रित होकर रहे—यहाँ चरणारविंद और मुखारविंद—दोनों का एक ही साथ सेवन है—दास्य और माधुर्य एक साथ हैं अथवा जैसा कि पहले कहा जा चुका है माधुर्य की पराकाष्ठा में दास्य अनुस्यूत है। यह ऐसा संयोग है जहाँ सदा सोहाग भाग जगा हुआ है।

संयोग की ओर ले जाने वाले विवाह का कितना विराट् रूपक बाँधा है धनी धरमदासजी ने—

सब्द सुरत से गाँठ जूरावो ।
माँड़ो राखो छाई हो ।
पाँच भवंरिया घुमाओ मोरे बाबा,
पाँजी दसो दूआर हो ।

---

१. कबीरग्रंथावली, विरह को अंग, पृ० ६ ।
२. जगजीवन साहब की शब्दावली, दूसरा भाग, पद ८, पृ० ७४ ।

ऊंच दुबारी निहारो सखियाँ
निहुरि कै घर को जाहु हो ।
ज्ञान कै डोलिया फंदावो मोरि बावा ।
करि देवो विदा हमार हो ।
धरमदास से छुटल भव सागर
सबसों भेंटि अंकबार हो [1]॥८॥

संयोग और वियोग की भावभूमियाँ ही नहीं, अन्यान्य भावभूमियों की भी अभिव्यंजना संत साहित्य में काव्योचित रूप में मिलती है। गुरु वाणी में कहा है—

केसा का करि बीजना संत चंउरु ढुलावउ ।
(सूही म० ५, ७४५–१२)

पाणी परबा पीसु दास कै तब होहि निहालु ।
राज मिलख सिख दरिआ अगनी महि जालु ।
(बिलावलु म० ५, ८११–१५)

कबीर कूता राम का मुतिया मेरू नाऊं ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउं[2] ॥

इन सब पंक्तियों से दास्य भाव की व्यंजना स्पष्ट है। कहीं-कहीं तो कबीर ने राम को जननी भाव से भी स्मरण किया है—

हरि जननी मैं बालक तेरा ।
कस नहिं बकसहु अवगुण मेरा ।[3]

हाथ ही,

बाप राम राया अब हूं सरन तिहारी—

कहकर उन्हें पिता भी कहा है। स्वामी और सेवक का रूपक तो शतशः विकीर्ण है।

कवित्व का उन्मेष इन भावमय स्थलों में तो है ही, विशुद्ध वर्णनाओं में भी है। कहने के ढंग में भी काव्यत्व है—जो कहा जाय, वह भी निसर्ग सुंदर हो सकता है संतुलित भूमिका अथवा स्थिति तो वह है जहाँ वर्ण्य और वर्णन प्रणाली— दोनों ही अपनी अविच्छेद्यता में सुंदर हों । कुंतक का एक श्लोक है—

"लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्म सुभगं तत्वं गिरा कृष्यते
निर्मातु प्रभवेन्मवोहरमिदं वाचैव योवा कवि :
बंदे द्वावपि तावहम् कवि वरौ . . ."

---

१. धनी धरमदासजी की शब्दावली, पृ० ४८ ।
२. हिंदी वक्रोक्ति जीवित, ।
३. कबीर ग्रंथावली, पद ११९ पृ० १२३ ।

कवियों की प्रतिमा कहीं तो वर्ण्य वस्तु में लीन सौंदर्य को वाणी द्वारा कुरेद कर इस प्रकार ऊपर ला देती है कि सर्वस्त्र मान्य उसके आस्वाद से तृप्त हो जाता है और कभी-कभी वर्ण्य वस्तु यद्यपि असुंदर रहती है तथापि अपनी प्रातिभगरिमा से उसे सौंदर्य मण्डित कर देती है—प्रथम प्रकार का सौंदर्य सहज और निरायास है तथा दूसरे प्रकार की सायास और आहार्य। वैसे संतों में सब तो नहीं, पर अक्षर अनन्य तथा सुंदरदास प्रभृति कुछ ऐसे संत हैं जो कहते हैं—

> बोलिये तौ तब जब बोलि वे की सुधि होइ
> न ती मुख मौन गहि चुप होई रहियै।
> जोरिये तौ तब जब जोरिबे की जानि परै,
> तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए।
> गाइ ये तौ तब जब गाइवे को कंठ होइ
> स्रवण के सुनत ही, मन जाइ गहिए।
> तुक भंग छंद अरथ मिलै न कछु
> सुंदर कहत ऐसी वाणी नहिं कहिए [1]॥

अर्थात् संतों में अनेक को अपने कहने की पड़ी है—वे जैसे जीवन में विधि विधानों का बहुत आग्रह नहीं रखते—उसी प्रकार काव्य में भी काव्यविधानों की भी परवाह नहीं करते, पर संत सुंदरदास की तरह जो विधि विधान से परिचित हैं—वे उसकी अवहेला भी नहीं करते।

भावात्मक अभिव्यक्तियों में तो स्वयम् का आकर्षण है, पर उससे भिन्न स्तरों पर इन संतों की सहज कुछ कहने की प्रेरणा वाणी में वक्रता का आधान कर देती है। प्रतीक पद्धति—जिसकी ऊपर चर्चा की गई है—उसके अतिरिक्त सादृश्यमूलक अनेक विध वाग्भंगिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ अन्योक्ति, पदार्थ रूपक, वाक्यार्थ रूपक, रूपकातिशयोक्ति तथा उपमा और उत्प्रेक्षा आदि का विधान पग-पग पर लक्षित होता है।

अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा में सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि यहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत की वर्णना की जाती है। यह अप्रस्तुत कहीं सदृश, कहीं कारण, कहीं कार्य, कहीं सामान्य तथा कहीं विशेष रूप हुआ करता है। संत साहित्य रमणीय अन्योक्तियों से भरा हुआ है। उनके साहित्य का जो नीतिपरक अथवा उपदेश परक खण्ड है—उनमें से खण्डनात्मक और फटकार वाले अंशों को एक तरफ रख दिया जाय—पर जहाँ जीवन अथवा प्रवृत्ति के रमणीय प्रवृत्तियों के सहारे किसी मार्मिक तथ्य की व्यंजना की जाय—वहाँ का उद्‌गार नितान्त रमणीय प्रतीत होता है। एक उदाहरण लें—

---

१. संतवानी संग्रह २, पृ० ११४।

च्युंटी चावल ले चली बिच में मिल गई दार ।
कह कबीर दोउ ना मिले एकले दुर्जा डार[1] ॥

यहाँ अप्रस्तुत है—चींटी का व्यापार । वह अपनी यात्रा में चावल लेकर चली और रास्ते में इधर उधर पड़ी दाल भी मिल गई । अब वह चाहे कि दोनों लेकर अपनी यात्रा सम्पन्न करले—असंभव है । दोनों को लेकर चलना तो संभव नहीं है—कोई एक ही लिया जाना संभव है और यदि यात्रा निवाहनी है तो दूसरे को छोड़ना ही पड़ेगा । इस अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना यह है कि एक आध्यात्मिक संकल्प को लेकर चलने वाला एकतान ऊर्ध्वमुखी परमार्थ कामी यात्री चाहे कि बीच में भौतिक संकल्पों को भी समेट ले—तो यह असंभव है—यात्रा तो एक ही संकल्प से की जा सकती है—ताकि वृत्ति एक तान रहे । दो को लेने से वृत्ति भेद पैदा हो जायगा और वृत्ति भेद होने से द्वैविध्य होगा । द्वैविध्य संशय है और संशयात्मा विनश्यति—वह विनष्ट हो जायगा—अपना लक्ष्य न प्राप्त कर सकेगा । अध्यात्म यात्री को तो अनन्य पर होना ही होगा ।

मान लीजिए सामने चींटी का यह व्यापार देखकर ही कबीर ने यह पद लिखा हो—तब तो चींटी का व्यापार भी प्रस्तुत है और अध्यात्मयात्री का भी—अतः जहाँ दोनों ही प्रस्तुत हों—वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा कैसे माना जाय ? 'समासोक्ति' तो हो ही नहीं सकती, कारण श्लिष्टविशेषण का प्रयोग नहीं है। यद्यपि विशेषण साम्य मूलक की भाँति शुद्ध सादृश्यमूलक भी समासोक्ति का एक प्रकार हो सकता है । पर ऐसा मानने से इस अलंकार का स्वरूपख्यापक लक्षण दो हो जायेंगे और एक से अधिक स्वरूपख्यापक लक्षणों के स्वीकार करने पर तो अनेक या सभी अलंकार एक अलंकार ही बन जायंगे अतः विशेषण साम्य की भाँति शुद्ध सादृश्य-मूलक प्रकार समासोक्ति का स्वीकार नहीं किया जा सकता । यह कि समासोक्ति में प्रस्तुत से और अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत से अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत की क्रमशः व्यंजना होती है—अतः इस उदाहरण में समासोक्ति को सादृश्यमूलक मान लेने पर भी कोई आपत्ति नहीं खड़ी की जा सकती—अर्थात् वह समासोक्ति का उदाहरण नहीं होगा—ठीक नहीं । समासोक्ति का उक्त दूसरा व्यावर्तक धर्म तो उक्त आपत्ति के कारण अस्वीकार्य है । रहा यह कि समासोक्ति में प्रस्तुत से अप्रस्तुत व्यंग्य होता है—और अप्रस्तुत प्रशंसा में नहीं—ऐसा नहीं । अप्रस्तुत प्रशंसा के लिए शर्त इतनी ही है कि अप्रस्तुत से प्रस्तुत का वर्णन हो—अप्रस्तुत वाच्य या व्यंग्य—जैसा भी हो—इसके लिए कोई नियम नहीं । दोनों प्रस्तुत भी हो सकते हैं—जैसा यहाँ है । वस्तुतः विचार करने पर वक्ता को जो अभिप्रेत हो—वही प्रस्तुत है—सामने कुछ वर्णन काल में हो—या नहीं—'प्रस्तुत' से उसका मतलब नहीं

१. संतबानी संग्रह, पृ० २२ ।

है । अतः यहाँ 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार मानने की भी आवश्यकता नहीं है । एक अन्योक्ति का उदाहरण और लें—

फागुन आवत देखकर बनरूना मन माँहि ।
ऊंची डाली पात है दिन दिन पीले थांहि [१]।।

भरे पूरे जंगल ने देखा कि अब फागुन आ गया है—अब तो ऊँची शाखाओं के हरे-भरे पत्ते भी पीले ही पड़ते जायंगे । इस अप्रस्तुत वर्णना से अभिप्रेत 'प्रस्तुत' यह व्यंग्य हो रहा है कि काल का प्रभाव हर सांसारिक स्पंद पर पड़ता है—चाहे वह कितना भी उत्कर्ष लाभ की दशा में क्यों न हो । इसी प्रकार से मिलते जुलते सत्य की व्यंजना करने वाला दूसरा दोहा भी है ।

मालिन आवत देखकर कलियाँ करीं पुकार ।
फूले फूले चुनि लिए काल्हि हमारी बार [२] ।।

संसार के एक दुख से दग्ध व्यक्ति की दूसरे दुःख से उत्पन्न होने वाली दाह जन्य भीति का कितनी जीवन्त और प्रभावशाली व्यंजना निम्नलिखित दोहे में दिखाई पड़ती है—

दौ की दाधी लाकड़ी ठाढ़ी करै पुकार ।
मति बस परौं लुहार के जालैं दुजी बार [३]।

इस प्रकार की न जाने कितनी अन्योक्तियाँ सन्तों के साहित्य में अपने काव्यात्मक रूप में पड़ी हुई है ।

इस प्रकार अन्योक्ति तथा प्रतीक पद्धति के अतिरिक्त रूपक एवम् रूप-कातिशयोक्ति का भी प्रचुर प्रयोग इन संतों की बानियों में मिलता है । रूपक में उपमान और उपमेय—दोनों का शब्दतः प्रयोग रहता है अर्थात् इसमें जिस जिस उपमान और उपमेय का शाब्दिक प्रयोग रहता है—उनका तादात्म्य कहा गया रहता है और ऐसा करने का प्रयोजन होता है—दोनों में रहने वाले साधर्म्य प्रयुक्त सादृश्य का अतिरेक । दयाबाई की एक साखी है—

कर्म रूप दरियावसे, लीजै मोहिं बचाय ।
चरन कमल तर राखिए, मिहर जहाज चढ़ाय [४]।।७

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० ७२ ।
२. वही, पृ० ७२ ।
३. वही, पृ० ७३ ।
४. संतबानी संग्रह, भाग पहला, पृ० १७३ ।

यहाँ सांगरूपक है । कर्म पर दरियाव का, मिहर पर जहाज का और चरण पर कमल का आरोप है । यह आरोप सादृश्यमूलक है और सादृश्य का प्रयोजक साधारण धर्म है । साधारण धर्म सादृश्य का और सादृश्य आरोप का साधक है—अतः यहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का साधक नहीं है—फलतः 'परम्परित रूपक' नहीं है । इसी प्रकार संत चरनदास का एक पद है—

> मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान ।
> चरनदास घायल गिरे, तन मन बीधे प्रान [1]॥१२॥

यहाँ स्वयम् चरनदास ने अपने को मिरगा कहा है और गुरु पर पारधी का आरोप किया है, सबद पर बान का आरोप है । यहाँ भी सांग रूपक ही है । कारण, संत साहित्य में सहस्रशः शब्द पर बान का आरोप मिलता है और वह इसलिये कि दोनों ही तन मन को वेध देते हैं । फलतः आरोप का साधक यहाँ भी साधारण धर्म सिद्ध सादृश्य ही, आरोपान्तर नहीं, फलतः परम्परित रूपक की ही स्थिति माननी होगी ।

संत दूलनदास की वानी है—

> श्री सतगुरु मुख चंद्र तें, सबद सुधा झरि लाग ।
> हृदय सरोवर राखु भरि, दुलन जागे भागि [2]॥४॥

यह भी सांगरूपक ही है । रूपक में शब्दशक्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो गौणी सारोपा लक्षणा काम करती है । लक्षणा इसलिए कि उपमान और उपमेय का भेद होने से विवक्षित अभेद संबंध अनुपपन्न होगा । इसकी उपपत्ति के लिए मुख्यार्थ की सदृश में लक्षणा होगी । गौणी इसलिए कि वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के बीच सादृश्य संबंध है और सारोपा इसलिए कि उपमान तथा उपमेय उभयवाचक शब्द उपात्त हैं ।

रूपक स्थल में आचार्यों के अनेक प्रकार के मतभेद हैं । कुछ लोगों का विचार है कि रूपक तथा उपमा का प्रयोग भेद (चन्द्र सदृश मुख तथा चन्द्र मुख) अवश्य है, पर शब्दबोध में भेद नहीं है । अर्थात् एक जगह अभिधा से जो बोध होता है वही दूसरी जगह लक्षणा से । 'चन्द्र सदृश मुख'—यह उपमा का प्रयोग है और 'चन्द्र मुख' यह रूपक का । पर उपमा में अभिधा केवल से जो अर्थ बोध है, वही रूपक में लक्षण (चन्द्र की 'चन्द्र सदृश' में लक्षणा होती है) से । फिर जब अर्थ-बोध समान है—तब चमत्कार-बोध कैसे भिन्न होगा ? और चमत्कारबोध भिन्न होगा, तो अलंकार किस प्रकार भिन्न होगा ? विच्छित्ति वैचित्र्य ही अलंकार का

---

१. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० १४३ ।

२. वही, पृ० १३४ ।

बीज है। इसका उत्तर भी तरह-तरह से दिया गया है। कुछ एक आचार्य अर्थबोध के समान रहने पर लक्षणा फलीभूत ताद्रूप्य संवेदन के कारण उपमा से रूपक का भेद मानते हैं। दूसरे शाब्दबोध में ही भेद मानते हैं और तीसरे उपमा के सादृश्य को भेद गर्भ तथा रूपक के सादृश्य को अभेदगर्भ मानकर अंतर स्वीकार करते हैं।

दूसरे अर्थात् अप्पय दीक्षित प्रभृति आचार्य तो रूपक में लक्षण स्वीकार ही नहीं करते और कारण यह बताते हैं कि शब्द की ही यह महिमा है कि अत्यंत असत्य अर्थ का भी बोध करा देता है। जब मुख्यार्थ बोध ही नहीं, तब लक्षणा की आवश्यकता ही क्या ? लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि फिर कहीं लक्षणा ही न हो। यहाँ ऐसा इसलिए किया जाता है कि रूपकात्मक प्रयोगों में वैसा मान लेने का कारण अभीष्ट चमत्कार बोध है—पर अन्यत्र नहीं।

संत साहित्य में सादृश्याश्रित कवित्वमय प्रयोगों के संदर्भ में 'रूपकातिशयोक्ति' विशेष रूप से विचारणीय है। वैसे तो 'रूपकातिशयोक्ति' में केवल उपमानवाचक शब्दों का ही प्रयोग होता है और उपमेय निगीर्ण रहता है। यहाँ पर साध्यवसाना गौणी लक्षणा सक्रिय रहती है। पंडितराज जगन्नाथ ने तो 'रूपकातिशयोक्ति' संज्ञा पर ही आपत्ति की है। कहा है कि 'रूपक' और 'अतिशयोक्ति'—ये दोनों ही संज्ञाएँ परस्पर विरुद्धार्थक हैं—अतः उनको एक संज्ञा में जोड़ना कैसे संभव है ? फलतः कुछ लोग इसे प्रथमातिशयोक्ति कहना चाहते हैं। अस्तु।

सिद्धों, नाथों तथा संतों के साहित्य में प्रायः ऐसे उपमान वाचक शब्दों के अविरल प्रयोग मिलते हैं जहाँ उपमेय उसी में निगीर्ण रह करता है। परन्तु कहीं कहीं रूपकातिशयोक्ति का 'आभास' भी है जिस पर ध्यान न देने से भ्रांति की संभावना है। रहस्य साधकों की परम्परा में कुछ ऐसे शब्द हैं जिन्हें एक विशेष अर्थ में परिभाषित कर दिया गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' में ऐसे शब्दों की लम्बी सूची[1] दी है और सिद्ध, नाथ एवम् संत साहित्य में उसका एक सा प्रयोग दिखाया है। उदाहरण के लिए 'चित्त' के लिए 'भ्रमर' शब्द को सांकेतिक रूप में 'हठयोग प्रदीपिका' में निर्धारित ही कर दिया गया है। पर कुछ शब्द ऐसे हैं जिनकी धर्मसाम्य के आधार पर एक रूढ़ि नहीं स्थिर हो पाई है—वहीं रूपकातिशयोक्ति का वास्तविक प्रयोग मानना चाहिए। उदाहरणार्थ, हरिण शब्द को लें—प्रसंगवश कहीं उससे चित्त निगीर्ण है तो कहीं कमजोर साधक। संतों की स्वच्छंद वृत्ति ने परम्परा प्रयुक्त उपमानों का तो ग्रहण किया ही है—स्वतंत्र न जाने कितने उपमानों का आविष्कार किया है जिससे उपमेय निगीर्ण हैं। एक उदाहरण—

१. देखिए—कबीर' –'योगपरक रूपक तथा उलटबासियाँ' शीर्षक अध्याय।

समंदर लागी आग, नदिया जलि कोइला भई ।
देखि कबीरा जागि मंछी रूषां चढ़ि[1] गई ॥१०॥१२२॥

प्रस्तुत पद में 'समुंदर' 'आग' 'नदियाँ' 'मंछी' तथा 'रूषां' अप्रस्तुत (सादृश्यमूलक) हैं जिनसे 'प्रस्तुत' निगीर्ण हैं—फलतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अथवा अतिशयोक्ति का प्रथम भेद है । समुंदर से अविद्या अथवा अविद्यिक वासना निगीर्ण है और 'आग' से ज्ञान । 'नदियाँ' से अंतःकरण की समाधि विरोधी विक्षेपात्मक वृत्तियाँ तथा 'मंछी' से जीवात्मा और 'रूषां' से सुषुम्णा द्वारा ऊर्ध्वगमन निगीर्ण है । इसी प्रकार एक दूसरा पद है—

जो चरखा चरि जाय, वढ़ैया ना मरै ।
(मैं) कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै ।[2]

संत विचार दास के अनुसार यहाँ 'चरखा' से 'शरीर' अभीष्ट है और वढ़ई से 'मन' । शरीर बार बार नष्ट हो जाय, पर 'मन' का नाश नहीं होता । शरीर से चाहे हजारों सूत कर्म किए जायं—पर जब तक ज्ञानाग्नि का प्राकट्य न होगा—तब तक यह चरखा नष्ट नहीं हो सकता । एक और—

बुझ बुझ पंडित पद निरवान, साँझ परे कहवाँ बस भान ।
ऊंच निच परवत ढेलान ईंट, बिनु गायन तहवाँ उठे गीत ।
ओसन प्यास मंदिल नहिं जहवाँ, सहसों धेनु दुहावहि तहंवा ।
नितै अमावस नित संक्रांती, निति निति नव ग्रह बैठे पाँती ।
मैं तोहिं पूछौं पंडित जना, हिदया ग्रहन लागु केहि खना ।
कहंहि कबीर एतनौ नहिं जान, कवन सबद गुर लागल कान[3]।

इस पद में भी रूपकातिशयोक्ति से सूर्यास्त वर्णन के द्वारा अनात्म ज्योतियों का खण्डन और आत्मज्योति का मंडन किया गया है। सांझ से शरीरान्त, सूर्य से ब्रह्म ज्योति, ऊँच निच पर्वत मे हठयोगियों का उत्तर, गीत से अनाहतनाद, सहसौं धेनु से सात्विक वृत्तियों का सत्व प्रस्रवण, अमावस संक्रांति से मध्व विकास आदि निगीर्ण हैं ।

संत साहित्य में साम्यमूलक अलंकारों के और भी प्रयोग हैं । एक उदाहरण—

भंवरा लुबधि बास का मोह्यानाद कुरंग
यों दादु मन राम सों, ज्यों दीपक ज्योति पतंग[4] ।

---

१. कबीर ग्रंथावली, साखी १२२ ।
२. बीजक, शब्द ६८ ।
३. बीजक, (विचारदास संपादित) पृ० १८३ ।
४. दादूवाणी (सं० मंगलदास) बिरह को अंग, पृ० ५८।

यहाँ मालोपमा का कितना आकर्षक विधान है—यहाँ प्रस्तुत एक ही है—दादू का मन राम सों, पर उस पर तीन तीन अप्रस्तुतों का विधान है—भवंरा लोभी वासका, मोह्या नाद कुरंग तथा दीपक ज्योति पतंग।

इन संतों ने अपने वक्तव्यों अथवा अभिव्यक्तियों को प्रभावशाली बनाने के निमित्त और—और भी कवित्ववादी वाग्वक्रताओं का सहारा लिया है।

> कहि वे सुनिवे मन खुसी, करिवा औरे खेल।
> व्रातों तिमिर न भाजई, दीया वाती तेल[1] ॥

अर्थात् कहना सुनना तो मनोविनोद है—असल है करना। लेकिन आदमी करता और ही खेल है—जो कहता है वह नहीं। अंधकार दियाबाती की बात से नहीं जाने वाला है—उसके लिए तो दीपक जलाना होगा। इस उक्ति में अर्थान्तर न्यास की ही स्थिति जान पड़ती है दृष्टान्त तो वहाँ होता है जहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टीन्तिक दोनों ही विजातीय हों—पर उनमें प्रयुक्त धर्मों में विंव प्रतिविंब भाव हो। यहाँ पर मूल बात 'सामान्य' रूप से कही जा रही है और उसका समर्थन उसी के एक विशेष से किया जा रहा है। अतः 'सामान्य' का 'विशेष' से समर्थन होने के कारण यहाँ अर्थान्तर न्यास ही उपयुक्त है; 'दृष्टान्त' या 'उदाहरण' नहीं जैसा कि कई शोधियों ने समझा है। कहने को कहा जा सकता है कि दार्ष्टान्तिक 'सामान्य' है—और सामान्य किसी न किसी 'विशेष' में ही पर्यवसित होता है। यहाँ भी आध्यात्मिक बोध 'विशेष' रूप में प्रसंग प्राप्त है ही—अतः जव दोनों ही 'विशेष' हैं—तव 'दृष्टान्त' ही माना जाना चाहिए—अर्थान्तरन्यास नहीं। पर इस पद्धति के पकड़ने से अर्थान्तरन्यास निरवकाश हो जायगा और निरवकाश सावकाश को प्रतिवद्ध कर देता है—फलतः 'अर्थान्तर न्यास' की स्थिति स्वीकार करनी ही होगी।

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, दीपक, तुल्ययोगिता, सहोक्ति आदि का भी समावेश है और संतों की वानियों में इनका पर्याप्त समावेश है। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण लें—

> कबीर तेज अनंत का मानूँ ऊगी सूरजि सेणि।
> पति संग जागी सुँदरी कौतिग दीवा तेणि[2] ॥१॥

अपरोक्षानुभूति में दृष्ट तेज पर सूर्य-श्रेणि की संभावना की गई है और संभावना ही उत्प्रेक्षा है। संदेह ही जव उपमान की कोटि में वढ़ जाता है—तब संभावना वन जाता है।

---

१. दादूवानी (सं० मंगलदास)।
२. कवीर ग्रंथावली, परचाके, अंग पहला दोहा।

तुल्ययोगिता और दीपक—दोनों ही मिलते जुलते अलंकार हैं। तुल्ययोगिता में केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत का ही एक धर्म से संबंध होता है जबकि 'दीपक' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत—दोनों का एक साथ समान धर्म से संबंध होता है। बहुत से अलंकारान्वेषी यह नहीं जानते कि केवल अलंकार का लक्षण समन्वित हो जाने से 'अलंकार' का व्यवहार नहीं होता, प्रत्युत चमत्कारोत्पाद के कारण ऐसा होता है। एक सज्जन ने 'कबीर की भाषा'[1] पर विचार करते हुए तुल्ययोगिता का उदाहरण दिया—"जातैं जरा मरन भ्रम जाइ" यहाँ जरा मरन और भ्रम—तीनों के लिए एक ही क्रिया 'जाइ' का प्रयोग किया गया है—अतः एकधर्म संबंध प्राकरणिकों का है—अतः यहाँ तुल्ययोगिता है। लक्षण तो ठीक है—पर नितांत तथ्य कथन से आलंकारिक चमत्कार नहीं होता जब तक कि उसमें कल्पना को अंशतः योग न हो। यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है।

साम्य और वैषम्य मूलक ही नहीं, शृंखला मूलक अलंकारों का भी विधान उपलब्ध होता है। शृंखलामूलक अलंकारों में कारण, माला, एकावली तथा माला दीपक सार आदि का परिगणन किया जाता है। कारणमाला में पूर्व पूर्व उत्तरोत्तर का कारण होता है अर्थात् इसमें कार्यकारण भाव ही यथोत्तर निबाहा जाता है। मालादीपक में भी पूर्व पूर्व यथोत्तर का उपकारक होता है—पर पूर्वोत्तर में कारण माला की भाँति कार्यकारण भाव संबंध नहीं होता, प्रत्युत परवर्ती अपनी प्रस्थिति लाभ में पूर्ववर्ती का सहारा लेता है। 'एकावली' में पूर्व पूर्व के पदार्थ का उत्तरोत्तर आने वाला पदार्थ विशेषण होता है—जिसके बिना पूर्ववर्ती पदार्थ की छटा विकसित नहीं होती। 'सार' में यथोत्तर धाराधिरोह उत्कर्ष होता है। रशनोपमा में भी शृंखला है—पर वह सादृश्यमूलक अलंकारों के लाभ है। कारण माला का एक उदाहरण लें—

छूटे दंद तो लागे बंद, लागे बंद तो अमरकंद।
अमरकंद दादू आनंद

—सजीवन को अंग (दादूवानी मंगलदास) पृ० २१०

अथवा कर्म फिरावै जीव को कर्मों का करतार।
करतार को कोई नहीं दादू फेरनहार।

इन पदों में पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर क्रियाओं में कारण के रूप से कहे गए हैं। यहाँ तथ्य कथन अवश्य है—पर आवृत्ति में एक चमत्कार सहृदय साक्षिक है—अतः अलंकार का अस्तित्व माना जाता है। इस प्रकार बहुत से अलंकार और आलंकारिक सौंदर्य की छटा अनायास विसृष्ट संतों की बानियों में मिल जाती है। अलंकार का स्वरूप

---

१. कबीर भाषा, पृष्ठ २३८।

निर्देश करते हुए आनंदवर्द्धन ने सही अलंकार उसी को कहा है जो 'सौंदर्य' अथवा 'रस' के उल्लास में तत्पर प्रतिभा के वेगवान प्रवाह में स्वयम् ही आकर जुट जाय—जिसके लिए अलग से प्रयत्न न करना पड़े । यह है—'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलंकार' ।[1]

अर्थालंकार ही नहीं, शब्दालंकारों की भी स्वतः स्पष्ट स्थिति इन संतों की रचनाओं में लक्षित है । शब्दालंकार आवृत्तिमूलक भी होते हैं और उससे भिन्न भी । आवृत्ति निरर्थक वर्णों की भी होती है और सार्थक की भी । सार्थक वर्णसमष्टि पद है । निरर्थक वर्ण या वर्णों की यदि अनेक वार आवृत्ति है तब तो वृत्यनुप्रास और यदि अनेक वर्णों की एक वार तो छेद अनुप्रास होता है । पदावृत्ति में यमक तथा लाट का नाम लिया जाता है । 'यमक' में अर्थभेद मूलतः होता है और 'लाट' में अन्वय वश । इनके अतिरिक्त श्लेष; वक्रोक्ति, पुनरुक्तपदाभास, वीप्सा आदि । संत साहित्य में यथा संभव इन सब की स्थिति मिल जाती है ।

वृत्यनुप्रास :

निकट नाथ निजरूप निरंतरि नाँव निरंजन राया ।
जब हरिदास निंदौ को बंदी, मन फिर मनहिं समाया[2]।।

एक 'न्' वर्ण की अनेक वार आवृत्ति है ।

छेकानुप्रास :

राजस तामस स्वातिगग्रास सेसनाग कुँ पीवै ।
अलष अघारी आसा राषै, पाँच चरण चलि चूरै[3]।।

यह आस—जैसे निरर्थक अनेक वर्ण की एक वार आवृत्ति है । और भी—

है हरि अकल सकल अविनासी सुरति सुपह मतिजागी[4]

वीप्सा :

घट घट गोपी घट घट कान्हैं आनंद रूप [सकल घट राम
घटि घटि नारद घटि घटि सेस, घटि घटि ब्रह्मा विष्णु[5] महेस ।

वर्ण्यगत प्राचुर्य वोधार्थ पद की आवृत्ति है—अतः वीप्सा है ।

---

१. धन्यालोक द्वितीय उद्योत, पृष्ठ २१६ ।
२. निरंजनी संप्रदाय और संत, पृ० १२५ ।
३. वही, पद ८ ।
४. वही, पद ७ ।
५. निरंजनी संप्रदाय और संत, पृ० १२६ ।

यमक :

"जो मेरे साध सो अंतर राखै सो नर नरकै जाहीं[1] ।

यमक के लिए आवश्यक है कि यदि अर्थ हो, तो भिन्न हो—न हो, तो कोई बात ही नहीं ।

पुनरूक्तवदाभास :

दीयक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहुना बहुरि न आवौं हट्ट ॥[2]

उलटबांसी तथा वैषम्यगर्भ अंलकार :

रहस्यमय तत्व का स्वरूप, रहस्यमयी आंतरालिक अनुभूतियाँ, पार्यन्तिक आंनदानुभूति, तथा आंतरिक साधना प्रक्रिया आदि की अभिव्यक्ति के लिए ये रहस्यदर्शी प्रायः वैषम्यमूलक विरोधाभासी शैली गृहीत करते हैं। साम्य और वैषम्य पर आधृत रहस्यदर्शियों की अभिव्यक्ति शैली को इस साहित्य में गुह्यवाणी, रहस्यवाणी, संध्या-भाषा या संधाभाषा तथा उलटवांसी या पूरब की बोली—जैसे विभिन्न नामों से पुकारा गया है । म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध सिद्धों के पदों की भाषा को संध्याभापा कहा है—जिसका तात्पर्य उनकी दृष्टि में 'आलो आंधारी' भाषा (धूपछांही शैली) माना गया है । डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने भी संध्याभाषा ही इसे समझा है और सांध्य वेला की विशेषताओं से सम्पन्न बताया है। पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य ने कहा है कि वस्तुतः यह शब्द 'संध्या' नहीं 'संधा' है—जो संस्कृत के 'संधाय' ल्यबंत प्रतिरूपक का अपभ्रष्ट रूप है । इस प्रकार 'संधा' का अर्थ है 'साभिप्राय" । कुछ पण्डितों ने इसे बिहार और बंगाल के संधिदेश की भी भाषा कही है—पर इस भाषा का प्रयोग कहीं का भी रहस्यदर्शी कर सकता है। कन्नड़ के महाप्रभु अल्लभ जब इस शैली का प्रयोग करते हैं—तब क्या वे बिहार बंगाल की संधि के है ? उज्जयिनी का तंतिया नामक सिद्ध जब इसका प्रयोग करता है तब क्या है वह उस संधिदेश का ? यह संभव है कि सिद्धों का बाहुल्य अवश्य उस संधि देश में था—इस निमित्त कहा जाय तो कहा जा सकता है । आगमिक और नैगमिक रहस्यात्मक स्थलों में भी इस शैली का प्रयोग मिलता है । सिद्धों के साहित्य में अभिव्यक्ति की एक प्रधान शैली के ही रूप में इसका पल्लवन और विकास हुआ । संतों की संसार की प्रवृति से उलटी आध्यात्मिक प्रकृति की अभिव्यक्ति मुखर भाषा को उलटवांसी संज्ञा दी गई है—जहाँ विरोधाभासी शैली स्पष्ट लक्षित है ।

---

१. कबीर की भाषा, पृ० २३६ ।
२. कबीर ग्रंथावली, गुरुदेव को अंग, पृष्ठ २, साखी १२ ।
३. कबीर, देखिए 'योग परक रूपक और उलटबासियाँ' शीर्षक अध्याय ।

उपनिषदों में परतत्व के अनिर्वचनीय स्वरूप को स्पष्ट करने की झोंक में परस्पर विरोधी विशेषणों और वाक्यों का धड़ल्ले से प्रयोग होता है। ईशावास्योपनिषद्[1] में कहा गया है—'तदेजति तन्नै जति,' तद्दूरे तच्चान्ति के अर्थात् वह सस्पंद भी है और निःस्पंद भी, दूर भी है और निकट भी। अभिप्राय यह है कि वह तत्व जड़ की भाँति जब नहीं है तब जड़ विरोधी सस्पंदता उसमें माननी ही पड़ेगी। और जैसा कि पहले भी अनेक बार कहा गया है कि जड़ भी परिच्छिन्न चेतन ही है। वह निकट भी है और वह दूर भी है। अर्थात् जब वह सर्वत्र व्यापक और विद्यमान है—किंवा वही सब कुछ है—तब उससे निकटतर कौन होगा? अथच निकट रह कर भी अपरोक्ष नहीं है—तथा अनेकविध आवरणों के व्यवधान में है—तब उससे दूरतर कौन होगा?

बौद्धों ने भी इस अटपटी भाषा का संघा या संध्याभाषा का प्रयोग किया है। टेण्टणपाद की एक उक्ति है—

> बलद विआअल गविआ बाँझे
> पिटा दुहिअउ ते तिनि साझे
> जो जो बुधी सो धनि बुधी
> जो सो चोर सोइ साधी
> निति निति सिआल से हे समजुझअ।
> टेंढण पादर गीत बिरले बूझअ[2] ॥

इन पंक्तियों में बैल का प्रसव और गाय का बांझपन, उसका तीनों साँझ दुहा जाना, चोर का साधु होना, शृंगाल का नित्य प्रति सिंह से जूझना—परस्पर विरोध-गर्भ उक्तियाँ हैं। इस उक्ति को समझने की चुनौती भी दी गई है। चुनौती दिये जाने के कारण इन पदों का सर्वसम्मत अर्थ करना काफी कठिन है, फिर भी मैं समझता हूँ कि बैल का प्रसव और गाय का बांझ पन सृष्टि की सांवृतिक प्रक्रिया के लिए ही कहा जाना चाहिए—क्योंकि यह संवृति ही है जो सांवृतिक या अपारमार्थिक क्रियाओं का आभास देती है। चोर का साधु होना—से उनका आशय यह हो कि जो संसार की दृष्टि से अपने आपको छिपाकर गुह्यरूप में आध्यात्मिक संपत्ति की उपलब्धि के लिए बढ़ता है—वही साधु है। शृंगाल का सिंह के साथ जूझना वध्य और घातक का युद्ध है। शरीर को न जाने कितनी बार खा चुका है—चित्त (विज्ञान धारा)—पर शरीर ने चित्त को फांस रखा है और उससे जूझता रहता है। इस तरह का कुछ अर्थ इस संध्या भाषा में झलकता है।

---

१. ईशावास्योपनिषद्॥५॥
२. चर्यापद ३३।

इसी तरह की चुनौती देकर पण्डितों के प्रति ललकार संतों ने भी व्यक्त की है। कबीर दास ने उक्त पद से ही मिलती जुलती एक उलटवाँसी प्रस्तुत की है—जो इस प्रकार है—

बैल बियाइ गाय भई बाँझ ।
बछड़ा दूहै तीन्यूं साँझ ।
मकड़ी धरि माछी छाछिहारी
मास पसारि चील्ह रखवारी ।
मूसा खेवट नाव बिलइया ।
मींडक सोवै साँप पहरइया ॥
नित उठ स्याल साँप सूँ जूझै ।
कहै कबीर कोई बिरला बूझै [1] ॥

निस्सन्देह यह शैली परम्परागत शैली है जिसमें बहुत कुछ परम्परागत संकेत भी है। यह अवश्य है कि दोनों की चिन्ताधारा और साधनधारा भिन्न हैं—इसलिए विशिष्ट अप्रस्तुतों से विशेष प्रस्तुत और प्रस्तुतोपयोगी अर्थों की व्यंजना हो सकती है। इतना फिर भी स्पष्ट है कि संवृति और माया का स्थान दोनों की चिन्ता धारा में है तथा संसार में फांसने वाले तथा फंसने वाले का साहचर्य और लगाव शतशः दृष्ट है। फलतः ऐसे ही संवृतिक तथा आविधिक व्यवहारों और लगावों को देखकर ही उन पर विरोधी अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है।

संन्त साहित्य में उपलब्ध उलटवासियाँ दो प्रकार की दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो ऐसी हैं जिनके माध्यम के रूप में विवशता वश लिया गया है, क्योंकि उनसे जिस अरूप और सूक्ष्म का संकेत दिया जा रहा है—यह और किसी प्रकार संभव ही नहीं था। ऐसी उलटवासियों को सांकेतिक कहा जा सकता है—पर कुछ उलटवासियाँ ऐसी हैं —जो जान-बूझकर प्रस्तुत की गई हैं। जान बूझकर ऐसा करने का कारण यह है कि उससे आवृत अर्थ को लोग ग्रहण न कर सकें—सम्प्रदाय दीक्षित ही समझ सकें। ऐसी उलटवासियाँ ही गुह्यवाणी हैं। पहले प्रकार की उलटवाँसी काव्य के अधिक नजदीक है—दूसरी कम। कारण पहली प्रेरणा मूलक है—जहाँ प्रयोक्ता के 'शब्द', और 'अर्थ' प्रत्यभिज्ञेय हो सकते हैं। आनंदवर्धन ने महाकवि की यही विशेषता बताई है—"यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महा[2] कवेः" महाकवि वही है जिसके शब्द और अर्थ यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय या पुनः पुनः अनुसंधेय हों। कला अपने को आवृत रखती है और आलोचना उसको अनावृत करता है। पर इसके साथ यह भी ध्यान में रखने की बात है — कि आवरण इतना दुर्बोध न हो कि सहृदय उसका अनावरण ही न

---

१. कबीरग्रंथावली, पृ० ११३।
२. कबीर ग्रंथावली, बेली को अंग, ४।

कर सके अथवा काफी माथा पच्ची से कर सके । ऐसे व्यंग्य को 'अस्फुट' व्यंग्य कहकर साहित्याचार्यों ने गुणीभूत व्यंग्य या मध्यम काव्य की कोटि में डाल दिया। काव्यात्मक सौष्ठव तो शीघ्र ही सहृदम संवेद्य होने में है-शीघ्रता ही चमत्कारानुभूति का प्राण है । जब कभी ऐसी उलटबासियाँ का सहृदयों को शीघ्र संवेदन होता है-तब आस्वाद भी निश्चय ही मिलता है । ऊपर 'समुंदर' लागी आग' का उदाहरण दिया जा चुका है । संत परम्परा की जानकारी रखने वाला उक्त अर्थ तक शीघ्र पहुंच सकता है । कठिनाई के स्थल तो प्रचुरता से उपलब्ध हैं ।

उलटवासियाँ वैषम्य पर आधृत होती हैं – इसीलिए यहाँ असंगति, विरोधाभास, विशेषोक्ति तथा विभावना की भी छौंक मिल जाती है ।

असंगतिगर्भ

आँगणि बेलि अकासिफल अणव्यावर को दूध ।
ससा[1] सींग की धनुहड़ी रमै बाँझ का पूत ॥

यहाँ असंगति स्पष्ट ही है । इस अलंकार में कार्य तथा कारण को ही एक ही अधिकरण में रहना संगत है । पर जब यह एकाधिकरणकता खण्डित हो जाय, तब समझना चाहिए कि संगति खंडित हो गई । यही संगति का न रहना ही असंगति है। यहाँ बेलि तो आँगन में है और फल आकास में। स्पष्ट ही आधार भेद है। वास्तव में माया आँगन में लगी हुई बेलि है – पर इसके फल शून्य यानी कल्पना में ही लगते हैं – यह है बंध्या – पर पैदा निरन्तर करती रहती है। माया का सारा व्यापार–शशकशृंग की धनुही तथा बंध्यापुत्र का खेल ही है। चेतन ही अधिष्ठान है–प्रांगण है–उसी में माया का अस्तित्व है ।

विरोध अलंकार असंगति से ठीक विपरीत होता है। यहाँ पर भिन्न आधार में प्रसिद्ध धर्मों की एकत्र स्थिति कही जाती है। यह विरोधाभास इस प्रकार का होता है – द्रव्य का चार से – द्रव्य, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा, गुण का शेष तीन से-गुण, क्रिया तथा यदृच्छा, क्रिया को दो से–क्रिया तथा यदृच्छा और यदृच्छा का यदृच्छा से ।

समन्दर लागी आगि . . . ऊपर उद्धृत किया जा चुका है । यहाँ आग और पानी–जिनका आत्यंतिक विरोध है–एकावस्थान कहा जा रहा है–अतः विरोध की स्थिति स्पष्ट है ।

विभावना तरवर साखा मूल बिन, धरती पर नाहीं ।
अविचल अमर, अनंतफल, सो दादू खाहीं[2] ॥१२२॥

—दादूवाणी, चंद्रिका प्रसाद. पद २१३, पृ० ४८८

---

१. कबीर ग्रंथावली, बेली को अंग, ४ ।

२. दोहा १२२

कारण नहीं है और कार्य है। कारण के बिना कार्य का होना यही तो विभावना है। विशेषोक्ति है। यहाँ उक्त उदाहरण में मूल, शाखा तथा तरुवर के बिना ही फल लगा हुआ है – धरती पर वह है भी नहीं – कबीर उसी का फल चखते हैं। कारण के न रहने पर भी फल रूपी कार्य है–अतः विभावना स्पष्ट है।

संतों के काव्य में और भी अन्यान्यविध वाग्भंगिमाएं दृष्टिगोचर होती हैं—जो कवित्व के उन्मेष में लक्षित होती हैं। आलंकारिक बंधान के अतिरिक्त संपृति कवित्व के वे स्रोत भी विचारणीय हैं–जो मूलवर्ती माने जाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि जो 'रस' और 'सौंदर्य' संतों के साहित्य का केंद्र है– वह 'राम रस' या 'हरि रस' है और 'अनुपम जोति' है – पर अंतस् जब इनके अनुभव से छकी रहती है तो उसका उच्छलन या तो वाणी में बाँकपन पैदा कर देती है अथवा 'तृष्टि' की गंभीरता भर देती है। साहित्याचार्यों ने पहले का संबंध 'वक्रता' से और दूसरे का 'ध्वनि' से जोड़ रखा है।

'वक्रता' कवि प्रतिभा प्रसूत लोकोत्तर चमत्कारिणी विचित्र अभिधा का ही नामान्तर है। वैसे 'स्वभाव' का सहज परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य[२] है। सामान्यतः लोगों की यह धारणा है कि वक्रता वाग्वैचित्र्यवाद का पर्याय है–पर जो लोग कुंतक के मर्म से परिचित हैं–वे इसका प्रतिवाद करते हैं। यह 'वक्रता' 'वर्ण' से लेकर 'प्रबंध' पर्यंत व्याप्त रहती है। सामान्यतः यह छह प्रकार की मानी जाती है–वर्ण, पद पूर्वार्द्ध, पदपरार्द्ध, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबंध गत[३]।

वर्णवक्रता। शब्द विन्यास काल्घुतम कल्पित खण्ड वर्ण है। अतः यहीं से वक्रता का निरुपण आरंभ किया गया है। वर्णों के विन्यास से जो विच्छित्ति पैदा होती है– वह वर्णविन्यास वक्रता के कारण। यदि प्रयोक्ता में वर्ण-सावर्ण्य का व्यसन नहीं है. औचित्य का बोध या ध्यान है, नीतिनिर्बंध विधान[४] है, पेशलता है और है पूर्वा-वृत्त वर्णों का परित्याग-तभी वक्रता (वर्णगत) निखरती है। पहले के आनुप्रासिक उदाहरण इसके भी लक्ष्य हैं – अतः उनकी पुनः चर्चा अनावश्यक है।

पदपूर्वार्धवक्रता :

वर्ण समुदित होने पर शब्द बनते हैं और वैयाकरणों की दृष्टि से सविभक्तिक होने पर 'पद' बनते हैं। पद दो प्रकार के हैं–सुवन्त एवं तिउन्त। प्रत्येक पद प्रकृति और प्रत्यय के योग से बनते हैं–अतः प्रकृति में रहने वाली वक्रता पद पूर्वार्धवक्रता

---

१. (हिंदी) वक्रोक्ति जीवितः प्रथम उन्मेष।
२. स्वभावस्याञ्जस्येन परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्।–वही
३. वही १।१८।
४. वही ।२।४।

है। और प्रत्यय में रहने वाली पद परार्धवक्रता। पद पूर्वार्ध के अंतर्गत रूढ़ि, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृति आदि में रहने वाली वक्रताविधाओं का समावेश है।

ना कुछ किया न करहिगे नाँ करनै जोग सरीर।
जो कुछ किया सु हरि किया, भया कबीर कबीर[1]।

यहाँ दूसरा 'कबीर' पद रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता का उत्तम उदाहरण है। जब वर्ण्य गत लोकोत्तर प्रशंसा अथवा निंदा विवक्षित हो, तो इसका प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों में शब्द की एक लोक प्रचलित अर्थ में रूढ़ि रहती है-पर उससे कुछ अधिक तथा और ही असंभाव्य अर्थ की ओर इंगित रहता है। यहाँ पहला कबीर तो नहीं, पर दूसरा 'कबीर' शब्द लोक प्रसिद्ध नियतार्थ का अतिक्रमण कर लोकोत्तर प्रशंसा अर्थ की ओर संकेत करता है। अर्थात् यह वही 'कबीर' नहीं रहा, जो नीमा तथा नीरू का पौष्य पुत्र मात्र था, अपितु आत्मगत समस्त संभावनाओं को चरितार्थ कर लेने के कारण महान् तथा लोकोत्तर पुरुष हो गया है। ध्वनि की दृष्टि से विचार करने पर यहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि की स्थिति झलकती है। इस ध्वनि भेद में प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा केवल से जो अर्थ प्राप्त होता है-वह उसके उपादान लक्षणात्मक भेद से संभव होता है। यहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तर में सङ्क्रान्त हो जाता है। 'कबीर' शब्द का वाच्यार्थ तो व्यक्ति विशेष है ही-पर उपादान लक्षणा के बल से अतिरिक्त अर्थ में परिणत हो जाता है। वह अतिरिक्त अर्थ है-लोकोत्तर। इस लोकोत्तरत्व के जितने भी आध्यात्मिक स्तर पर निर्वाहक तत्व हैं-उन सबका अभिव्यंजन संभव है। उपादान लक्षणा के प्रयोजन रूप इन चामत्कारिक अर्थों को ध्यान में रखकर यह ध्वनि का लक्षणामूलक भेद माना जाता है। इसी प्रकार-

बिरहा बुरहा जिनि कहौ बिरहा है सुल्तान।
जिहि घट बिरह न संचरै सो घट जान मसान[2]॥

यहाँ पर भी 'बिरहा' या 'बिरह' की जिस लोक प्रसिद्ध अर्थ में रूढ़ि है-उससे अतिरिक्त लोकोत्तरत्व निर्वाहक अर्थ विवक्षित है – अतः यहाँ भी रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता की स्थिति मानी जा सकती है।

पर्यायवक्रता :

सामान्य व्यवहार में पर्यायवाची शब्दों की बारीकी और तत्जन्य सौंदर्य का पता नहीं चलता, परंतु कवि के या तदनुरूप प्रतिभा सम्पन्न संत जनों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की सूक्ष्मतापूर्वक परख करने से अनेकविध उद्दिष्ट पोषक अर्थ-जात झलकने लगते हैं। इस वैशिष्ट्य के कारण पर्याय वक्रता का जन्म होता है। जैसे—

---

१. कबीर ग्रंथावली, साखी ८-१,- २ (पारसनाथ तिवारी)
२. कबीर ग्रंथावली. पृ० ८ साखी २१ बिरह को अंग।

अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान ।
अविगत अंतर प्रगटै, लागै प्रेम धियान[1] ॥५॥४४॥

यहाँ संत जन 'अनहद' की जगह 'असीम' 'अपरिमित' 'वेहद' आदि शब्दों का भी प्रयोग कर सकता था, किंतु 'अनहद' में विवक्षित को प्रकाशित करने की जो क्षमता विद्यमान है— वह इन पर्यायवाची शब्दों में विद्यमान नहीं है। 'अनहद' से दो विशेषताओं को प्रयोक्त झंकृत करना चाहता है—एक तो वह 'अनाहत' का विकसित रूप है—फलतः शब्द या नाद के उस रूप को भी प्रकाशित करता है जो आहनन निरपेक्षा अर्थात् अनाहत है, दूसरी ओर 'अनहद' में यदि 'अन' को निषेधार्थक उपसर्ग मानें और हद को सीमार्थक—तो इससे 'सीमातीत' अर्थ का भी प्रकाशन हो जाता है। व्यंजना" शक्ति अथवा 'ध्वनिकाव्य' की दृष्टि से यह प्रयोग उतना अच्छा नहीं है, कारण ये दोनों ही अर्थ इस परम्परा में नितान्त क्षुण्ण होने से उत्तान हैं—अधखुले नहीं। एक दूसरा उदाहरण लें—

माला पहर्‌या कुछ नहीं गाँठि हिरदा की खोइ ।
हरिचरनूं चित राखिए, तौ अमरापुर होइ ॥२४।६

कबीर का कहना है कि यदि अमरपुर—आध्यात्मिक शिखर तक उठना है—तो माला काम नहीं देगी, तदर्थ जड़ और चेतन की गाँठ खोलनी होगी—परदा हटाना होगा। यदि यह कार्य अपने बूते का नहीं है तो उसका भजन करना होगा—जो आवरणों के हरण में समर्थ हों। अतः जिसकी उपासना करनी है—तदर्थ अनेक संज्ञाओं के बावजूद उसका 'हरि' पर्याय ही प्रयुक्त है। यह पर्याय वैचित्र्य सम्पन्न है—अर्थात् अभीप्सित का पोषक अर्थ देता है। सामान्यतः 'अपुष्टार्थकत्व' दोष जहाँ नहीं होता—वह 'पुष्टार्थक पद कहा जाता है और वहीं पर वक्रता की दृष्टि से पर्याय वक्रता तथा व्यंजना की दृष्टि से अभिधामूल व्यंजना की स्थिति है। कभी-कभी ऐसे स्थलों के लिए 'परिकरांकुर' अलंकार का प्रयोग किया जाता है।

उपचार वक्रता :

उपचारवक्रता का क्षेत्र है मूर्त का अमूर्त विधान तथा अमूर्त का मूर्त विधान। जैसे,

प्रेम न जानहि रोइबौ, नहीं गाइबौ गीत ।
प्रेम दशा कछु और है, जो रस मते अतीत[2] ॥१३५॥

यहाँ मूर्त चेतन प्राणी का धर्म 'रोना' अमूर्त 'प्रेम' पर आरोपित है—उपचरित है। इस पद में 'प्रेम' का महिमा का थोड़े ही शब्दों में अभूतपूर्व वर्णन है—महिमा का प्राकट्य है।

---

१. कबीर ग्रंथावली ५।४४. पृ० १६ (सं० श्यामसुंदर दास)।
२. अक्षर अनन्य, पृ० ४०६।

'प्रेम' का रस जिन रसिकों को प्राप्त है – उनका कहना है कि वह रोने-गाने के लौकिक अनुभवों से अतीत है। हृदय की सामान्य चित्तवृत्तियों-सुख तथा दुख—की जो दशा है उससे भिन्न ही दशा 'प्रेम' है। इसमें भेदकातिशयोक्ति का तो सौंदर्य है ही—वर्ण्यगत अनिर्वचनीयता भी ध्वनित है। यहाँ प्रेमी की क्रिया का 'प्रेम' पर उपचार है। अथवा—

> प्रेम दिवाने जो भए, मन भयो चकनाचूर।
> छके रहैं घूमत रहैं, सहजो देखि हुजूर[1] ॥१॥

चकनाचूर होना मूर्त पदार्थ का ही धर्म है– पर उसे अमूर्त मन पर उपचरित किया गया। इस उक्ति का आशय यह है कि मन को अस्तित्वहीन कर देना—कमजोर कर देना—अपने वश में कर लेना। यह तभी संभव है जब मूर्त पदार्थ की भांति टुकड़े-टुकड़े करके उसकी उस शक्ति को क्षीण कर दिया जाय। जिससे वह जीव को जन्म-जन्माँतर के चक्र में घुमाता रहता है। मन को टूक-टूक कर देना—ईसमें मुख्यार्थ-बाध होने से लक्षणा का ही सहारा लिया जाता है। लक्षणा प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा का एक भेद है–श्रहत्स्वार्था अथवा लक्षण लक्षणा। इसी शक्ति के बल से यहाँ अर्थबोध हो जाता है। रूपकात्मक समस्त प्रयोगों में सर्वत्र उपचार वक्रता का प्रयोग ही माना जाता है। इतना अवश्य है कि उपचार वक्रता की परिधि शुद्धा औ गौणी-उभयत्र व्याप्त है जबकि रूपक में केवल सारोपा गौणी लक्षणा ही सक्रिय रहती है।

विशेषण वक्रता :

विशेषण की महिमा से जहाँ कारक अथवा क्रिया में लावण्य का उन्मेष हों–वहाँ यह रूप दिखाई देता है। विशेषण के साभिप्राय प्रयोग में 'परिकर' अलंकार भी माना जाता है। इस अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण व्यंजना शक्ति द्वारा होता है।

> मीठी मीठी माया तजी न जाई
> अग्यानी पुरिण को भोलि भोलि खाई[2]।

यहाँ संत प्रवर कबीर ने 'माया' का विशेषण दिया है—मीठी-मीठी। बड़ी व्यन्जना और सार्थकता है इसमें। मानव मात्र की प्रवृत्ति सुखोन्मुखी है—फलतः जो इंद्रियों को तृप्त करता है अथवा इंद्रियों के माध्यम से वासना को तृप्त करता है—उसका तजा जाना सर्वथा संभव नहीं है। मनुष्य चाहे तो भी तजा जाना संभव नहीं है—कारण, वह माया मीठी-मीठी जो है। मीठी-मीठी विशेषण 'तजी न जाई' इस क्रिया की सार्थकता में उपयोगी है—'माया' गत मिठास का प्रतिपादन कर उसकी अत्या-

---

१. संतवाणी संग्रह, भाग १, पृ० १५१।

२. कबीर ग्रंथावली, पृ० १६६ पद २३२।

ज्यता तो बताता ही है। साथ ही 'मीठी' विशेषण उसी में लग सकता है। —जो रसनाग्राह्य हो—मधुर हो—माया जैसी अमूर्त वस्तु अपनी समग्रता में सर्वेन्द्रिय ग्राह्य है—न कि केवल रसना ग्राह्य। अतः लक्षणा द्वारा मीठी-मीठी का अर्थ है—इंद्रिय-मात्र के लिए आकर्षक और ग्राह्य।

संवृत्ति वक्रता :

सर्वनाम आदि के द्वारा जहाँ वक्तव्य वस्तु के स्वरूप को ढंका ही रहने दिया जाय और इस प्रकार विवक्षित वैचित्र्य को सूचित किया जाय।

> अनभै कथा कवन सों कहिये, है कोई चतुर विवेकी।
> कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी[1]॥

अर्थात् ऐसा चतुर विवेकी है कौन—जिसके समक्ष अपने अनुभव की कथा कही जाय। हाँ, सदगुरु यदि सहायक हों, तब 'सो' झल (ज्वाला) वह झलक किसी के देखने में आ सके। यहाँ 'सो' सर्वनाम द्वारा वक्तव्य की अनिर्वचनीयता तथा अनुभवैकसंवेद्यता झंकृत होती है। ध्वनि की दृष्टि से विचार किया जाय तो इसे 'पदध्वनि' का उदाहरण भी कहा जा सकता है।

पद पूर्वार्ध वक्रता की भांति पदपरार्धवक्रता भी है। इसके भी कई रूप हैं—जो संतों की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। काल, कारक, वचन, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय, उपसर्ग तथा निपातगत वक्रताएं इसके अंतर्गत समाविष्ट हैं।

कालवैचित्र्यवक्रता :

> देखत काँच भया तन कंचन, बिन पानी मन माना।
> उड़्या विहंगम खोजि न पाया ज्युं जल जलहिं समाना[2]॥

यहाँ दो क्रियाएं प्रयुक्त हैं—'देखत' तथा 'भया'। पहली क्रिया में अविच्छिन्न वर्तमानता है और दूसरी में भूतकालिकता। दृष्टा की दर्शन क्रिया वर्तमान है—चल ही रही है—कि कंचन तन इसी वर्तमानकालिक परिधि में अतीत हो गया। इस प्रयोग से शरीर की क्षण स्थापिता, नश्वरता अथवा अस्थापिता का अतिरेक ध्वनित होता है। ऐसे कालबोधक प्रत्ययों से प्रयोग का सौंदर्य बढ़ जाता है। व्यंजना या ध्वनि की दृष्टि से यहाँ प्रत्यय ध्वनि का सौंदर्य स्पष्ट है।

वचनवक्रता :

> हम देखत जग जात है जग देखत हम जाहं।
> ऐसा कोई ना मिलै, पकड़ि छुड़ावै बाँह[3] ॥८॥

---

१. कबीर ग्रंथावली, पद ८, पृ० ९९।

२. कबीर ग्रंथावली (श्यामसुंदर दास) पृ० ९० पद ६।

३. वहीं, पृ० ९७।

इन पंक्तियों में 'हम' 'हम' का दो जगह प्रयोग है। वास्तव में एक कबीर के देखते देखते संसार के लोग काल के कराल—के मुंह चलते चले जा रहे हैं और लोगों के देखते-देखते कबीर व्यक्ति भी चला जायगा—इस प्रकार वक्ता—जो देखने वाला और जाने वाला है—वह एक ही है—तथापि बहुत्व बोधक बहुवचन रूप में—'मैं' की जगह 'हम' का प्रयोग किया गया है। इससे यह ध्वनित या झंकृत होता है सबके देखते—सब काल मुंह में चले जा रहे हैं पर कोई ऐसा नहीं जो इन जाते हुओं को बचाले। अथवा उत्तम पुरुष के एक वचन का प्रयोग न कर कबीर अपने को काल-गाल में न जाने का संकेत देते हुए—सामान्य जन से संबद्ध तथ्य की व्यंजना कर रहे हैं।

कवित्व स्रोत के इन कतिपय प्रतिमानिक तत्वों का जो यहाँ सोदाहरण विवेचन किया गया है—उनसे मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचना चाहता हूँ कि 'दृष्टि' सम्पन्न इन संतों ने उसी 'दृष्टि' से जीवन जिया है और 'हरिरस' का छककर पान किया हैं—उस अल्लाह के उस 'नूर' का साक्षात्कार किया है। इस लक्ष्य की सिद्धि में 'भाव' साधना की है। 'भाव' साधना से 'नूर' और 'रस' की अपरोक्षानुभूति इन संतों को हुई है—इसी लय में सारे जीवन और जगत् से संतों ने संबद्धता अनुभूत की है और समूचा संत साहित्य इसी की अभिव्यक्ति है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में जो बाधक है—उसका खण्डन तथा जो साधक हैं उसका मण्डन किया गया है उपदेश दिया गया है। इस संदर्भ में स्पष्ट है कि इन संतों की वाचिक अभिव्यक्ति का लक्ष्य एकाँगी तथा बौद्धिक परिधि में संगति-लग्न 'दर्शन' की सृष्टि नहीं है। न ही वस्तु मुखी तथा भूतवादी दृष्टि से सामाजिक चेतना के विभिन्न स्तरों का विश्लेषण ही इनके साहित्य का सारतत्व है। वैसे बौद्धिक विश्लेषण अपनी दृष्टि से अपनी स्थापना का समर्थन करने के लिए साहित्य का साक्ष्य लेता ही है और संत साहित्य भी इसका अपवाद न होगा। पर इससे इस आत्यंतिक और ऐकाँतिक स्थापना की ओर आना कि संत साहित्य या तो दार्शनिकों के ही काम की वस्तु है—केवल 'दर्शन' है अथवा 'समाजशास्त्र' की-ही सामग्री है—सर्वथा अमान्य है। यह संभव हो सकता है कि बहुत सी उक्तियाँ साहित्यिक प्रतिमान पर खरी न उतर सकें—उदाहरण के लिए विशुद्ध फटकार परक उक्तियाँ अथवा हठयोग संबंधी विवरण। पर जिन अभिव्यक्तियों में काव्योचित 'बाँकपन' है अथवा प्रत्यभिज्ञेय 'गाँभीर्य' और इन दोनों के साथ भावोच्छलन उन्हें साहित्य की परिधि में क्यों न लिया जाय। साथ ही खंड का आस्वाद अखंडता में ही—अखंडग्राह्यता के संदर्भ में ही लिया जा सकता है—टुकड़ों-टुकड़ों में नहीं। समग्रता को ग्रहण करने के लिए यदि साहित्य सार का उपासक इस दिशा का अध्ययन न करे—अनुशीलन, परिशीलन, विश्लेषण तथा तुलनात्मक मनन न करे—तो वह अपने लक्ष्य की सिद्धि किस प्रकार कर सकेगा?

एक बात और, 'बाँकपन या वक्रता' अथवा प्रत्यभिज्ञेय 'व्यंजकत्व'–विचारतः बहुत कुछ एक ही हो जाते हैं। 'वक्र शब्द' सामान्य शब्द से विशिष्ट है और 'वक्र शब्द' अर्थशून्य तो हो नहीं सकता—कारण, दोनों का तादात्म्य है। अर्थात् यदि 'वक्र' शब्द' है तो 'वक्र अर्थ' भी होगा ही—अर्थात् 'वह शब्द' भी कुछ और होगा और 'वह अर्थ' भी कुछ और होगा। ठीक ध्वन्यालोककार ने भी व्यञ्जकत्वात्मा ध्वनि की बात करते हुए यही कहा है कि—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कश्चन ।
'यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः'[1]॥८॥

दोनों ही काव्यत्व के लिए 'कश्चन शब्दः' तथा 'कश्चन अर्थः' के समर्थक हैं। काव्य एक सृष्टि है और सृष्टि काल में तादात्म्यापन्न शब्दार्थ गुण प्रधान भाव संपन्न हो जाते हैं—कहीं 'अर्थ' का प्राधान्य होगा और 'शब्द' गौण रहेगा और कभी शब्द का प्राधान्य रहेगा, अर्थ अप्रधान होगा। व्यञ्जकत्वात्मा ध्वनि या काव्य सृष्टि में गुण प्रधान भावापन्न शब्दार्थ की स्थिति वैसी ही रहती है–जैसी आगम सम्मत परस्परानुस्यूत शिव-शक्ति तत्व की सृष्टिकाल में। आगम सम्मत यह असामरस्य काव्य सृष्टि-काल में केवल शब्दार्थत्मा काव्य को लेकर ही नहीं, अपितु काव्य की इस परिणत रसात्मक दशा में भी आगमसम्मत सामरस्य संविद् विश्रांति की स्थिति होगी। जिस प्रकार प्रत्यावर्तन वेला में द्रुतिशील अंतस् का साधक अद्वैत में कल्पित द्वैत की अप्राकृत तरंगों में निमग्न रहता है उसी प्रकार काव्य का साधक भी द्वैतसंभिन्न अद्वैत की भूमिका में रसमग्न रहता है।

---

१. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ० ६७।

समापन

विगत अध्यायों में तंत्रवाद अथवा आगम सम्मत चिन्ताधारा के आलोक में 'हिंदी' के निर्गुण संतसाहित्य की पुनर्व्याख्या की गई है, तांत्रिक दृष्टि का संचार किया गया है। इस विस्तृत और गंभीर विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक परिशीलन से प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(क) आलोच्य साहित्य के लिए प्रचलित विभिन्न संज्ञाओं गुरुमत, संतमत, निर्गुण-मत – में से 'निर्गुण मत' 'निर्गुण संत साहित्य'-संज्ञा अपने एतिहासिक महत्व में तो ग्राह्य है ही, प्रयोग प्रचलन तथा अर्थसंगति की दृष्टि से भी ग्राह्य है। इस 'निर्गुण' से एक तरफ 'सामान्य' साधना के लिए उपयुक्त सगुणमूर्तिवाद तथा अवतार (राम-कृष्ण) वाद का प्रत्याख्यान तो झंकृत है ही—दूसरी ओर निरन्तर प्रयोग के कारण 'उभयात्मक' तथा 'उभयातीत' में रूढ़ि भी संकेतित है। फलतः यह संज्ञा मुझे अधिक सही लगी है।

(ख) 'नाथ' तथा 'संत' धारा के वीच प्रस्तावित 'निरंजनी' तथा 'वारकरी'—में वारकरी की यथा संभव ग्राह्यता अवश्य है—पर संतों के समय तक और बाद में भी स्वयम् नाथ धारा प्रवाहित रही है।

(ग) 'प्रवर्तक' की समस्या का जहाँ तक संवंध है अनेक आन्तर-बाह्य तर्कों और प्रमाणों के बावजूद यह नहीं निश्चित हो पाया है कि 'वारकरी' धारा के निष्ठावान् साधक नामदेव अपने से भिन्न 'निर्गुणधारा' के प्रवर्तक कैसे? मेरा झुकाव अभी भी नामदेव की अपेक्षा कवीर की ही ओर है।

(घ) संत या निर्गुण साहित्य का प्रतिमान है—सुरत शब्दयोग, अतः इस साधना के ही अनुयायियों को समाविष्ट करना उपयुक्त पाया गया है। इसीलिए मैं उन लोगों से भिन्न हूं जो चरणदास, प्राणनाथ तथा शिवनारायण आदि को सगुण धारा में खींच ले जाते हैं।

(ङ) 'तांत्रिक दृष्टि' पर निवंध म० म० कविराज गोपीनाथ ने अवश्य लिखा है—पर मेरा प्रयास इस दृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र और मौलिक रहा है इस खोज में कि इसके अनागमिक व्यावर्तक तथा संघटक तत्व कौन-कौन से हैं। यह कार्य सर्वप्रथम इस प्रवंध में हुआ है। इसमें उन भेदक तथा परिचायक विंदुओं को ढूंढ़ निकाला गया है जो आगम-सम्मत दृष्टि को आगमेतर दृष्टि से न केवल पृथक् करते हैं अपितु उसका परिचय भी देते हैं।

(च) निर्गुण संत साहित्य के समस्त पूर्ववर्ती चिंतन में तांत्रिक दृष्टि का यत्र-तत्र अवश्य संचार किया गया था, पर प्रस्तुत प्रयत्न तांत्रिक दृष्टि का निर्धारण कर समस्त संत साहित्य के मुख्य पक्षों का नया व्याख्यान प्रस्तुत करता है।

(छ) संत साहित्य की वैचारिक दृष्टि आगम सम्मत है—अतः इसमें व्यक्त उक्तियों के साक्ष्य पर यह सर्वप्रथम निर्भ्रान्त स्थापना की गई है कि संतों का चरमतत्व एकेश्वरवाद और शांकर ब्रह्मवाद के अनुरूप तो है ही नहीं—डा० वड़थ्वाल के अनुसार किसी का शांकर अद्वैत, किसी का विशिष्टाद्वैत और किसी का भेदाभेद भी नहीं है। इन सभी पूर्ववर्ती स्थापनाओं का खण्डन करते हुए इस बात की दृढ़ता से स्थापना की गई है कि संतमत का चरमतत्व 'द्वयात्मक अद्वय' है—'समरस' है—आगम सम्मत 'अद्वय' है।

(ज) संत साहित्य पर लिखे हुए समस्त शोध प्रबंधों तथा कृतियों में से किसी भी कृति में 'शब्द तत्व' पर इतनी सूक्ष्मता और विस्तृति के साथ समस्त आगम निगम तथा क्वचिदन्यतो पि प्राप्त विचारधाराओं के संदर्भ में विचार नहीं हुआ था—जितना यहाँ है—अतएव अनेक उलझे हुए प्रश्न स्पष्ट हो सके हैं। परा पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी, ओंकार, शब्द ब्रह्म, निःअक्षर-अक्षर, शब्द, पाँच गुप्त शब्द, अनाहत नाद तथा नव नाद—आदि सभी पर विचार किया गया है। सद्‌गुरु भी किस तरह शब्द रूप है—इस पर भी आलोक विकीर्ण किया गया है।

(झ) परतत्व किस प्रकार किन-किन रूपों और स्तरों पर क्रमशः व्यक्त होता हुआ सृष्टि रूप में अवरूढ़ होता है—आगमोक्त स्तरों के संदर्भ में संतों द्वारा कथित स्तरों की सार्थकता का प्रथम प्रथम तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रतिपादित किया गया है और डा० वड़थ्वाल की एतत्संवद्ध धारणा की अपर्याप्तता बताई गई है। परात्पर स्तरों की कल्पना की मूल वृत्ति को स्पष्ट किया गया है। कहा गया है—ये स्तर हैं—अभेद-भेदाभेद तथा भेद। संत साहित्य में पाए जाने वाले परिणामवाद, विवर्तवाद तथा आभासवाद की विरोधी स्थितियों का भी इस प्रबंध में पहली बार समन्वय किया गया है। ये सारी संगतियां तंत्रवाद के आलोक में पाई गई हैं।

(ञ) आरोहण अथवा प्रत्यावर्तनमयी यात्रा में अपेक्षित पारमेश्वर शक्तिपात, गुरु दीक्षा तथा साध-साधन के आगमिक विधान के आलोक में संत साहित्य की संवद्ध घटनाओं, प्रयासों तथा परम्पराओं का संगत व्याख्यान भी पहले पहल हुआ है।

(ट) 'सुरत शब्द योग' की आगमिक दृष्टि से व्याख्या करते हुए स्थापना की गई है कि 'सुरत' आत्मशक्ति है और 'शब्द' शक्तिमान्—दोनों का सामरस्य ही सुरत शब्द योग है। यों सुरत या सुरति के विद्वानों द्वारा विभिन्न व्युत्पत्ति मूलक अर्थ बताए गए हैं—पर आगम धारा के अनुसार व्यावहारिक धरातल पर सुरति को चित्तवृत्ति के विविध रूप तथा पारमार्थिक स्तर पर 'चित्' रूप में बताया गया

है। संतों की साम्प्रदायिक साधना के संदर्भ में सुरति तथा निरति को सविकल्पक तथा निर्विकल्पक ध्यात या वृत्ति के रूप में माना गया है। 'चित्त' ही 'चित्' है—अतः तत्वतः सुरति, निरति (चित्र की ही साधार तथा निराधार दशाएँ) तथा शब्द को एक रूप ही कहा गया है। सृष्टि के आरंभ की सात सुरतियाँ चित् के ही विभिन्न स्तर हैं। आगम सम्मत नित्योदित समाधि के समकक्ष ही सुरति-निरति-परचा की स्थिति है।

(ठ) 'संतों' का भक्ति योग'—पर सर्वथा नई स्थापना आगमिक आलोक में यह कि गई है—भक्ति न तो सुरत शब्द योग का अंग है और न तो सुरत शब्द योग भक्ति का अंग है—वल्कि दोनों एक ही साधना है—सुरत का शब्द के प्रति आकर्षण (भक्ति) ही दोनों के योग का माध्यम है। एतदर्थ नाम जप, ध्यान तथा बाह्य और आंतरिक साधना का विवेचन है। अंतभूमि पर सुरत-शब्द तथा भक्ति—तीनों ही एक हो जाते हैं। आन्तरालिक भक्ति का आलम्बन (शब्द रूप) सद्‌गुरु ही है—पर्यन्त में वही 'धुनि' रूप है। संतों की अभेद भक्ति आगमिक धारा में ही व्याख्येय है—अतः नैगमिक शांकर विवरण प्रस्थानवादी विद्यारण्य-सम्मत 'निर्गुण-भक्ति' का संतों के संदर्भ में खण्डन किया गया है। खण्डन उनका भी किया गया है जो शांकर सम्मत 'निर्गुण भक्ति' की बात करते हैं—संतों की भक्ति के संदर्भ में और साक्ष्य देते हैं—नाग्दभक्ति सूत्र तथा शाण्डिल्यभक्ति सूत्र का। अतः अब तक की संतभक्ति संबंधी उलझी हुई समस्या का यहाँ आगमिक आलोक में पहली बार निरवद्य व्याख्यान हुआ है।

(ड) समस्त अध्यात्म धारा में प्राप्तः रूहानी मंजिलों का ऐतिहासिक उप-स्थापन करते हुए प्रस्तुत प्रबंध में पहली बार संतों के आध्यात्मिक मंडलों का संगत उपस्थापन किया गया है। यथासंभव उनकी तुलनात्मक संगति भी बिठाई गई है। परापश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी के स्तरों पर भी इन लोकों का तालमेल बिठाया गया है।

(ढ) अंततः इस आक्षेप का निराकरण करते हुए कि संत साहित्य शुद्ध दर्शन तथा समाजशास्त्र का ही विषय है—साहित्य के अध्येता का नहीं—कवित्व स्रोतों का इनकी रचनाओं पर संचार भी किया गया है। प्रतिमान भी आगम धारा के ही आलोक में कल्पित और प्रतिष्ठित माने गए हैं।

इस प्रकार समस्त संत साहित्य में निरूपित वैचारिक पक्ष, भावनात्मक-साधनात्मक पक्ष, जीव, जगत्, चरमतत्व—तथा अन्य सब का आगमिक दृष्टि से प्रबंध व्यापी नया व्याख्यान इस तथ्य की सर्वप्रथम स्थापना करता है कि संत साधना और साहित्य को प्रस्तावित दृष्टि से ही ठीक-ठीक समझा जा सकता है। प्रयास मर्मज्ञों के हाथ में हैं—उनके सम्मत्यर्थं।

●

संदर्भ ग्रंथ सूची

१ सन्त मत प्रकाश, भाग-पहिला---राधास्वामी सत्संग व्यास (जिला-अमृतसर) परम संत श्री हुजूर महराज – बाबा सावण सिंह जी, सेक्रेटरी– आर० डी० आहलूवालिया सन् १९६३ ।

२ वही, भाग दूसरा, द्वितीय संस्करण, सन् १९६० ।

३ सन्त मत प्रकाश, भाग पहला – शेष पूर्ववत्, तृतीय संस्करण १९६५।

४ अमृतानुभव – हिंदी अनुवाद--अनुवादक वृजराज सिंह १२।८२, वंजारी चौक, रायपुर (म० प्र०)।

५ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति (गोरक्षनाथ कृत) – गोरक्ष ग्रंथ माला का ८४ वाँ पुष्प, प्रकाशक – पीर चन्द्रनाथ योगी राजा योगीश्वर मठ विट्ठल, (मैसूर राज्य) सन् १९६४ ।

६ कबीर साहित्य चिन्तन – परशुराम चतुर्वेदी ।

७. परमार्थी साखियाँ – के० एल० खन्ना – सेक्रेटरी, राधास्वामी सतसंग व्यास, जिला अमृतसर पंजाब. परमसंत श्री हुजूर महराज बाबा सावणसिंह जी द्वारा सत्संगों में कथित साखियाँ । प्रथमावृत्ति १९६४ ।

८. गुरु मत सिद्धांत – भाग दूसरा, प्रकरण तीसरा, प्रकाशक – आर० डी० अहलूवालिया, सेक्रेटरी; राधास्वामी सतसंग व्यास, जिला–अमृतसर, प्रथम संस्करण १९६२ ।

९. सारवचन राधास्वामी–दूसरा भाग। प्रकाशक – राधास्वामी ट्रस्ट; स्वामीबाग, आगरा, १२वीं बार, १९५२ ।

१०. परमार्थी पत्र – राधास्वामी सत्संग व्यास, अमृतसर १९६० प्रथम संस्करण परमसंत श्री हुजूर महराज बाबा जैमल सिंह जी द्वारा लिखित पत्रों का संग्रह ।

११. सारवचन छंद बंद – पहला भाग – राधास्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग, आगरा, १२वीं बार, १९५१ ।

१२. गुरु मत सिद्धांत – भाग दूसरा; प्रकरण दूसरा, आर० डी० अहलूवालिया राधा स्वामी सत्संग व्यास, अमृतसर १९६२ प्र०सं० ।

१३. सन्तबानी — हेमचन्द्र भार्गव, चित्र प्रकाशक, चाँदनी चौक, देहली, भार्गव फाइन आर्ट प्रेस, दिल्ली,
१४. तसव्वुफ और सूफीमत — प्रकाशक, सरस्वती मंदिर, जननवर, वाराणसी, १९४८ द्वितीय संस्करण ।
१५. सूफी काव्य संग्रह — परशुराम चतुर्वेदी, २०१३ हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
१६. सूफीमत साधना और साहित्य, रामपूजन तिवारी, बनारस, ज्ञानमण्डल लिमिटेड।
१७. सहज साधना — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश शासन, साहित्य परिषद्, भोपाल, प्रथम संस्करण २०२० ।
१८. राधास्वामी मत प्रकाशन — हुजूर महराज; राधास्वामी सत्संग, स्वामी बाग, आगरा, सन् १९५७ ।
१९. सारवचन; राधास्वामी नसर पानी वार्तिक — राधास्वामी सत्संग, स्वामी बाग, आगरा, १९५९ बारहवीं बार ।
२०. राधास्वामी मत पर प्रवचन — महराज साहब; स्वामी बाग. आगरा, सं० २०१० ।
२१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति : — गोरक्षनाथ, १९६४ मैसूर; प्रकाशक — पीरचन्द्रनाथ योगी; राजा योगीश्वर मठ विट्ठल ।
२२. सन्तों का सूक्ष्मवेद —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विभाग, पंजाब ६०-६१ ।
२३. कबीर मंसूर — परमानन्द कृत वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० २००९ ।
२४. निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुलसीदास निरंजनी — सं० डा० भगीरथ मिश्र लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६४ प्रथम संस्करण ।
२५. काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी; डा० भंवर लाल जोशी, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९६८ ।
२६. अखरावती — कबीर, बेलवेडियर प्रेस; इलाहाबाद १९६२।
२७. कबीर साखी संग्रह , भाग १, २ बेलवेडियर, इलाहाबाद १९६४।
२८. कबीर साहब की शब्दावली, चौथा भाग, वेलवेडियर, १९६२।
२९. कबीर साहब की शब्दावली, भाग ३ वेलवेडियर १९६४ ।
३०. कबीर साहब की शब्दावली, भाग २ वेलवेडियर १९६५।
३१. दूलनदासजी की बानी, बेलवेडियर १९६४।
३२. संत बानी संग्रह, भाग पहिला, वेलवेडियर १९५९।
३३. पलटूदास की बानी, पहला भाग, वेलवेडियर १९६७ ।
३४. घट रामायण भाग २, तुलसी साहब (हाथरस वाले) वेलवेडियर १९३१
३५. कबीर साहेब की शब्दावली, पहला भाग, वेलवेडियर, १९६२।

३६. तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली और जीवन चरित्र, भाग पहला, वेलवेडियर प्रेस– १९६६ ।

३७. तुलसीसाहब (हाथरस वाले) की शब्दावली, भाग २ पद्म सागर सहित, भाग २ वेलवेडियर प्रेस; इलाहावाद, १९६४ ।

३८. रत्न सागर, तुलसी साहब, हाथरस वाले १९६१ वेलवेडियर।

३९. घट रामायण तुलसी साहब; हाथरस वाले १९६७ वेलवेडियर ।

४०. धनी धरमदास जी की शब्दावली, वेलवेडियर १९६०।

४१. जगजीवन साहब की शब्दावली, वेलवेडियर १९६६ ।

४२. दादूदयाल की वानी, पहला भाग वेलवेडियर १९६३।

४३. धरनीदास जी की वानी, दूसरी बार–वेलवेडियर।

४४. चरनदास जी की वानी, पहिला भाग वेलवेडियर, १९५२ ।

४५. दरिया साहब, मारवाड़ वाले की वानी, चौथी बार, वेलवेडियर ।

४६. यारी साहब की रत्नावली, वेलवेडियर ।

४७. भीखा साहब की वानी, वेलवेडियर १९६४।

४८. पलटू साहिब की वानी, भाग २ वेलवेडियर १९६२ ।

४९. पलटू साहिब की वानी, भाग ३ वेलवेडियर १९६२।

५०. सहजोबाई की वानी वेलवेडियर, १९६२।

५१. मलूकदास जी की वानी, वेलवेडियर, १९४६।

५२. सुंदर विलास, तीसरी बार, वेलवेडियर ।

५३. गुलाल साहब की वानी, वेलवेडियर, १९६६ ।

५४. मीराबाई की शब्दावली, वेलवेडियर, १९६४ ।

५५. बुल्ला साहेब का शब्द सागर वेलवेडियर, १९६० ।

५६. रैदासजी की वानी, वेलवेडियर, १९६६ ।

५७. दरिया सागर. (विहार वाले दरिया) वेलवेडियर, १९५३ ।

५८. संतबानी संग्रह, भाग २ वेलवेडियर, १९५५ ।

५९. सत गुरु कवीर साहब की ज्ञानगुदड़ी रेखते और झूलने वेलवेडियर १९६० ।

६०. दरिया साहब विहार वाले, वेलवेडियर, १९३१ ।

६१. कवीर साहेब का वीजक, वेलवेडियर ।

६२. कबीर साहब का अनुराग सागर, वेलवेडियर, १९६० ।

६३. केशवदास जी का अमीघूंट, इलाहाबाद, १९५१ ।

६४. रहस्यवाद, राममूर्ति त्रिपाठी, राजकमल १९६६ ।

६५. सन्तमत में साधना का स्वरूप—डा० प्रताप सिंह चौहान, प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर , १९६१ ।

६६. श्रीकृष्ण प्रसंग; पं० गोपीनाथ कविराज, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।
६७. प्राणसंगली, भाग एक, दो और तीन अमृतसर ।
६८. वौद्धगान में ताँत्रिक सिद्धांत, डा० श्री जयधारी सिंह, १९६९ मधुवनी दरभंगा ।
६९. कबीर और कबीर पंथ, डा० केदारनाथ द्विवेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन; प्रयाग, १९६५ ।
७०. कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, पंचम संस्करण, सं० २०११ ।
७१. कबीर ग्रंथावली, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर १९६४।
७२. हिंदी वैष्णव साहित्य में रसकरि कल्पना – डा० प्रेमस्वरूप गुप्त; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ६ ।
७३. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग एक १९६३,
७४. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग दो,
७५. ताँत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि १९६३। कविराज गोपीनाथ विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।
७६. बीजक, हनुमद्दास शास्त्री; द्वितीय आवृत्ति, वि० सं० २०२८ ।
७७. सद्‌गुरु कबीर, श्री गुलवदन विहारी, अहरौरा, मीरजापुर १९६० ।
७८. राधास्वामी मत पर प्रवचन, महराज साहब, सं० २०१० स्वामीवाग, आगरा,
७९. बीजक, विचारदास, प्रकाशक – रामविलास दास, मैदागिन, वाराणसी, सं० १९८३।
८०. कबीर साहित्य की परख – परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार; प्रयाग, सं० २०११ ।
८१. कबीर साहित्य चिन्तन – परशुराम चतुर्वेदी, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७०
८२. उत्तरी भारत की संत परंपरा – परशुराम चतुर्वेदी ।
८३. कबीर की भाषा – डा० महेन्द्र, शब्दकार दिल्ली ६।१९६९।
८४. अक्षर अनन्य, सं० अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव; मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६९ ।
८५. नाथ और संत साहित्य – डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, २०२१ (सं०) काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
८६. मुक्ति प्रकाश, मोहनपति साहब, आचार्यगद्दी बड़ैया, जौनपुर, १९६९
८७. नाथ संप्रदाय – डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद १९५० ।
८८. राधा स्वामी मत प्रकाश हुजूर महाराज, राधास्वामी सतसंग स्वामीबाग, आगरा १९५७ ।

८९. श्री गुरु ग्रंथ साहिब शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी अमृतसर १९५१।
९०. हिंदी साहित्य का इतिहास- रामचंद्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, काशी, २००७।
९१. हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल सं० २००७, अवध पब्लिसिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ ।
९२. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, डा० शिवशंकर अवस्थी, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी १९६६ ।
९३. रहस्यवाद, परशुराम चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् १९६३।
९४. कबीर का रहस्यवाद – डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद १९७२।
९५. कबीर साहित्य का अध्ययन, डा० पुरुषोत्तम श्रीवास्तव; साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस २००८।
९६. हिंदी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०२०।
९७. सारवचन राधास्वामी नेसर, राधास्वामी सतसंग. स्वामी बाग, आगरा, १९५९।
९८. काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, भंवरलाल जोशी, चौखम्भा १९६८।
९९. नानक वाणी, जयराम मिश्र, मित्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद २०१८।
१००. संत कवि दादू और उनका पंथ, डा० वासुदेव शर्मा, शोध प्रबंध प्रकाशन, नई दिल्ली, १९६९ ।
१०१. दादूदयाल ग्रंथावली – सं० परशुराम चतुर्वेदी, ना० प्र० सभा काशी २०२३। सं०—
१०२. धर्मेन्द्र अभिनंदन ग्रंथ, सं० नलिन विलोचन शर्मा, धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रंथ समिति, पटना १९६०।
१०३. घनानंद कवित्त (भाष्येंदुशेखर) वाणी वितान प्रकाशन ब्रह्मनाल, वाराणसी, २०१७ ।
१०४. श्रीराम चरित मानस – गोस्वामी तुलसीदास – गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २००४।
१०५. मराठी संतों का सामाजिक कार्य – डा० वि० मि० कोलते, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ४ मार्च १९५४।
१०६. हिंदी साहित्य और अर्थ का विकास – अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, किताब महल, इलाहाबाद, १९५८।
१०७. नानक वाणी, डा० जयराम मिश्र, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड; इलाहाबाद सं० २००८।
१०८. भारतीय दर्शन – बलदेव उपाध्याय ।

१०९. हिंदी साहित्य का अतीत, भाग १ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल, वाराणसी ।
११०. पंजाव प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास – चंद्रकान्त वाली (प्रथम खण्ड) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९६२ ।
१११. हिंदी साहित्य कोश –सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, ज्ञान मण्डल, भाग १ वाराणसी सं० २०२०
११२. संतमत का सरभंग सम्प्रदाय – डा० धर्मेन्द्र व्रह्मचारी, विहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना १९५९ ।
११३. संत रैदास – संगमलाल पाण्डेय, दर्शन पीठ, इलाहावाद, वाराणसी १९६८ ।
११४. कवीर ग्रंथावली – डा० भगवत्स्वरुप मिश्र, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, १९६९ ।
११५. संत कवि दरिया—डा० धर्मेन्द्र व्रह्मचारी, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, भाग १,२ १९५४ ।
११६. मध्यकालीन संत साहित्य—डा० रामखेलावन पाण्डेय, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी १९६५ ।
११७. गुरु नानक और उनका काव्य—सं० डा० मह्वीपसिंह तथा अन्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस २३ दरियागंज दिल्ली, १९७१ ।
११८. संत कवि रज्जव : संप्रदाय और साहित्य—डा० व्रजलाल वर्मा, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, १९६५ ।
११९. हिंदी की मराठी संतों की देन—डा० विनय मोहन शर्मा, विहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना १९५७ ।
१२०. मध्यकालीन निर्गुण भक्तिसाधना—डा० हरवंश लाल शर्मा, नैवेद्य निकेतन, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी ।
१२१. नाथ और संत साहित्य—डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी. १९६५ ।
१२२. कवीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद १९६६ ।
१२३. हिंदी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, १९६१ साहित्य निकेतन, कानपुर ।
१२४. भक्ति आंदोलन का अध्ययन—डा० रतिभानुसिंह नाहर; किताव महल, प्राइवेट, इलाहावाद ।

१२५. संत साहित्य—डा० सुदर्शनसिंह मजीठिया, रूप कमल प्रकाशन, दिल्ली १९६२ ।

१२६. मध्यकालीन हिंदी संत विचार और साधना – डा० केशनी प्रसाद चौरसिया. हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६५ ।
१२७. संत कबीर—डा० रामकुमार वर्मा : साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद १९६६ ।
१२८. संतों का भक्तियोग (उन्मनी के प्रकाश) डा० राजदेव सिंह, हिंदी प्रचारक संस्थान, १९६८ ।
१२९. दरिया ग्रंथावली, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, भाग २ पटना १९६२ ।
१३०. संत काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप—बाबूराव जोशी, कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर—१९६८ ।
१३१. धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रंथ—सं० नलिनविलोचन शर्मा, धर्मेन्द्र अभिनंदन समिति, पटना १९६४ ।
१३२. संत साहित्य की लौकिक पृष्टभूमि—डा० ओमप्रकाश शर्मा, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद १९६५ ।
१३३. निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० मोती सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०१३ ।
१३४. श्री गुरु ग्रंथ दर्शन—डा० जयराम मिश्र, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद १९६० ।
१३५. नाथ पंथ और निर्गुण संत काव्य—डा० कोमल सिंह सोलंकी, विनोद पुस्तक मंदिर,—आगरा १९६६ ।
१३६. गोरखबानी, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग २००३ ।
१३७. रज्जबबानी—डा० ब्रजलाल वर्मा, उपमा प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, कानपुर १९६३ ।
१३८. संतों के धार्मिक विश्वास—डा० धर्मपाल मैनी, नवजीत पब्लिकेशन, पंजाब, १९६६ ।
१३९. रामानंद सम्प्रदाय तथा हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव—डा० बदरी नारायण श्रीवास्तव, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय; १९५७ ।
१४०. संत साहित्य और साधना—भुवनेश्वर नाथ मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली १९६९ ।
१४१. श्री रज्जब वाणी—स्वामी नारायण दास, प्रकाशक नारायण सिंह शेखावत, अजमेर ।

१४२. कबीर दर्शन—डा० रामजीलाल, हिंदी विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६२ ।
१४३. कबीर वचनावली, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५ ।
१४४. सिद्ध साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद १९५५ ।
१४५. शब्द और अर्थ—डा० राजदेव सिंह, नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बाँस फाटक वाराणसी, १९६८ ।
१४६. श्री महाराज हरिदास जी की वाणी—सं० मंगलदास, निखिल भारतीय निरंजनी महासभा, राजस्थान, जयपुर, १९६२ ।
१४७. संत काव्य का दार्शनिक विश्लेषण—डा० मनमोहन सहगल, भारतेंदु भवन, चण्डीगढ़–२. १९६५ ।
१४८ हिंदी संत साहित्य—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, राजकमल प्रकाशन १९६३ ।
१४९. योग दर्शन हिंदी – समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश लखनऊ १९६५ ।
१५०. उदासी संप्रदाय और कवि संत रेणु—डा० सच्चिदानंद पाण्डेय साहित्य सदन, देहरादून १९६७ ।
१५१. नाथ सिद्धों की बानियाँ—सं० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी; सं० २०१४ ।
१५२. संत पलटूदास और पलटू पंथ—डा० राधाकृष्ण सिंह, सूर्य प्रकाशन नई सड़क दिल्ली—६ । १९६६ ।
१५३. संत साहित्य—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, ग्रन्थम्, रामबाग कानपुर १९६५ ।
१५४. कबीर ग्रंथावली, डा० माता प्रसाद गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९ ।
१५५. कबीर वानी—सरदार जाफरी, हिंदुस्तानी बुक ट्रस्ट, खेतानभवन. जे० टाटा रोड, बम्बई नं० १ ।
१५६. गोरखनाथ और उनका युग—रांगेय राघव, आत्मा राम एण्ड संस; दिल्ली, १९६३ ।
१५७. भारतीय दर्शन–(२) डा० राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली १९६९ ।
१५८. प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५२ ।
१५९. भारतीय दर्शन-पुस्तक भण्डार, पटना ४, सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय (१९६०) एवम् दत्त ।
१६०. काव्यकला तथा अन्य निबंध—जयशंकर प्रसाद, लीडर प्रेस ।

१६१. दीपशिखा, महादेवी वर्मा ।

१६२. ज्ञानास्थिति बोध—बम्बई, २००९ ।

१६३. ब्रह्मनिरूपणम् टीकाकार—प्रकाशमणि साहब, कबीर आश्रम; जामनगर, सौराष्ट्र सं० २०११ ।

१६४. पंजाबातील नामदेव—१९४० शंकर पुरुषोत्तम डवले, प्रकाशक—केशव भिखाजी डवले, श्री समर्थसदन बम्बई १९४० ।

१६५. जीव धर्म बोध—बम्बई सं० २००७ ।

१६६. अमर मूल—बम्बई सं० २०११ ।

१६७. अनुराग सागर—(बम्बई, सं० १९७१) ।

१६८. पंचमुद्रा, बम्बई सं० २००९ ।

१६९. अवतारणबोध—बम्बई सं० २०११ ।

१७०. महिमा समुद्र ।

१७१. आत्मनिर्गुण, ककहरा ।

१७२. मूलग्रंथ ।

१७३. घनीनंद कवित्त ।

१७४. वाणी; जोधपुर ।

१७५. अमृतानुभव—(अनूदित) रायपुर ।

१७६. मिलिन्द प्रश्न—अनुवादक भिक्षु जगदीश कश्यप, सारनाथ, १९३७ ।

१७७. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, १९५६ ।

१७८. दोहा कोश—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्—सं० राहुल सांकृत्यायन, १९५७ ।

१७९. बौद्ध दर्शन, पं० बलदेव उपाध्याय, १९४६, बनारस ।

संस्कृत-संदर्भ ग्रंथ सूची

१८०. ध्वन्यालोक—चौखम्भा प्रकाशन, सं० १९९७ ।

१८१. रसगंगाधर, पंडित राज जगन्नाथ, निर्णयसार, १९४७ ।

१८२. वक्रोक्ति जीवित (हिंदी)—कुंतक ।

१८३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वामन ।

१८४. वरिवस्या रहस्य,—भास्कर रायमखी, आड्यार लाइब्रेरी, आडयार १९४८ ।

१८५. जपसूत्रम्,—प्रत्यगात्मा मंद सरस्वती, भारतीय विद्या भवन, वाराणसी १९६६ ।

१८६. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति—गोरक्ष ग्रंथमाला ८४वाँ पुष्प, १९६४ ।

१८७. परात्रिंशिका—अभिनव गुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, १९१८ ।

१८८. तंत्रालोक—१२ भाग—अभिनव गुप्त संस्कृत ग्रंथावली, १९१८ ।

१८९. उड्डामरेश्वर तंत्र—संस्कृत ग्रंथावली, १९४७ ।

१९०. स्वच्छंद तंत्र ६ भाग संस्कृत ग्रंथावली १९२१ ।

१९१. श्री मृगेंद्र तंत्र—नारायण कंठ टीका समेत संस्कृत ग्रंथावली, १९३० ।

१९२. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा—उत्पल देव संस्कृत ग्रंथावली १९२१ ।
१९३. प्रयभिज्ञा हृदयम्—क्षेमराज संस्कृत ग्रंथावली ।
१९४. शिवसूक्त वार्तिक — संस्कृत ग्रंथावली १९७० ।
१९५. शिवसूक्त — संस्कृत ग्रंथावली १९७० ।
१९६. शिवसूत्र वृत्ति — संस्कृत ग्रंथावली १९७० ।
१९७. श्री नेत्र तंत्र — संस्कृत ग्रंथावली १९३९ ।
१९८. महार्थ मंजरी—श्री महेश्वरातंर संस्कृत ग्रंथावली १९१८ ।
१९९. स्पंद कारिका—रामकण्ठाचार्य विवृति समेत संस्कृत ग्रंथावली १९६९ ।
२००. कामकला विलास—पुण्यानंद. तत्वविवेचक प्रेस, वंबई, १९१८ ।
२०१. षट्चक्र निरूपणम—पूर्णानदंयति ।
२०२. विज्ञान भैरव—क्षेमराज टीका सहित— कश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि १९१८ ।
२०३. स्पंद संदोह—क्षेमराज कश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि १९१७ ।
२०४. मालिनी विजयोत्तर तंत्र कश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि १९२२ ।
२०५. मालिनी विजय वार्तिक—अभिनव गुप्त कश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि १९२१ ।
२०६. नेत्र तंत्र अभिनव गुप्त कश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि १९२६ ।
२०७. योगिनी हृदय—अमृतानंद योगी, द्वितीय संस्करण शकाब्द १८८५ ।
२०८. अनुत्तर प्रकाश पंचाशिका—आद्यनाथ ।
२०९. शिवस्तोत्रावली—उत्पल देव, क्षेमराज कृत वृत्ति सहित ।
२१०. दशरूपक—घनिक धनंजय ।
२११. काव्य प्रकाश ।
२१२. वेदांत परिभाषा—चौखम्भा प्रकाशन, १९६३ सं० गजानन शास्त्री (धर्मराजाध्वरीन्द्र) मुसलगाँवकर ।
२१३. वेदांत परिभाषा. वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९८५ ।
२१४. वेदांत सार—सदानंद योगी प्रणीत ।
२१५. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् (क्षेमराज) सं० शिवशंकर अवस्थी, चौखम्भा १९७० ।
२१६. (पाँचरात्रागभान्तर्गता) अहिर्बुध्य संहिता, संशोधक—देवशिखामणि रामानुजाचार्य; आड्यार प्रेस, १९१६ ।
२१७. जयाख्य संहिता—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज १९३१ ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट वड़ौदा ।
२१८. न्याय सिद्धांत मुक्तावली, खेमराज श्री कृष्ण दास १९५७ ।
२१९. गुह्य समाज तंत्र—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज १९३१, ओरिएंटल इस्टीट्यूट, वड़ौदा ।

२२०. संक्षेपशारीरकम्—सर्वसमुनि विराचित, चौखम्भा काशी १९८१ ।

२२१. मीमांसादर्शनम्—जैमिनि प्रणीत—आनंदाश्रम ग्रंथावली १९२९ ।
२२२. अध्वर मीमांसा कुतुहल वृत्ति—वाणी विलास प्रेस श्रीरंगम् ।
२२३. शास्त्र दीपिका—पार्थसारथि मिश्र ।
२२४. अथर्ववेद—सं० दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमंडल पारड़ी १९५८ ।
२२५. उत्तरराम चरित—भवभूति, सं० कान्तानाथ शास्त्री तेलंग, चौखम्भा, वाराणसी १९६२ ।
२२६. शारदा तिलक—सं० अर्थर एवलन, तांत्रिक टेक्स्ट सिरीज, कलकत्ता–१९३३ ।
२२७. वेद भाष्यभूमिका संग्रह : चौखम्भा, सं० पं० बलदेव उपाध्याय, सं० २०१५ ।
२२८. अमनस्क योग—गोरक्षनाथ विरचित—सं० श्री योग नाथ शास्त्री, १९६७ । सिद्ध साहित्य संशोधन प्रकाशन मंडल, पूना, महाराष्ट्र १९६७ ।
२२९. अश्वघोषकृत—सोंदर नंद, सं० सूर्यनारायण चौधरी, मई १९५९ । संस्कृत भवन, कठौतिया, काझा, पूर्णिया ।
२३०. श्री पुरुष सूक्त—आनंदाश्रम ग्रंथावलि : १९२२ ।
२३१. भगवद् भक्ति रसायन—मधुसूदन सरस्वती ।
२३२. सांख्यतत्व कौमुदी—ईश्वर कृष्ण, वाचस्पति मिश्र तथा वाह्यराम उदासीन कृत विद्वत्तोषिणी, गुजराती मुद्रण मन्त्रालय बम्बई—सं० १९८७ ।
२३३. पातंजल दर्शनम्—(व्यास भाष्य तत्व वैशारदी सहित) जीवानन्द विद्यासागर, १९४० कलकत्ता ।
२३४. ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद :—प्रकाशक—बाबू शिव प्रसाद राधोराम, काशी, १९३८ ।
२३५. ऋग्वेद (ऋगर्थदीपिका समेत) मोतीलाल बनारसीदास, पंजाब विश्वविद्यालय १९३९ ।
२३६. भगवद्गीता—गीता प्रेस गोरखपुर ।
२३७. वाल्मीकि रामायण—एन० रामरत्नायिण प्रकाशित, १९५८ ।
२३८. महाभारत—गीता प्रेस गोरखपुर ।
२३९. क्रमसूत्र—काश्मीर ।
२४०. तंत्रसार—अभिनव गुप्त—काश्मीर ।
२४१. स्पंद संदोह—क्षेमराज ।
२४२. स्पंदनिर्णय ।
२४३. अजड़ प्रमातृता सिद्धि—उत्पल देव ।
२४४. परमार्थ सार ।
२४५. कात्यायन श्रौतसूत्र—चौखम्भा, काशी, १९३९ ।
२४६. निरुक्त—यास्क, निर्णयसागर, १९१५ ।

२४७. ऐतरेय आरण्यक—आनंदाश्रय ग्रंथावलि, १८९८।
२४८. न्याय मंजरी—यन्त भट्ट, चौखम्भा १९३६ काशी।
२४९. मिलिन्द प्रश्न—भिक्षु जगदीश कश्यप, सारनाथ, १९३७।
मिलिन्द पहो—बम्बई विश्वविद्यालय संस्करण।
२५०. पालिभाषा का अभिधान।
२५१. सुत्तनिपात (संपादक भय रा० आर० ज० सम्पादित) उत्तमभिक्खु १९३७ प्रकाशित।
२५२. विमानवथु—(संपादक भय रा० आ० ज० सम्पादित) उत्तमभिक्खु १९३७ प्रकाशित)।
२५३. थेरीगाथा, (राहुल, आनंद, जगदीश कश्यप सम्पादित) उत्तमभिक्खु प्रकाशित १९३७।
२५४. अद्वयवज्रसिद्धि।
२५५. अनुत्तर योगावतार।
२५६. गुह्य निर्वचन तंत्र।
२५७. अद्वय वज्र संग्रह—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, विनयतोष भट्टाचार्य १९२७।

अंग्रेजी संदर्भ ग्रंथ सूची

258. Philosophy of Gorakhnath—By Akshya Kumar Banerjee. महंत दिग्विजयनाथ ट्रस्ट, गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर।
259. The Holy Bible (The Old Testament and the New Testament American Bible Society, Instituted in the year 1816, New York.
260. Sufism and Vedant—Part II.
Dr. Rama Chaudhari Procyanani Mandira. Comparative Religion and philosophy series. Vol. I.
261. Mahamaya—Sir John Woodroffe, Ganesh & Co., Madras—1929.
262. Obscure Religions Cults. Dr. S. B. Dasgupta.
Firma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1962.
263. Notes of Radhasoami Faith, Babuji Maharaja 1913-14, Radhasoami Satsang, Soamibag, Agra—1947.

264. Shiva Cult and Heritage—SAIVA Siddhant Maha Samagam, Mylapore.
265. An Introduction to Tantric Buddhism.
266. An Introduction to Tantric Panchratra.
267. Yugnaddha.
268. The Tantric Studies on Their Religion and Literature, By Chintaharan Chakravarti, Punthi Pustak, Calcutta-1963.
269. Introduction to Tantra Shastra—Sir John Woodroffe, Ganesh & Co., (Madras) Ltd., 1952.
270. Principles of Tantra—Arthur Avalon—Ganesh & Co., Ltd., Madras, 1952.
271. Influence of Islam on Indian culture.
272. Philosophy of Gorakhanath.